मेरी जीवन गाथा

द्वितीय भाग

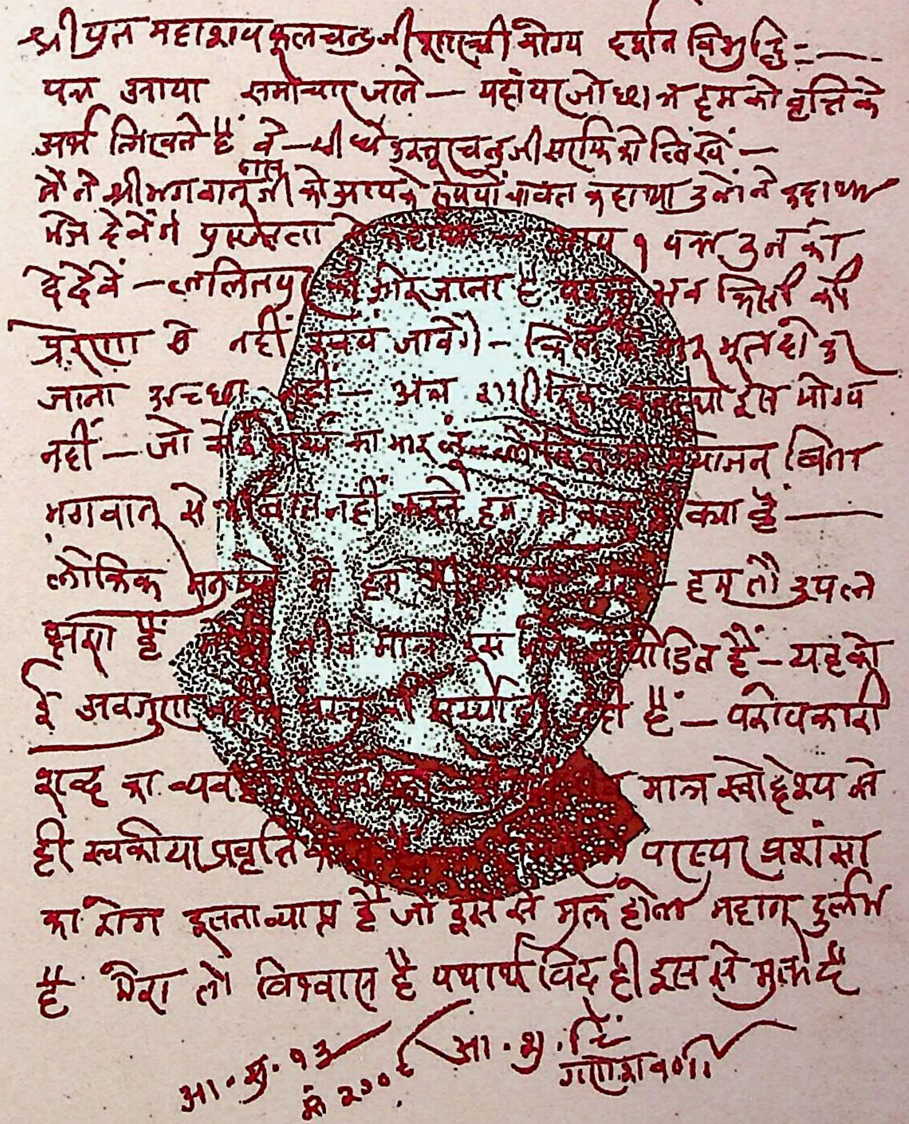

श्रीयुत महाशय फूलचन्द्र जी शास्त्री योग्य दर्शन विशुद्धि :—
पत्र आया समाचार जाने — महाशय जो ध्यान में हम को वृत्ति के
अर्थ लिखते हैं वे — [illegible] चन्द्र जी सर्राफ को लिखें —
मैं ने श्री भगवान्दास जी को आपके रुपयों बाबत कहा था उन्होंने कहा था
भेज देवेंगे प्रसन्नता [illegible] आप । पत्र उन को
दे देवें — ललितपुर की ओर जाना है [illegible] अब किसी की
प्रेरणा से नहीं [illegible] जावेंगे — [illegible] मूर्त हो कर
जाना अच्छा नहीं — अब आजीविका [illegible] इस योग्य
नहीं — जो [illegible] का भार लूं — [illegible] प्रयोजन बिना
भगवान् से [illegible] नहीं [illegible] हम तो [illegible] क्या है —
लौकिक [illegible] भी हम [illegible] — हम तो अपने
[illegible] हैं [illegible] जीव मात्र इस [illegible] पीड़ित हैं — यह को
ई अवगुण [illegible] नहीं हैं — परोपकारी
शब्द का व्यव[illegible] मात्र स्वोद्देश्य को
ही स्वकीय प्रवृत्ति [illegible] परस्पर प्रशंसा
का रोग इतना व्याप्त है जो इस से मुक्त होना महान् दुर्लभ
है मेरा तो विश्वास है यथार्थ विद ही इस से मुक्त हैं

आ० शु० १३ सं० २००६ आ० शु० चि०
गणेश वर्णी

क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी

(प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर के सहयोग से)

17.3

प. पू. उपाध्याय १०८ श्री ज्ञान सागर जी महाराज के सान्निध्य में विद्वत् प्रशिक्षण शिविर के उपलक्ष में सप्रेम भेंट - मेरठ

1-6-98

1.6.97

श्री गणेश वर्णी जैन ग्रन्थमाला 2-9

मेरी जीवन-गाथा

द्वितीय भाग

तृतीय संस्करण

लेखक
पूज्य श्री 105 क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी

सम्पादक
(डॉ०) पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य
सागर

प्रकाशक
श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी।

सहयोग से
प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फर नगर

वी.नि.स्.–2524 सन्–1997

ग्रन्थमाला सम्पादक :
प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन, आरा, बिहार
प्रो० उदयचन्द जैन, वाराणसी।

द्रव्यप्रत्त :
सुनील कुमार जैन, कृष्णानगर मथुरा
जय प्रकाश जैन, कृणानगर मथुरा

© श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी।

ISBN-81-86957-02-2

तृतीय संस्करण, वी०नि०सं० 2524, सन् 1997

मूल्य : 100 रु.

कम्प्यूटर कम्पोज़िंग :
सरिता कम्प्यूटर्स
डी० 56/48, औरंगाबाद, वाराणसी।
फोन नं : 359521

मुद्रक :
दीप प्रिंटर्स
ए–8, मायापुरी, इंडस्ट्रियल एरिया
नई दिल्ली–110064
फोन : 5131393, 5132579

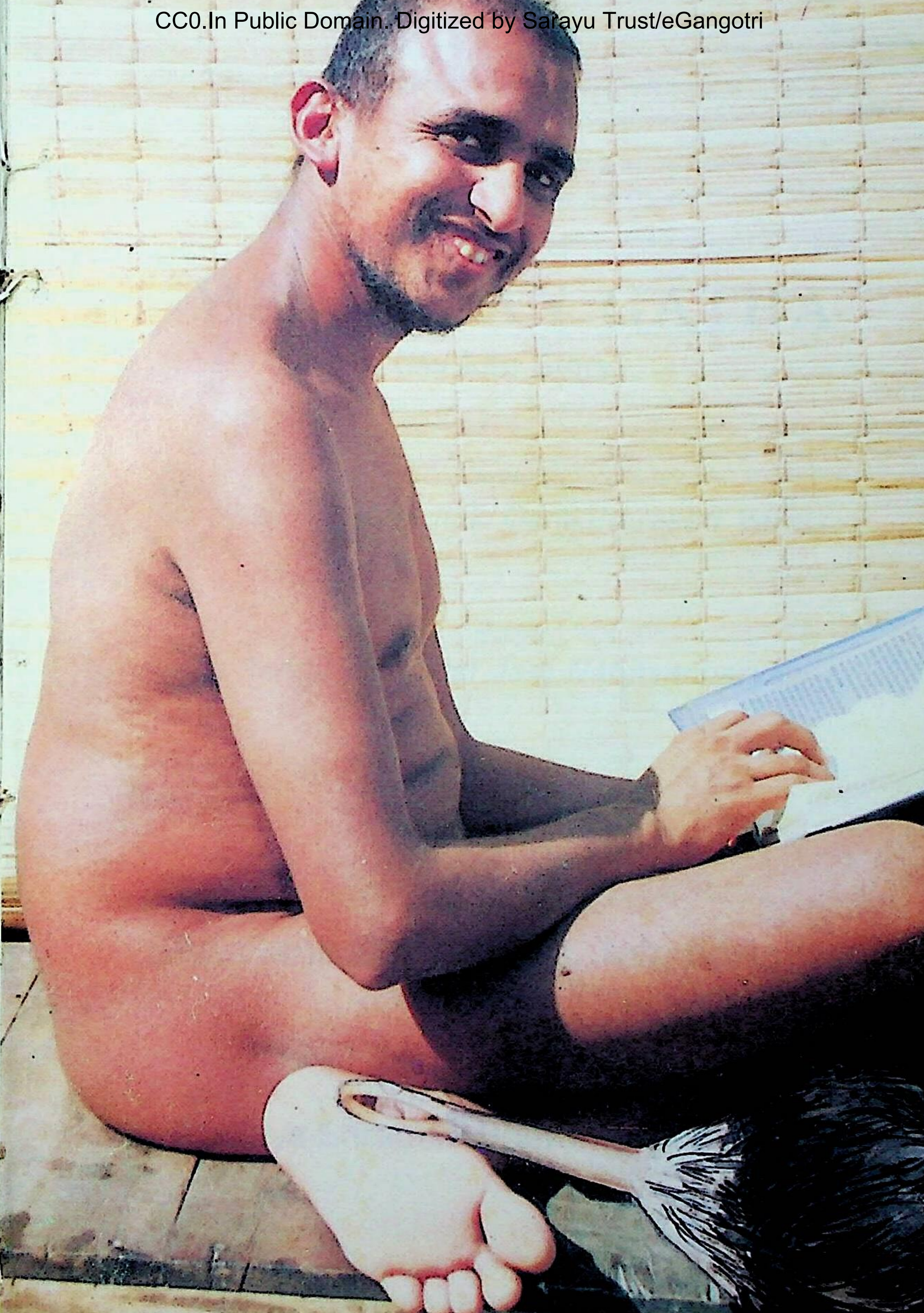

परम पूज्य उपाध्याय श्री 108 ज्ञान सागर जी महाराज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

Shri Ganesh Prasad Varni Dig. Jain Granthmala no. 2-9

MERĪ JĪVAN GĀTHĀ

(My Life Story)

Author

Shri 105 Kshullak Ganeshprasad Varni

Editor

Pandit Pannalal Jain Sahityacharya

Publisher

Shri Ganesh Varni Dig. Jain Sansthan

Naria, Varanasi (India)

With the assistance of

Prachya Shraman Bharti, Muzaffarnagar

V.N.S. 2524

1997 A.D.

General Editors
Prof. (Dr.) Rajaram Jain, Arrah, Bihar
Prof. Udaychandra Jain, Varanasi

© Shri Ganesh Varni Dig. Jain Sansthan
Naria, Varanasi-221005

ISBN-81-86957-02-2

Third Edition
Vir Nirvana Samvat 2524
Year 1997 A.D.

Price : Rs. 100/-

DEEP PRINTERS
A-8, Mayapuri, Industrial Area
New Delhi-110064
Ph : 5131393, 5132579

प्रस्तुत कृति
परम पूज्य सराकोद्धारक
उपाध्याय १०८
श्री ज्ञान सागर जी महाराज
के आर्शीवाद का
अमृतफल है।

उमेश से उपाध्याय मुनि १०८ ज्ञानसागर

सफरनामा एक अनेकान्तिक साधक का

अभीक्ष्ण ज्ञान की सम्पदा से सिक्त उपाध्याय श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज का व्यक्तित्व एवं कृतित्व एक ऐसे क्रान्तिकारी साधक की अनवरत साधना–यात्रा का वह अनेकान्तिक दस्तावेज है जिसने समय के नाट्य–गृह में अपने सप्तभंगी प्रज्ञान के अनेकों रंग बिखेरे हैं। चम्बल के पारदर्शी नीर और उसकी गहराई ने मुरैना में वि० सं० २०१४ वैशाख सुदी दोयज को जन्मे बालक उमेश को पिच्छि–कमण्डलु की मैत्री के साथ अपने बचपन की उस बुनियाद को मजबूत कराया जिसने उस निर्बाध मार्ग का सहज, पर समर्पित पथिक बना दिया। शहर में आने वाले हर साधु–साध्वी के प्रति बचपन से विकसित हुए अनुराग ने माता अशर्फी बाई और पिता शान्ति लाल को तो हर पल सशंकित किया पर बालक उमेश का आध्यात्मिक अनुराग हर पल पल्लवित और पुष्पित होता रहा। और इसकी परिणति हुई सन् १९७४ में उस प्रतीक्षित फैसले से, जब किशोर उमेश ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत को अंगीकार किया एवं दो वर्षों बाद, पाँच नवम्बर उन्नीस सौ छिहत्तर को क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। उमेश से रूपान्तरित हुए क्षुल्लक गुणसागर ने बारह वर्षों तक आगम ग्रन्थों, साहित्य एवं भाषा का अध्ययन किया, युग के महान् सन्त आचार्य श्री विद्यासागर जी की पावन सन्निधि में तत्वज्ञान का पारायण किया तथा महावीर जयन्ती के पावन प्रसंग पर इकत्तीस मार्च उन्नीस सौ अठासी को आचार्य सुमतिसागर जी महाराज से मुनि धर्म की दीक्षा ग्रहण की और तब आविर्भाव हुआ उस युवा, क्रान्तिदृष्टा तपस्वी का, जिसे मुनि ज्ञानसागर के रूप में युग ने पहचाना और उनका गुणानुवाद किया।

निर्ग्रन्थ रूप में प्रतिष्ठित इस दिगम्बर मुनि ने जहाँ आत्म–शोधन के अनेकों प्रयोग किये, साधना के नये मानदण्ड संस्थापित किये, उदात्त चिन्तन की ऊर्जस्वी धारा को प्रवाहमान कर तत्वज्ञान को नूतन व्याख्याओं से समृद्ध किया, वहीं पर अपनी करूणा, आत्मीयता और संवेगशीलता को जन–जन तक विस्तीर्ण कर भगवान महावीर की **सत्वेषु मैत्री** की अवधारणा को भी संवर्द्धित किया। मध्यप्रदेश की प्रज्ञान–स्थली सागर में मुनिराज का प्रथम चातुर्मास, तपश्चर्या की कर्मस्थली बना और यहीं से शुरू हुआ आध्यात्मिक अन्तर्यात्रा का वह अर्थ जिसने प्रत्येक कालखण्ड में नये–नये अर्थ गढ़े और संवेदनाओं की समझ को साधना की शैली में अन्तर्लीन कर लिया।

आगामी वर्षों में मुनि ज्ञानसागर जी ने जिनवाणी के आराधकों से स्थापित किया एक सार्थक संवाद ताकि आगम ग्रन्थों में निबद्ध रहस्यों को सामान्य जनों तक बोधगम्य भाषा और शैली में सम्प्रेषित किया जा सके। सरधना, शाहपुर, खेकड़ा, गया, राँची, अम्बिकापुर, मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर में विद्वत्संगोष्ठियों के आयोजन ने बहुत से अनुत्तरित प्रश्नों के जहाँ एक ओर उत्तर खोजे वहीं दूसरी ओर शोध एवं समीक्षा के लिये नये सन्दर्भ भी परिभाषित किये गये। अनुपलब्ध ग्रन्थों के पुनर्प्रकाशन की समस्या को इस ज्ञान–पिपासु ने समझा और सराहा। इस क्षेत्र में गहन अभिरूचि के कारण सर्वप्रथम बहुश्रुत श्रमण परम्परा के अनुपलब्ध प्रमाणिक शोध–ग्रन्थ, स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा सर्जित साहित्य सम्पदा **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (चारों भाग)** के पुनर्प्रकाशन की प्रेरणा की, जिसे सुधी श्रावकों ने अत्यल्प समयावधि में परिपूर्ण भी किया। इतना ही नहीं, आधुनिक कालखण्ड में भुला दिये गये सन्तों एवं विद्वानों के कृतित्व से समाज को परिचित कराने का भी गुरूकार्य इन्होंने किया, जिसकी परिणतिस्वरूप आचार्य शान्तिसागर छाणी स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन से एक ओर विस्मृत से हो रहे उस अत्यन्त पुरातन साधक से समाज परिचित करया जिसने सम्पूर्ण उत्तर भारत में दिगम्बर श्रमण परम्परा को उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अभिवृद्ध करने का गुरु–कार्य किया था तो दूसरी ओर सुप्रसिद्ध जैन दर्शन–विद् स्व० पं० महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य की स्मृति में एक विशाल स्मृति–ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रेरणा कर मात्र एक जिनवाणी–आराधक का गुणानुवाद ही नहीं किया प्रत्युत् नयी पीढ़ी को उस महान् साधक के अवदानों से परिचित भी कराया। इस तपःपूत ने वैचारिक क्रान्ति का उद्घोष किया इस आशा और विश्वास के साथ कि आम आदमी के समीप पहुँचने के लिये उसे उसकी प्रतिदिन की समस्याओं से मुक्ति दिलाने के उपाय भी संस्तुत करने होंगे। तनावों से मुक्ति कैसे हो, व्यसन मुक्त जीवन कैसे जिएँ, पारिवारिक सम्बन्धों में सौहार्द कैसे स्थापित हो तथा शाकाहार को जीवन–शैली के रूप में कैसे प्रतिष्ठापित किया जाए, आदि यक्ष प्रश्नों को बुद्धिजीवियों, प्रशासकों, पत्रकारों, अधिवक्ताओं शासकीय/अर्द्धशासकीय एवं निजी क्षेत्रों के कर्मचारियों व अधिकारियों, व्यवसायियों, छात्रों–छात्राओं आदि के साथ परिचर्चाओं, कार्यशालाओं, गोष्ठियों के माध्यम से उत्तरित कराने के लिये एक ओर एक रचनात्मक संवाद स्थापित किया तो दूसरी ओर श्रमण संस्कृति के नियामक तत्वों एवं अस्मिता के मानदण्डों से जन–जन को दीक्षित कर उन्हें जैनत्व की उस जीवन–शैली से भी परिचित कराया जो उनके जीवन की प्रमाणिकता को सर्वसाधारण के मध्य संस्थापित करती है।

इस खोजी साधक ने प्रेम और करूणा के व्यावहारिक प्रयोग किये और कंक्रीट संस्कृति से दूर पहुँचे झारखण्ड के उन अरण्यों में जहाँ बिरसा और मुण्डा जाति के आदिवासियों के साथ लाखों की तादाद में बसते हैं अत्यन्त पुरातन जैन श्रावक जिन्हें समय की शिला पर पड़ी धूल ने सिर्फ नाम का अपभ्रंश कर उन्हें सराक ही नहीं बना दिया प्रत्युत् उन्हें उनके कुल–गौरव पार्श्व प्रभु की परम्परा को भी विस्मृत कराने पर मजबूर कर दिया। इन भूले–बिसरे भाइयों को बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा में अलग–थलग जीवन जीने के स्थान पर सम्पूर्ण देश की श्रमण धारा से जोड़ने के लिये अनेकों कल्याणकारी योजनाएँ संचालित कीं जिनमें रघुनाथपुर एवं अनाईजामाबाद के पुनर्वास केन्द्र, पुराने जीर्ण–शीर्ण जिनालयों का जीर्णोद्धार, सुदूर अंचलों में नये जिनालयों का निर्माण, तकनीकी शिक्षा केन्द्रों की स्थापना, रोजगार के लिये उपस्करों का प्रबन्ध, छात्रवृत्तियों का वितरण, कुशल बेरोजगारों को रोजगार एवं नौकरियों की उपलब्धता एवं इन सभी के सफल संचालन के लिये सुधी जनों को प्रेरित कर ट्रस्ट के माध्यम से समस्त गतिविधियों को कार्यान्वित कराने की प्रेरणा की है। यही कारण है इस साधनापूत से प्रभावित हो जहाँ एक ओर श्री मोतीलाल बोरा, श्री अजितसिंह, श्री नारायण दत्त तिवारी, श्री साहिब सिंह वर्मा, श्री इन्दर सिंह नामधारी आदि राजनेताओं ने दर्शन लाभ कर आर्शीवाद प्राप्त किये हैं, वहीं दूसरी ओर डॉ० कृष्ण कुमार नाग, श्री राजेन्द्र यादव, श्री अरविन्द जैन, डॉ० नेमीचन्द आदि बुद्धिजीवियों, पत्रकारों ने एवं साहू अशोक कुमार जैन, साहू रमेशचन्द्र जैन, श्री पूनम चन्द गंगवाल, श्री उम्मेदकल पाण्ड्या, श्री निर्मल कुमार सेठी आदि प्रमुख उद्योगपतियों ने भी पूज्य गुरूदेव से मंगल आशीष प्राप्त किये हैं।

पूज्य उपाध्याय श्री १०८ उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज का जीवन क्रान्ति का श्लोक है, साधना और मुक्ति का दिव्य छन्द है तथा है मानवीय मूल्यों की वन्दना एवं जन–चेतना के सर्जनात्मक परिष्कार एवं उसके मानसिक सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य के विकास का वह भागीरथ प्रयत्न जो स्तुत्य है, वंदनीय है और है जाति, वर्ग, सम्प्रदाय भेद से परे पूरी इन्सानी जमात को समर्पित एक छोटा पर बहुत स्थिर और मजबूती भरा कदम। निःसन्देह यह होगा आने वाली पीढ़ी के लिये एक प्रकाश–स्तम्भ।

प्रकाशकीय

(प्रथम संस्करण)

पूज्य वर्णीजी द्वारा स्वयं लिखित मेरी जीवन-गाथा प्रथम भाग को प्रकाशित हुए काफी समय हो गया है। इस वर्ष उसकी द्वितीय आवृत्ति भी प्रकाशित हो गई है। इसे पूज्य वर्णीजी ने अपने जीवनवृत्त के साथ अनेक रोचक और हृदयग्राही घटनाओं, सामाजिक प्रवृत्तियों और धर्मोपदेश से समृद्ध बनाया है। पूज्य वर्णीजी की कलम में ऐसा कुछ आकर्षण है कि जो भी पाठक इसे पढ़ता है। उसकी आत्मा उसे पढ़ते हुए तिलमिला उठती है। वह वीर नि०सं० २४७५ में प्रकाशित हुई थी, इसलिए स्वभावतः उसमें उसके पूर्व तक का ही इहवृत्त संकलित हो सका है। उसे समाप्त करने के बाद प्रत्येक पाठक की इच्छा होती थी कि इसके आगे की जीवनी भी यदि इसी प्रकार संकलित होकर प्रकाशित हो जाय, तो जनता का बड़ा उपकार हो। अनेक बार पूज्य वर्णीजी के समक्ष यह प्रस्ताव रखा भी गया, किन्तु सफलता न मिली। सौभाग्य की बात है कि पिछले वर्ष जयन्ती के समय जब हम लोगों ने पुनः यह प्रश्न उठाया और पूज्य वर्णीजी से प्रार्थना की तो उन्होंने कहा, भैया! उसमें क्या धरा है? फिर भी यदि आप लोग नहीं मानते हो तो हमने जो प्रत्येक वर्ष की डायरियाँ आदि लिखी हैं उनमें अब तक की सब मुख्य घटनाएँ लिपिबद्ध हैं, आप लोग चाहो तो उनके आधार से यह कार्य हो सकता है। सबको पूज्य वर्णीजी की यह सम्मति जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। तत्काल जो डायरियाँ या दूसरी सामग्री इसरी में थी वे वहाँ से ली गई और जो श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला के कार्यालय में थीं, वे वहाँ से ली गई और सबको एकत्रित करके श्री विद्यार्थी नरेन्द्रकुमार जी के हाथ सागर श्री पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य के पास पहुँचायी गई। मेरी जीवनगाथा प्रथम भाग को पं०पन्नालाल साहित्याचार्य ने ही अन्तिम रूप दिया था, इसलिए यही सोचा गया कि इस कार्य को भी वे ही उत्तम रीति से निभा सकेंगे। पहले तो पण्डितजी ने वर्णीग्रन्थमाला-कार्यालय को यह लिखा कि आजकल हमें यह अवकाश नहीं है, गर्मी के दिनों में हम यह कार्य कर सकेंगे। किन्तु जब उन्हें यह कार्य शीघ्र ही करने की प्रेरणा की गई, तो उन्होंने सागर विद्यालय से प्रतिदिन कुछ समय के लिए अवकाश ले लिया और अपनी एवज में दूसरे आदमी को नियुक्त कर दिया। प्रसन्नता है कि उन्होंने उस समय के भीतर बड़ी लग्न से इसे संकलित कर दिया। इसके बाद पण्डितजी उक्त सामग्री लेकर

ईसरी गये और पूज्य वर्णीजी के समक्ष उसका पाठ किया। कुल सामग्री पूज्य वर्णीजी के लिखान का संकलन मात्र तो है ही, इसलिए उसमें थोड़े बहुत हेर-फेर के सिवा अधिक कुछ भी संशोधन नहीं करना पड़ा। वही मेरी जीवन-गाथा का यह उत्तरार्ध है, जिसे श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी को ओर से प्रकाशित करते हुए हम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। पण्डितजी ने मनोयोगपूर्वक इस कार्य को सम्पन्न किया, इसके लिए तो हम उनके आभारी हैं ही। साथ ही, उन्होंने राँची और खरखरी जाकर इस भाग की करीब ८०० प्रतियों के प्रकाशन-खर्च का भार वहन करने के लिए प्रबन्ध कर दिया, इसके लिए हम उनके और भी विशेष आभारी है। जिन महानुभावों ने प्रतियाँ लेना स्वीकार किया उनकी नामावलि इस प्रकार है–

१.	श्रीमान् लाला फिरोजीजाल जी सा० दिल्ली	५०० प्रति
२.	रायबहादुर सेठ हर्षचन्द्रजी सा० राँची	२०० प्रति
३.	दानवीर स्वर्गीय सेठ चाँदमलजी पाँड्या राँची वालों की धर्मपत्नी गुलाबी देवीजी	२५० प्रति
४.	श्रीमान् बाबू शिखरचन्दजी सा० खरखरी	२५० प्रति
५.	श्रीमान् सेठ जगन्नाथजी पाँड्या कोडरमा	१०० प्रति
६.	श्रीमान् सेठ विमलप्रसादजी खरखरी	१०० प्रति
७.	श्री रामप्यारीबाई साहुद्रन एवनिंग हाउस नं०-५२	२५ प्रति
८.	श्री बहिन कपूरीदेवी गया (चन्देका)	२५ प्रति

इनमें से कुछ महानुभावों का रुपया पेशगी भी आ गया है। इन सबके इस उदार सहयोग के लिए हम उनके भी अत्यन्त आभारी हैं।

मेरी जीवन-गाथा प्रथम भाग के सप्रमान यह भाग भी अत्यन्त रोचक और आकर्षक बन गया है। इसमें तत्त्वज्ञान की विशेष प्रचुरता है इसकी खास विशेषता है। पूज्य वर्णीजी का जीवन प्रारम्भ से लेकर अब तक किस प्रकार व्यतीत हुआ, उनकी सफलता की कुञ्जी क्या है और उनकी इस जीवन-यात्रा से समाज और देश किस प्रकार लाभान्वित हुआ आदि विविध प्रश्नों का समुचित उत्तर प्राप्त करने के लिए तथा अपने जीवन को कार्यशील और प्रामाणिक बनाने के लिए प्रत्येक गृहस्थ को तो मेरी जीवन-गाथा के दोनों भागों का स्वाध्याय करना ही चाहिए। जो वर्तमान में त्यागी होकर त्यागी-जीवन या प्रतिमा-जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उन्हें भी अपने जीवन को कर्तव्यशील और मर्यादानुरूप बनाने के लिए इसके दोनों भागों का स्वाध्याय करना चाहिए।

इस काल में जैन समाज के निर्माता जो भी महापुरुष हो गये हैं, या हैं उनमें पूज्य वर्णीजी प्रमुख हैं। संस्कृत-विद्या के प्रचार में तो इनका प्रमुख हाथ रहा ही है। रूढ़िग्रस्त जनता को उसके बन्धन से मुक्त कराने में भी इन्होंने अपूर्व योग दिया है। ये अपनी स्फूर्ति, प्रेरणा, सहृदयता, निस्पृहता और परोपकारवृत्ति के कारण जन-जन के मानस में समाये हुए हैं। हमारी कामना है कि पूज्य वर्णीजी चिरकाल तक हम सबका मार्गदर्शन करते रहें।

श्रद्धावनत

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री — ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक

बंशीधर व्याकरणाचार्य — मंत्री, श्री ग० वर्णी जैन ग्र० वाराणसी

द्वितीय संस्करण

मेरी जीवन-गाथा द्वितीय भाग का प्रथम बार प्रकाशन वीर निर्वाण संवत् २४८६, सन् १९६० में हुआ था। इस भाग में पूज्य वर्णीजी की विशाल पदयात्रा का रोचक और मार्मिक वर्णन है ही, उनमें बहुमूल्य उपदेशों से भी यह भरा हुआ है। यदि कोई समाज का विगत पचास वर्ष का इतिहास लिखे तो उसके लिए यह मार्गदर्शक एवं सहायक होगा।

दो-तीन वर्ष से यह भाग अप्राप्य हो गया था और पाठकों की माँग उसके लिए निरन्तर आ रही थी, किन्तु अर्थाभाव के कारण हम उसका द्वितीय संस्करण इससे पूर्व निकालने में असमर्थ रहे।

हमें प्रसन्नता है कि आज हम उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित करने में सक्षम हो सके हैं। इसका श्रेय समाज को, खासकर कानपुर समाज और उसके अध्यक्ष श्री इन्द्रजीतजी जैन एडवोकेट को है, जिनके प्रयत्न से हमें गत दशलक्षणपर्व में वर्णी-ग्रन्थमाला को पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। इन सबका धन्यवाद करता हूँ।

आषाढ़ वदी २,
वीर निर्वाण संवत् २५०३
३ जून १९७७,
वाराणसी

(डॉ०दरबारीलाल कोठिया)
मंत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

प्रकाशकीय

(तृतीय संस्करण)

२०वीं शताब्दी के विलक्षण एवं महनीय पुरुषों में पूज्य श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी का नाम जैन समाज में जिस आदर के साथ लिया जाता है वैसा किसी अन्य व्यक्तित्व का नहीं। कारण यह है कि उन्होंने श्रमण-संस्कृति की विलुप्त होती ज्ञानशाखा को पुनरुज्जीवित ही नहीं किया वरन् उसके अग्रगामी महापुरुष सिद्ध हुए। उन्होंने आजन्म दिगम्बर जैन संस्कृति के उत्स जैन संस्थाओं को पल्लवित करते रहने का अनोखा कार्य किया। उन्होंने कितना किया और समाज ने कितना उसका अनुकरण किया यह पृथक् रूप में विशद् चर्चा का विषय है, परन्तु वे जितना जिये परिपूर्ण जिये और जितना दिया उतने के लिए हमारे पास झोली नहीं रही; फिर भी उन्होंने अपने जीवन के बहुमूल्य प्रसङ्गों और तदनुरूप अपने अनुभवों को 'जस की तस धर दीनी चदरिया' के रूप में 'मेरी जीवन गाथा' भाग एक और दो के माध्यम से व्यक्त किया है। पूज्य वर्णी जी का जीवनवृत्त आज के तनावपूर्ण जीवन में प्रकाश स्तम्भ के समान है और यदि हम चाहें तो उससे स्फूर्ति और दिशा-निर्देश प्राप्त कर,स्व-पर कल्याण में प्रवृत्त होकर शान्तिमय जीवन-यापन में समर्थ हो सकेंगे।

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान की स्थापना उनके शिष्य स्व० सिद्धान्ताचार्य पं०फूलचन्द्र शास्त्री और अनेक स्थानीय विद्वानों के सत्प्रयत्नों से हुई थी और श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत 'मेरी जीवन गाथा' भाग एक और दो का प्रकाशन हुआ था।

'मेरी जीवन गाथा' भाग दो के समाप्त होते ही इस महत्त्वपूर्ण कृति के प्रकाशनार्थ प्रेरणा और आशीर्वाद पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज से प्राप्त हुआ। पूज्य उपाध्याय श्री की अप्राप्त ग्रन्थों के प्रकाशन में अभिरुचि एवं सतत् प्रेरणा अनुकरणीय है। पूज्य उपाध्याय श्री की प्रेरणा से उनके भक्त श्रावकों ने जिस तत्परता से उदारतापूर्वक सहयोग दिया है उनके प्रति संस्थान श्रद्धावनत है और उनके यशस्वी दीर्घ जीवन की मङ्गल भावना भाता हुआ श्रीवृद्धि की कामना करता है।

'मेरी जीवन गाथा' भाग दो के तृतीय संस्करण में द्वितीय संस्करण गत प्रूफ सम्बन्धी अशुद्धियों को परिमार्जित करने में संस्थान के व्यवस्थापक डॉ० कपिलदेव गिरि ने सक्रिय सहयोग दिया है। संस्थान के मन्त्री प्रो० अशोक कुमार जैन, रुड़की भी

धन्यवादार्ह हैं जिनके गतिशील मार्गदर्शन से संस्थान अपने उद्देश्यों के प्रति निरन्तर बढ़ रहा है।

अन्त में, उपाध्याय श्री ज्ञान सागर जी महाराज के संघस्थ ब्र० अतुल जी को भी हार्दिक धन्यवाद देना चाहेंगे, जिनकी सक्रियता से यह ग्रन्थ इतनी शीघ्रता से प्रकाशित हो पा रहा है। हमारी भावना है कि वे इसी तरह सत्साहित्य के प्रकाशन में तत्पर व सक्रिय भूमिका का निर्वाह करते हुए स्व-पर कल्याण में दत्तचित्त रहें।

अक्षय तृतीया, वी०नि०संवत् २५२३
दिनांक ९.५.१९९७

(डॉ० सुरेश चन्द जैन)
निदेशक
श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान,
वाराणसी।

अपनी बात

पिछले वर्ष श्री पं०फूलचन्द्रजी शास्त्री वर्णी-जयन्ती पर ईसरी गये थे। भाई नरेन्द्रकुमारजी, जो अपने को विद्यार्थी लिखते हैं, पर अब विद्यार्थी नहीं, एम०ए० और साहित्याचार्य हैं, भी गये थे। वहाँ से लौटने पर पण्डितजी ने पूज्य वर्णीजी की पुरानी डायरियों तथा लेख आदि के रजिस्टरों का एक बड़ा बस्ता नरेन्द्रकुमारजी के हाथ हमारे पास भिजाया और साथ ही उनका डाक से एक पत्र मिला, जिसमें लिखा था कि मैं ईसरी से लौट रहा हूँ। जीवनगाथा प्रथम भाग के आगे की गाथा इन डायरियों में पूज्य वर्णीजी ने लिखी है। उसे आप शीघ्र ही व्यवस्थित कर दें। नरेन्द्रकुमारजी स्वयं तो सागर नहीं आये, पर उनका भी उक्त सामग्री के साथ इसी आशय का एक पत्र मिला। इनसे इस पुण्य कार्य के लिये प्रेरणा पा मुझे बहुत हर्ष हुआ। पर प्रातः ५ बजे से लेकर रात्रि के १० बजे तक मेरी जो दिनचर्या है, उसमें कुछ लिखने के लिए समय निकालना कठिन ही था। मैंने बनारस लिखा कि 'यह काम ग्रीष्मावकाश में हो पावेगा।' ग्रीष्मावकाश के लिये पर्याप्त देरी थी और पूज्य बाबाजी के स्वास्थ्य के जो समाचार आ रहे थे उनसे प्रेरणा यही मिलती थी कि यह काम जल्दी से जल्दी पूर्ण किया जाय। अन्त में जब कुछ उपाय न दिखा तब विद्यालय से मैंने प्रतिदिन दो घंटे की सुविधा माँगी और विद्यालय के अधिकारियों ने मुझे सुविधा दे दी। फलस्वरूप मेरी शक्ति इस काम में लग गई और ३ माह में यह महान् कार्य पूर्ण हो गया। पूर्ण होते ही मैं पूज्य बाबाजी के पास ईसरी गया और उन्हें आद्योपान्त सब सामग्री श्रवण करा दी। आवश्यक हेर-फेर के बाद पाण्डुलिपि को अन्तिम रूप मिल गया और उसे प्रकाशन के लिये श्रीवर्णी-ग्रन्थमाला को सौंप दिया। प्रसन्नता है कि उसका प्रकाशन पूर्ण हो गया है।

मेरी जीवन-गाथा का पूर्व भाग लोकोत्तर घटनाओं से भरा है तो यह दूसरा भाग लोकोत्तर उपदेशों से भरा है। इस भाग में कितनी ही सामाजिक रीति-रिवाजों पर चर्चा आई है और खुलकर उनपर विचार हुआ है। आध्यात्मिक प्रवचनों का तो मानों यह भण्डार ही है। इसको पढ़ने से पाठक की अन्तरात्मा द्रवीभूत हो जाती है। इस युग में पूज्य वर्णीजी के समान निर्मल, सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न, अटल श्रद्धानी एवं समाज की गतिविधि में पूर्ण जागरूक रहने वाला व्यक्ति सुलभ नहीं है। इसलिये श्री जिनेन्द्र भगवान से प्रार्थना है कि पूज्य वर्णीजी चिरकाल तक जन-जन को सच्चा पथ प्रदर्शित करते रहें।

सागर
१६-१-१९६०

श्रद्धावनत
पन्नालाल जैन

अपनी बात

(द्वितीय संस्करण)

मैं पूज्यवर दिगम्बराचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज और पूज्यवर गणेशकीर्तिजी महाराज (पूज्य वर्णीजी) का नाम मनोज्ञ साधुओं के उदाहरण में प्रस्तुत किया करता हूँ। मनोज्ञ साधु वे कहलाते हैं जो अपने ज्ञानादिगुणों के द्वारा लोक में अत्यधिक प्रसिद्ध होते हैं और जिनका नाम लेते ही जनता की आन्तरिक भक्ति प्रकट हो जाती है।

बहुत प्रार्थना करने के बाद पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज ने अपनी जीवन-गाथा लिपिबद्ध कर जनसामान्य का महान् उपकार किया है। इसके दो भाग हैं। पहले भाग के ४ संस्करण निकल चुके हैं और दूसरे भाग का भी यह दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है। यह भाग बहुत समय से अप्राप्य हो गया था। लोगों की माँग आती रहती थी, इसलिये इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

इस भाग के परिशिष्ट में हम पूज्य वर्णीजी की समाधि का आँखों देखा दृश्य श्री नीरजजी जैन सतना की लेखनी द्वारा दे रहे हैं। इच्छा तो मेरी यह रही थी कि तृतीय भाग का पृथक् से प्रकाशन करता और इसमें यह सब सामग्री देता, परन्तु साधनों के अभाव में वह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी। दूसरी बात यह भी रही कि भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् की ओर से पूज्य वर्णीजी के शताब्दी-महोत्सव पर 'गणेशप्रसाद वर्णी स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन हो चुका है। अपेक्षित सामग्री का संकलन उसमें हो गया है, अतः तृतीय भाग के प्रकाशन की इच्छा समाप्त हो गयी।

जनता ने जिस श्रद्धा और भक्ति से पूज्य वर्णीजी के साहित्य को अपनाया है उससे उनके साहित्य और विवेचनशैली की सरलता का महत्त्व सामने आता है। उनका समयसार भी जनता के द्वारा सुरुचिपूर्वक पढ़ा गया, जिससे उसकी दूसरी आवृत्ति प्रकाशित करना पड़ी है। वर्णीग्रन्थमाला के सुयोग्य और उत्साही मन्त्री डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया वर्णी ग्रन्थमाला का सुन्दर संचालन कर रहे हैं। आशा करता हूँ कि पूज्य वर्णीजी का अवशिष्ट साहित्य, जो पत्रावली के रूप

में टेप रिकार्डो में यत्रतत्र बिखरा पड़ा है, उसे भी यथाशीघ्र प्रकाशित कर जनता को उसका रसास्वादन करावेंगे। भारतवर्षीय दि०जैन विद्वतपरिषद् के द्वारा प्रकाशित 'गणेशप्रसाद वर्णी स्मृति-ग्रन्थ' वर्णी जी तथा व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाला अनूठा ग्रन्थ है। इसकी ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करता हूँ। इसकी १०० प्रतियाँ श्री रतनलालजी पंकज टेक्सटाइल्स मेरठ द्वारा भारतवर्ष के समस्त विश्वविद्यालयों और प्रमुख संस्थाओं में अपने ओर से फ्री भिजवायी गयी हैं। थोड़ी सी प्रतियाँ ही शेष रही हैं।

मेरी जीवन-गाथा द्वितीय भाग के इस संस्करण में प्रूफ आदि की जो त्रुटियाँ रही हों, उनके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

सागर
९-६-१९७७

विनीत :
पन्नालाल साहित्याचार्य

विषय-सूची

१. मुरार से आगरा १
२. मथुरा में जैनसंघ का अधिवेशन १३
३. अलीगढ़ का वैभव २२
४. मेरठ की ओर २७
५. मेरठ ३५
६. खतौली ४०
७. हस्तिनागपुर ४४
८. मुजफ्फरनगर ४८
९. सहारनपुर-सरसावा ५२
१०. दिल्ली की ओर (१) ५७
११. दिल्ली की ओर (२) ६४
१२. दिल्ली का ऐतिहासिक महत्त्व और राजा हरसुखराय ७२
१३. दिल्ली का परिकर ७७
१४. हरिजन मन्दिर-प्रवेश ८३
१५. पावन दशलक्षणपर्व ८९
१६. नम्र-निवेदन ९२
१७. दिल्ली के शेष दिन ९५
१८. दिल्ली से हस्तिनागपुर १०५
१९. इटावा की ओर १०७
२०. इटावा ११७
२१. इटावा के अञ्चल में १२२
२२. अष्टाह्निकापर्व १२४
२३. उदासीनाश्रम और संस्कृत विद्यालय का उपक्रम १२७
२४. जैनदर्शन के लेख पर १२९
२५. अक्षय-तृतीया १३४
२६. विद्यालय का उद्घाटन और विद्वत्परिषद् की बैठक १३७
२७. अनेक समस्याओं का हल स्त्री-शिक्षा १३९
२८. इटावा में चातुर्मास का निश्चय १४०

२९. सिद्धचक्रविधान १४३
३०. रक्षाबन्धन और पर्यूषण १४५
३१. इटावा से प्रस्थान १५२
३२. फिरोजाबाद की ओर १५४
३३. फिरोजाबाद में विविध समारोह १६४
३४. स्वर्णगिरि की ओर १७३
३५. बरुआसागर में ग्रीष्मकाल १८३
३६. श्रुत-पञ्चमी १९०
३७. बरुआसागर से प्रस्थान १९४
३८. ललितपुर की ओर १९८
३९. क्षेत्रपाल में चातुर्मास २०५
४०. विविध विद्वानों का समागम २०९
४१. इण्टर कालेज का उपक्रम २१३
४२. तीव्र-वेदना २१८
४३. पपौरा आहार-क्षेत्र २२२
४४. द्रोणगिरि और रेशन्दीगिरि २२७
४५. रेशन्दीगिरि में पञ्चकल्याणक २३३
४६. सागर २३७
४७. समय-यापन २४०
४८. पर्वप्रवचनावली २४७
४९. विचार-कण ३०१
५०. स्वराज्य मिला पर सुराज्य नहीं ३०५
५१. गिरिराज के लिए प्रस्थान ३०६
५२. कटनी ३०७
५३. बनारस की ओर ३१२
५४. बनारस और उसे अञ्चल में ३२१
५५. पार्श्वप्रभु की ओर ३२४
५६. गया में चातुर्मास निश्चय ३२८
५७. स्मृति की रेखायें ३३४
५८. विचार-प्रवाह ३३५
५९. लघुयात्रा ३३९

६०. भारहीनो बभूव ३४१
६१. राष्ट्रपति से साक्षात्कार ३४५
६२. स्याद्वाद्व-विद्यालय स्वर्णजयन्ती-महोत्सव ३४५
६३. आचार्य नमिसागर जी महाराज का समाधिमरण ३५१
६४. सागर-विद्यालय का स्वर्णजयन्ती-महोत्सव ३५१
६५. श्री क्षु०सम्भवसागरजी का समाधिमरण ३५३
६६. हजारीबाग का ग्रीष्मकाल ३५५
६७. साहुजी की दान-घोषणा ३५६
६८. परिशिष्ट : कथा का विसर्जन और विसर्जन की कथा ३५८

●

मुरार से आगरा

स सत्यविद्यातपसां प्रणायकः समग्रधीरुग्रकुलाम्बरांशुमान् ।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः ।।

इसी ग्वालियर में भट्टारकजी का मन्दिर है। मन्दिर में प्राचीन शास्त्र-भण्डार है। परन्तु जो अधिकारी भट्टारकजी का शिष्य है वह किसी को पुस्तक नहीं दिखाता तथा मनमानी गाली देता है। इसका मूल कारण साक्षर नहीं होना है। पास में जो कुछ द्रव्य है उसी से निर्वाह करता है। अब जैन-जनता भी साक्षर—विवेकवती हो गई है। वह अब अनक्षरवेषियों को आदर नहीं करती। हमने बहुत प्रयास किया, परन्तु अन्त में निराश आना पड़ा। हृदय में कुछ दुःख भी हुआ, परन्तु मन में यह विचार आने से वह दूर हो गया कि संसार में मनुष्यों की प्रवृत्ति स्वेच्छानुसार होती है और वे अन्य को अपने रूप परिणमाना चाहते हैं जब कि वे परिणमते नहीं। इस दशा में महादुःख के पात्र होते हैं। मनुष्य यदि यह मानना छोड़ देवे कि पदार्थों का परिणमन हम अपने अनुकूल कर सकते हैं तो दुःखी होने की कुछ भी बात न रहे। अस्तु ।

अगहन वदी ८ संवत् २००५ को एक बजे ग्वालियर से चलकर ४ मील पर आंगले साहब की कोठीं में ठहर गये। कोठी राजमहल के समान जान पड़ती है। यहाँ धर्मध्यान के योग्य निर्जन स्थान बहुत हैं। जल यहाँ का अत्यन्त मधुर है, वायु स्वच्छ है तथा बाह्य में त्रसजीवों की संख्या विपुल नहीं है। मकान में ऋतु के अनुकूल सब सुविधा है। जब बनी होगी तब उसका स्वरूप अति निर्मल होगा। परन्तु अब मालिक के बिना शून्य हो रही है। ऋषिगणों के योग्य है। परन्तु इस काल में वे महात्मा हैं नहीं। यहाँ से ६ मील चलकर बामौरा आ गये और बामौरा से ४ मील चलकर नूराबाद आ गये। यहाँ पर भी आलीशान कोठी थी, उसी में ठहर गये।

अगहन वदी १२ संवत् २००५ को मोरेना के अञ्चल में पहुँचे। पहुँचते ही एकदम स्वर्गीय पं०गोपालदास जी का स्मरण आ गया। यह वही महापुरुष हैं जिनके आंशिक विभव से आज जैन जनता में जैन सिद्धान्त का विकास दृश्य

हो रहा है। जब मोरेना के समीप पहुँचे तब श्रीमान् पं० मक्खनलाल जी साहब जो कि जैन सिद्धान्त विद्यालय के प्रधान हैं छात्रवर्ग के साथ आये। आपने बहुत ही प्रेम से नगर में प्रवेश कराया और सिद्धान्त-विद्यालय के भवन में ठहराया। सूखपूर्वक रात्रि बीत गई। प्रात:काल श्री जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करने के लिये मन्दिर में गये। दर्शन कर बहुत ही विशुद्धता हुई। इतने में पं० मक्खनलाल जी आ गये और कहने लगे कि अभिषेक देखने चलिये। हम लोग पण्डितजी के साथ विद्यालय के भवन के ऊपर, जहाँ जिनचैत्यालय था, गये। वहाँ पर एक प्रतिबिम्ब को चौकी के ऊपर विराजमान किया और फिर पण्डितजी ने पाठ प्रारम्भ किया। पञ्चामृताभिषेक किया। यह विलक्षणता यहाँ देखने में आई कि जलाभिषेक के साथ-साथ भगवान् के शिर ऊपर पुष्पों का भी अभिषेक कराया गया। पुष्पों का शोधन प्राय: नहीं देखने में आया। हमने पण्डितजी से कुछ नहीं कहा। उनकी जो इच्छा थी वह उन्होंने किया। अनन्तर नीचे प्रवचन हुआ। यहाँ की जनता का बहुभाग इस पूजनप्रक्रिया को नहीं चाहता, यह बात प्रसङ्गवश लिख दी।

प्रवचन के अनन्तर जब चर्या के लिये निकले तब पण्डितजी के घर पर भोजन हुआ। पण्डितजी ने बहुत हर्ष के साथ आतिथ्य-सत्कार किया तथा सोलापुर की मुद्रित भगवती आराधना की एक प्रति स्वाध्याय के अर्थ प्रदान की। यहाँ पर सिद्धान्त-विद्यालय बहुत प्राचीन संस्था है। इसकी स्थापना स्वर्गीय श्री गुरु गोपालदासजी ने की थी। इसके द्वारा बहुत निष्णात विद्वान् निकले। जिनने भारतवर्ष भर में कठिन से कठिन सिद्धान्तशास्त्रों को सरल रूप से पठनक्रम में ला दिया। १ बजे दिन से सार्वजनिक सभा थी, प्रसङ्गवश यहाँ पर मन्दिर के निमित्त से लोगों में जो परस्पर मनोमालिन्य है उसको मिटाने के लिये परिश्रम किया, परन्तु कुछ फल नहीं हुआ। अगले दिन भी प्रवचन के अनन्तर संगठन की बात हुई, परन्तु कोई तत्त्व नहीं निकला। जब तक हृदय में कषायरूप विष के कण विद्यमान हैं तब तक निर्मलता का आना दुर्भर है। मैं तो यह विचार कर तटस्थ रह गया कि संसार की दशा जो है वहीं रहेगी, जिन्हें आत्मकल्याण करना हो वे इस चिन्ता को त्यागें, कल्याण के पास स्वयं पहुँच जावेंगे।

मोरेना में ३ दिन रहने के बाद धौलपुर की ओर चल दिये। मार्ग में एक ग्राम के बाह्य धर्मशाला थी, उसमें ठहर गये। धर्मशाला का जो स्वामी था उसने सर्व प्रकार से सत्कार किया। उसकी अन्तरङ्ग भावना भोजन कराने की थी, परन्तु

यहाँ की प्रक्रिया तो उसके हाथ का पानी पीना भी आगम-विरुद्ध मानती है। यद्यपि आगम यही तो कहता है कि जिसे जैनधर्म की श्रद्धा हो और जो शुद्धतापूर्वक भोजन बनावे ऐसे त्रिवर्ग का भोजन मुनि भी कर सकता है। अब विचारो जब उसकी रुचि आपको भोजन कराने की हुई तब आपके धर्म में स्वयं श्रद्धा हो गई। जब श्रद्धा आपमें हो गई तब जो प्रक्रिया आप बताओगे उसी प्रक्रिया से वह अनायास आपके अनुकूल भोजन बना देगा। परन्तु यहाँ तो रुढ़िवाद की इतनी महिमा है कि जैनधर्म का प्रचार होना कठिन है। अस्तु, फिर भी उस धर्मशाला के एक स्वामी ने संघ के लोगों को दुग्ध दान दिया, ५ सेर चावल-दाल तथा एक भेली गुड़ की दान की। साथ ही बहुत ही शिष्टाचार का बर्ताव किया।

हम लोग जिस अभिप्राय वाले हैं उसी को उपयोग में लाने का प्रयत्न करते हैं। हमने धर्म को निज की पैतृक सम्पत्ति समझ रक्खी है। धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। बाह्य में आचरण ऐसा होना चाहिए जो उसमें सहायक हो। यही कारण है कि जो मानव मद्य, मांस, मधु का त्याग कर चुकता है वही चरणानुयोग में वर्णित धर्म के पालन का अधिकारि होता है। इसका मूल हेतु यही है कि मद्यपायी मनुष्य उन्मत्त हो जाता है। उन्मत्त होने से उसका मन विक्षिप्त हो जाता है। जिसका मन विक्षिप्त हो गया वह धर्म को भूल जाता है। जो धर्म को भूल जाता है निःशङ्क हिंसादि पापों में अनर्गल प्रवृत्ति करता है। इसी प्रकार मांसादि की प्रवृत्ति में भी अनर्थ परम्परा जान लेना। आजकल हम लोग उपदेश देकर जनता का सुधार करने की चेष्टा नहीं करते। केवल, 'यह लोग पतित हैं' इसी प्रकार की कथा कर संतोष कर लेते हैं। और की बात जाने दो, हमको ५० वर्ष हो गये, प्रतिदिन यही कथा करते-करते समय बीत गया। परन्तु एक भी मनुष्य को सुमार्ग पर नहीं ला सके। कहाँ तक लिखें अथवा अन्य की कथा क्या कहूँ मैं स्वयं अपनी आत्मा को सुमार्ग पर नहीं ला सका। इसका अर्थ यह नहीं कि बाह्य आचरण में त्रुटि की हो, किन्तु जो अन्तरङ्ग की पवित्रता पद के योग्य है उसकी पूर्ति नहीं कर सका। तात्त्विक मर्म तो यही है कि अन्तरङ्ग में मूर्च्छा न हो। जब इसके ऊपर दृष्टि देते हैं तब मन में यही आता है कि इस सांसारिक प्रशंसा को त्याग आत्मदृष्टि करो, यही सत्य मार्ग है।

धर्मशाला से चलकर एक छोटे ग्राम में पहुँच गया। इस ग्राम में ठहरने का कोई स्थान न था, तब वहाँ जो गृहस्थ था उसने अपने निवास को खाली

कर दिया और कहा कि सानन्द ठहर जाइये, कोई संकोच न करिये तथा दुग्धादि पान करिये। हमने कहा हम लोग रात्रि को दुग्धादि पान नहीं करते। यह सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। सानन्द ठहराया, धान्य का घास बिछाने को दिया। सुख से रात्रि बिताई। यहाँ से ६ मील चलकर एक ग्राम में ठहर गये। यहाँ का कूप ७० हाथ गहरा था, पानी अति स्वादिष्ट था। यहाँ से भोजन कर चार मील चलने के बाद चम्बल नदी के तट पर आ गये। यहाँ श्रीमान् प्यारेलाल जी भगत के आने से बहुत ही प्रमोद हुआ। आपसे संलाप करते-करते ४।। बजे धौलपुर पहुँच गये। आगरा से सेठ मटरूमल जी रईस भी आ गये। शिष्टाचार से सम्मेलन हुआ। मन्दिर में प्रवचन हुआ, जो जनता थी, वह आ गई। मनुष्यों की प्रवृत्ति सरल है। जैनी हैं यह अवश्य है परन्तु ग्रामवासी हैं, अत: जैनधर्म का स्वरूप नहीं समझते। यहाँ के राजा बहुत ही सज्जन हैं। वन में जाते हैं और रोटी आदि लेकर पशुओं को खिलाते हैं। राजा के पहुँचने पर पशु स्वयमेव उनके पास आ जाते हैं। देखो, दया की महिमा कि पशु भी अपने हितकारी को समझ लेते हैं। यदि हम लोग दया करना सीख लें, तो क्रूर से क्रूर जीव भी शान्त हो सकता है, परन्तु हमने निज को महान् मान नाना अनर्थ करने का ही अभ्यास कर रक्खा है। पशु कितनी ही दुष्ट प्रकृति का होगा, परन्तु अपने पुत्र की रक्षा के लिये प्राण देने में पीछा नहीं करेगा। मनुष्यों में यह बात नहीं देखी जाती। यदि यह मनुष्य अपने स्वरूप का अवलोकन करे तो पशुओं की अपेक्षा अनन्त प्राणियों का कल्याण कर सकता है। मोक्ष मार्ग का उदय इसी मनुष्य पर्याय में होता है, अत: जिन्हें मनुष्यता की रक्षा करना है उन्हें अनेक उपद्रवों को त्याग केवल मोक्ष मार्ग की ओर लक्ष्य देना चाहिये और जो समय गल्पवाद में लगाते हैं उसे धर्म-कार्यों में लगाने का प्रयत्न करना चाहिये। यहाँ के राजा की प्रवृत्ति देख हमको दया का पाठ पढ़ना चाहिये।

धौलपुर से ५ मील चलकर विरौदा पर शयन किया। भगतजी ने रात्रि को उपदेश दिया। जनता अच्छी थी। यदि कोई परोपकारी धर्मात्मा हो, तो उससे नगरों की अपेक्षा ग्रामों में अधिक जीवों को मोक्षमार्ग का लाभ हो सकता है। परन्तु जब दृष्टि स्वपर उपकार की हो तभी यह काम बन सकता है। अब मेरी शारीरिक शक्ति अतिक्षीण हो गयी है। शारीरिक शक्ति की क्षीणता से वाचनिक कला भी न्यून हो गई है, अतएव जनता को प्रसन्न करना कठिन है। संसार में वही मनुष्य जगत् का उपकार कर सकता है जो भीतर से निर्मल हो। जैसे जब

सूर्य मेघपटल से आच्छादित रहता है तब जगत् का उपकार नहीं कर सकता। उसका उपकार यही है कि वह पदार्थों को प्रकाशित करता है और यह मनुष्य उन पदार्थों में से अपने योग्य पदार्थों को चुन उनसे अपनी इच्छाएँ पूर्ण करता है। सूर्य के समान ही वक्ता की आत्मा जब तक कषाय के पटल से आच्छादित रहती है तब तक वह जगत् का उपकार नहीं कर सकता। यहाँ से चलकर मागरौल तथा एक अन्य ग्राम में ठहरते हुए अगहन सुदी ८ को राजाखेड़ा पहुँच गये।

यहाँ पर श्री भगत प्यारेलाल जी के द्वारा स्थापित एक जैन विद्यालय है। भगतजी के सत्प्रयत्न से इस विद्यालय का दो लाख का फण्ड है। श्री पं० नन्हेलाल जी इसके मुख्याध्यापक हैं। आप श्रीयुत महानुभाव पं०वंशीधरजी सिद्धान्तशास्त्री के मुख्य शिष्यों में प्रथमतम शिष्य हैं। आपकी पठन-पाठनशैली अत्यन्त प्रशस्त है। यहाँ पर कई जैन मन्दिर हैं, अनेक गृह जैसवाल भाइयों के हैं। सर्व ही धर्म के प्रेमी हैं। बड़े प्रेम से सब ने प्रवचन सुना, यथायोग्य नियम भी लिये। पाठशाला का उत्सव हुआ। उसमें यथाशक्ति दान दिया। जैनियों में दान देने की प्रक्रिया प्राय: उत्तम है। प्रत्येक कार्य में दान देने का प्रचार है किन्तु व्यवस्था नहीं। यदि व्यवस्था हो जावे तो धर्म के अनेक कार्य अनायास चल सकते हैं। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति का नेतृत्व है— सब अपने को नेता समझते हैं और अपने अभिप्राय के अनुरूप कार्य करने का आग्रह करते हैं। यथार्थ में मनुष्य पर्याय पाने का फल यह है कि अपने को सत्कर्म में लगावे। सत्कर्म से तात्पर्य यह है कि विषयेच्छा को त्यागे। विषयलिप्सा ने जगत् को अन्धा बना दिया। जगत् को अपनाना— अपना समझना ही अपने पात का कारण है। जन्म का पाना उसी का सार्थक है जो शान्ति से बीते। अन्यथा पशुवत् जीवन वध-बन्धन का ही कारण है। मनुष्य अपने सुख के लिये पर का आघात करता है परन्तु उसका इस प्रकार का व्यवहार महान् कष्टप्रद है। संसार में जिनको आत्महित की कामना है उसे उचित है कि पर की समालोचना छोड़े। केवल आत्मा में जो विकार भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें त्यागे। पर के उपदेश से कुछ लाभ नहीं और न पर को उपदेश देने से आत्मलाभ होता है। मोह की भ्रान्ति छोड़ो।

राजाखेड़ा में तीन दिन ठहरकर आगरा के लिये प्रस्थान कर दिया। बीच में दो दिन ठहरे। जैनियों के घर मिले। बड़े आदर से रक्खा तथा संघ के मनुष्यों को भोजन दिया, श्रद्धापूर्वक धर्म का श्रवण किया। धर्म के पिपासु जितने ग्रामीण

जन होते हैं उतने नागरिक मनुष्य नहीं होते। देहात में भोजन स्वच्छ तथा दुग्ध, घी शुद्ध मिलता है। शाक बहुत स्वादिष्ट तथा पानी, हवा सर्व ही उत्तम मिलते हैं। किन्तु शिक्षा की त्रुटि से वाचालता की त्रुटि रहती है। यदि एक दृष्टि से देखा जावे तो वर्तमान शिक्षा उनमें न होने से उन लोगों की आर्षधर्म में श्रद्धा है तथा स्त्री समाज में भी स्कूली और कालेजी शिक्षा के न होने से कार्य करने की कुशलता है। हाथ से पीसना, रोटी बनाना तथा अतिथि को भोजन दान देने की प्रथा है। फिर भी शिक्षा देने की आवश्यकता तो है ही। यह शिक्षा ऐसी हो, जिससे मनुष्य में मनुष्यता का विकास आ जावे। यदि केवल धनोपार्जन की ही शिक्षा भारत में रही तो इतर देशों की तरह भारत भी पर को हड़पने के प्रयत्न में रहेगा और जिन व्यसनों से मुक्त होना चाहता है उन ही का पात्र हो जावेगा तथा भारत का जो सिद्धान्त था कि —

अयं परो निजो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

वह बालकों के हृदय में अङ्कित हो जाता था और समय पाकर उसका पूर्ण उपयोग भी होता था। अब तो बालकों के माँ बाप पहले ही गुरुजी से यह निवेदन कर देते हैं कि हमारे पुत्र को वह शिक्षा देना, जिससे वह आनन्द से दो रोटियाँ खा सके। जिस देश में ऐसे विचार बालकों के पिता के हों वहाँ बालक विद्योपार्जन कर परोपकार-निष्णात होंगे यह असम्भव है। यहाँ पर मार्ग में जो ग्राम मिले उनमें बहुत से क्षत्रिय तथा ब्राह्मण ऐसे मिले जो अपने को गोलापूरव कहते हैं। हमारे प्रान्त में गोलापूरव जैनधर्म ही पालते हैं परन्तु यहाँ सर्व गोलापूरव शिव, कृष्ण तथा राम के उपासक हैं। सभी लोगों ने सादर धर्मश्रवण किया। किन्तु वर्तमान के व्यवहार इस तरह सीमित हैं कि किसी में अन्य के साथ सहानुभूति दिखाने की क्षमता नहीं। इसी से सम्प्रदायवाद की वृद्धि हो रही है। इस प्रान्त में जैसवाल जैनी बहुत हैं, अन्य जातिवाले कुछ कम हैं। यहाँ का जलवायु बहुत ही उत्तम है।

राजाखेड़ा से ६ मील चलकर एक नदी आई, उसे पार कर निर्जन स्थान में स्थित एक धर्मशाला में ठहर गये। स्थान बहुत रम्य तथा सुविधाजनक था। एक दहलान में सर्वसमुदाय ठहर गया। पौष मास था, इससे सर्दी का प्रकोप था। रात्रि में निद्रा देवी न जाने कहाँ पलायमान हो गई? प्रयत्न करने पर भी उसका दर्शन नहीं हुआ। अन्तरङ्ग की मूर्च्छा से उसके अभाव में जो लाभ संयमी महानुभाव

लेते हैं। उसका रञ्च भी हमारे पल्ले न पड़ा। प्रत्युत इसके विपरीत आर्त्तपरिणामों का ही उदय रहा। कभी-कभी अच्छे विचार भी आते थे, परन्तु अधिक देर तक नहीं रहते थे। कभी-कभी दिगम्बर मुद्रा की स्मृति आती थी और उससे यह शीतबाधा कुछ समय के लिए श्मशान-वैराग्य का काम करती थी। यह देखते थे कि कब प्रात:काल हो और इस संकटावस्था से अपने को सुरक्षित करें। इत्यादि कल्पनाओं के अनन्तर प्रात:काल आ ही गया। सामायिक कार्य समाप्त कर वहाँ से चल दिये। सूर्य की सुनहली धूप सर्वत्र फैल गई और उसकी हलकी ऊष्मा से कुछ संतोष का अनुभव हुआ। एक ग्राम में पहुँच गये। यहाँ पर श्रावकों के घर भी थे। वहीं पर भोजन किया। सब ने बहुत आग्रह किया कि एक दिन यहाँ निवास करिये। हम लोग भी तो मनुष्य हैं, हमको भी हमारी बात बताना चाहिये। केवल ऊपरी बातों से सन्तोष कराकर आप लोगों का यहाँ से गमन करना न्याय मार्ग की अवहेला करना है। हम ग्रामीण हैं, सरल हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम कुछ न समझते हों। हममें भी धर्मधारण की योग्यता है। हाँ, हमने शिक्षा नहीं पाई। शिक्षा से तात्पर्य यह है कि स्कूल-कालेज तथा विद्यालयों में पुस्तक द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं किया, किन्तु वह ज्ञान, जिसके द्वारा यह आत्मा अपना पराया भेद जानकर पापों से बचती है, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों में प्राकृत रूप से विद्यमान रहता ही है। यदि वह ज्ञान हममें न होता तो हम आपको अपना साधु न मानते और न आपको आहार दान की चेष्टा करते। हम यह जानते हैं कि आहार दान से पुण्यबन्ध होता है, आत्मा में लोभ का निरास होता है और मार्ग की प्रभावना होती है। बिना स्कूली शिक्षा के हममें दया भी है, हिंसा से भयभीत भी रहते हैं। भोजनादि में निर्जीव अन्न पदार्थों का भक्षण करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इन बातों में हम लोग नागरिक मनुष्यों की अपेक्षा न्यून नहीं हैं। केवल बाह्य आडम्बरों की अपेक्षा उनसे जघन्य हैं। यही कारण है कि आप लोग उनके प्रलोभन में आकर घण्टो व्याख्यान देकर भी विराम नहीं लेते हैं परन्तु हम लोगों पर आपकी इतनी भी दयादृष्टि नहीं होती कि थोड़ा भी समय प्रवचन में लगाकर हमें सुमार्ग पर लाने की चेष्टा करें। यह आपका दोष नहीं, काल की महिमा है। यदि तथ्य विचार से इस पर आप परामर्श करेंगे तब हमारा भाव आपके हृदयंगम होगा। ग्रामों की अपेक्षा शहरों में न तो आपको अन्न ही उत्तम मिलता है और न जल ही। प्रथम तो जिनके द्वारा आपको भोजन मिलता है वे औरतें हाथ से आटा नहीं पीसतीं। बहुतों के गृह में तो पीसने की चक्की ही नहीं। पानी

की भी यही दुर्दशा है। घी की कथा ही छोड़िये। हाँ, यह अवश्य है कि शहर में धन्यवाद और कुछ अपील करने पर धन मिल जाता है, जिससे वर्तमान संस्थाएँ चल रही हैं। हमारा तो यह विश्वास है कि शहर में जो धन मिलता है उसमें न्यायार्जित का भाग न होने से उसका सदुपयोग नहीं होता। यही कारण है कि समाज में निरपेक्ष धर्म का उद्योग करनेवाले बहुत ही अल्प देखे जाते हैं। अब आप लोगों की इच्छा, जहाँ चाहे जाइये, हमारा उदय ही हमारा कल्याण करेगा।

ग्राम के लोगों का लम्बा व्याख्यान सुन हम हतप्रभ से रह गये कुछ भी उत्तर देने में समर्थ नहीं हुए। यहाँ से चल कर एक ग्राम में सायंकाल पहुँच गये और प्रातःकाल ३ मील चल एक दूसरे ग्राम में पहुँच गये। यहाँ पर एक ब्रह्मचारी जी रहते थे उन्हीं ने भोजन का प्रबन्ध किया। महती भक्ति के साथ संघ को भोजन कराया। यहाँ पर आगरा से बहुत से मनुष्य आ गये। सामायिक करने के अनन्तर सर्व जनसमुदाय ने आगरा के लिये प्रस्थान कर दिया। दो मील जाने के बाद सहस्रों मनुष्यों का समुदाय गाजे-बाजे के साथ छीपीटोला के लिये चला। बाजा बजाने वाले बाजा में मधुर गाना सुना रहे थे, जिसको श्रवण कर मार्ग का परिश्रम विस्मृत-सा हो गया। समुदाय के साथ छीपीटोला की धर्मशाला में पहुँच गये। आधा घण्टा व्याख्यान में गया। व्याख्यान में यही अलाप था कि हम लोगों का महान् भाग्य है जो आपका शुभागमन हमारे यहाँ हुआ। हमने भी शिष्टाचार के नाते जो कुछ बना, वक्तव्य दिया। वक्तव्य में मुख्य बात यह थी कि—

मनुष्यभव पाना अति दुर्लभ है। इसका सदुपयोग यही है कि निज को जानकर पर का त्याग कर इस संसार-बन्धन से छूटने का उपाय करना चाहिये। इसका मूल कारण संयम भाव है। यही तात्पर्य है कि सब ओर से अपने को हटा कर अपने में लीन हो जाना। यही संसार के विनाश का मूल है, अतः सबसे मोह त्यागो! हम तो कोई वस्तु नहीं महापुरुषों ने भी तो यही मार्ग दिखाया है। महापुरुष वही है जो मोह-राग-द्वेष को निर्मूलित करने का प्रयत्न करता है। राग-द्वेष के अभाव में मूल कारण मोह का अन्त है। उसका अन्त करने वाला ही सर्वपूज्य हो जाता है। पूज्यता-अपूज्यता स्वाभाविक पर्याय नहीं किन्तु निमित्त पाकर आविर्भूत होती है। जहाँ मोहादिरूप आत्मपरिणति होती है वहीं अपूज्यता का व्यवहार होने लगता है और जहाँ इनका नाश होता है वहीं पूज्यता का व्यवहार होने लगता है। पूज्यता-अपूज्यता किसी जाति विशेष वाले व्यक्ति की नहीं होती।

जहाँ पापों की निवृत्ति होकर आत्मश्रद्धा हो जाती है वहीं पूज्यता आ जाती है और जहाँ पापों की प्रवृत्ति होने लगती है वहीं अपूज्यता का व्यवहार होने लगता है। यद्यपि समस्त आत्माओं में निर्मल होने की योग्यता है तथापि अनादि काल से पर पदार्थों का सम्बन्ध इस प्रकार का हो रहा है कि कुछ भी सुध-बुध नहीं रहती। यह जीव निरन्तर शरीर के अनुकूल ही प्रवृत्ति करता है। आप लोगों ने बाजा बजवा कर बाह्य प्रभावना की। बहुत ही सुन्दर दृश्य दिखाया, पर आभ्यान्तर प्रभावना की ओर प्रयास नहीं हुआ। यदि आभ्यान्तर प्रभावना हो जाय तो स्वर्ण में सुगन्धि हो जावे। अपनी ओर किसी का लक्ष्य नहीं। प्राय: सर्वत्र यही दृश्य देखा जाता है। हमारी प्रभावना से अन्य लोग लाभ उठा लेते हैं पर हम तो दर्शकमात्र ही रहने का प्रयास करते हैं। अन्य को धर्म का स्वरूप आ जावे, यही चेष्टा हमारी रहती है।

छीपीटोला की धर्मशाला में दो दिन ठहरे। तीसरे दिन श्री महावीर इण्टर कालेज का उत्सव था, गाजे-बाजे के साथ वहाँ गये। उत्सव में अच्छे-अच्छे मनुष्यों का समारोह था। व्याख्यानादि का अच्छा प्रबन्ध था जितने व्याख्यान हुए वे सब प्राय: लौकिक पदार्थों के पोषक थे। पारमार्थिक दृष्टि लोगों की नहीं। यद्यपि आज शिक्षा का प्रचार अधिक है परन्तु पारमार्थिक दृष्टि की ओर ध्यान नहीं। पहले समय में शिक्षा का उद्देश्य आत्महित था, परन्तु वर्तमान की शिक्षा का उद्देश्य अर्थार्जन और कामसेवन है। प्राचीन ऋषियों ने कहा है कि—

दु:खाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन् ।
दु:खापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमत्तमेव ।।

अब यह कथा पुराणों में रह गई है। इस कथा को जो कहे वह मनुष्यों की गणना में गणनीय नहीं। यही नहीं, लोग तो यहाँ तक कह देते हैं कि इस उपदेश ने हमारे भारतवर्ष का पतन कर दिया। सभ्य वही जो द्रव्य को अर्जन कर सके और अच्छे वस्त्रादिकों से सुसज्जित रहे। स्त्री और पुरुषों में कोई अन्तर न देखे। जैसे आप भ्रमण को जाते है वैसे ही स्त्रीगण भी जावे। जिस प्रकार तुम्हें सबसे भाषण करने का अधिकार है उसी तरह स्त्री समाज को भी हो। अस्तु, विषयान्तर को छोड़ो। सभा का काल पूर्ण होने पर कालेज देखा, व्यवस्था बहुत सुन्दर थी, मटरूमलजी बैनाड़ा का अनुशासन प्रशंसनीय है। यहाँ पर एक छात्रावास भी है तथा छात्रावास में जो छात्र रहते हैं उनके धर्मसाधन के अर्थ १ सुन्दर मन्दिर भी है। उसमें एक बृहत्मूर्ति है जिसके दर्शन से चित्त शान्त हो जाता है। यह सर्व

कार्य बैनाड़ाजी के द्वारा सम्यक्रीति से चल रहा है। तदनन्तर गाजे-बाजे के साथ अन्य जिन मन्दिरों के दर्शन करते हुए वेलनगञ्ज की जैन धर्मशाला में ठहर गये। धर्मशाला में ऊपर मन्दिर है। उसमें एक बिम्ब बहुत ही मनोज्ञ है। दर्शन करने से अत्यन्त शान्ति आई। यह बिम्ब श्री पद्मचन्द्रजी बैनाड़ा और उनके सुपुत्र मटरूमल्लजी बैनाड़ा ने शाहपुरगणेशगंज (सागर) में पञ्चकल्याणक के समय प्रतिष्ठित कराकर यहाँ पधराया है। इसके दर्शन कर भव्यों को जो आनन्द आता है वह वे ही जानें। मन्दिर में दो वेदिकाएँ और भी हैं। धर्मशाला के बगल में श्री स्वर्गीय मूलचन्द्र सेठ की दुकान है। उसमें श्री मगनमल्लजी पाटनी आधे के स्वामी हैं। आप अत्यन्त सज्जन हैं। आप और आपकी धर्मपत्नी-दोनों प्रातःकाल जिनेन्द्रदेव का अर्चन करते हैं। आपके दो सुपुत्र हैं बड़े का नाम श्री कुँवर नेमिचन्द्र है। दोनों ही सुयोग्य हैं। नेमिचन्द्र की अध्यात्मशास्त्र में अधिक रुचि है। आपका अभिप्राय श्रीकानजी स्वामी के अनुकूल है। विशेष विवेचन की आवश्यता नहीं।

यहाँ पर श्री ताराचन्द्रजी रपरिया रहते हैं। आप आँग्लविद्या के बी०ए० हैं। फिर भी जैन शास्त्रों के मर्मज्ञ हैं। आपकी व्याख्यानशैली अति उत्तम है, चारों अनुयोगों के ज्ञाता हैं, आपका व्यवहार अत्यन्त निर्मल है, फैशन की गन्ध भी आपको नहीं है। आपके मामा विशिष्ट सम्पन्न हैं। फिर भी आप स्वतन्त्र व्यापार कर स्वयं सम्पन्न हुए हैं। धार्मिक पुरुष हैं। विद्वानों से प्रेम रखते हैं। आपकी मण्डली में प्रायः तत्त्वरुचि वाले ही हैं। प्रतिदिन शास्त्र होता है। श्रोताओं में श्री बाबूरामजी शास्त्री भी आते हैं। आप बहुत तार्किक हैं— किसी-किसी पदार्थ को सहसा नहीं मान लेते। तर्क भी अनर्गल नहीं करते। यदि यह जीव जैनधर्म के शास्त्रों को अभ्यास करे तो एक ही हो, परन्तु गृहस्थी के चक्र से पृथक् हो तब न। इनकी स्त्री सुशीला है। प्रतिदिन दर्शनादि करती है, जब कि इनका जन्म विप्रकुल का है। ताराचन्द्र जी के सम्बन्ध से पं० तुलाराम जी व वकील हजारीलाल जी भी अच्छे धर्मज्ञ हो गये हैं। दो मारवाड़ी भाई तथा ख्यालीराम जी भी इनके शास्त्र में आते हैं। यहाँ पर एक सभा हुई। जिसमें जनता का समारोह अच्छा था। श्वेताम्बर साधु भी अनेक आये थे। साम्यरस के विषय में व्याख्यान हुआ। विषय रोचक था, अतः सबको रुचिकर हुआ। आत्महित इसी में है। इससे उच्चतम विषय क्या हो सकता है। यदि इस पर अमल हुआ तो सर्व उपद्रव अनायास ही शान्त हो जावेंगे। परमार्थ से कहने का नहीं वह तो अनुभवगम्य है, परन्तु

अनुभव तो संसार के विषयों में लीन हो रहा है, इसका स्वाद आना ही दुर्लभ है। उपयोग क्रमवर्ती है, अतः एक काल में एक ही पदार्थ तो वेदन करेगा। यह ज्ञान में नहीं आता कि जब ज्ञान स्वसंवेद्य ही होता है तब वह पर को वेदन करता है, यह असम्भव है। फिर जो यह स्थान-स्थान पर लिखा है कि संसारी जीव ने आज तक अपने को जाना ही नहीं यह समझ में नहीं आता। इसका उत्तर अमृतचन्द्र स्वामी ने स्वयं लिखा है कि ज्ञानतादात्म्य होने पर आत्मा आत्मा की उपासना करता ही है फिर क्यों उपदेश देते हो कि आत्मा की उपासना करना चाहिये? उत्तर— ज्ञान का आत्मा के साथ तादात्म्य होने पर भी क्षणमात्र भी आत्मा की उपासना नहीं करता। तो इसके पहले क्या आत्मा अज्ञानी है? हाँ अज्ञानी है, इसमें क्या सन्देह है? अतः इन परं पदार्थों से सम्बन्ध त्यागना ही श्रेयोमार्ग है। व्याख्यान समाप्त होने पर सब लोग अपने-अपने स्थान पर चले गये। यहाँ पर दो आदमी रोगग्रस्त हो गये। उनकी शुश्रूषा यहाँ वालों ने अच्छी तरह से की। वैद्य, डाक्टर आदि की पूर्ण व्यवस्था रही। आगरा बहुत भारी नगर है। यहाँ पर बहुत मन्दिर हैं। हम लोग सब मन्दिरों में नहीं जा सके। यहाँ निम्नाङ्कित सद्विचार हृदय में उत्पन्न हुए।

'संसार की असारता का निरूपण करना कुछ लाभदायक नहीं, प्रत्युत आत्मपुरुषार्थ करना परमावश्यक है। आत्मा का पुरुषार्थ यही है कि प्रथम पापों से निवृत्ति करे, अनन्तर निजतत्त्व की शुद्धि का प्रयास करें।'

'परिणामों की निर्मलता का कारण पर पदार्थों से सम्बन्ध-त्याग है। सम्बन्ध का मूल कारण आत्मीय बुद्धि ही है।'

'चित्तवृत्ति शमन करने के लिये आत्मश्लाघा त्यागने की महती आवश्यकता है। स्वात्मप्रशंसा के लिये ही मनुष्य प्रायः ज्ञानार्जन करते हैं, धनार्जन करते हैं, अन्य की निन्दा करते हैं, स्वात्मप्रशंसा करते हैं, पर मिलता-जुलता कुछ नहीं।'

'शिक्षा का उद्देश्य शान्ति है, उसका कारण अध्यात्मशिक्षा है, अध्यात्मशिक्षा से ही मनुष्य ऐहिक तथा पारलौकिक शान्ति का भाजन हो सकता है।'

'धार्मिक शिक्षा किसी सम्प्रदाय की नहीं। वह तो प्रत्येक प्राणी की सम्पत्ति है। उसका आदरपूर्वक प्रचार करना राष्ट्र का मुख्य कर्तव्य है। जिस राष्ट्र में उसके बिना केवल लौकिक शिक्षा दी जाती है वह राष्ट्र न तो स्वयं शान्ति का पात्र है और न अन्य का उपकारी हो सकता है। आगरा के जैन कालेज में धार्मिक शिक्षा

का जो प्रबन्ध है वह प्रशंसनीय है। धार्मिक जीवन के लिये धार्मिक शिक्षा की मुख्य आवश्यकता है।'

'आजकल भौतिकवाद के प्रचार से संसार का संहार हो रहा है। इसका मूल कारण एकाङ्गी शिक्षा है। यदि इसको अध्यात्मशिक्षा के साथ मिश्रण किया गया तो अनायास जगत् का कल्याण हो जायगा।'

'बहुत बोलना ही दु:ख का मूल है। संसार में वही मनुष्य सुख का भाजन हो सकता है जो नि:स्पृह हो। शान्ति का मार्ग वहीं है जहाँ निवृत्ति है। केवल जल्पवाद से कुछ लाभ नहीं। केवल गल्पकथा के रसिक मनुष्यों से सम्पर्क रहना ही संसार बन्धन का मूल कारण है।'

'यहाँ एक दिन स्वप्न में स्वर्गीय बाबा भागीरथजी की आज्ञा हुई कि हम तो बहुत समय से स्वर्ग में देव हैं। यदि तू कल्याण चाहता है तो इस संसर्ग को छोड़। तेरी आयु अधिक नहीं, शान्ति से जीवन बिता। यद्यपि तेरी श्रद्धा दृढ़ है तथापि उसके अनुकूल प्रवृत्ति नहीं। हम तुम्हारे हितैषी हैं। हम चाहते हैं कि तुम्हें कुछ कहें परन्तु आ नहीं सकते। आदर से त्याग को अपनाओ। आदर से अपनी अवज्ञा आप करते हो। अपना अनादर जो करता है उससे अन्य का आदर नहीं हो सकता। मनुष्यजन्म एक महती निधि है। यदि इसका उपयोग यथार्थ किया जावे तो इस जन्म-मरण के रोग से छुटकारा हो सकता है, क्योंकि संसारघात का कारण जो संयम है वही इसी विधि से मिलता है, परन्तु हम इतनी पामरता करते हैं कि राख के लिये चन्दन को भस्म कर देते हैं। स्वप्न में ही बाबाजी ने कहा कि तुमसे जन्मान्तर का स्नेह है। अभी एक बार तुम्हारा हमारा सम्बन्ध शायद फिर भी हो। क्षुल्लकपद की रक्षा करना कोई कठिन कार्य नहीं। मनुष्य-सम्पर्क छोड़ो। यदि कल्याणमार्ग की इच्छा है तो सर्व उपद्रवों का त्याग कर शान्त होने का उपाय करो। केवल लोकैषणा के जाल में मत पड़ो। हमने तो देखा और अनुभव किया कि अभी कल्याण का मार्ग दूर है। यदि उद्दिष्ट भोजन जानकर करते हो तो क्षुल्लकपद व्यर्थ लिया। लोकप्रतिष्ठा के लिये यह पद नहीं। यह तो कल्याण के लिये है, पर की निन्दा-प्रशंसा की परवाह न करो।'

यहाँ रहने का लोगों ने आग्रह बहुत किया और रहना लाभदायक भी था, तो भी हम मथुरा जाने का निश्चय कर यहाँ से चल दिये।

मथुरा में जैन संघ का अधिवेशन

आगरा से ३ मील चलकर एक महाशय की धर्मशाला में १५ मिनट आराम किया। पश्चात् वहाँ से चलकर सिकन्दराबाद आ गये। रात्रि सुख से बीती, प्रात:काल शौचादि क्रिया से निवृत्त हो अकबर बादशाह का मकबरा देखने गये। मकबरा क्या है, दर्शनीय महल है। उसमें अरबी भाषा में सम्पूर्ण मकबरा लिखा गया है। क्या है, यह हमको ज्ञात नहीं हुआ और न किसी ने बताया। मुसलमान बादशाहों में यह विशेषता थी कि वे अपनी संस्कृति के पोषक वाक्यों को ही लिखते थे। जैनियों में बड़ी-बड़ी लागत के मन्दिर हैं परन्तु उनमें स्वर्ण का चित्राभ मिलेगा, जैनधर्म के पोषक आगम वाक्यों का लेख न मिलेगा। अस्तु, समय की बलवत्ता है। धर्म जो आत्मा की शुद्ध परिणति है। उसका सम्बन्ध यद्यपि साक्षात् आत्मा से है तथापि निमित्त कारणों की अपेक्षा परम्परा बहुत से कारण हैं। उन कारणों में आगमवाक्य बहुत ही प्रबल कारण हैं। यदि इस मकबरा में पठन-पाठन का काम किया जावे तो हजारों छात्र अध्ययन कर सकते हैं। इतने कमरों में अकारादि वर्णों की कक्षा से लेकर एम०ए०तक की कक्षा खुल सकती है, परन्तु इतनी विशाल इमारत का कोई उपयोग नहीं और न उत्तर काल में होने की सम्भावना है। जो राज्यसत्ता है वह यह चाहती है कि ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये कि जिससे किसी को आघात पहुँचे। यह ठीक है, परन्तु निरर्थक पड़ी रहे यह भी ठीक नहीं, उसका उपयोग भी तो होना चाहिये।

यहाँ से चलकर सिकन्दराबाद आ गये। यहाँ पर श्रीमान् पं०माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य भी आए। आप बहुत ही शिष्ट एवं विद्वान् हैं। आपने श्लोकवार्तिकभाष्य का भाषानुवाद किया है। आपके अनेक शिष्य वर्तमानकालीन मुख्य विद्वानों की गणना में है। यहाँ ५-७ घर जैनियों के हैं। मकबरा का बृहद् भवन निरर्थक पड़ा है, इसकी चर्चा मैंने पण्डितजी से भी की। परन्तु सत्ता के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता, यह विचार कर संतोष धारण किया। मन में विचार आया कि—

मोही जीवों की मान्यता विलक्षण है और इसी मान्यता का फल यह संसार है। जहाँ शुभ परिणामों की प्रचुरता है वहाँ बाह्य में मनुष्यों के प्रति सद्व्यवहार है। परन्तु यहाँ तो धर्मान्धता की इतनी प्रचुरता है कि जो इसलाम धर्म को नहीं मानते वे काफिर हैं। यह लिखना मत की अपेक्षा प्रत्येक मत वाले लिखते हैं।

जैसे वैदिक धर्म वाले कहते हैं कि जो वेद वाक्यों पर श्रद्धा न करे वह नास्तिक है। जैनधर्म वालों का यह कहना है जिसे जैनधर्म की श्रद्धा नहीं वह मिथ्यादृष्टि है। यद्यपि ऐसा कहना या लिखना अपनी-अपनी मान्यता के अनुकूल है तथापि इसका यह अर्थ तो नहीं कि जो अपने धर्म को न माने उसको कष्ट पहुँचाओ। मुसलिम धर्म में काफिर के मारने में कोई पाप नहीं। बलिहारी है इन विचारों की। विचारों में विभिन्नता रहना कोई हानिकर नहीं। परन्तु किसी प्राणी को बलात् कष्ट देना परम अन्याय है। परन्तु यह संसार है। इसमें मानव अपनी मानवता को भूल दानवता को आत्मीय परिणति मान कर जो न करे अल्प है। अन्यायी जीव क्या अनर्थ नहीं करते, यह किसी से गुप्त नहीं। धर्म की मार्मिकता को न समझ कर मनुष्य अपने अनुकूल होने से चाहे वह कैसा ही हो उसे आदर देता है और यदि प्रतिकूल हो तो अनादर का पात्र बना देता है। वास्तव में धर्म कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, किन्तु जिसमें जो रहता है वही उसका धर्म है। जल में उष्ण स्पर्श नहीं रहता इसलिये वह उसका धर्म नहीं है। अग्नि का सम्बन्ध पाकर जल उष्ण हो जाता है। यद्यपि उष्ण स्पर्श का तादात्म्य वर्तमान जल से है तथापि वह उसमें सर्वदा नहीं रहता, अतः उसका स्वभाव नहीं कहा जा सकता। स्वभाव वह है जो पदार्थ में स्वतः रहता है और विभाव वह है जो पर के संसर्ग से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जीव में ज्ञान रहता है अतः वह उसका स्वभाव है। यद्यपि ज्ञान वर्तमान कर्मोदय से रागादिरूप हो जाता है तथापि परमार्थ से ज्ञान में राग नहीं। वह तो आत्मा का औदयिक परिणाम है। जिस काल में चारित्रमोह की राग प्रकृति का उदय होता है उस काल में आत्मा का प्रतिरूप परिणाम होता है। उस समय यदि तीव्र राग हुआ तो यह आत्मा विषयों के साधक स्त्री-पुत्रादि तथा अन्य अनुकूल पुद्गलों में राग करने लगता है और निरन्तर उन्हीं पदार्थों के साथ रुचि रखता है। यदि मन्द राग हुआ तो पञ्च-परमेष्ठी में अनुराग करने का व्यवहार करता है तथा प्राणियों पर दया करने की परिणति करता है। तीर्थक्षेत्रादि पर जाने की चेष्टा करता है, पास में यदि द्रव्यादि हुआ तो उसे परोपकार में लगाता है। परमार्थ से परपदार्थों में आदान-प्रदान की जो पद्धति है वह मोहजन्य परिणामों की चेष्टा है, क्योंकि जो वस्तु हमारी है ही नहीं उसे दान करने का हमें अधिकार ही क्या है तथा जो वस्तु हमारी है उसे हम दे ही नहीं सकते। हमारी वस्तु हमसे अभिन्न रहेगी, अतः हम उसका त्याग नहीं कर सकते। जैसे वर्तमान में हमारी आत्मा में क्रोध का परिणमन हुआ उस समय क्षमादिक का तो अभाव है—क्रोधमय हम

हो रहे हैं वही हमारा स्वरूप है, क्योंकि द्रव्य बिना परिणाम के रह नहीं सकता। क्षमा का उस काल में अभाव है। अत: जिस काल में आत्मा क्रोधरूप होता है उस काल में क्रोध ही है। एक गुण का एक काल में एक रूप ही तो परिणमन होगा, परन्तु उस समय भी जो विवेकी मनुष्य हैं वे उसे वैभाविक परिणति मान कर श्रद्धा में उससे विरक्त रहते हैं—यही उसका त्यागना है। देखा जाता है कि गुरु महाराज शिष्य के ऊपर क्रोध भी करते हैं,ताड़ना भी करते हैं, परन्तु अभिप्राय ताड़ना का नहीं है। इसी तरह ज्ञानी जीव को कर्मोदय में नाना प्रकार के भाव होते हैं परन्तु अन्तरङ्ग में श्रद्धा निर्मल होने से उसे करना नहीं चाहते। जिस प्रकार जब मनुष्य मलेरिया ज्वर से पीड़ित होता है तब वह वैद्य द्वारा बतलायी हुई कटुक से कटुक औषधि का सेवन करता है परन्तु अन्तरंग में उसे सेवन करने की रुचि नहीं। इसी प्रकार ज्ञानी जीव कर्मोदय से बाह्य पदार्थों का संग्रह करता है, सेवन भी करता है, परन्तु अन्तरंग से सेवन नहीं करना चाहता। अनादि कालीन संस्कार के विद्यमान रहते इसे बिना चाह के भी काम करना पड़ता है। आहार, भय, मैथुन, और परिग्रह ये चार संज्ञाएँ अनादि काल से जीव के लग रहीं है, क्योंकि अनादि काल से मिथ्यात्व का सम्बन्ध है, इसी से यह जीव परको अपना मान रहा है। इसी मानने के कारण शरीर को भी, जो स्पष्ट परद्रव्य है, निज मानता है। जब उसे निज मान लिया तब उसकी रक्षा के अनुकूल भोजन ग्रहण करता है तथा जो प्रतिकूल हैं उन्हें त्यागता है। नाश के कारण आ जावे तो उनसे पलायमान होने की इच्छा करता है। जब वेद का उदय आता है तभी स्त्री-पुरुष परस्पर विषय सेवन की इच्छा करते हैं तथा मोह के उदय में पर पदार्थों को ग्रहण करने की इच्छा होती है। इस तरह अनादि से यह चर्खा चल रहा है। जिस समय दैवात् संसार तट समीप आ जाता है उस समय अनायास इस जीव के इतने निर्मल परिणाम होते हैं कि अपने को पर से भिन्न मानने का अवसर स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। जहाँ आपसे भिन्न पर को माना वहाँ संसार का बन्धन स्वयमेव शिथिल हो जाता है। संसार के मूल कारण के जाने पर शेष कर्म स्वयमेव पृथक् हो जाते हैं। जैसे दशवें गुणस्थान तक ज्ञानावरणादि षट् कर्मों का बन्ध होता है। बन्ध में कारण सूक्ष्म लोभ है, बँधने वाले कर्मों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त ही पड़ती है। परन्तु जब दशवें गुणस्थान के अन्त में मोह का सर्वथा नाश हो जाता है तब बारहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में निद्रा, प्रचला और अन्त में ज्ञानावरणकी ५, अन्तरायकी ५ और दर्शनावरण की ४ प्रकृतियाँ नाश को प्राप्त हो आत्मा

को केवल ज्ञान का पात्र बना देती हैं। यही प्रक्रिया सर्वत्र है— करणलब्धि के परिणाम होने पर जब सम्यग्दर्शन आत्मा में उत्पन्न हो जाता है तब अनायास ही मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। शेष प्रकृतियों का जो बन्ध होता है वह मित्यात्व के साथ में जैसा होता था वैसा नहीं होता। अत: जहाँ तक बने विपरीत अभिप्राय को दूर करने का बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करो। बिना निर्मल अभिप्राय के कल्याण होना असम्भव है। कल्याण का विघातक मलिन अभिप्राय ही है। यद्यपि इसका निर्वचन होना कठिन है फिर भी पर पदार्थ में जो निजत्व कल्पना होती है। वही इसका कार्य है वही विपरीत अभिप्राय है। इसी से असत्कल्पनाएँ होती हैं। इसी के रहते आत्मा किसी में राग, किसी में द्वेष और किसी में उपेक्षा करता है। इस कार्य से इसे पहिचान कर इसके छोड़ने का प्रयत्न करो। समस्त संसारी जीवों के मन, वचन, काय के व्यापार स्वयमेव होते रहते हैं। ये ही व्यापार जब मन्द कषाय के साथ हों तो शुभ कहलाते हैं और शुभास्रव के हेतु भी हो जाते हैं तीव्र कषाय के साथ हों तो अशुभ शब्द से कहे जाते हैं और अशुभ आस्रव के कारण होते हैं। इस प्रकार यह परम्परा अनादि काल से चली आती है। कदाचित् सम्यग्दर्शन न हो और मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों का मन्द उदय हो तो द्रव्यलिङ्ग हो जाता है परन्तु वह द्रव्यलिङ्ग अनन्त संसार का घातक नहीं। यद्यपि द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग के बाह्य आचरण में कोई अन्तर नहीं रहता, फिर भी इनके कार्य में प्रचुर अन्तर हो जाता है। द्रव्यलिङ्ग से पुण्यबन्ध होता है अर्थात् अघातिया कर्मों में जो पुण्यप्रकृतियाँ हैं उनका विशेष बन्ध होता है, परन्तु घातिया कर्मों की पाप प्रकृतियाँ हैं उनका बन्ध नहीं रुकता। कर्मों में घातिया कर्म जो हैं वे सब पापरूप ही हैं उनमें सर्व आपत्तियों की जड़ मोह (मिथ्यात्व) है। इसकी सत्ता स्वयं अपने अस्तित्व की रक्षा करती है और शेष घातिया कर्मों की सत्ता रखती है। इसके अभाव में शेष कर्मों का अस्तित्व सेनापति के अभाव में सेना के अस्तित्व तुल्य रह जाता है। वृक्ष की जड़ उखड़ जाने पर उसके हरापन का अस्तित्व कितने काल तक रहेगा? अत: जिन जीवों को संसारबन्ध से मुक्त होने की अभिलाषा हो उन्हें प्राणपन—पूर्ण प्रयत्न से सर्वप्रथम इसका निर्मल उच्छेद करना चाहिये। इसके होने पर जो कार्य करोगे वही सफल होगा।

यहाँ पर आगरा से भी अनेक महानुभाव आये थे। यहीं पर एक क्षत्रिय महोदय भी मिले। आपने अपने ग्राम ले जाने का आरम्भ किया। आपका ग्राम

वहीं था, जहाँ श्री सूरदास जी ने जन्म लिया था। ग्राम का नाम रुनकता था और क्षत्रिय महोदय का नाम ठाकुर अमर सिंह था। आप डाक्टर थे और कवि भी। आपने अपनी कविता सुनाई। रात भर इसी रुनकता ग्राम में रहे। ठाकुर साहब का अभिप्राय था कि एक दिन यहाँ निवास किया जावे तथा हमारे गृह पर आप पधारें, हमारे कुटुम्बीजन आपका दर्शन कर लेवें तथा वहीं पर आपका भोजन हो तब हमारा गृह शुद्ध होवे। परन्तु हृदय की दुर्बलता और लोगों की १४४ धारा ने यह न होने दिया। मुख्यतया इसमें हमारी दुर्बलता ही बाधक हुई। यहाँ से चले तो ठाकुर साहब बराबर जिस ग्राम में हमने निवास किया, वहाँ तक आये तथा कहने लगे, क्या यही जैनधर्म है? जिस धर्म में प्राणी मात्र के कल्याण का उपदेश है, आप लोगों ने अभी उसके मर्म को समझा नही। हमें दृढ़ विश्वास है कि धर्म का अस्तित्व प्रत्येक जीव में है, किन्तु उपचार से बाह्य कारण माने जाते हैं। आप लोग भी इस बात को जानते हैं कि बाह्य कारणों में उलझना अच्छा नहीं। जब आप लोग व्याख्यान करते हैं, तब ऐसे-ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं कि जिन्हें श्रवण कर अन्य प्राणी मोहित हो जाते हैं। हमने कई स्थानों पर श्रवण किया **'मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु'** अर्थात् प्राणीमात्र में मैत्री भावना आना चाहिये। मैत्री का अर्थ है किसी प्राणी को दुखः न हो ऐसी अभिलाषा रखना। प्राणीमात्र का दुःख दूर हो जावे इसकी अपेक्षा प्राणीमात्र को दुःख न हो यह भावना उत्कृष्ट है। जो आत्मगुण विकास में ला चुके हैं, ऐसे महानुभावों को देखकर हर्षित हो जाना, इस भावना का नाम प्रमोदभावना है। हम आपके इस अर्थ को श्रवण कर गद्गद हो गये। जो जीव क्लेश से पीड़ित है, दुखी हैं, दीन हैं, दारिद्र्य कर पीड़ित हैं तथा धनी होकर भी कृपण है, उन्हें देखकर करुणा भाव करना तथा जो मोक्षमार्ग की कथा न तो स्वयं श्रवण करते हैं और न श्रवण करने की अभिलाषा ही रखते हों, ऐसे दुराग्रही लोगों में माध्यस्थ्य भावना रखना ही उचित है। ऐसा जिस धर्म का अभिप्राय है— कहाँ तक कहें। जहाँ उन जीवों की भी रक्षा का उपाय बतलाया है कि जो दृष्टिगोचर भी नहीं होते। जैसे अनाज के ऊपर जहाँ फुल्ली आ जावे, वहाँ उस अनाज को उपयोग में मत लाओ, जो रस स्वाद से चलित हो जावे, वहाँ उसे मत भक्षण करो। कहाँ तक लिखें, जो जल जिस कूपादि से लाये हो, उसे छानकर जीवानी उस जलाशय में निक्षिप्त कर दो। जहाँ ऐसी दया का वर्णन हो, वहाँ पर हमारे साथ जो आपका व्यवहार है, क्या वह प्रशंसनीय है? हम

इस बात को मानते हैं कि हमारा आचरण आप लोगों की अपेक्षा अच्छा नहीं है परन्तु यह सर्वथा मानना अच्छा नहीं, क्योंकि हम लोगों के यहाँ भी आटा, गेहूँ चुग-चुगकर पीसा जाता है, चावल आदि भी चुग कर खाते हैं, शाकादि देखकर बनाये जाते हैं। हाँ, पानी छानकर नहीं पीते तथा जैन मन्दिर नहीं जाते सो बहुत से लोग आपमें भी ऐसे हैं, जो बिना छना पानी पी जाते हैं तथा नियमपूर्वक मन्दिर नहीं जाते। अस्तु, इन युक्तियों से हम आपको लज्जित नहीं करना चाहते, परन्तु हृदय से तो कहो कि आप जैनधर्म के प्रचार का कितना उपाय करते हो? आप पैदल यात्रा कर रहे हैं, इसलिये उचित तो यह था कि जहाँ पर जाते वहाँ आम जनता में धर्म का उपदेश करते। जो मनुष्य उसमें रुचि करते वहाँ १ या २ दिन रहकर उन्हें भोजनादि प्रक्रिया की शिक्षा देते तथा उनके गृहपर भोजन करते, तब जैनधर्म का प्रचार होता या जहाँ ठहरे वहाँ पर साथ में रहनेवालों ने भोजन दिया, खाया। रात्रि को जहाँ ठहरे वहाँ पर कुछ काल तो मार्ग की कथा में गया, कुछ गल्पवाद में गया, अन्त में सो गये। एक त्यागी के भोजन में बीसों रुपये व्यय हो गये, फल क्या निकला? केवल मार्ग की धूलि छानना ही तो हुआ। यह हम जानते हैं कि एक त्यागी २०) नहीं खा सकता परन्तु उसी के अर्थ तो यह आडम्बर है। कल्पना करो यदि वह एकाकी चलता तो जिस ग्राम में जाता, मुझे विश्वास है कि उस ग्राम में एक आध दिन ही व्यवस्था होने में कठिनाई होती पश्चात् सब ठीक हो जाता और लोग उसके जाने की व्यवस्था कर देते। मैं हृदय से कहता हूँ मथुरा तक तो मैं पहुँचा देता। वर्णीजी! आपसे मेरा अति प्रेम हो गया है इसका कारण आपकी सरलता है। परन्तु खेद है कि लोगों ने इसका दुरुपयोग किया तथा आपसे जो हो सकता था, वह न हुआ। इसमें मूल कारण आप भीरु प्रकृति के हैं। आपकी भीरु प्रकृति इतनी है कि मैं इनके यहाँ भोजन करने लगूँगा तो लोग मुझे क्या कहेंगे? यह आपकी कल्पना निःसार है, लोग क्या कहेंगे? हजारों मनुष्य सुमार्ग पर आ जावेंगे। आजकल अहिंसा तत्त्व की ओर लोगों की दृष्टि झुक रही है, सो इनका मूल कारण यह है कि अहिंसा आत्मा की स्वच्छ पर्याय है। 'अहिंसा ही धर्म है' इसका अर्थ यह है कि जब आत्मा में मोहादि परिणाम नहीं रहता। तब आत्मा तन्मय हो जाता है। अहिंसा किसी एक जाति या एक वर्ण विशेष का धर्म नहीं है। जिस आत्मा में जिस काल तथा जिस क्षेत्र में रागादि परिणाम नहीं होते हैं उसी के पूर्ण अहिंसा-धर्म होता है। आपने ही तो सुनाया था कि—

आत्मा में रागादि-भावों का उत्पन्न न होना अहिंसा है और उन्हीं का उत्पन्न होना हिंसा है। अस्तु, हमको ऐसी प्रवृत्ति करना चाहिये, जो हमारी प्रवृत्ति पर-पदार्थों के संसर्ग से दूषित न हो। आप लोग न तो स्वयं अहिंसाधर्म पालते हैं और न परको उसकी शिक्षा देते हैं। हम लोग भी इतने अज्ञानी हो रहे हैं कि आपसे धर्म चाहते हैं। जो धर्म आप पालते हैं वह हम भी पाल सकते हे। हमने यह समझ रक्खा है कि आप लोग ही धर्म के उपदेष्टा हैं। आपको दान देने से हमें पुण्यबन्ध होता है, यह भ्रम निकल गया। आप लोग भयभीत हैं, बड़े आदमियों की हाँ में हाँ मिलानेवाले हैं, उनके विरुद्ध अक्षर भी नहीं बोल सकते। अर्थात् उनकी बात चाहे आगम विरुद्ध हो आप लोग उसका प्रत्युत्तर न देवेंगे अथवा हाँ में हाँ मिला देवेंगे। परन्तु इससे हमें क्या? जैसा आपको रुचे वैसा करो....... इतना कह कर वह तो चले गये, हम निरुत्तर रह गये।

पश्चात् वहाँ से गमन कर एक स्थान में निवास किया। सानन्द रात्रि व्यतीत कर चल दिए। भोजनादि की व्यवस्था हुई, मध्याह्नोपरान्त श्री पं०राजेन्द्रकुमार जी महामन्त्री सदलबल आ गये। महान् समारोह हो गया और आनन्द से श्री जम्बूस्वामी की निर्वाण भूमि पहुँच गये। पहुँचते ही स्मृति पटल में पिछली बात याद आ गई कि यह वही भूमि है, जहाँ पर श्री जैन महाविद्यालय की स्थापना हुई थी और मैंने भी जिसमें रहकर अध्ययन किया था। आजकल दि०जैनसंघ का कार्यालय यहीं पर है। अनेक सुन्दर भवन संघ के हैं, एक सरस्वती-भवन भी हैं। एक दिगम्बर जैन गुरुकुल भी है, जिसमें इण्टर तक पढ़ाई होती है। हम लोगों का आतिथ्य-सत्कार होने के बाद सुन्दर भवनों में निवास कराया गया। संघ का वार्षिकोत्सव था, जिसके सभापति श्रीमान् हुकमचन्द्र जी साहब इन्दौर वाले थे। समारोह के साथ आपका स्वागत किया गया। आप अत्यन्त पुण्यशाली जीव हैं। धर्म के रक्षक तथा स्वयं धर्मात्मा हैं। जब कोई आपत्ति धर्म पर आती है तब आप उसे सब प्रकार से निवारण करने का प्रयत्न करते हैं। आपने सभापति का भाषण देते हुए कहा कि वर्तमान में जैनधर्म का विकास करना इष्ट है तो सर्वप्रथम आत्मविश्वास करो तथा संयम-गुण का विकास करो, उदार- हृदय बनो, पर की निन्दा तथा आत्मप्रशंसा त्यागो, केवल गल्पवाद में समय न खोओ। आगे भाषण देते हुए आपने कहा कि इस समय हम सबको परस्पर मनोमालिन्य का त्याग कर सौजन्यभाव से धर्म की प्रभावना करना चाहिए। केवल व्याख्यानों से कल्याण न होगा, जो बात व्याख्यानों में आती है उसे कर्तव्यपथ में आना चाहिये—

बात कहन भू पग धरन करण खडग पद धार ।
करनी कर कथनी करें ते विरले संसार ।।

अर्थात् बात का कहना कोई कठिन नहीं जो कहा जावे उसे कर्तव्य में लाना चाहिये। आज हर एक वक्ता होने की चेष्टा करता है— प्रत्येक मानव उपदेष्टा बनना चाहता है, श्रोता व शिष्य कोई नहीं बनना चाहता। अस्तु, काल का प्रभाव है, हमको जो कहना था कह दिया। जैनसंघ की रक्षा के लिए आपने २५०००) पच्चीस हजार का दान किया। उपस्थित जनता ने भी यथाशक्ति-दान दिया। इसी अवसर पर विद्वत्परिषद् की कार्यकारिणी की बैठक भी थी, जिसमें पं०फूलचन्द्र जी बनारस, पं०कैलाशचन्द्र जी बनारस, पं०दयाचन्द्र जी, पं०पन्नालाल जी सागर, पं०बाबूलाल जी इन्दौर, पं०खुशालचन्द्र जी बनारस, बंशीधर जी बीना, पं० नेमीचन्द्र जी आरा, पं० जगन्मोहनलाल जी कटनी आदि अनेक विद्वान् पधारे थे। बैठक में विचारणीय विषय थे— मानवमात्र को दर्शनाधिकार, प्राचीन दंस्सा-शुद्धि आदि। जिनपर उपस्थित विद्वानों में पक्ष-विपक्ष को लेकर काफी चर्चा हुई, परन्तु अन्त में निर्णय कुछ नहीं हो सका। यदि विद्वान् परस्पर का मनोमालिन्य त्याग किसी कार्य को उठावें, तो उनमें वह शक्ति है जिसे कोई रोकने के लिए समर्थ नहीं। परन्तु परस्पर का मनोमालिन्य उनकी शक्ति को कुण्ठित किये हुए है। 'विश्वशान्ति और जैनधर्म' इस विषय पर निबन्ध लिखाने का विचार स्थिर हुआ। जैन संघ में श्री पं०राजेन्द्रकुमार जी अत्यन्त उत्साही और कर्मठ व्यक्ति हैं। संघ का वर्तमान रूप उन्हीं के पुरुषार्थ का फल है। एक दिन आपके यहाँ भोजन हुआ, तब आपने स्याद्वादविद्यालय बनारस को ५०१) देना स्वीकृत किया। इसी तरह एक दिन सेठ भगवानदासजी के यहाँ आहार हुआ। सेठानी श्री वच्छराज जी लाडनूँ वालों की पुत्री हैं। इन्होंने भी स्याद्वाद-विद्यालय को १०००) देना अंगीकार किया। सेठ भगवानदासजी सौम्य व्यक्ति हैं। आप नवयुवक होते हुए भी सज्जनता से भरे हुए हैं। टोंग्याजी भी यहाँ पर प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। आपके प्रबन्ध से यहाँ रथयात्रा महती प्रभावना के साथ हुई। बाहर के भी मनुष्य आये, तीन दिन तक अच्छी चहल-पहल रही। अनन्तर मेला विघट गया। यहाँ श्रीविनयकुमार-जी 'पथिक' संघ में रहते हैं जो जात्या ब्राह्मण हैं तथा कविता अच्छी करते हैं। कविता करने की पद्धति प्रायः प्रत्येक को नहीं आती, यह भी एक कला है। एकान्त-चिन्तन के समय निम्नांङ्कित विचार उत्पन्न हुए—

'लोगों में धर्म के प्रति महान् श्रद्धा है, किन्तु धर्मात्माओं का अभाव है। लोग प्रतिष्ठा चाहते हैं परन्तु धर्म को आदर नहीं देते। मोह के प्रति आदर है, धर्म के प्रति आदर नहीं। धर्म आत्मीय वस्तु है, उसका आदर विरला ही करता है। जो आदर करता है, वही संसार से पार होता है।'

'सागर के समान मनुष्य को गम्भीर होना चाहिए। सिंह के सदृश उसकी प्रकृति होनी चाहिये। शूरता की पराकाष्ठा होना ही मनुष्य के लिये लौकिक और पारमार्थिक सुख कहीं नहीं, केवल लौकिक सुख की आशा त्याग देना ही परमार्थ सुख की प्राप्ति का उपाय है। सुख-शक्ति का विकास आकुलता के अभाव से होता है।'

'भगवन्! तुम अचिन्त्य-शक्ति के स्वत्व में क्यों दर-दर के भिक्षुक बन रहे हो? भगवन् से तात्पर्य स्वात्मा से है। यदि तुम अपने को संभालो, तो फिर जगत् को प्रसन्न करने की आवश्यकता नहीं।'

'संसार से उद्धार करने के अर्थ तो रागादि निवृत्ति होनी चाहिए परन्तु हमारा लक्ष्य उस पवित्र-मार्ग की ओर नहीं जाता। केवल जिससे रागादि पुष्ट हों उसी ओर अग्रसर होता है। अनादिकाल से पर-पदार्थों को अपना मान रक्खा है, उसी ओर दृष्टि जाती है— कल्याण-मार्ग से विमुख रहते हैं।

'सुख का कारण क्या है, कुछ समझ में नहीं आता। यदि बाह्य पदार्थों को माना जावे, तब तो अनादिकाल से इन्हीं पदार्थों को अर्जन करते-करते अनन्त-भव व्यतीत हो गए, परन्तु सुख नहीं पाया। इस पर्याय में यथायोग्य बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु कुछ भी शान्ति न मिली।'

'संसार में कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं जो आज है वह कल नहीं रहेगा। संसार क्षणभंगुर है, इसमें आश्चर्य की बात नहीं। हमारी आयु ७४ वर्ष की हो गई परन्तु शान्ति का लेश भी नहीं आया और न आने की सम्भावना है, क्योंकि मार्ग जो है, उससे हम विरुद्ध चल रहे हैं। यदि सुमार्ग पर चलते तो अवश्य शान्ति का आस्वाद आता, परन्तु यहाँ तो उल्टी गङ्गा बहाना चाहते हैं। धिक् इस विचार को जो मनुष्य जन्म की अनर्थकता कर रहा है। केवल गल्पवाद में जन्म गमा दिया। बाह्य प्रशंसा का लोभी महान् पापी है।'

'लोगों की अन्तरङ्ग भावना त्यागी के प्रति निर्मल है किन्तु इस समय त्यागीवर्ग उतना निर्मल नहीं।'

'हम बहुत ही दुर्बल प्रकृति के मनुष्य हैं, हर किसी को निमित्त मान लेते हैं, अपने आप चक्र में आ जाते हैं, अन्य को व्यर्थ हीं उपालम्भ देते हैं, कोई द्रव्य किसी का बिगाड़ सुधार करने वाला नहीं....यह मुख से कहते हैं परन्तु उस पर अमल नहीं। केवल गल्पवाद है। बड़े-बड़े विद्वान् व्याख्यान देते हैं परन्तु उस पर अमल नहीं करते।'

मथुरा से चलते-चलते पद्मपुराण में वर्णित मथुरापुरी का प्राचीन वैभव एक बार पुनः स्मृति में आ गया।

यहाँ पर मधु राजा का शत्रुघ्न के साथ युद्ध हुआ। शत्रुघ्न ने छल से उसके शस्त्रागार को स्वाधीन कर लिया। अस्त्रादि के अभाव में राजा मधु शत्रुघ्न से पराजित हो गया, किन्तु गज के ऊपर स्थित जर्जरित शरीर वाले मधु ने अनित्यत्वादि अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन कर दिगम्बर वेष का अवलम्बन किया। उसी समय शत्रुघ्न ने आत्मीय अपराध की क्षमा माँगी—हे प्रभो! मुझ मोही जीव ने जो आपका अपराध किया वह आपके तो क्षम्य है ही, मैं मोह से क्षमा माँग रहा हूँ।

अलीगढ़ का वैभव

मथुरा से चलते ही चित्त में संघ से विरक्तता हो गई। विरक्तता का कारण पर को अपना मानना है। वह अपना होता नहीं, केवल पर में निजत्व कल्पना ही दुःखदायी है। चलकर वसुगाँव में ठहर गए। यहाँ के ठाकुर नत्थासिंह जी बहुत ही सज्जन हैं। यही पर श्री मनीराम जाट मिलने आया, बहुत ही सज्जन था। उसके यह नियम था हि हाथ से उपार्जन किया ही मेरा धन है, पराया धन न जाने अन्यायोपार्जित हो तथा मैं किसी के प्राण नहीं दुखाना चाहता। हम यहाँ पुरसान की धर्मशाला में ठहर गए। यह धर्मशाला एक अग्रवाल शाह की है। बहुत ही सज्जन हैं, अतिथि-सत्कार में अच्छी प्रवृत्ति है, मन्दिर भी बना है, रामचन्द्रजी का उपासक है, अनेक भाई दर्शन के लिए आते हैं। यहाँ का जमादार भला मानुष है। यहाँ से ८ मील चलकर हाथरस पहुँचे। यहाँ पर ६ मन्दिर हैं। १ मन्दिर बहुत बड़ा है, जिसका निर्माण बहुत ही सुन्दर-रीति से हुआ है। इसकी कुरसी बहुत ऊँची है। यहाँ पर मनुष्य बहुत ही सज्जन हैं। यहाँ कन्या पाठशाला में ठहरे। किन्तु स्थान संकीर्ण था। लघुशंका के लिए स्थान ठीक नहीं था, नाली में पानी जाता था, जो आगम विरुद्ध है। भोजन के अर्थ श्रावकों के घर जाते थे परन्तु मार्ग निर्मल नहीं, प्रायः अशुचि का सम्बन्ध मार्ग में बहुत रहता है।

नये-मन्दिर में सभा हुई। बाहर से आये हुए विद्वानों के व्याख्यान मनोरञ्जक थे। थोड़ा सा समय हमने भी दिया। व्याख्यान श्रवण कर मनुष्यों के चित्त द्रवीभूत हो गये तथा मन में श्रद्धा विशेष हो गई। श्रद्धा कितनी ही दृढ़ क्यों न हो, किन्तु आचरण के पालन बिना केवल श्रद्धा अर्थकारी नहीं। श्रद्धा के अनुरूप ज्ञान भी हो, परन्तु आचरण के बिना वह श्रद्धा और ज्ञान स्वकार्य करने में समर्थ नहीं।

हाथरस से सासनी ७ मील था। लगातार चलने से थक गये, ज्वर आ गया। श्री छेदीलाल जी के आग्रह से सासनी आये थे। इनके पिता बहुत ही धर्मात्मा थे। इनके काँच का कारखाना है, वहाँ पर इनके पिता का निवास रहता था, आप निरन्तर ईसरी आते रहते थे, धार्मिक मनुष्य थे, आपकी धर्मरुचि बहुत ही प्रशस्त थी। ईसरी आश्रम में जितने गेहूँ व्यय होते थे, सब आप देते। अब आपका स्वर्गवास हो गया है। आपके छेदीलाल और उनके लघुभ्राता इस प्रकार दो पुत्र हैं। आप लोगों ने वेदी-प्रतिष्ठा कराई, जिसमें उस प्रान्त के बहुत से जैनी भाई आये। आपके द्वारा एक हाईस्कूल भी सासनी में चल रहा है। बहुत ही सुख से यहाँ रहा। यहाँ पर १ विलक्षण प्रथा देखने में आयी कि जिस समय श्री जिनेन्द्र देव का रथ निकल रहा था, उस समय यहाँ के प्रत्येक जाति वालों ने श्री जिनेन्द्रदेव को भेंट की। कोई जाति इससे मुक्त न थी। सर्व ही जनता ने श्री महावीर स्वामी की जय बोली। यवन लोगों ने ४०) भेंट किया तथा ब्राह्मण एवं वैश्यों ने भगवान् की आरती उतारी। कहाँ तक कहें, चर्मकारों ने २००) की भेंट की। खेद इस बात का है, हमने मान रक्खा है कि धर्म का अधिकार हमारा है। यह कुछ बुद्धि में नहीं आता। धर्मवस्तु तो किसी की नहीं, सर्व आत्मा धर्म के पात्र हैं, बाधक कारण जो हैं, उन्हें दूर करना चाहिये।

माघ वदी संवत् २००५ का दिन था। आज वेग से ज्वर आ गया। मन में ऐसा लगने लगा कि अब शारीरिक-शक्ति क्षीण होती जाती है। सम्भव है आयु का अवसान शीघ्र हो जावे, अतः कुछ आत्महित करना चाहिये। केवल स्वाध्याय आदि में चित्तवृत्ति स्थिर करना चाहिये, प्रपञ्चों में पड़ व्यर्थ दिन व्यय करना उचित नहीं। संसार की दशा का खेद करना लाभदायक नहीं। दूसरे दिन साधारण सभा थी, हमारा व्याख्यान था। परन्तु हमसे समय पर यथार्थ व्याख्यान न बन सका। हमारी शारीरिक शक्ति बहुत मन्द हो गई, अब हम उतने शक्तिशाली नहीं कि १००० जनता में व्याख्यान दे सकें। अब तो केवल १० मनुष्यों में व्याख्यान

दे सकते हैं। शक्तिह्रास को देखते हुए उचित तो यह है कि अब सर्व विकल्पों का त्याग कर केवल आत्म-हित पर दृष्टिपात करें। गल्पवाद के दिन गये, अब आत्मकथा में रसिक होना चाहिये। आज रात्रि को पुन: बाबा भागीरथ जी का दर्शन हुआ। आपने कहा—

'क्या चक्र में फँस अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर रहे हो? आत्मा की शान्ति पर पदार्थों के सहकार से बन्धन में पड़ती हैं और बन्धन से ही चतुर्गति के चक्र में यह जीव भ्रमण करता है। हम क्या कहें? तुमने श्रद्धा के अनुरूप प्रवृत्ति नहीं की। त्याग वह वस्तु है जो त्यक्त पदार्थ का विकल्प न हो तथा त्यक्त पदार्थ के अभाव में अन्य वस्तु की इच्छा न हो। नमक का त्याग मधुर की इच्छा बिना ही सुन्दर है।'

अगले दिन प्रात: नियमसार का प्रवचन हुआ। उसमें श्री कुन्दकुन्द महाराज ने जो आवश्यक की व्याख्या की, वह बहुत ही हृदयग्राही व्याख्या है। तथाहि—

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ।।१४१।।

अर्थात् जो जीव अन्य के वश नहीं होता है उसे अवश कहते हैं और उसका जो कर्म है उसे अवश्य कहते हैं। वही भाव कर्म-विनाश करने के योग्य है। उसी को, निर्वृत्ति मार्ग है, ऐसा निरूपण किया है। कुन्दकुन्द स्वामी की बात क्या कहें, उनका तो एक-एक शब्द ऐसा है, मानों अमृत के सागर में अवगाहन कर बाहर निकला हो। लोग हमारे जीवनचरित्र की चर्चा करते हैं परन्तु उसमें है क्या? जीवन-चरित्र उसका प्रशंसनीय होता है जिसके द्वारा कुछ आत्महित हुआ हो। हम तो सामान्य पुरुष हैं। केवल जन्म मानुष का पाया, परन्तु मानुष जन्म पाकर उसके योग्य कार्य न किया। मानुष जन्म पाकर कुछ हित करना चाहिये।

माघ वदी ९ सं० २००५ को मध्याह्न की सामायिक पूर्ण होते-होते अलीगढ़ के महानुभाव आ गये, जिससे वहाँ के लिये प्रस्थान कर दिया। यहाँ से अलीगढ़ ३ मील था। १ मील चलकर बाग में ठहर गये। वहाँ से गाजे-बाजे के साथ खिरनीसराय के मन्दिर में गये। आनन्द से दर्शन कर, मन्दिर की धर्मशाला में ठहर गये। स्थान त्यागियों के ठहरने योग्य नहीं। यदि वास्तव में धार्मिक बुद्धि है, तो त्यागी को गृहस्थ के मध्य में नहीं ठहरना चाहिये। गृहस्थों के सम्पर्क

से बुद्धि में विकार हो जाता है और विकार ही आत्मा को पतित करता है, अतः जिन्हें आत्महित करना है, वे इन उपद्रवों से सुरक्षित रहें।

अलीगढ़ वह स्थान है जहाँ पर श्री स्वर्गीय पण्डित दौलतराम जी साहब का जन्म स्थान था। आपका पाण्डित्य बहुत ही प्रशस्त था, आपके भजनों में समयसार, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों के भाव भरे हुए हैं। छहढाला तो आपकी इतनी सुन्दर रचना है कि उसके अच्छी तरह ज्ञान में आने पर आदमी पण्डित बन सकता है। पण्डित ही नहीं, मोक्षमार्ग का पात्र बन सकता है। 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि' स्तोत्र में समस्त सिद्धान्त की कुञ्जी बता दी है। स्तवन करने का यथार्थ मार्ग प्रदर्शन कर दिया है। यहीं वर्तमान में पण्डित श्रीलालजी[१] हैं। आप संस्कृत के प्रौढ़ विद्वान् हैं। आपकी श्रद्धा बीस पन्थ के ऊपर दृढ़ हो गई है। आप पहले खड़े होकर पूजा करते थे, अब बैठकर करने लगे हैं तथा अपने पक्ष को आगमानुकूल पुष्ट करते हैं। हमारा आपसे प्राचीन परिचय है। आपके पुत्र कमलकुमारजी हैं। आपने मध्यमा तक व्याकरण का अध्ययन किया है। पण्डितजी के पिता पं० प्यारेलाल जी धर्मशास्त्र के उत्तम विद्वान् थे। गोम्मटसारादि ग्रन्थों के मर्मज्ञ थे। छहढाला के अर्थ को घण्टों निरूपण कर सभा को प्रसन्न कर देते थे। आपके तर्क बहुत प्रबल शक्तिमय थे। अच्छे-अच्छे वक्ता आपको मानते थे। आपकी श्रद्धा दिगम्बर आम्नाय में तेरापन्थ को मानने की थी। हम तो उनको अपना हितैषी मानते थे, क्योंकि उन्हीं के उपदेश से जैनधर्म के अध्ययन में हमारी रुचि हुई थी। आपके द्वारा जैन जनता में स्वाध्याय का विशेष प्रचार हुआ। आप जैनधर्म की वृद्धि का निरन्तर प्रयत्न करते थे। यहीं पर एक छीपीटोला हैं। वहाँ पर ३ जिनमन्दिर हैं। इसी टोला में श्री हकीम कल्याणरायजी रहते थे। आप महासभा के मुख्य उपदेशक थे। आपके द्वारा महासभा का सातिशय प्रचार हुआ। इस टोला में एक मन्दिर में श्री महावीर स्वामी की पद्मासन प्रतिमा बहुत ही रम्य विराजमान है, जिसे अवलोकन कर परम शान्ति का परिचय होता है।

यहाँ बाग के मन्दिर में सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें बहुत वक्ताओं के भाषण हुए। मेरा भी व्याख्यान हुआ। मैं वृद्धावस्था के कारण पूर्ण रूप से व्याख्यान नहीं दे सकता, फिर भी जो कुछ कहता हूँ हृदय से कहता हूँ। मेरा अभिप्राय यह है कि आत्मा अपने ही अपराध से संसारी बना है और अपने ही प्रयत्न से

---

[१] अब आपका देहान्त हो गया है।

मुक्त हो जाता है। जब यह आत्मा मोही, रागी, द्वेषी होता है तब स्वयं संसारी हो जाता है तथा जब राग द्वेष मोह को त्याग देता है, तब स्वयं मुक्त हो जाता है, अत: जिन्हें संसार-बन्धन से छूटना है, उन्हें उचित है कि राग, द्वेष, मोह छोड़ें।

आत्मपरिणति को निर्मल बनाने के जो उपाय हैं उनमें सर्वश्रेष्ठ आत्मावबोध है। पर से भिन्न अपने को मानो, भेदविज्ञान ही ऐसी वस्तु है जो आत्मा का बोध कराता है। स्वात्मबोध के बिना राग-द्वेष का अभाव होना अति कठिन है, क्या असंभव है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि तत्त्वज्ञान सम्पादन किया जाय। तत्त्वज्ञान का कारण आगमज्ञान है। आगमज्ञान के लिए यथाशक्ति व्याकरणन्याय तथा अलंकारशास्त्र का अभ्यास करना चाहिए। मैं बोलने में बहुत दुर्बल हो गया हूँ, क्योंकि मेरी यह दृढ़ श्रद्धा है कि मैं जो कहता हूँ, उसका स्वयं तो पालन नहीं करता, अन्य से क्या कहूँ? यही कारण है कि मैं उपदेश में संकोच करता हूँ। वास्तव में वही आत्मा सुख का पात्र हो सकता है जो कथन पर आरूढ़ होता है। न तो हम स्वयं तद्रूप होने की चेष्टा करते हैं और न अन्य पर उसका प्रभाव डाल सकते हैं। इसका मूल कारण केवल कषाय की कृशता का अभाव है। उस आत्मा को ही उपदेश देने का अधिकार है जो स्वयं मार्ग पर चले। केवल शब्दों की मधुरता और सरलता अन्य पर प्रभाव नहीं डाल सकती। उचित तो यह है कि हमें इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि हम प्रथम उस पर अमल करें, अनन्तर पर को बताने की चेष्टा करें, तभी सफल हो सकते हैं। प्रतिदिन सुन्दर विचार आत्मा में आते हैं। परन्तु उन पर आरूढ़ नहीं होते अत: जैसे आये वैसे न आये, कुछ लाभ नहीं। केवल कथावाद से कोई लाभ नहीं, लाभ तो उस पर हृदय से अमल करने में है। देहली से पं०राजेन्द्र कुमार जी शास्त्री आ गये और पं०चन्द्रमौलि जी हमारे साथ ही थे। आप लोगों के भी उत्तम व्याख्यान हुए। परन्तु स्वभाव में परिवर्तन होना कठिन है। स्वभाव से तात्पर्य पर निमित्तक भावों से है। अनादिकाल से हमारी प्रवृत्ति आहारादि संज्ञाओं में हो रही है। आत्मा का स्वभाव ज्ञायक भाव है। ज्ञायक भाव में ज्ञेय का अनुभव होना ही कष्टकर है।

अलीगढ़ से चलकर बाग के मन्दिर में आये। वहाँ १ घण्टा रहे। हकीम इन्द्रमणि जी ने व्याख्यान दिया। यहाँ से चलने पर बिजलीवालों ने बहुत रोका, पर हमलोग नहीं रुके। लोगों में भक्ति बहुत है, परन्तु भक्ति जिसकी की जाती है वह पात्र नहीं, वेषमात्र हैं, कुछ भी हो, अलीगढ़ का पहला वैभव चलते-चलते आँखों के सामने झूलने लगा।

मेरठ की ओर

अलीगढ़ से भाकुरी ६ मील है। यहाँ पर ठहर गये। प्रातःकाल यहाँ से ४ मील चलकर नगरिया की धर्मशाला में भोजन किया। १२।। बजे सामायिक कर चल दिए और ३ बजे गुहाना की धर्मशाला में ठहर गये। यहाँ पर एक बाग है। बीच में एक छोटा-सा सरोवर है। उसमें शिवजी का मन्दिर है। बाग सुन्दर है। यहाँ पर अलीगढ़ से पाँच मनुष्य आये। उनसे स्वाध्याय की बात हुई, तो उत्तर मिला— करते हैं। हम इतर को उपदेश दान में चतुर हैं, स्वयं करने में असमर्थ हैं। केवल वेष बना लिया और परको उपदेश देकर महान् बनने का प्रयत्न है। यह सब्र मोह का विलास है। गुहाना से ५ मील चलकर एक स्थान पर भोजन किया। यहाँ पर एक अग्रवाल मनुष्य बहुत ही सज्जन था, जिसका नाम मुझे स्मृत नहीं रहा।·उसने घर से लाकर ऽ२ सेर गुड़, आटा, नमक, दुग्ध संघ के अन्य लोगों के भोजन के लिए दिया। बहुत ही श्रद्धा से भोजन कराया। जैनी लोगों की अपेक्षा इनमें श्रद्धा न्यून नहीं, परन्तु जैनी त्यागी इसका प्रचार नहीं करते। यहाँ से चलकर दमारा में एक वैश्य की दूकान में ठहर गये। स्थान तो अच्छा था, परन्तु मक्षिकाओं की बहुलता से खिन्न रहे। हम ६ आदमी यहाँ रह गये। बाकी सब लोग खुरजा चले गये। ग्राम है, जलवायु उत्तम है। यहाँ एक वेदान्ती ठाकुर मिले, शान्त परिणामी थे।

सं० २००५ माघ सुदी ३ को प्रातः १० बजे खुरजा पहुँच गये। यह वही खुरजा है जहाँ पर राणी वाले प्रसिद्ध सेठ रहते थे। उन्हीं के मुख्य पुत्र सेठ मेवाराम जी थे, जो सेठ ही नहीं, उस समय के प्रमुख विद्वान् थे। उस समय आपकी गणना विद्वानों में ही नहीं, प्रमुख सेठों में भी थी। आप विद्या के रसिक थे। एक संस्कृत विद्यालय भी आपके द्वारा चलता था, जिसमें २५ छात्र अध्ययन करते थे। छात्रों को भोजनाच्छादन आपकी तरफ से था। क्वीन्स कालेज बनारस की मध्यमा परीक्षा तक व्याकरण, न्याय, काव्य का अध्ययन होता था। आप स्वयं अध्ययन-अध्यापन करते कराते थे। आप विद्वान् ही न थे, वक्ता और वाग्मी भी थे तथा आर्य समाज के विद्वानों से शास्त्रार्थ भी करते थे। यहाँ पर पं०तेजपाल जी भी प्रसिद्ध विद्वान् थे, आप विद्वान् ही नहीं, धनाढ्य भी थे। यहीं पर पण्डित नैनसुखदास जी थे। जो स्त्री-सभा में शास्त्र पढ़ते थे। यहीं पर श्री सेठ मेवाराम जी के चाचा सेठ अमृतलाल जी थे, जो अत्यन्त धर्मात्मा और शास्त्र के वक्ता

थे। आपकी प्रवृत्ति आरम्भ से बहुत भयभीत रहती थी। बहु-आरम्भ की आप निरन्तर निन्दा करते थे। मिल के कार्यों से आपको महती घृणा थी। आप छात्रों को निरन्तर दान देते थे। आप सात भाई थे, सातों ही सम्पन्न और धार्मिक विचारों के थे। मैंने भी खुर्जा में विद्याभ्यास किया था। बनारस की प्रथमा परीक्षा यहीं से दी थी। यहीं पर न्याय पढ़ना प्रारम्भ किया था। पण्डित चण्डीप्रसाद जी, जो कि व्याकरण के निष्णात विद्वान् थे, उनसे पढ़ना शुरू किया था। सेठ मेवाराम जी उन दिनों मुक्तावली आदि का अध्ययन कर चुके थे। व्याकरण की मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण हो चुके थे। यहाँ पर एक सुन्दरलाल वैश्य थे, जो बहुत व्युत्पन्न थे।

वर्तमान में सेठ मेवाराम ही के सुपुत्र शान्तिप्रसाद जी बहुत ही योग्य हैं। उनके घर आहार हुआ, आप बहुत कुशल हैं, धर्म में आपकी रुचि बहुत है, तत्त्वज्ञान के सम्पादन में बहुत प्रयत्नशील हैं। आपके कमरा में सरस्वती भवन है। सब तरह की पुस्तकें आपके भण्डार में विद्यमान हैं। हस्तलिखित शास्त्र भी १०० होंगे। सत्यार्थप्रकाश भी प्राय: जितने प्रकार के मुद्रित हैं सर्व यहाँ पर हैं। प्राय: मुद्रित सभी पुराण इनके पास हैं। आपके कुटुम्ब की लगभग १०० जनसंख्या होगी। प्रमुख व्यक्ति यहीं पर रहते हैं। खुर्जा आते ही पिछले दिन स्मृति-पटल में अङ्कित हो गये। उस ज्योतिषी की भविष्यवाणी भी याद आ गई, जिसने कहा था कि तुम वैशाख के बाद खुर्जा न रहोगे। मोहजन्य संस्कार जब तक आत्मा में विद्यमान रहते हैं, तब तक यह चक्र चलता रहता है। जब तक अन्तरंग से मूर्च्छा नहीं जाती तब तक कुछ नहीं होता। केवल विकल्पमाला है। मोह के परिणामों में जो-जो क्रिया होती है, करनी पड़ती है। आनन्द का उत्थान तो कषायभाव के अभाव में होता है। गल्पवाद से यथार्थ वस्तु का लाभ नहीं। संसार में अनेक प्रकार की आपत्तियाँ हैं, जिन्हें यह जीव मोहवश सहन करता हुआ भी उनसे उदासीन नहीं होता।

खुर्जा में ३ दिन रह कर चल दिये। नहर के बांध पर आये। पानी बड़े वेग से बरसा और हम लोग मार्ग भूल गये। परन्तु श्री चिदानन्द जी के प्रताप से उस विरुद्ध मार्ग को त्याग कर अनायास ही सरल मार्ग पर आ गये। रात्रि होते-होते एक ग्राम में पहुँच गये। यहाँ जिसके गृह में निवास किया था वह क्षत्रिय था। रात्रि में उनकी माँ ने मेरे पास एक चद्दर देखकर बड़ी ही दया दिखलाई। बोली—बाबा! शरदी बहुत पड़ती है, रात्रि को नींद न आवेगी, यहाँ नवीन सौड

(रजाई) रक्खी है, अभी तक हम लोगों के काम में नहीं आई, आप उसे लेकर रात्रि को सुखपूर्वक सो जाइये और मैं दूध लाती हूँ उसे पान कर लीजिये, खुर्जा से आये हो, थक गये होगे, इससे अधिक हम कर ही क्या सकती हैं? आशा है हमारी प्रार्थना आप भङ्ग न करेंगे। मैंने कहा— माँ जी! मैं यही वस्त्र ओढ़ता हूँ तथा रात्रि को कुछ खान-पान नहीं करता हूँ। बुढ़िया माँ सुन कर बहुत उदासीन हो बोली—मुझको बहुत ही क्लेश हुआ। अब एक प्रार्थना करती हूँ कि प्रात:काल मेरे यहाँ भोजन कर प्रस्थान करें। अनन्तर हम, लोग शयन करने गये। प्रात:काल हुआ, सामायिक कर चलने लगे, तो बूढ़ी माँ आ गई और बोली कि यह क्या हो रहा है? हमने कहा—माँ जी! जा रहे हैं। वह बोली—यह शिष्टाचार के अनुकूल आचरण नहीं। हमने कहा—माँ! फिर घाम हो जावेगा। उसने कहा—यह उत्तर शिष्टाचार का विघातक है। अच्छा, तुम्हारी जो इच्छा, सो करो, किन्तु २) ले जाओ, इनके फल लेकर सब लोग व्यवहार में लाना तथा पुत्र से बोली—बेटा! घर के ताँगा में इनका सामान भेज दो। हम लोग बुढ़िया माँ के व्यवहार से सन्तुष्ट हो चल दिये और मार्ग में उसी के सौजन्यपूर्ण व्यवहार की चर्चा करते रहे। उसका बेटा महावीर राजपूत २ मील तक पहुँचाने आया और मेरे बहुत आग्रह करने पर वापिस लौटा। मेरे मन में आया कि यदि ऐसे जीवों को जैनधर्म का यथार्थ स्वरूप दिखाया जाय, तो बहुत जनता का कल्याण होवे।

खुर्जा से ४ मील चल कर बुलन्दशहर आ गये और वहाँ वालों ने शिष्टाचार के साथ हमें मन्दिर जी की धर्मशाला में ठहरा दिया। यहाँ पर मन्दिर जी के नीचे भाग में मन्दिर की दुकान में एक सज्जन मनिहारी की दुकान किये थे उन्हीं के घर पर भोजन हुआ। आप बहुत ही उदार व्यक्ति थे। आपका व्यापार लाहौर में होता था। बहुत ही धनाढ्य थे। परन्तु लाहौर के पाकिस्तान में जाने से आप यहाँ आ गये और आपकी सम्पत्ति का बहुत भाग वहाँ ही रह गया। इसका आपको खेद न था, आपके हृदय से यही वाक्य निकले कि संसार में यही होता है। जहाँ पर सहस्रों नरेशों को परम्परागत अधिकारों से वञ्चित होना पड़ा तथा अंग्रेजों का अखण्ड प्रताप अस्त हो गया वहाँ हमारे इस दशा पर आश्चर्य कौन बात है? अथवा अन्य की कथा त्यागो, आप स्वयं अपनी दशा को देखो। क्या चालीस वर्ष पहले आप इसी तरह यष्टि के सहारे चलते थे? अस्तु, इस कथा को छोड़ो और मन्दिर में शास्त्र-प्रवचन कीजिये। अनुकूल कारण के सद्भाव से चित्त में शान्ति का परिचय हुआ। आत्मानुशासन का स्वाध्याय किया—

श्री गुणभद्राचार्य का कहना है कि हे आत्मन्! तुम दुःख से भयभीत होते हो और सुख की वाँछा करते हो, अतः जो तुम्हें अभीष्ट है उसी का हम अनुशासन करेंगे। देखा जाता है, संसार में प्राणी मात्र दुःख से डरते हैं और सुख की अभिलाषा करते हैं। यदि उनकी अभिलाषा के अनुकूल उन्हें मार्ग मिल जाता है, तो उनकी आत्मा को शान्ति हो जाती है। परन्तु यह संसार है, अनन्त दुःखों का भण्डार है, इसमें अनुकूल मार्ग दर्शकों की अत्यन्त त्रुटि है।

जना घनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः ।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रा ये जगदभ्युज्जिहीर्षवः ।।

अर्थात् संसार में ऐसे मनुष्य और मेघ सुलभ हैं जो वाचाल और वृथा गर्जना करने वाले हैं। जगत् के मनुष्यों को व्यामोह में डालने वाले शब्दों की सुन्दर-सुन्दर रचना द्वारा अपने को कृतकृत्य मानने वाले मनुष्यों की गणनातीत संख्या है इसी प्रकार घटाटोप से गर्जन करनेवाली अगणित मेघमालाएँ आकाशपथ में प्रकट होकर विलीन हो जाती हैं, परन्तु जलशून्य होने के कारण जगत् की उपकारिणी नहीं होती। अतः बन्धुवर्ग! जो वक्ता आत्महित का उपदेश करें, मन्दकषायी हों, निर्लोभ, निर्मान, निर्माय तथा क्षमागुण संयुक्त हों उनके मुख से शास्त्र श्रवण कर आत्मकल्याण के मार्ग में लग जाओ। मनुष्य जन्म का लाभ अति कठिन है, संयम का साधन इसी पर्याय में होता है। सब प्रकार की योग्यता यहाँ है। नारकी तो अनन्तर दुःख के ही पात्र हैं। तिर्यञ्चों में भी बहुभाग निरन्तर पर्यायबुद्धि में ही काल पूर्ण करता है। कुछ अन्य निर्यञ्च संज्ञी पर्याय के पात्र होते हैं। उनमें अधिकांश तो महाहिंसक क्रूर ही जन्म पाते हैं। कुछ सरल-भद्र भी होते हैं। इन दोनों प्रकार के तिर्यञ्चों में जिनके मन है वे सम्यग्दर्शन और देशसंयम के पात्र हैं, परन्तु विरले हैं। देवों में शुभोपयोग के कार्यों की मुख्यता है, परन्तु कितना प्रयत्न करें, संयम से वञ्चित ही रहते हैं। मन्दकषाय हैं, शुक्ललेश्या तक हो सकती है, परन्तु वह लेश्या मनुष्य पर्याय में संभवनीय शुक्ललेश्या से न्यून ही है। मनुष्यजन्म में संसार नाश का साक्षात् कारण जो रत्नत्रय है, वह हो सकता है। मनुष्य ही महाव्रत का पात्र हो सकता है। ऐसे निर्मल मनुष्यजन्म को पाकर पञ्चेन्द्रियों के विषय में लीन हो खो देना बुद्धि का दुरुपयोग है। आप लोग सम्पन्न हैं, नीरोग हैं और साधन अच्छे हैं। यदि इस उत्तर अवसर को पाकर आत्महित से वञ्चित रहे, तो अन्त में पश्चात्ताप ही रह जावेगा, अतः जहाँ तक बने, आत्मतत्त्व की रक्षा करो। उससे अधिक मैं नहीं जानता। अब हमको जाना है, आप लोग आनन्द से रहिये।

प्रवचन के बाद बुलन्दशहर से ४ मील चल कर एक कूप पर विश्राम के अर्थ रह गये और १५ मिनट के अनन्तर वहाँ से प्रस्थान कर दो मील के उपरान्त एक धर्मशाला में ठहर गये। धर्मशाला के समीप ही एक शिवालय था, उसमें सायंकाल बहुत से भद्र मनुष्य आये और सन्ध्या वन्दन कर चले गये। अन्त में एक महाशय ने प्रश्न किया कि संसार में मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है? यह तो महादुःख का सागर है? प्रश्न के उत्तर में मैंने कहा— दुःख क्या है? वह महाशय बोले— जो नाना प्रकार की अभिलाषाएँ होती हैं वही दुःख है। मैंने कहा—जब यह निश्चय हो गया कि अभिलाषाएँ ही दुःख हैं, तब इन्हें त्यागना ही दुःखनिवृत्ति का उपाय है। किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं। इतना ही मार्मिक तत्त्ववेत्ता कहेंगे। दुःखनिवृत्ति का उपाय जब यही है तब दुःख के मूल कारणों से अपने को सुरक्षित रखना मनुष्य का कर्तव्य अनायास सिद्ध है। आज की कथा तो प्रत्यक्ष ही है। संसार में जिसकी आवश्यकताएँ जितनी अधिक होंगी वह उतना ही अधिक दुःख का पात्र होगा। जितनी कम अभिलाषायें होगीं, वह उतना ही कम दुःख का पात्र होगा, इससे अधिक उपदेश कल्याण मार्ग का है नहीं। दुःख का मूल कारण पर में निज की कल्पना है। जिसने इस कल्पना की उत्पत्ति को रोका, उसने संसार का बीज ही उच्छेद कर डाला। देव, गुरु और आगम की उपासना का भी यहीं सार है। यदि मोह नष्ट हो गया, तो विषाक्त दन्त के बिना सर्प जिस प्रकार फण पटकता रहे, पर कुछ अहित करने को समर्थ नहीं, उसी प्रकार अन्य विभाव काम करता रहे, पर आत्मा का कुछ पदार्थ बिगाड़ नहीं सकता इसे, हम और आप जानते हैं। यदि विशेष जानने की इच्छा हो तो विशिष्ट विद्वानों के पास जाओ। मेरा उत्तर सुन उसका चित्त गद्गद हो गया।

यहाँ रात्रि को ठण्ड का बहुत प्रकोप हुआ, परन्तु जब निरूपाय कोई उपद्रव आ जाता है तब एक संतोष इतना प्रबल उपाय है कि उसे वह उपद्रव बिना किसी उपाय के स्वयमेव शान्त हो जाता है। यहाँ से प्रातःकाल चले। लगभग ६ मील चले होंगे कि एक वैष्णव धर्म को मानने वाली महिला आई और उसने बहुत से फल समर्पण किये। बहुत ही आदर से उसने कहा कि हमारा भारतवर्ष देश आज जो दुर्दशापन्न हो रहा है, उसका मूल कारण साधु लोगों का अभाव है। प्रथम तो साधुवर्ग ही यथार्थ नहीं और जो कुछ हैं वह अपने परिग्रह में लीन हैं। कोई उपदेश भी देते हैं, तो तमाखू छोड़ो, भाँग छोड़ो, रात्रि को मत खाओ...... यह उपदेश नहीं देते, क्योंकि वे स्वयं इन व्यसनों के शिकार रहते हैं। यथार्थ उपदेश के अभाव

में ही देश का नैतिक चरित्र निर्मल होने की जगह मलिन हो रहा है। यद्यपि सम्प्रदाय भेद होने से भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के साधु हैं तथापि आत्मा को चैतन्य मानना, पञ्चपाप त्यागना, यह तो प्राणिमात्र के लिए उपदेश देना चाहिए। इसमें क्या हानि है? अथवा यह तो दूर रहो, प्रथम तो उपदेश ही नहीं देते। यदि देते भी हैं, तो ऐसा उपदेश देवेंगे, जिसका सामान्य मनुष्यों को बोध भी नहीं होगा कि महाराज क्या कह रहे हैं? आप पैदल यात्रा करते हैं, यह बहुत ही उत्तम है, परन्तु आप जो आपके परिकर में हैं उन्हें उपदेश देवेंगे या जहाँ जैन जनता मिल जावेगी, वहाँ उपदेश देवेंगे। हम लोगों को आपके पैदल भ्रमण से क्या लाभ? आपको तो सर्वप्राणिवर्ग के साथ धार्मिक प्रेम रखना चाहिए। धर्म तो धर्मी का होता है। हम भी तो धर्मी (आत्मा) हैं, अतः हमको भी धर्म का तत्त्व समझाना चाहिए। मेरा तो दृढ़तम विश्वास है कि यदि वक्ता सुबोध और दयालु है तो श्रोतागण उससे अवश्य लाभ उठावेंगे। हम लोग इतने संकुचित विचार के हो गये हैं कि इतर को दीन समझ सदुपदेश से वंचित रखते हैं। मैं तो इसका अर्थ यह जानती हूँ कि जो वक्ता स्वयं मोक्षमार्ग से वञ्चित है, वह इतर को उससे लाभान्वित कैसे करा सकता है? अतः मेरी आपसे नम्र प्रार्थना है कि आप अपनी पैदल यात्रा का यथार्थ लाभ उठावें। वह लाभ आप तभी उठा सकेंगे, जब धर्म का उपदेश प्राणीमात्र के लिए श्रवण करावेंगे। जो बातें मैंने आपके समक्ष प्रदर्शित की यदि उनमें कुछ तथ्यांश दृष्टि में आवे तो उन्हें स्वीकृत करना, अन्यथा त्याग देना। इतना बोलने का साहस मैंने आज ही किया और आपने सुन लिया, यह आपकी शिष्टाचारता है। अब मैं आपका अधिक समय नहीं लेना चाहती........ इतना कह प्रणाम कर वह चली गई।

महिला चली गई और हृदय के अन्दर विचारों का एक संघर्ष छोड़ गई। उसके चले जाने पर मैंने बहुत कुछ मानसिक परिश्रम किया। मन में विचार आया कि क्यों तुम्हें एक अबला इतनी शिक्षा दे गई? क्यों उसका इतना प्रबल साहस हुआ? मैं तो उसका कथन श्रवण कर आत्मीय दुर्बलता पर ध्यान देने लगा। विचार किया कि ७४ वर्ष की आयु होनवाली है, परन्तु तुमने आज तक शान्ति नहीं पाई। प्रथम तो सम्यग्दर्शन होने के बाद आत्मा में अनन्त संसार की विच्छित्ति हो जाने से अनन्त ही शान्ति आना चाहिए। अप्रत्याख्यानावरण कषाय शान्ति की घातक नहीं। केवल ईषत् संयम, जिसे देशसंयम कहते हैं, नहीं होने देती। देशसंयम-घातक कषाय आत्मस्वरूप के बोध होने में बाधक नहीं। अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव में आत्मा हर समय, चाहे स्वात्मोपयोगी हो, चाहे पर पदार्थों

के ज्ञान में उपयुक्त हो, आत्मश्रद्धा से विचलित नहीं होता। यही कारण है कि यह सर्वसंसार के कार्यों में व्यग्र रहने पर भी व्यग्र नहीं होता। उसकी महिमा अवर्णनीय और अचिन्त्य है। जिस दिन सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया, उस दिन आत्मा कर्तृत्वधर्म का स्वामी मिट गया।

अज्ञान के कारण ही यह आत्मा पर पदार्थों का कर्त्ता बनता फिरता है, अत: जब अज्ञानभाव की—मोहमिश्रित ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, तब यह अकर्त्ता हो जाता है। किसी पदार्थ का अपने आपको कर्ता नहीं मानता। जिसे इस तत्त्व की प्राप्ति हो चुकी उसे अब चिन्ता करने की कौन सी बात है? जिसके पास ९९९९९९९) रुपये ६३ पैसे और २ पाई हो गई, उसे कोट्यधीश कहना कुछ अत्युक्ति नहीं। परन्तु परमार्थ से अभी १ पाई की कमी उसे कोट्यधीश नहीं कहने देती। इसी प्रकार अनन्त संसार का अभाव होने पर भी अभी उस जीव को हम सर्वज्ञ—केवली नहीं कह सकते। कहने का तात्पर्य यह है कि जब जीव के सम्यग्दर्शन हो जाता है, उस समय उसकी आत्मा में शान्ति आती है, उसका अनुभव उसी आत्मा को है, अन्य कोई क्या उसका निरूपण करेगा? इतना होने पर भी यदि वह अन्तरङ्ग से खिन्न रहता है, तो मेरी बुद्धि में तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। व्यर्थ ही व्रती बनने का मान करता है। मोक्ष मार्ग में जो कुछ कला है, इसी सम्यग्दर्शन की है। विवाह में मुख्यता वर की है, वरातियों की नहीं। यदि वह चंगा है, तो सर्व परिकर सानन्द है। इसके असद्भाव में सर्व परिकर का कोई मूल्य नहीं, अत: हम जो रात्रि-दिन शान्ति के अर्थ रुदन करते हैं, उस रुदन को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि हम लोगों की जैनधर्म में अकाट्य श्रद्धा है। शेष त्रुटि कम करने के अर्थ पुरुषार्थ करना चाहिए। मेरा तो यह विश्वास है कि यदि धर्म में हमारी रुचि है, तो अवश्य ही हम मोक्षमार्ग के पात्र हैं। श्री समन्तभद्रस्वामी ने कहा है कि सम्यक्त्व के समान श्रेयस्कर और मिथ्यात्व के समान अश्रेयस्कर अन्य नहीं। अस्तु, इस विषय में विवाद न कर, निरन्तर शान्त भावों का उपार्जन करो। मन में यही विचार आया कि—गल्पवाद मत करो, सहसा उत्तर मत दो, हठ मत करो, किसी को अनिष्ट मत बोलो, जो उचित बात हो, उसके करने में संकोच मत करो, आगम के प्रतिकूल मत चलो। न धर्म बाह्य चेष्टा में हैं और न अधर्म, उसका तो सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मा की सत्ता का अनुमापक सुख दु:ख का अनुभव है तथा प्रत्यभिज्ञान भी आत्मा की नित्यता में कारण है, प्रत्येक मनुष्य सुख की अभिलाषा करता है।

इसी विचार निमग्नदशा में चलकर बुलन्दशहर से आठ मील आये और १ धर्मशाला में ठहर गये। यहाँ से ९ मील चलकर गुलावटी में श्री मोहन जैसवाल की धर्मशाला में ठहर गये। यहाँ पर कई बुढ़ियाँ आईं और केला आदि चढ़ा गईं। उन्होंने समझा कि यह कोई उड़िया बाबा हैं। अभी तक भारत में वेष का आदर है। यहाँ पर मेरठ से बाबू ऋषभदास जी आ गये। उन्हीं के यहाँ भोजन किया। आप बहुत ही सज्जन हैं। यहाँ से ३ मील चलकर एक धर्मशाला में ठहर गये। एक कोठरी थी। उसी में ५ आदमियों ने गुजर किया। रात्रि को शीत का बहुत प्रकोप था। परन्तु अन्त में वह प्रकोप गया। प्रात:काल ७।। बजे जब दिनकर की सुनहली धूप सर्व ओर फैल गई तब चले। कुछ समय बाद तगा ब्राह्मणों के ग्राम में पहुँच गये, तगा लोग अपने को त्यागी कहते हैं। ये लोग दान नहीं लेते हैं, देते हैं। त्याग की महत्ता समझते हैं। जिनके यहाँ ठहरे थे, उनका पूर्वज बहुत विद्वान् था। उनके घर बहुत से ग्रन्थों का संग्रह था, शिष्ट मानव था। मेरठ से दो चौका आ गये थे। उन्हीं के यहाँ भोजन किया। पिछले दिनों एक महिला ने प्रेरणा की थी कि जहाँ जाओ सर्वहित के लिये उपदेश दो, धर्म का प्रचार करो—पर हमने उस पर कुछ भी चेष्टा न की। आखिर संस्कार भी तो कोई वस्तु है। वास्तव में यही उपेक्षा हमारे उत्कर्ष में बाधक है। यहाँ से दो कोश चलकर हापुड़ आ गये। यह बहुत भारी मण्डी है। यहाँ पर बर्तनों का महान् व्यापार है तथा यहाँ पर एक वर्ष में करोड़ों रुपये का सट्टा हो जाता है। सहस्रों मन गुड़ यहाँ पर प्रतिदिन आता है। यहाँ पर मन्दिर बहुत सुन्दर है। प्रतिमाएँ भी अत्यन्त मनोज्ञ हैं। आजकल कारीगर बहुत निपुण हो गये हैं। दर्शन करने के बाद श्री रामचन्द्रजी के गृह में आये। बहुत ही सुन्दर गृह है। आपके ३ सुपुत्र हैं। तीनों ही बुद्धिमान् हैं। आप का कुल धार्मिक है, आपके यहाँ शुद्ध भोजन बनता है तथा आपकी दान में प्रवृत्ति अच्छी है। कन्याशाला में श्री चौ० रामचरणलाल सागर की बहिन है। यहाँ के मनुष्य बहुत ही सज्जन हैं। एक खण्डेलवाल भाई के बाग में, जो शहर से आधा मील होगा, ठहर गये। आपने सर्व प्रकार की व्यवस्था कर दी, कोई कष्ट नहीं होने दिया। मन्दिर में २ दिन प्रवचन हुआ, मनुष्य संख्या अच्छी उपस्थित होती थी। प्रवचन सुन मनुष्य बहुत ही प्रसन्न हुए। परन्तु वास्तव में जो बात होना चाहिए वह नहीं हुई और न होने की आशा है, क्योंकि लोग ऊपरी आडम्बर में प्रसन्न रहते हैं, अन्तरङ्ग की दृष्टि पर ध्यान नहीं देते। केवल गल्पवाद में समय व्यय करना जानते हैं। १ धर्मशाला मन्दिर के पास बन रही है। मन्दिर के पास बर्तन बनानेवाले बहुत रहते हैं। इससे

प्रवचन में अतिबाधा उपस्थित रहती है। पर कोई उपाय इस विघ्न को दूर करने का नहीं है। शाम को मेरठ वाले आये और मेरठ चलने के लिए प्रार्थना करने लगे जिससे हापुड़वालों में और उनमें बहुत विवाद हुआ। हापुड़ के मनुष्यों को मेरे जाने का बहुत खेद हुआ, परन्तु प्रवास तो प्रवास ही है। प्रवास में एक स्थान पर कैसे रहा जा सकता है। फलत: माघ सुदी १३ को हापुड़ से मेरठ की ओर प्रस्थान कर दिया। यहाँ निम्नांकित भाव मन में आया—

'किसी की माया में न आना.....यही बुद्धिमत्ता है। जो कहो उस पर दृढ़ रहो, व्यर्थ उपदेष्टा मत बनो, किसी से रुष्ट तथा प्रसन्न मत होओ, किसी संस्था से सम्बन्ध न रक्खो, अपने स्वरूप का अनुभवन करो, पर की चिन्ता छोड़ो, कोई किसी का कुछ उपकार नहीं कर सकता।'

मेरठ

हापुड़ से ४ मील कैली आये। एक जमींदार के वरण्डा में ठहर गये, अति सज्जन था। सत्कार से रक्खा, दुग्धादि पान कराने की चेष्टा की। परन्तु किसी ने नहीं पिया। यहाँ से ३ मील चलकर खरखोंदा आ गये। यहाँ पर एक तगा ब्राह्मण के घर पर ठहर गये, जो बहुत ही सज्जन था। इनके बाबा तुलसीराम बहुत प्रसिद्ध पुरुष थे। निरन्तर दान में प्रवृत्ति रखते थे। यहाँ तक दयालु थे कि निज उपयोग के पदार्थ भी परजनहिताय दे देते थे। ऐसे पुरुष बहुत कम होते हैं। यहाँ पर मेरठ से एक चौका आया था। उसी में भोजन किया। यह ग्राम ६००० मनुष्यों की बस्ती है। यहाँ पर अनिवार्य शिक्षा है। संस्कृतशाला तथा हाईस्कूल है। सब प्रकार की सुविधा है। व्यापार की मण्डी है। यहाँ से ११।। बजे चल दिये और १ मील चलकर मार्ग में सामायिक की। नगर के कोलाहल से दूर निर्जन स्थान पर सामायिक करने से चित्त में बहुत शान्ति आई। तदनन्तर चलकर एक बाग में ठहर गये। माघ सुदी पूर्णिमा को प्रात: तीन मील चलकर मेरठ से इसी ओर २ मील दूरी पर १ बाग था, उसमें ठहर गए। देहली से श्री राजकृष्ण के भाई आये, उनके यहाँ भोजन हुआ। वहाँ १.३० बजते-बजते मेरठ से बहुत जनसंख्या आकर एकत्र हो गई और गाजेबाजे के साथ मेरठ ले गई। लोगों ने महान् उत्साह प्रकट किया। अन्त में श्री जैन बोर्डिंग में पहुँच गये और यहीं ठहर गए। यहाँ पर १ मन्दिर बहुत सुन्दर है, स्वच्छ है। १ भवन शास्त्रप्रवचन का है। जिसमें २०० मनुष्य तथा १००

महिलाएँ आनन्द से शास्त्र श्रवण कर सकते हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल प्रवचन हुआ। श्रीवर्णी मनोहरलाल जी ने प्रवचन किया। आपकी प्रवचनशैली गम्भीर है, आप संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं, कवि भी हैं, भजनों की अच्छी रचना की है, गानविद्या में भी आपकी गति है, हारमोनियम अच्छा बजाते हैं, सौम्यमूर्ति है। आपने सहारनपुर में गुरुकुल खोला है। उसके अर्थ कुछ संकेत किया तो २०,०००) बीस हजार रुपये हो गए। १०,०००) दस हजार तो आटे की मिलवालों ने दिये। आपसे यहाँ की जनता प्रसन्न है। यहाँ बाबू ऋषभदास जी साहब अच्छे विद्वान् हैं। आपके प्रवचन से हमें बहुत आनन्द आया। आपको चारों अनुयोगों का ज्ञान है। जनता आपके प्रवचनों से बहुत प्रसन्न रहती है। आपने व्यापार का त्याग कर दिया है। आपके पुत्र भी बहुत सुशील हैं। आपका कुटुम्ब आपके अनुकूल है। आप विद्वान् भी हैं, सदाचारी भी हैं, त्यागी भी हैं, वक्ता भी हैं। आपके समागम से अपूर्व शान्ति हुई। आप गृह में रहकर जल में कमल के समान अलिप्त हैं। आपके साथ वार्तालाप करने से श्री आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार का श्लोक—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ।।

याद आ गया और दृढ़तम विश्वास हो गया कि कल्याण-मार्ग का बाधक अन्य पदार्थ नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि निमित्तकारण कुछ नहीं करता। यदि पदार्थ में योग्यता है तो निमित्त उसके विकास में सहकारी हो जाता है। चना में विकास होने की योग्यता है, अतः उष्ण बालुपुञ्ज का संसर्ग पाकर वह खिल जाता है। बालु का पिण्ड अग्नि का निमित्त पा कर उष्ण तो हो जाता है परन्तु विकसित नहीं होता और निज की योग्यता रहने पर भी अग्निरूप निमित्त की सहायता के बिना चना विकसित नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि कार्य की सिद्धि में पदार्थ की योग्यता और बाह्य निमित्त का आलम्बन दोनों ही कार्यकारी है।

मेरठ पहुँचते ही हमें बाबा लालमन जी का स्मरण हो आया। आपकी कथा बड़ी रोचक है। आपके नेत्रों की दृष्टि जाती रही थी। एक दिन आप मन्दिर में गये तो आपकी माला टूट गई। तब आपने नियम लिया कि अब तो मन्दिर से तब ही प्रस्थान करेंगे। लोगों ने बहुत समझाया परन्तु आपने किसी की शिक्षा नहीं मानी। २ दिन हुए कि आपको लघु शंका की बाधा हुई। उसके निवृत्त्यर्थ आप मन्दिर से निकले

परन्तु निकलते समय आपके शिर में पत्थर की चौखट का आघात लगा और मस्तक से रुधिर धार बहने लगी। माली ने जल से धोया शिर का विकृत भाग निकल जाने से आपको दिखने लगा। इस घटना से आपने गृह जाने का त्याग कर दिया और क्षुल्लक दीक्षा अंगीकार कर ली। आप प्रसिद्ध क्षुल्लक हुए। १५-१५ दिन तक के उपवास करने में आप समर्थ थे। आप धर्मप्रचारक भी अच्छे थे। बीसों स्थानों पर आपने जिन मन्दिर निर्माण कराये, अनेकों को माँस-भक्षण का त्याग कराया और अनेकों को मन्दिर-मार्गी बनाया। जिसके पीछे पड़ जाते थे उसे कुछ न कुछ त्याग करना पड़ता था। आपकी तपस्या का प्रभाव अनेक व्यक्तियों पर पड़ता था। आप यदि विद्वान् होते तो कई विद्यालय स्थापित करा जाते, परन्तु उस ओर आपकी दृष्टि न गई, फिर भी आपने जैनधर्म का महान् उपकार किया, स्वयं निर्दोष चारित्र पालन किया, औरों को भी पालन कराने का पूर्ण शक्ति से प्रचार किया। एक बार की बात है कि आप सिंहपुरी की यात्रा को गये थे और मैं भी वहाँ के दर्शन के लिए गया था। आपके दर्शन का आकस्मिक लाभ हो गया। मैंने आपको सविनय प्रणाम किया। फिर क्या था? आप कहते हैं—कौन हो? मैंने उत्तर दिया छात्र हूँ। आपने कहा—कहाँ अध्ययन करते हो? मैंने कहा—स्याद्वाद विद्यालय में। आपने प्रश्न किया—कुछ त्याग कर सकते हो? मैंने विचार किया—हम छात्र हैं, अतः क्या त्याग कर सकते है? हमारे पास कुछ द्रव्य तो है नहीं। फिर भी जो बनेगा १ आना, २ आने किसी गरीब को दे देवेंगे। इस विचार के अनन्तर मैंने सहर्ष स्वीकृत किया कि कर सकते हैं? अच्छा, महाराज बोले—तुमको भोजन में सबसे प्रिय शाक कौन सा है? मैंने कहा—महाराज! आपने कहा था कुछ त्याग कर सकते हो, मैंने समझा—कुछ पैसे का त्याग महाराज करावेंगे—पर आप तो पूछते हैं भोजन में कौन सा प्रिय शाक है? महाराज! मुझे सबसे प्रिय शाक भिण्डी है। सुनकर महाराज बोले— इसी को त्यागो। मैं बोला—महाराज! यह कैसे होगा? क्योंकि यह तो मुझे अत्यन्त प्रिय है। महाराज बोले—तूने स्वयं कहा था कि त्याग कर सकते हैं। मैने कहा— महाराज भूल हुई, क्षमा करो। महाराज बोले—भूल का फल तो तुम्हें भोगना ही पड़ेगा। मैंने कहा—महाराज! जो आज्ञा, कब तक के लिये छोड़ूँ? महाराज बोले—तेरी इच्छा पर निर्भर है। मैं बोला—महाराज! मैं मोही जीव हूँ, आप ही बतावें। महाराज ने कहा—जो तेरी इच्छा सो बोल। मैंने कहा—जब तक बनारस भोजनालय में नहीं पहुँचा तब तक त्याग है। महाराज बोले—बेटा! हम समझ गये। परन्तु ऐसी दम्भिता सुखकारी

नहीं। ज्ञानार्जन का फल यह नहीं कि छल से काम निकाल लो। यही दोष वर्तमान के वातावरण में हो गया है कि हर बात में कुतर्क से काम निकालते हैं। हम तुमको छात्र जान तुम्हारे हित की बात कहते हैं, जो मन में हो सो कहो। देखो, यदि भिण्डी की शाक छोड़ना इष्ट नहीं था तो हमसे कह देते—महाराज, मैं नहीं छोड़ सकता—यह सीधा उत्तर देना था। अस्तु, छल से काम न करना। मैंने महाराज से कहा—१ २ मास को त्याग दिया। महाराज प्रसन्न हुए, कहने लगे—प्रसन्न रहो, कल्याण के पात्र होओ। महाराज का अन्तिम उपदेश तो यह था कि यदि कल्याण नाम का कोई पदार्थ है तो उसका पात्र त्यागी ही हो सकता है। अन्य कथा छोड़ो, जो हिंसक हैं, विषयी हैं, व्यसनी हैं उन्हें भी जो सुख होता है वह त्याग से ही होता है। जैसे हिंसक मनुष्य के यह भाव हुए कि अमुक प्राणी की हिंसा करूँ। अब वह जब तक उस प्राणी का घात न करे तब तक निरन्तर खिन्न और दुखी रहता है। अब उसकी खिन्नता जाने के दो ही उपाय हैं—या तो अपनी इच्छा के अनुसार उसी प्राणी का घात हो जावे या वह इच्छा त्याग दी जावे। यहाँ फलस्वरूप यही सिद्धान्त तो अन्त में आया कि सुख का कारण त्याग ही हुआ। हम उस ओर दृष्टि न दें, यह अन्य कथा है। विषयी मनुष्य जब विषय कर लेता हैं तभी तो प्रसन्न होता है। इसका यही अर्थ तो हुआ कि उसे जो विषयेच्छा थी वह निवृत्त हो गई। मेरा ही यह विश्वास है सो नहीं, प्राणीमात्र को यही मानना पड़ेगा कि त्याग में ही कल्याण है।

कल्याण का बाधक कर्म है और यह कर्म उदय में विकृति देकर ही खिरता है। उस समय जो औदयिक विकृति होती है वही फिर नवीनबंध बाँधने का कारण हो जाती है। यही संतति हमारी आत्मा को आत्मोन्मुख नहीं होने देती। यही हमारी महती अज्ञानता है। जब तक हमारी असंज्ञी अवस्था थी तब तक तो हमको हेयोपादेय का बोध ही न था। पर्यायमात्र को आपा मान पर्याय ही में आहारादि संज्ञाओं द्वारा मग्न रहते थे, परन्तु अब तो संज्ञीपना को प्राप्त हो हेयोपादेय के जानने के पात्र हुए हैं। अब भी यदि निज की ओर लक्ष्य न दिया तो हमारा-सा अपात्र कौन होगा? हमको यह बोध है कि हम जो हैं वह शरीर नहीं है। शरीर पुद्गलपरमाणुओं का पिण्ड है। अनादिकाल से विभाव परिणति के कारण इन दोनों का बन्ध हो रहा है और उस बन्ध के कारण दोनों द्रव्य आत्मीय स्वरूप से च्युत हो रहे हैं। जैसे स्वर्ण और रजत को गलाकर यदि १ पिण्ड कर दिया जावे तो उस अवस्था में न वह केवल स्वर्ण है और न रजत है किन्तु दोनों की विकृतावस्था

है। यद्यपि जिस समय उन दो को गलाया था उस समय उनमें जो चार आना भर स्वर्ण और चार आना भर रजत था वही पिण्डावस्था में भी विद्यमान है तथापि पर्यायदृष्टि से न वह केवल स्वर्ण है और न केवल रजत ही है किन्तु स्वर्ण और रजत की १ मिश्रित अवस्था है। इसी प्रकार आत्मा और पुद्गल की बन्धावस्था में एकमेक प्रतीति होती है। यद्यपि दोनों पदार्थ भिन्न-भिन्न है तथापि मोह के कारण भिन्नता दृष्टिपथ नहीं होती। भिन्नता का कारण जो भेदज्ञान है वह मद्यपायी मनुष्य की विवेकशक्ति के समान अस्तमित के समान हो रहा है। अत: बेटा! हमारा यही उपदेश है कि मोह को त्यागो और आत्मकल्याण में आओ। केवल जानने से कुछ न होगा। अस्तु, महाराज की यह कथा आनुषङ्गिक आ गई। मेरठ में कई दिन रहे। यहाँ की जलवायु अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद है। यहाँ की मण्डली भी धार्मिक है—धार्मिक भावों से ओत-प्रोत है। सदर में दो जिनमंदिर हैं। यहाँ पर भी लोगों का बर्ताव धार्मिक भावों से अनुस्यूत है। इसी तरह तोपखानें में भी १ सुन्दर जिन मन्दिर का निर्माण कराया गया है। यदि त्रुटि देखी गई तो यही कि समाज में संघटन नहीं, अन्यथा आज संसार में आत्मा का जो वास्तव धर्म है, उसका विकास होने में विलम्ब न होता।

अहिंसा धर्म है और वह आत्मा का वह परिणाम है जहाँ मोह, राग, द्वेष की कलुषता नहीं होती। इस तरह आत्मा की जो शुद्ध अवस्था है, वही अहिंसा है। विषयलालसा से पञ्चेन्द्रियों के विषयों में जो प्रवृत्ति हो रही है वह अहिंसा के श्रद्धानमात्र से विलीन हो जाती है। पञ्चेन्द्रियों के द्वारा विषयों का ज्ञान होना अन्य बात है और रुचिपूर्वक प्रवृत्ति करते हुए जानना अन्य बात है। दोनों में महान् अन्तर है। प्रमादपूर्वक जो हिंसा होती है आन्तरङ्गिक कलुषता के निकल जाने पर वह भी नहीं होती। प्रयत्नपूर्वक निष्प्रमाद रहने पर यदि किसी प्राणी का वध भी हो जावे, तो वह हिंसा नहीं, क्योंकि अमृतचन्द्र देव ने कहा है—

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ।।

अर्थात् जिसका आचरण युक्त—निष्प्रमाद है उसके रागादिजन्य आवेश के बिना यदि बाह्य में कदाचित् प्राणों का व्यपरोप भी होता है, तो उससे हिंसा नहीं होती। अत: अन्तरङ्ग में जिनका अभिप्राय निर्मल हो गया उन महापुरुषों की प्रवृत्ति अलौकिक हो जाती है। किसी के ये भाव बाहर से आते नहीं, किन्तु जिन आत्माओं

के संसार बन्धन से मुक्त होने की आकांक्षा हो जाती है उनके अनायास आभ्यन्तर से प्रकट हो जाते हैं। प्रत्येक प्राणी की अहिंसा रूप परिणति स्वभावत: विद्यमान रहती है, कहीं बाहर से वह आती नहीं है। जैसे अग्नि में उष्णता किसी ने लाकर नहीं दी है। वह तो उसका स्वभावसिद्ध गुण है। परन्तु जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि के सम्पर्क से अग्नि का उष्णता गुण दाह कार्य से विमुख हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा का अहिंसक गुण मोह के सम्पर्क से स्वकार्य से विमुख हो रहा है। हे आत्मन्! अब इन पर पदार्थों के द्वारा अपनी प्रशंसा, निन्दा आदि के जो भाव होते हैं, उन्हें त्याग सुमार्ग पर आओ।

यहाँ बाबू जुगलकिशोर जी मुख्त्यार तथा उनके साथ पं०दरबारीलाल जी न्यायाचार्य भी आये। यहाँ आहार आदि के समय लोगों ने सहारनपुर गुरुकुल के लिये यथाशक्य सहायता दी। गुरुकुल संस्था उत्तम है, परन्तु लोगों की दृष्टि उस ओर नहीं। उसका स्वाद नहीं, जिन्हें स्वाद है उनके पास द्रव्य नहीं, जिनके पास द्रव्य हैं उनके परिणाम नहीं होते। संसारी जीव निरन्तर पर को अपना मानता है। इसी कारण वह संसार में भ्रमता है। हमारे मन में यह विचार आया कि 'स्पष्ट और सरल व्यवहार करो। पर को पराधीन बनाना महती अज्ञानता है। आत्मीय कलुषता के बिना पर की समालोचना नहीं होती।'

'अन्तरङ्ग वृत्ति निर्मल नहीं। तत्त्वज्ञान की रुचि जैसी चाहिये, वह नहीं। खेद इस बात का है कि हम स्वयं आत्मपरिणामों के परिणमन पर ध्यान नहीं देते। स्वकीय आत्मद्रव्य का कल्याण करना मुख्य है, परन्तु उस ओर लक्ष्य नहीं है। आत्मन्! तूँ पर पदार्थों में कब तक उलझा रहेगा?'

खतौली

फाल्गुन बदी ६ सं० २००५ को मेरठ से चलकर शिवाया पर निवास किया। यहाँ पर जो बंगला था, वह ईसाई का था, परन्तु उसमें जो रहने वाला था, वह उत्तम विचार का था, जाति का वैश्य था, गांधी जी के आश्रम में डेढ़ वर्ष रहा था, मुफ्त औषध बाँटता था, योंग्य था। उसने यह नियम लिया कि तमाखु न पीवेंगे तथा जहाँ तक बनेगा मनुष्यता सम्पादन करने की चेष्टा करेंगे। चेष्टा ही नहीं, मनुष्य बनकर ही रहेंगे। बहुत विनय से १ मील पहुँचा गया। शिवाया से चलकर डोंराला आया। यहाँ पर भोजन कर सामायिकक्रिया की और फिर

चलकर सायंकाल सकौती पहुँच गये। यहाँ पर ठहरने के लिये पवित्र स्थान मिला। रात्रि को विचार आया कि 'पर के सम्बन्ध से जीव कभी भी सुखी नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ पर पराधीनता है, वही दुःख है। अत: जहाँ तक बने पर की पराधीनता त्यागो। यही कल्याण का मार्ग है। स्वतन्त्रता ही सुख की जननी है, सुख का साधन एकाकी होना है।'

फाल्गुन वदी ८ सं० २००५ के ३ बजे खतौली आये। ग्राम के सर्व मनुष्य आये, स्त्री-जन भी अधिक संख्या में आईं। लोगों की स्वागत पद्धति को देखकर मन में विकल्प आया कि 'केवल रुढ़ि की प्रवृत्ति ही चलने से लाभ नहीं। मार्ग में चाँदी के फूल बिखेरे। मैं तो इसमें कोई लाभ नहीं मानता। परोपकार करने की ओर लक्ष्य नहीं। इसका कारण यह है कि हम लोग आत्मतत्त्व को नहीं जानते, अत: अनावश्यक प्रवृत्ति कर अपने को धर्मात्मा मान लेते हैं। परन्तु धर्मात्मा वही हो सकता है, जो धर्म को अंगीकार करे।'

यह वही खतौली है जहाँ पर लाला हरगूरलालजी बहुत ही प्रबल विद्वान् और उदार थे। आप केवल संस्कृत के ही विद्वान् न थे, किन्तु फारसी के भी पूर्ण विद्वान् थे। आप, यहाँ से २ कोस पर मौलवी साहब का गृह था, वहाँ पर पढ़ने जाते थे। मौलवी साहब ने कहा—हरगू बेटा! तुमको कष्ट होता होगा, अत: हम स्वयं खतौली आया करेंगे और यही हुआ। यहाँ पर वर्तमान में कई सज्जन ऐसे हैं जो धवला का स्वाध्याय करते हैं। श्री महादेवी बहुत विदुषी है, त्याग की मूर्ति है, निरन्तर अपना समय ज्ञानार्जन में लगाती हैं। यहाँ पर पहले जो कुन्दकुन्द-विद्यालय था वह अब अंग्रेजी का कालेज हो गया। इस युग में लोकेषणा के कारण अध्यात्मविद्या की ओर से लोगों का झुकाव कम होता जा रहा है परन्तु मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि इस जीव का वास्तविक कल्याण अध्यात्मविद्या से ही हो सकता है। यहाँ पर कई सज्जन हैं—बाबूलाल जी साहब महापरोपकारी हैं। लाला त्रिलोकचन्द्र जी तो एक पैर से कमजोर होकर भी धार्मिक कार्यों में अपना समय लगाने में कृपणता नहीं करते। लाला विश्वम्भर सहाय की क्या कहें, सामग्री होते हुए भी उसका उपभोग करने में संकोच करने से नहीं चूकते। हमारा आपका बहुत प्राचीन सम्बन्ध है। हमारी सुनते तो हैं परन्तु 'हर्रा लगे न फिटकरी, रंग चोखा हो जाए' ऐसा मधुर भाषण कर टाल देते हैं। टालते रहें, पर हमें विश्वास है कि एक दिन अवश्य मार्ग पर चलेंगे। मार्ग में हैं, पर चलने का विलम्ब

है। यहीं पर लाला खिचोडीमल्ल हैं, जो सचमुच एक उदारता का पुतला है। यदि ऐसा मनुष्य विशेष धनिक होता, तो न जाने क्या करता? मेरा इनका बहुत दिन से सम्बन्ध है, निरन्तर इनकी प्रवृत्ति स्वाध्याय में रहती है। पूजन प्रतिदिन करते हैं। मुरार में आप ४ मास रहे। निरन्तर त्यागियों को आहार कराना, संस्थाओं में दान करना, किसी को कुछ आवश्यकता हो उसकी पूर्ति करना, विद्वानों का आदर करना आपके प्रकृतिसिद्ध कार्य हैं। बनारस तथा सागर विद्यालय की निरन्तर सहायता करते हैं। आपका अधिक समय मेरे पास ही जाता है। आपने अपने भानजे के पाणिग्रहण में २५००) का दान किया तथा विवाह नवीन पद्धति से किया। कन्या वाले से कुछ भी आग्रह नहीं किया। आपका व्यवहार इतना निर्मल है कि कोई किसी पक्ष का क्यों न हो, प्राय: आपसे स्नेह करने लगता है। खतौली में प्राय: सर्व सज्जन हैं। यहाँ पर श्री माड़ेलाल जी दस्सा बड़े प्रतापशाली थे। आपने १ जैन मन्दिर भी उत्तम बनवाया है। आपके २ पुत्र बहुत ही योग्य थे। १ अब भी विद्यमान है। उन्हीं के बंगला में मैं ठहरा था।

प्रात:काल ८।। बजे से ९।। बजे तक प्रवचन किया। परन्तु मेरी बुद्धि में तो यह आया कि हम लोग रूढ़ि के उपासक हैं, धर्म के वास्तविक तत्त्व से दूर हैं। धर्म तो आत्मा की शान्ति-परिणति के उदय में होता है, अत: उचित तो यह है कि पर पदार्थ के साथ जो आत्मीय सम्बन्ध जोड़ रक्खा है, उसे त्यागना चाहिए। जब तक यह नहीं होगा, तब तक सर्व क्रियाएँ नि:सार हैं। इसका अर्थ यह है कि जब तक अनात्मीय पदार्थों के साथ निजत्व की कल्पना है तब तक यह प्राणी धर्म का पात्र नहीं हो सकता। प्रवृत्ति की निर्मलता उसी की हो सकती है जिसका आशय पवित्र हो और आशय पवित्र उसी का हो सकती है जिसने अनात्मीय पदार्थों में आत्मबुद्धि त्याग दी। वही संसार के बन्धनों से छूट सकता है। फागुन बदी ११ को जैन कालेज में प्रवचन था। पं०मनोहरलालजी वर्णी का प्रवचन हुआ। अनन्तर मैंने भी कुछ कहा—

आशा का त्याग करना ही सुख का मूल कारण है। जिन्होंने आशा जीत ली, उन्होंने करने योग्य जो था, वह कर लिया। आशा का विषय इतना प्रबल है कि कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता। सांसारिक पदार्थों की पूर्ति कर इस आशागर्त को आज तक कोई नहीं भर सका है। संसार में सुखी वही हो सकता है जो इन आशाओं पर विजय प्राप्त करले। अगले दिन कवीवाले मन्दिर में प्रवचन हुआ।

मनुष्यों की संख्या अच्छी थी। १० बजे चर्या को निकले, परन्तु भीड़ बहुत होंने से चर्या की विधि नहीं मिली। परिणामों में कुछ अशान्ति हुई। अशान्ति का कारण मोह की बलवत्ता है। मोही जीव सर्वदा दु:ख का पात्र होता है। शारीरिक अवस्था दु:ख की जननी नहीं, किन्तु उसके होते उसमें जो आत्मीयताा की कल्पना हैं वही दु:ख की जननी हैं। शरीर परपदार्थ है, परन्तु उसके साथ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि भिन्नता भासमान नहीं होती। मन में विचार आया कि यदि यह चाहते हो— हमारे श्रेयोमार्ग का विकास हो, तो शीघ्र से शीघ्र इन महापुरुषों को समागम त्यागो। आजकल जितने महापुरुष मिलते हैं उनका अभिप्राय तुम्हारे अभिप्राय से नहीं मिलता है और इससे यह दृढ़ निश्चय करो कि प्रत्येक पदार्थ का परिणमन भिन्न-भिन्न हैं। तब यह खेद करना कि यह समागम अच्छा नहीं, व्यर्थ की कल्पना है।

एक दिन भैंसी गये, मन्दिर के दर्शन किये। यहाँ पर ५ घर जैन हैं। मन्दिर बहुत सुन्दर है। परन्तु मनुष्यों की रुचि धार्मिक कार्यों में थोड़ी है। यहाँ पर २ आदमियों ने प्रतिज्ञा ली कि हमारे जो खर्च होगा उसमें एक पैसा रुपया दान में दिया करेंगे। यह ग्राम जाट लोगों का है। यहाँ पर १ चर्मकार है। उसकी प्रवृत्ति धर्म की ओर है। पार्श्वनाथ का चित्र रक्खे है और उसकी भक्ति करता है। यहाँ जो जैनी हैं, वे सज्जन हैं। भोजन के बाद सामायिक की। अनन्तर स्त्रीसमाज आया। उसे कुछ उपदेश दिया, परन्तु प्रभाव कुछ नहीं पड़ा। प्राय: स्त्रीपर्याय मोह से भरी रहती है। इसका सहवास मोही जीव चाहते हैं और उनके सम्पर्क से आत्मीय कल्याण से वञ्चित रहते हैं। संसार में सबसे कठिन मोह (-त्याग) स्त्री का है।

अगले दिन फिर प्रवचन हुआ। प्रवचन करते-करते मुझे लगा कि लोग ऊपरी दृष्टि से सुनते हैं। पश्चात् उसका कुछ असर नहीं रहता, केवल प्रशंसा ही रह जाती है। वक्ता आत्मीय परिणति से कार्य नहीं लेता। लौकिक मर्यादा ही में निज प्रतिष्ठा मान प्रसन्न हो जाता है। होता जाता कुछ नहीं। मोक्षमार्ग की सरल पद्धति है, परन्तु वक्ताओं ने उसे इतनी दुरूह बना दी हैं कि प्रत्येक प्राणी सुन कर भयभीत हो जाता है। धर्म जब आत्मा की परिणति है, तब उसको इतना कठिन दिखाना क्या शुभ है? मन में विचार आया कि अपनी दिनचर्या ऐसी बनाओ, जो विशेषतया पर का सम्पर्क न्यून रहे। पर सम्पर्क से वही मनुष्य रक्षित रह सकता है, जो अपनी परिणति को मलिन नहीं करना चाहता। मलिनता का कारण पर में मोह-द्वेष ही है। अत: स्वीय मोह-राग-द्वेष-छोड़ो।

यहाँ से प्रात:काल ७।। बजे चलकर ८।। बजे गंधारी आ गये। यहाँ पर धूमसिंह के यहाँ भोजन किया। यहाँ पर ४ घर हैं। चारों ही अच्छे हैं। घसीटामल अत्यन्त दयालु हैं। आय का २/८ भाग दान में लगाते हैं। यहाँ से चलकर तिसना आ गये। तिसना गंधारी से ५ मील है। यहाँ पर ६ घर जैनी हैं। प्राय: सभी सम्पन्न हैं। यहाँ आनन्दस्वरूप के घर भोजन किया। यहाँ से १२ मील हस्तिनागपुर है। हस्तिनागपुर पहुँचने की भावना हृदय को विशेष रूप से उत्सुक कर रही थी। अत: यहाँ से चलकर वटावली ठहर गये और अगले दिन प्रात: २ मील चलकर वसूमा आ गये। यहाँ पर बहुत उच्चतम मन्दिर है। मन्दिर में श्री शान्तिनाथजी की मूर्ति है। १२३१ सम्वत् की है। बहुत सुन्दर और देशी पत्थर की है। यहाँ पर तिसना से आये हुए आनन्दस्वरूपजी के यहाँ भोजन हुआ। आप हस्तिनागपुर तक बराबर हमारे साथ आये। फागुन सुदी पञ्चमी सं० २००५ को दिन के ३ बजते-बजते हम हस्तिनागपुर आ गये। आनन्द से श्रीजिनराज का दर्शन किया।

हस्तिनागपुर

यह वही हस्तिनागपुर है, जहाँ शान्ति, कुन्थु और अरनाथ भगवान् के गर्भ, जन्म तथा तप कल्याणक हुए थे। देवोपनीत जिसकी रचना थी, तथा जहाँ भगवान् के गर्भ में आने से ६ माह पूर्व ही से रत्नवर्षा होने लगती थी। जगद् प्रसिद्ध कौरव-पाण्डवों की भी राजधानी यही थी। अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों की रक्षा भी यहाँ हुई थी तथा रक्षाबन्धन का पुण्य पर्व भी यहीं से प्रचलित हुआ था। यहाँ के प्राचीन वैभव और वर्तमान निर्जन अवस्था पर दृष्टि डालते हुए जब विचार करते हैं, तो अतीत और वर्तमान के बीच भारी अन्तर अनुभव में आने लगता है।

वर्तमान में यहाँ पर १ विशाल मन्दिर है, जो देहली के लाला हरसुखराय जी का बनवाया हुआ है। बहुत ही पुष्ट और सुन्दर मन्दिर है। इस मन्दिर का निर्माण किस स्थिति में किस प्रकार हुआ, यह इसके इतिहास से प्रसिद्ध है। मन्दिर में श्रीशान्तिनाथ स्वामी का बिम्ब अतिरम्य है।[1] १२३१ सम्वत् का है। जिसे देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता हैं। बीच में एक वेदी है। उसके बाद एक नवीन बिम्ब श्रीमहावीर स्वामी का है। यह सब है, परन्तु मनुष्यों की प्रवृत्ति तो प्राय:

---

१. यह मूर्ति यहाँ वसूमा से लाई गई है।

इस समय अति कलुषित रहती है। यदि यहाँ से लोग शान्तभाव को लेकर जावें तब तो यात्रा करने का फल है, अन्यथा अन्यथा ही है। संसार बन्धन के नाश का यदि यहाँ आकर भी कुछ प्रयास नहीं हुआ, तो निमित्तकारण का क्या उपयोग हुआ? दूसरे दिन मन्दिर में प्रवचन हुआ। प्रवचन में मैंने कहा कि आत्मा में अचिन्त्य शक्ति है, फिर भी उपयोग में नहीं आती। जल्पवाद से मुख मीठा नहीं होता। कर्तव्यवाद कथनवाद से भिन्न वस्तु है। आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है, यह शब्द की रचना उसमें राग-द्वेष की कलुषता से रक्षा करे, यह असम्भव है। मनुष्यों की प्रवृत्ति के हम कर्त्ता-धर्ता नहीं, फिर भी बलात्कार स्वामी बनते हैं। मोही जीव कुछ कहे, परन्तु उस स्वाद को नहीं पहुँचता, जो मोहाभाव के समय होता है। यह निर्विवाद सिद्धान्त है, कि ज्ञान में ज्ञेय नहीं जाता, फिर भी हम ज्ञेयों के व्यवस्थापक बनते ही जाते हैं। लौकिक व्यवहार भी इसी बल पर चल रहा है। लौकिक व्यवहार भी मोही जीवों की चेष्टा का विशेष फल है। यह तो लौकिक प्रक्रिया है। परमार्थ से विचारा जाय तब व्यवहार मात्र इसी मोह से चल रहे हैं। अन्य की कथा दूर रही, मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति भी इसी कषाय के आधीन है। योगों की प्रवृत्ति आत्मा में प्रदेशकम्पन करा दे, परन्तु बन्धजनक नहीं। यही कारण है कि उपशान्त मोह से लेकर त्रयोदश गुणस्थान पर्यन्त योगों की प्रवृत्ति स्थितिबन्ध की उत्पादक नहीं, अतः अभिप्राय को निर्मल बनाने की चेष्टा करो। योगों की प्रवृत्ति में मत उलझे रहो। योगों में शुभता और अशुभता तन्मूलक ही है। संसार का मूल कारण कषाय है। इसके बिना योग का कोई महत्त्व नहीं। वृक्ष की जड़ कटने के बाद हरापन की स्थिति का कारण नहीं। अतः हमें आवश्यकता कषायशत्रु को पराजित करने की है। जिन्होंने इस पर विजय पा ली, वे सिद्धपद के अधिकारी हो चुके। ज्ञान में जो ज्ञेय आता है, अर्थात् ज्ञान का जो परिणमन ज्ञेयसदृश होता है उसका कारण ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम है तथा ज्ञान में जो रागादि प्रतिभासता है उसका कारण मोहनीयकर्म का उदय है। उस उदय से चारित्रगुण विकृत होता है। वही गुण विकृत रूप होकर ज्ञान में आता है। ज्ञेय, यह दोनों हैं, परन्तु एक ज्ञेय बाह्य है। उसके निमित्त से ज्ञान साक्षात् ज्ञेयाकार हो आता हैं। राग में चारित्रगुण की विकृति जो होती है वह ज्ञान में भासती है। परमार्थतः राग भी ज्ञेय है और घट-पटादि भी ज्ञेय हैं।

हम तो कुछ विद्वान् नहीं, परन्तु विद्वान् भी वक्ता हो, तब भी ये भद्रगण— नाममात्र के जैनी, उस वक्ता के प्रवचन का लाभ नहीं उठाते। अब संयम के स्थान

में अष्टमूलगुणधारण का उपदेश रह गया है। बहुत से बहुत बल का प्रभाव पड़ा, तो बाजार की जलेबी त्याग तक सीमा पहुँच गई है।

प्रवचन के बाद भोजन हुआ। भोजन बहुत ही संकोच से होता है। कारण उसका यह है कि पद के अनुकूल प्रक्रिया उत्तम नहीं। अनेक घर से भोजन आता है तथा अति भोजन परोस देते हैं, जो कि आगमविरुद्ध है। भोजन थाली में छूटना नहीं चाहिए, पर मेरी थाली में १ आदमी का भोजन पड़ा रहता है। भोजन करते समय मुझे लगता है कि यदि मैं पाणिपात्रभोजी होता तो लोग यह अधिक भोजन कहाँ परोस देते? यह मेरी दुर्बलता है, संकोचवश होकर यह अनर्थ होता है। संकोच का कारण भी एक प्रकार से स्वप्रशंसा का लोभ है—कोई अप्रसन्न न हो जाय यह भावना है। जिस जीव के प्रशंसा की इच्छा नहीं, वही निर्भीक कार्य कर सकता है।

एक दिन स्त्रीसमाज के सुधार के अर्थ भी व्याख्यान हुआ। मैंने कहा कि यदि मनुष्य चाहे तो स्त्रीसमाज का सहज कल्याण हो सकता है। यदि यह समाज मर्यादा से रहे तो कल्याणपथ दुर्लभ नहीं। सबसे प्रथम तो ब्रह्मचर्य पाले, स्वपतिमें सन्तोष करे तथा पुरुष वर्ग को उचित है कि स्वदार में सन्तोष करे। जब स्त्री उदर में बालक आ जावे तब से लेकर ३ वर्ष ब्रह्मचर्य पाले तथा ब्रह्मचर्य पालने वालोंको आत्मीय वेषभूषा की चटक-मटक मिटा देना चाहिये, क्योंकि वेषभूषा का प्रभाव मन पर पड़ता है। यदि आज की जनता ब्रह्मचर्य के इस महत्त्व को हृदयांकित कर सके, तो उसकी सन्तान पुष्ट हो तथा जनसंख्या की वृद्धि सीमित रहे। आज मनुष्य की आय के साधन सीमित हो गये हैं और उसके विरुद्ध सन्तान में वृद्धि हो रही है जिसके कारण उसे रात-दिन संक्लेश का अनुभव करना पड़ता हैं। इस संक्लेशसे बचने का सीधा सच्चा उपाय यही है कि पुरुष तथा स्त्रीवर्ग अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण करे।

एक दिन व्रतीसम्मेलन हुआ। व्रती लोगों ने भाषण दिये। प्रायः सफलता अच्छी मिली। लोगों के हृदय में व्रत का महत्त्व भर गया, यही तो उसकी सफलता थी। लगभग बीस आदमियों ने ब्रह्मचर्य व्रत लिया, छोटे-छोटे बालकों ने रात्रिभोजन त्याग किया, अनेकों ने अष्टमी चतुर्दशी के दिन ब्रह्मचर्य व्रत लिया। आवश्यकता उपदेश की है। जैनकुल में उत्पन्न हुए लोगों की त्याग की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है। फिर उन्हें यदि बार-बार प्रेरणा मिलती रहे तो उनका वह त्यागभाव अधिक विकसित हो सकता है। मैंने देखा कि किसी भी

व्यक्ति के ऊपर यदि प्रभाव पड़ता है तो आत्मा की पवित्रता का ही पड़ता है। शब्दों का नहीं, उनका प्रभाव तो कानों तक ही रहता है। अच्छे शब्द हुए, लोग सुनकर प्रसन्न हो जाते हैं और कटुक शब्द हुए, नाराज हो जाते हैं। कुछ समय बाद 'लोग वक्ता ने क्या कहा' यह भूल जाते हैं। परन्तु एक वीतराग मनुष्य की आत्मा से यदि कोई शब्द निकलते हैं तो लोगों के हृदय उन्हें सुनकर द्रवीभूत हो जाते हैं वे कुछ करने के लिए विचार करते हैं। यदि ये व्रती लोग अपना आचरण पवित्र रक्खें तथा जनकल्याण की भावना लेकर भ्रमण के लिए निकल पड़ें, तो जनता का कल्याण हो जावे। पूर्व समय में निर्गन्थ मुनियों का विहार होता था, जिससे उनके उपदेश लोगों को अनायास ही प्राप्त होते रहते थे, इसीलिए जनता का आचार पवित्र रहता था, पर आज यह साधन दुर्लभ हो रहे हैं। यही कारण है कि लोगों का आचरण निर्मल नहीं रहा।

फागुन शुक्ला १२ सं० २००५ को मध्याह्नोपरान्त १ बजे से गुरुकुल का उत्सव हुआ। प्राय: अच्छी सफला मिली। लोगों के चित्त में यह बात आ गई कि गुरुकुल की महती आवश्यकता है। बच्चों का हृदय अपक्व घट के समान है। उसमें जो संस्कार भरे जावेंगे वे जीवन भर स्थिर रहेंगे। आज का नागरिक जीवन विलासतापूर्ण हो गया है, जिसका प्रभाव छात्रसमाज पर भी पड़ा है। मैंने देखा हैं कि आज का छात्र साधारण गृहस्थ की अपेक्षा कहीं अधिक विलासी हो गया है। यह बात उसके रहन-सहन तथा वेष-भूषा से स्पष्ट होती है। उसका बहुत समय इसी साज-सजावट में निकल जाता है, जिससे विद्या का प्रगाढ़ अध्ययन नहीं हो पाता। प्राचीन काल में लोग थोड़ा पढ़कर भी अधिक विद्वान् हो जाते थे, पर आज के छात्र अधिक पढ़कर भी अधिक विद्वान् नहीं बन पाते हैं। इसका कारण उनका चित्तविक्षेप ही कहा जा सकता है। गुरुकुल की आवश्यकता इसलिये है कि वे नागरिक वातावरण से दूर स्वच्छ वायुमण्डल में होते हैं और इसीलिए उनमें पढ़ने वाले छात्रों को चित्तविक्षेप के साधन नहीं जुट पाते। इस दशा में वे अच्छा अध्ययन कर सकते हैं। हस्तिनागपुर का वर्तमान वातावरण अत्यन्त शान्तिपूर्ण है। यहाँ गुरुकुल जितना अच्छा कार्य कर सकता है, उतना अन्यत्र नहीं। इसकी पूर्ति के लिए ५ लाख की योजना की गई। अपील करने पर ५००००) पचास हजार का चन्दा हुआ। चौतीस हज़ार ३४०००) पहिले का था। कुल चौरासी हजार हुआ। यद्यपि इतने से उसकी पूर्ति नहीं हो सकती तथापि जो साधन उपलब्ध हों उसी के अनुसार काम हो तो हानि नहीं। यदि सब लोग परस्पर का अविश्वास दूर

कर दें तथा यह उद्देश्य अपने जीवन का बना लें कि हमारे द्वारा जगत् का कल्याण हो, तो बड़ी-बड़ी योजनाएँ अनायास ही पूरी हो सकती हैं।

एक दिन प्रातः नसिया जी के दर्शन किये, चित्त प्रसन्न हुआ। हरी-भरी झाड़ियों के बीच जानेवाली पगडंडी से नसिया जी को जाना पड़ता है। इन स्थानों पर अपने आप में चित्त में शान्ति आ जाती है। मन्दिर से थोड़ी दूर पर पाण्डवों का टीला नाम से प्रसिद्ध स्थान है, जहाँ कुछ खुदाई का काम हुआ है। गवर्नमेन्ट की ओर से यहाँ एक नगर बसाया जा रहा है, जिसमें शरणार्थी लोगों के बालकों को अध्ययन कराया जावे तथा १ औषधालय खोला जावे, जिसमें आम जनता को औषध बाँटी जावे। अष्टाह्निका पर्व होने के कारण आठ दिन तक बहुत चहल-पहल रही परन्तु अन्तिम दिन होली का उत्सव होने से अधिकांश लोग चले गये। पं०फूलचन्द्रजी शास्त्री बनारस, पं०दरबारीलालजी कोठिया तथा मुख्त्यार साहब भी यहाँ आये थे। एक दिन हमारा भोजन स्वर्गीय महावीर प्रसाद जी रईस बिजनौर वालों की पुत्री के घर हुआ। आपने वर्णी-ग्रन्थमाला को १०१) दिये। आप बहुत ही धर्मनिष्ठा से रहती हैं। आपके पति का स्वर्गवास हो गया है। बड़ा ही सज्जन था, निरन्तर दान में प्रवृत्ति रखता था तथा जैनधर्म की पुस्तकें वितरण करता था। भीड़-भाड़ कम हो जाने से दो दिन शान्ति से बीते।

मुजफ्फरनगर

चैत्र वदी ३ सं०२००५ को हस्तिनागपुर से चलकर गणेशपुर आये। चलते समय लाला कपूरचन्द्र जी कानपुरवालों ने बड़े आग्रह से कहा कि यदि कहीं पर कुछ आवश्यकता पड़े तो वह आप मेरे से मँगा लीलिए। गणेशपुर में विद्यानन्द जी ने, जो कि ब्राह्मण हैं गुरुकुल के लिए ११) दिये। १ बजे चलकर ३ बजे मवाना आ गये। यहाँ बहुत ही शानदार स्वागत किया गया। पं०शीलचन्द्र जी शास्त्री बहुत ही योग्य हैं, इनका सर्वसमाज पर प्रभाव है, आप म्युनिसिपल के चेयरमैन हैं तथा एंग्लो संस्कृत कालेज के सभापति भी हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल प्रवचन हुआ। मध्याह्न के बाद १ बजे एंग्लो संस्कृत कॉलेज में गये। प्रिन्सिपल साहब ने बहुत ही आदर से स्वागत किया। आपने वर्तमान परिस्थिति का स्वरूप सम्यक् रीति से बतलाया। उन्होंने कहा कि वर्तमान शिक्षा में प्रायः चार्वाक मत की ही पुष्टि होती है। आजकल शिक्षा का प्रयोजन केवल अर्थोपार्जन और काम सेवन मुख्य रह गया है। जहाँ से शिक्षा का श्रीगणेश होता है वहाँ पहला पाठ

यही होता है कि आजीविका किस प्रकार होगी तथा ऐसा कौन सा उपाय होगा कि जिससे संसार की विभूति हमारे ही पास आ जावे, संसार चाहे किसी आपत्ति में रहे। प्रिन्सिपल साहब के इस हार्दिक तथ्य उद्गारों से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

अगले दिन सामायिक के बाद वसूमा के लिए चल दिए। मवाना से वसूमा आठ मील होगा। घाम में चलना पड़ा, जिससे महान् कष्ट हुआ। रात्रि को ज्वर आ गया। हम बिलकुल निर्विचार आदमी हैं, जो बिना विवेक के काम करते हैं। ८ मील घाम में चलना बहुत कष्टकर हुआ। हमारी शारीरिक शक्ति अति क्षीण हो गई है तथा आत्मा की स्फूर्ति जाती रही है। इसका कारण मोह की सबलता है। कह देते हैं कि मोह शत्रु है परन्तु स्वयं उसके कर्त्ता हैं, पर पदार्थ के शिर दोष मढ़ते हैं। अज्ञानी जीव को अपना दोष नहीं दिखता, पर में ही नाना कल्पनाएँ करता है। देहलीवाले महाशय ने यहाँ आहार दिया। यहाँ श्री शान्तिनाथ स्वामी के सदृश चन्द्रप्रभस्वामी का प्रतिबिम्ब अति मनोज्ञ है, वायु अति प्रशस्त है, मनुष्य सरल हैं परन्तु ज्ञान की हीनता से जैनधर्म का प्रचार, जैसा होना चाहिए, वैसा कार्यरूप में परिणत नहीं होता। यहाँ से ६ मील चलकर मीरापुर आ गये। ग्राम बड़ा है किन्तु मुस्लिम जनता का प्रभाव अधिक है। वर्तमान में यद्यपि काँग्रेस का साम्राज्य होने से प्रभाव दब गया है तथापि समय पाकर आगे पुनः आविर्भूत हो सकता है। चैत्यालय में प्रातः प्रवचन हुआ, पर जनता नहीं थी। यहाँ धर्म की रुचि तो है परन्तु साधन नहीं। यहाँ पर शीतलप्रसाद जी तथा बाबूराम जी के घर प्रतिष्ठित हैं। इनका चित्त धर्म में उपयुक्त है। श्री बाबूराम जी बराबर वैयावृत्त्य में रहे। इनका लड़का धनेशचन्द्र बहुत ही योग्य है। १ बजे सभा हुई। प्रायः सर्व रुचिमान् थे। गुरुकुल सहारनपुर को ७२८) चन्दा हुआ। एक महानुभाव ने २००) भेजने को कहा।

यहाँ से ६ मील चलकर ककरौली आ गये। बड़े समारोह से स्वागत हुआ। प्रातःकाल प्रवचन हुआ। मनुष्य संख्या ५० के अन्दाज थी। उनमें १ मौलवी साहब थे, जो बहुत ही योग्य थे। आपने बहुत प्रसन्नता प्रकट की। यहाँ पर सैयद लोगों की जमींदारी थी जो काल पाकर उनके हाथ से निकल गई। वैश्य लोगों के हाथ में चली गई। सुमतिप्रसादजी यहाँ के प्रमुख व्यक्ति हैं। इन्हीं के यहाँ आहार हुआ। आपने सहारनपुर गुरुकुल के लिये हस्तिनापुर में १००१) दिये थे। आपकी माँ शुद्ध भोजन करती हैं। यहाँ से चलकर तिस्सा आ गये। प्रातःकाल प्रवचन हुआ। श्री मंगलसेन जी के बहिनोई के घर भोजन किया। मध्याह्न को

आमसभा हुई। एक ब्राह्मण ने, जो कि मद्यपान करता था, जीवनपर्यन्त के लिये मद्यपान छोड़ दिया, १ मुसलमान ने भी जीवघात छोड़ दिया तथा एक चमार ने मदिरा छोड़ दी। यहाँ पर मुजफ्फरनगर, ककरौली तथा मंसूरपुर से बहुत आदमी आये। सब कुछ हुआ परन्तु हमारे जैन बन्धुओं की दृष्टि स्वयं धर्मश्रवण करने की नहीं है। अन्य धर्म जान जावें, हमको चाहे ज्ञान हो या न हो। यहाँ से अगले दिन ६।। बजे चलकर ९।। बजे कवाल आ गये। यहाँ पर २० घर जैनियों के हैं। १ मंदिर है। परन्तु उसमें अभी श्रीजी की स्थापना नहीं हुई। १ चैत्यालय में बिम्ब विराजमान हैं। बिम्ब अति मनोज्ञ हैं। भोजन प्रक्रिया उत्तम है परन्तु लोग आहारदान करने में भय करते हैं। उसका कारण कभी दिया नहीं। कवाल से ६ मील चलकर मंसूरपुर आ गये। यहाँ से ४ मील चलकर गङ्गानहर मिली। यहाँ पर बिजली भी बनती है। बड़े वेग से पानी चलता है। यहाँ पर आटा पिसता है। मंसूरपुर ग्राम सैयद मुसलमानों का है। प्रात: आधा घंटा प्रवचन हुआ। पश्चात् भोजन किया। मध्याह्न बाद आमसभा हुई। ५०० मनुष्य होंगे। श्री चिदानन्द जी तथा पूर्णसागर जी ने परिश्रम के साथ वक्तव्य दिया। वक्तव्य में मुख्य विषय अष्टमूलगुण था। यहाँ मुजफ्फरनगर से बहुत मनुष्य आये। उन्होंने बहुत ही आग्रह किया कि कल ही मुजफ्फरनगर आइये। चाहे आपको कष्ट हो, इसकी परवाह न कीजिये। हमारा प्रोग्राम है, इसी के अनुकूल आप प्रवृत्ति करिये, इसी में हमारी प्रतिष्ठा है। चैत्र वदी १४ सं०२००५ को ६।। बजे प्रात:काल चलकर ९ बजे वहलना पहुँच गये। यहाँ पर १ प्राचीन जिनमन्दिर है। उसमें श्री पार्श्वनाथ भगवान् का प्रतिबिम्ब बहुत ही मनोज्ञ है। यहाँ पर मुजफ्फरनगर से १०० जनसंख्या आई। भोजनोपरान्त २।। बजे यहाँ से चलकर कम्पनीबाग आ गये। वहाँ से कोई २००० आदमियों का जुलूस निकला। २ तोला धूल फाँकने में आई होगी। ५ बजते-बजते जैन स्कूल में पहुँच गये। यहीं पर जनता का बहुत समारोह हुआ। अगले दिन बाजार बन्द था, इसलिये प्रवचन में बहुत मनुष्य आये। प्रवचन के लिये प्रवचनसार की निम्न गाथा थी—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहि ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।।

जो द्रव्य, गुण और पर्याय की अपेक्षा अरहन्त को जानता है वह आत्मा को जानता है और जो आत्मा को जानता है उसका मोह विनाश को प्राप्त होता है। अनादिकालीन मोह के कारण यह जीव आत्मस्वभाव से च्युत हो रहा है।

मोह की तीव्रता में तो इसे यह भी प्रत्यय नहीं होता कि शरीर के अतिरिक्त कोई आत्मा नाम का पदार्थ है भी। वह शरीर को ही अहं मानकर उसकी इष्ट-अनिष्ट परिणति में हर्ष-विषाद कर सुखी-दुखी होता है। यदि भाग्यवश मोह का पटल कुछ क्षीण होता है तो शरीर से पृथक् आत्मा की सत्ता अंगीकार करने लगता है, परन्तु कर्मोदय से आत्मा की जो विकृत दशा है उसे ही शुद्ध दशा या स्वाभाविक दशा मान उसी रूप रहना चाहता है। कर्मोदय भङ्गुर है, इसलिए उसके उदय में होने वाली आत्मा की दशा भी भङ्गुर होती है। पर यह मोही प्राणी यथार्थ रहस्य न समझ हर्ष-विषाद का पात्र होता है। जब मोह का उदय बिल्कुल दूर होता है तब इसे आत्मा की शुद्ध दशा का अनुभव होने लगता है। पद्मरागमणि के सम्पर्क से स्फटिक में जो लालिमा दिखती है उसे अज्ञानी प्राणी स्फटिक की लालिमा समझता है पर विवेकी प्राणी यह समझता है कि स्फटिक तो अत्यन्त स्वच्छ है। यह लालिमा पद्मरागमणि की है। इसी प्रकार वर्तमान में हमारी आत्मा रागी द्वेषी हो रही है सो यह मोहजन्य विकृति का चमत्कार है। अज्ञानी प्राणी इस अन्तर को न समझ आत्मा को ही रागी द्वेषी मान बैठता है, परन्तु विवेकी प्राणी यह जानता है कि आत्मा तो सदा स्वच्छ तथा निर्विकार है। उस पर जो वर्तमान में विकार चढ़ रहा है वह मोहजन्य है। जो द्रव्य, जो गुण और जो पर्याय अरहन्त की है वही द्रव्य, वही गुण और वही पर्याय मेरी है। जिस प्रकार इनका चेतनद्रव्य केवलज्ञानादि क्षायिक गुणों से उद्भासमान होता हुआ परमात्मपर्याय को प्राप्त हुआ है उसी प्रकार हमारा चेतनद्रव्य भी उक्त गुणों से उद्भासमान होता हुआ परमात्मपर्याय को प्राप्त हो सकता है। जब आत्मा में ऐसा विचार उठता है— विवेकरूपी ज्योति का आविर्भाव होता है तब उसका मोह स्वयं दूर हो जाता है और ज्ञानघन आत्मा निर्द्वन्द्व रह जाता है। यही इस जीव की सुखमय अवस्था है। इसे ही प्राप्त करने का निरन्तर प्रयत्न होना चाहिये। कुन्दकुन्द महाराज के वचन मिश्री के कण हैं। मिश्री का जो भी कण खाया जायगा वह मीठा होगा। इसी प्रकार कुन्दकुन्द महाराज का जो भी वचन या गाथा आपके चिन्तन में आवेगी वह आपको आनन्दमयी होगी।

दिन के दो बजे से सभा थी उसमें बहुत से नर-नारी आये। श्री पूर्णसागर महाराज, चिदानन्दजी महाराज का व्याख्यान हुआ। समय की बलवत्ता है कि अब अष्टमूलगुण पालन का उपदेश दिया जाता है। जैनियों का जो लौकिक धर्म था उसका अब उपदेश दिया जाता है। लोगों के आचरण अत्यन्त गिर गये हैं। जैनधर्म

की व्यवस्था तो इतनी उत्तम है कि उसका पालन करने से सहज ही कल्याण का पथ मिल सकता है। श्री पं०चन्द्रमौलि शास्त्री ने गुरुकुल की अपील की तथा श्री समगौरयाजी ने समर्थन किया। चन्दा प्रारम्भ हो गया। पाँच हजार के अन्दाज चन्दा हो गया। जैनियों में दान करने का गुण नैसर्गिक है। निमित्त मिलने पर वह अनायास ही प्रकट हो जाता है। अगले दिन प्रात:काल फिर प्रवचन हुआ, पर मैं अब प्रवचन का पात्र नहीं। मेरी शक्ति क्षीण हो गई है। वचनवर्गणा स्पष्ट नहीं। केवल मनुष्यों को रञ्जन करना तात्त्विक मार्ग नहीं। तात्त्विक मार्ग तो वह है जिसमें आत्मा को शान्ति मिले। पर शान्ति राग-द्वेष की प्रचुरता से अत्यन्त दूर है, क्योंकि परपदार्थों में जो इष्टानिष्ट कल्पना होती है उसका मूल कारण ही मोह है और मोह से परपदार्थों में आत्मीय बुद्धि ही राग का कारण है। आज का जनसमूह गल्पवाद का रसिक है। वास्तविक तत्त्व का महत्त्व नहीं समझता। केवल बाह्य आडम्बर में निज धर्म की प्रभावना चाहता है। प्रभावना का मूल कारण ज्ञान है। उसकी ओर दृष्टि नहीं। ज्ञान के समान अन्य कोई हितकारी नहीं, क्योंकि ज्ञान ही आत्मा का मूल असाधारण गुण है। उसी की महिमा है जो यह व्यवस्था बन रही है। एक दिन नईमण्डी भी गये। लोग बहुत भीड़ के साथ ले गये, जिससे कष्ट का अनुभव हुआ। यहाँ प्रवचन में अजैन जनता बहुत आई और उत्सुकता भी उसे बहुत थी। परन्तु मतविभिन्नता बहुत ही बाधक वस्तु है। यथार्थ वस्तु का स्वरूप प्रथम तो जानना कठिन है। फिर अन्य को निरूपण करना और भी कठिन है। स्वरूप का परिचय होना ही कल्याण का मार्ग है, परन्तु उसके लिये हमारा प्रयास नहीं। प्रयास केवल बाह्य आडम्बर के अर्थ है। मुजफ्फरनगर में ६-७ दिन रुकना पड़ा।

सहारनपुर–सरसावा

चैत्र सुदी ६ सं० २००६ को मुजफ्फरनगर से ५ मील चलकर जंगल में ठहरे। यहाँ पर १ पुल बना है जिसके ५२ दरवाजे हैं। यहाँ पर चौके आये। हमारा श्री मुनीमजी के यहाँ भोजन हुआ। भोजन पवित्र था। इसका मूल कारण था कि वे स्वयं पवित्र भोजन करते हैं, अतएव अतिथि को भोजन देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं। सदा मनुष्य को शुद्ध भोजन करना चाहिये, इससे उसकी बुद्धि शुद्ध रहती है, शुद्ध बुद्धि से तत्त्वज्ञान का उदय होता है, तत्त्वज्ञान से पर-भिन्नता का ज्ञान होता है और पर-भिन्नता का ज्ञान ही कल्याण का मार्ग है। ४ मील

के बाद रोहाना आ गये, स्थान उत्तम है। १ मन्दिर है, ४ घर जैनियों के हैं, मकान बहुत उत्तम हैं। परन्तु बहुत आदमी प्रायः दर्शन नहीं करते। २ बजे सार्वजनिक सभा हुई। श्रीवर्णी मनोहरलाल जी का व्याख्यान हुआ। इनके सिवा अन्य त्यागियों के भी व्याख्यान हुए। सभी ने अच्छा कहा। श्री सुमेरचन्द्र जी का त्यागधर्म पर अच्छा रुचिकर व्याख्यान हुआ। बहुत मनुष्यों ने दर्शन की प्रतिज्ञा ली। दूसरे दिन फुटेसरा पहुँच गये। यह स्थान श्री जीवराम जी ब्रह्मचारी के जैनधर्म ग्रहण करने का है। जिनका संसार निकट रह जाता है उन्हें ही जैनधर्म उपलब्ध होता है। जैनधर्म के सिद्धान्त अत्यन्त उदात्त हैं। हृदय का व्यामोह छूट जावे तो यह धर्म सभी को रुचिकर हो जाय, परन्तु इस युग में यही छूटना कठिन है। श्री समन्तभद्र स्वामी ने तो लिखा है—

कलेः प्रभावः कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचानयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्म्याः प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ।।

हे भगवन्! आपका शासन—धर्म ऐसा है कि उसका समस्त संसार में एकाधिपत्य होना चाहिये, परन्तु उसमें निम्नाङ्कित बाधक कारण हैं— १. कलिकाल का प्रभाव, २. श्रोता का कलुषित आशय और ३ वक्ता को कथन करने योग्य नय का ज्ञान नहीं होना। यदि यह हुण्डासर्पिणी काल नहीं होता, श्रोता का आशय निर्मल होता और वक्ता को किस समय कौन बात कहना चाहिये, इसका ज्ञान रखता तो आपका शासन समस्त संसारमें एकाधिपत्य रूप से फैलता। यदि आज कोई अजैन जैनधर्म को स्वीकृत भी करना चाहता है तो वर्तमान जैनियों का व्यवहार इतना संकीर्णतापूर्ण हो गया कि उसका निर्वाह होना कठिन होता है। किसी एकाकी ब्रह्मचारी का जैनधर्म धारण करना तथा उसका निर्वाह होना दूसरी बात है पर पूरी गृहस्थी के साथ यदि कोई अजैन जैनधर्म धारण करता है तो उसका वर्तमान जैन समाज में निर्वाह कहाँ है? वह तो उभयतः भ्रष्ट जैसा हो जाता है। अस्तु, मन्दिर में दर्शन किये। मन्दिर निर्मल बना हुआ है। दिन को ३ बजे सभा हुई। श्री क्षुल्लक पूर्णसागरजी तथा क्षुल्लक चिदानन्द जी साहब का प्रवचन हुआ। यहाँ पर २० घर जैनों के है। सर्व सम्पन्न हैं। गुरुकुल सहारनपुर को ११०१) प्रदान किया। १०१ रु० वर्णी ग्रन्थमाला को भी दान किया। रात्रि को बाग में शयन किया। बाग बहुत ही रम्य था। आगामी दिन देवबन्द आ गये। अच्छा स्वागत हुआ, मध्याह्न के ३ बजे से सभा का आयोजन हुआ। मनुष्यों

का समारोह अच्छा था, परन्तु बात वही थी कि मानना किसी की नहीं। आजकल मनुष्यों के यह भाव हो गये हैं कि 'अन्य सिद्धान्त वाले हमारा सिद्धान्त स्वीकृत कर लेवें' यह समझ में नहीं आता। प्रत्येक मनुष्य यही चाहता है कि हमारा आत्मा उत्कर्ष पद को प्राप्त करे, किन्तु उत्कर्ष प्राप्त करने का जो मार्ग है उस पर न चलना पड़े। यही विपरीत भाव हमारे उत्कर्ष का बाधक है। हमारा विश्वास तो यह है कि यदि हम अपने सिद्धान्त पर आरूढ़ हो जावें— उसी के अनुसार अपनी सब प्रवृत्ति करने लगें तो अन्य लोग हमारे सिद्धान्त को अच्छी तरह हृदयङ्गम कर लेंगे। हम लोग अपने सिद्धान्तों को अपने आचरण या प्रवृत्ति से तो दिखाते नहीं, केवल शब्दों द्वारा आपको बतलाने का प्रयत्न करते हैं परन्तु उसका प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। यहाँ मुस्लिम समाज का विशाल कालेज है जिसमें उनके उच्चतम ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं, २००० छात्र उसमें शिक्षा पाते हैं। बहुत ही सरल इनका व्यवहार है, बहुत मधुरभाषी है। एक मौलवी साहब ने उक्त सर्व स्थान दिखलाये। इनके यहाँ बाह्य आडम्बर का बिलकुल अभाव है, भोजन बहुत सादगी का है। यहाँ से चलकर ४ मील पर १ ग्राम था, उसमें निवास किया। यहाँ जिसके स्थान में ठहरे वह बहुत ही उदार प्रकृति का था। उसने बड़े सत्कार के साथ रहने का प्रबन्ध किया। उसी समय ५ सेर दूध निकाल लाया। जो पीने वाले थे उन्हें पान कराया। अनन्तर हम लोग कथोपकथन कर सो गये।

चैत्र सुदी १२ सं० २००६ को सहारनपुर आ गये। टपरी स्टेशन से ही मनुष्यों का संपर्क होने लगा और सहारनपुर के बाहर तो हजारों मनुष्यों का जमाव हो गया। बड़ी सजधज के साथ जुलूस निकाला। श्री हुलासराय जी रईस के गृह के पास जो कन्या विद्यालय का मकान था वहीं पर जुलूस समाप्त हुआ। हजारों नर-नारियों का समुदाय होने से इतना शब्दमय कोलाहल था कि लाउडस्पीकर के द्वारा भी कार्य सिद्धि नहीं हो सकी। एक भी कार्य नहीं हुआ, केवल श्री जिनमन्दिर के दर्शन कर सके। चैत्र सुदि १३ भगवान् महावीर स्वामी का जन्म दिवस है। इस दिन समस्त भारतवर्ष में जैन बड़ा उत्सव करते हैं। यहाँ भी उत्सव की बड़ी-बड़ी तैयारियाँ थीं। प्रात:काल ८ बजे से ९ बजे तक जैन कालेज में प्रवचन हुआ। बहुत भीड़ थी, भीड़ के अनुकूल ही प्रवचन रहा। प्रवचन से जनता प्रसन्न भर हो जाती है। पर जो बात होनी चाहिए वह नहीं होती। जनता में बहुत ही आनन्द समाया हुआ था। बनारस से श्री सम्पूर्णानन्द जी आये थे। रात्रि को आपका भाषण होगा। लोगों ने उत्सुकता के साथ दिन व्यतीत किया, परन्तु जब

रात्रि का समय आया तब अखण्ड पानी बरसा, इससे सभा ही नहीं हो सकी और श्री सम्पूर्णानन्द जी के भाषण श्रवण से जनता वञ्चित रह गई। अगले दिन जैन बाग में प्रवचन हुआ, मनुष्यों की भीड़ बहुत थी, तदपेक्षा स्त्रीसमाज बहुत था। समुदाय इतना अधिक था कि प्रवचन का आनन्द मिलना कठिन है। १ घण्टा जिस किसी तरह पूर्णकर छुट्टी मिली। यहाँ स्वाध्याय के रसिक बहुत हैं जिन में श्री ब्र०रतनचन्द्र जी मुख्त्यार और श्री नेमिचन्द्र जी वकील प्रमुख हैं। ये दोनों भाई आत्महित में जागरूक तथा आगमग्रन्थों के परिज्ञान से युक्त हैं। संस्कृत भाषा का अध्ययन न होने पर भी जिनागम का विशद ज्ञान प्राप्त हो जाना इनके पूर्व संस्कार कर फल हैं। ज्ञान का संस्कार पर्यायान्तर में साथ जाता है, इसलिये साधन रहते हुए मनुष्यों को ज्ञानार्जन में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। यहाँ प्रवचनों में लोगों का समुदाय बहुत आता है परन्तु न तो तात्त्विक लाभ उठाता है और न तात्त्विक धर्म के ऊपर दृष्टि है। केवल बाह्य प्रभावना में अपना सर्वस्व लगाकर धर्म का उत्कर्ष मानते हैं। प्रभावना प्रभाव साधारण जनता पर पड़ता है और साधारण बाह्य वेष को देखकर केवल इतना समझ लेती है कि इन लोगों के पास द्रव्य की पुष्कलता हैं। ये लोग व्यापारी हैं। इन्हें संग्रह करने की युक्ति विदित है। वास्तव में पूछा जाय तो आज का मनुष्य इन बाह्याडम्बरों से प्रभावित नहीं होता। उसे प्रभावित करने के लिये तो उसका अज्ञान दूर होना चाहिए। ज्ञान की महिमा अपरम्पार है। उसका जिसे स्वाद आ गया वह बाह्य पदार्थों की अपेक्षा नहीं करता। यहाँ गुरुकुल की उघाई करने का कार्य हुआ। एक महानुभाव ने २ कमरा गुरुकुल के लिए बनाने का वचन दिया। दो बी०ए० लड़कों ने यह प्रतिज्ञा ली कि विवाह में रुपया नहीं माँगेंगे। दो ने यह नियम लिया कि जो खर्च होगा उसमें १ पैसा प्रति रुपया विद्यालय को देवेंगे। कई मनुष्यों ने विवाह में कन्यापक्ष से याचना न करने का नियम लिया। श्री लाला प्रद्युम्नकुमार जी रईस ने गुरुकुल के लिये २९ बीघा जमीन देने का वचन दिया तथा १०००) स्याद्वाद विद्यालय को भी प्रदान किये। यहाँ १०-११ दिन रहे। सभी दिनों में समागम अच्छा रहा। मोहोदय में समागम अच्छा लगता है। मोह की महिमा देखो कि लोग जिस समागम से बचने के लिये गृह का त्याग करते हैं, त्यागी होने पर भी उन्हें वही समागम अच्छा लगता है। परमार्थत: मोह गया नहीं है, उसने रूप भर बदल लिया है।

वैशाख बदी ९ को सहारनपुर से चलकर ८।। बजे बिलखनी पहुँच गये। पं०दरबारीलाल जी कोठिया के यहाँ भोजन हुआ। भद्र पुरुष हैं। सहारनपुर से कई चौंके आये। सर्व मोह का ठाठ है। जिस दिन मोह का अभाव होगा उस दिन यह सर्व प्रक्रिया समाप्त हो जायगी। मोह की मन्दता और तीव्रता में शुभ-अशुभ मार्ग की सत्ता है। जिस समय मोह का अभाव होता है उस दिन यह प्रक्रिया अनायास मिट जाती है। मोह के नष्ट होते ही ज्ञानावरणादिक तीन घातिया कर्म अन्तर्मुहूर्त्त में स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं।

वैशाख बदी १० सं० २००६ को सरसावा आ गये। पं०जुगलकिशोर के यहाँ भोजन हुआ। आपका त्याग और जिनवाणी सेवा प्रसिद्ध है। आपने अपना समस्त जीवन तथा समस्त धन जिनवाणी की सेवा के लिये ही अर्पित कर दिया है। आपका सरस्वती भवन दर्शनीय है। यहाँ १ घटना से चित्त में अति क्षोभ हुआ और निश्चय किया कि पर का समागम आदि सर्व व्यर्थ है। आत्मा स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता का बाधक अपनी अकर्मण्यता है। अकर्मण्यता का यह अर्थ है कि उसकी ओर उन्मुख नहीं होते। पर पदार्थों के रक्षण-भक्षण में ही आत्मा को लगा देते हैं। अगले दिन प्रात:काल प्रवचन हुआ। वक्ता धर्म का स्वरूप बतलाने में ही अपनी शक्ति लगा देते हैं। निरन्तर प्रत्येक वक्ता अपने परिश्रम द्वारा धर्म के स्वरूप को समझाने की चेष्टा करता है, धर्म के अन्दर बाह्य-आभ्यन्तर रूप दिखलाने की चेष्टा करता है और जहाँ तक बनता है दिखलाने में सफल भी होता है। परन्तु आभ्यन्तर रसास्वाद न आने के कारण न तो आपको लाभ होता है और न जनता को। केवल गल्पवाद में परिणत हो जाता है। वैशाख वदी १२ को वीरसेवामन्दिर का १३वाँ वार्षिकोत्सव हुआ। सभापति के पद पर मुझे बैठा दिया। वीरसेवा मन्दिर की रिपोर्ट, मुख्त्यार साहब की प्रेरणा पाकर दरबारीलाल जी कोठिया ने सुनाई। इसके अनन्तर श्री जयभगवान जी वकील ने प्राचीन धर्मों में जैनधर्म की विशेषता बतलाई। आपका तुलनात्मक अध्ययन प्रशंसनीय है। अन्त में मैंने भी कुछ कहा। आगामी दिन कन्या विद्यालय का वार्षिकोत्सव हुआ। लोगों की बहुत भीड़ थी। रिपोर्ट आदि सुनाने के बाद अपील हुई। मन्त्री महोदय ने १००१) स्वयं दिये तथा ३०००) और हो गये। लोगों ने विशेष ध्यान नहीं दिया, अन्यथा १००००) हो जाते। पुरुषों की अपेक्षा महिला वर्ग में धार्मिक रुचि अधिक है। उसका कारण है कि इनका बाह्य सम्पर्क नहीं है। आज का मनुष्य तो बाह्य सम्पर्क के कारण धर्म से च्युत होता जा रहा है। उसे धर्म

आडम्बर मात्र जान पड़ने लगा है। यदि प्रारम्भ से मनुष्य पर अपना रङ्ग चढ़ जावे तो फिर दूसरा रङ्ग नहीं चढ़े, परन्तु लोग प्रारम्भ से ही अपनी सन्तान को जिन धर्म के रङ्ग से विमुख रखते हैं। परिणाम उसका जो होता है वह सामने है। अस्तु, समय का प्रवाह और लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न प्रकार है।

दिल्ली की ओर

(१)

वैशाख बदी १३ सं० २००६ को प्रात:काल ५।। बजे सरसावा से चल पड़े आधा मील तक १०० मनुष्य और स्त्रीसमाज पहुँचाने के लिये आया, जिसे बड़े आग्रह से लौटा पाया। यहाँ से ७ मील चलकर ९ बजते हम लोग अभीष्ट स्थान पर पहुँच गये। स्नानादि से निवृत्त हो स्वाध्याय किया पश्चात् भोजन किया। भोजन के बाद कथोपकथन हुआ। प्रतिदिन यही चर्चा होती है कि राग-द्वेष-मोह संसार के मूल कारण हैं। इन तीनों में मूल मोह है। इसके बिना राग-द्वेष की प्रधानता नहीं। आगामी दिन प्रात: ८।। बजे जगाधरी आ गये। सर्व समाज ने स्वागत किया। यह ब्र०सुमेरुचन्द्र जी भगत का ग्राम है। ९ बजे श्री मन्दिरजी में क्षुल्लक पूर्णसागरजी का व्याख्यान हुआ। ५ मिनट मेरा भी भाषण हुआ। जनता को हँसी आ गई। हास्य का कारण वृद्धावस्था है। वृद्धावस्था में जो कथा मनुष्य कहता है वह प्राय: प्रत्येक विषय में स्खलित निकलती है। किन्तु उसका अभिप्राय निर्मल रहता है, अत: आदर का स्थान हो जाती है। मध्याह्न के ३ बजे आमसभा हुई। विशेष व्याख्यान हुए। एक शास्त्री का व्याख्यान बहुत मार्मिक हुआ। अगले दिन ८ से ९ बजे तक प्रवचन में बहुत से मनुष्य आये। ब्राह्मण भी बहुत आये। १ शास्त्रीजी व १ ज्योतिषीजी भी आये, जो जैनधर्म की पदार्थनिरूपण की शैली से बहुत प्रभावित हुए। अन्य मनुष्य भी आये। उनको भी बहुत हर्ष हुआ। जैनधर्म की प्रणाली से सभी प्रभावित हुए। अन्तरङ्ग में निर्मलता हो तो तत्त्वनिरूपण रुचिकर होता है तथा जिज्ञासा को वृद्धिंगत करता है, अन्यथा उत्तम से उत्तम तत्त्वनिरूपण अरुचिकर हो जाता है तथा द्वेष व मात्सर्य को वृद्धिंगत करने लगता है। कई मानवों ने ब्रह्मचर्य व्रत के लिये तथा स्त्रीसमाज ने महीन वस्त्रों का परिधान त्याग किया। वैशाख सुदी १ को जगाधरी से ५ मील चलकर रत्नपुर आ गये। यहाँ सुमतिलालजी के यहाँ भोजन किया। आपके भाई ने १००१) स्याद्वाद विद्यालय बनारस को प्रदान किया। ४ चौके जगाधरी से भी आये थे। सब ने

अपनी-अपनी भक्ति के अनुकूल पात्र को दान देने की चेष्टा की, परन्तु जो पात्र हैं वे मर्यादातिक्रमण कर दान लेते हैं। चरणानुयोग की पद्धति को अतिक्रमण कर नई-नई पद्धति निकालना उचित नहीं। प्राय: पात्र को देखकर दान देनेवाला व्यक्ति भय से कम्पायमान हो जाता है। इसमें पात्र की असरलता ही कारण है।

रत्नपुर से ३ मील चलकर यमुना नदी पर आ गये। यहाँ से ३ मील चलकर कतुबपुरी आ पहुँचे। यहीं भोजन हुआ। जिसने भोजन दिया वह बहुत प्रसन्न हुई। आज कल इस पञ्चम काल में अनेक आपत्तियों के आने पर भी लोगों में धार्मिक प्रेम है तथा त्यागी की महती प्रतिष्ठा करते हैं। उसका भोजन हो गया, मानों उन्हें त्रैलोक्य की निधि मिल गई। जब तक त्यागी भोजन न करले तब तक बड़ी सावधानी रखते हैं। यही भावना निरन्तर रखते हैं कि किसी तरह मेरे घर पात्र का भोजन हो जावे। दैवयोग से पात्र आ जावे तो मेरा धन्यभाग होगा। २ बजे आमसभा हुई। यहाँ पर जो ठाकुर राणा थे, आपने शिकार छोड़ दिया तथा मदिरा का त्याग कर दिया। ग्राम के अन्य प्रतिष्ठित लोगों ने भी मांस-मदिरा का त्याग किया। यहाँ से २ मील चलकर समस्तपुर में ठहर गये। दूसरे दिन प्रात: ६ मील चलकर नकुड़ आ गये। ग्राम वालों ने स्वागत से धर्मशाला में ठहराया। मन्दिर में प्रवचन हुआ, पश्चात् भोजन हुआ। दिन के ३ बजे से सभा हुई। जो सर्वत्र होता है वही यहाँ हुआ, कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ और न होने की संभावना है क्योंकि मनुष्यों के भाव प्राय: निर्मल नहीं रहते। अगले दिन मन्दिर में प्रवचन हुआ। कुछ तत्त्व दृष्टिगोचर नहीं हुआ, केवल रस्म अदा करनी पड़ती है। वक्ता को स्वयं अपने में आत्मकल्याण की भावना रखना चाहिए। कल्याण का मूल कारण स्वपर-विवेक है। जिनने स्वपर-विवेक किया उनका जन्म सार्थक है। मध्याह्नोपरान्त ३ बजे से सभा हुई। मनुष्य समुदाय अच्छा था, परन्तु कोई तत्त्व नहीं निकला। प्राय: प्रतिदिन यही कथा होती है। यहाँ की समाज ने ५०१) स्याद्वाद विद्यालय को दिये। ५०१) गुरुकुल को हो गये। रुपया मिलता है, पर सदुपयोग होना अधिकारियों के हाथ की बात है।

यहाँ से ५।। बजे प्रात: ५ मील चलकर अम्बाड़ा आ गये। बड़े स्वागत से लोगों ने धर्मशाला में ठहराया। पश्चात् मन्दिर में गया, प्रवचन हुआ। लोगों ने स्वाध्याय का नियम लिया। धर्मशाला में कई महाशयों ने, जो कि हरिजनों में थे, मदिरा का त्याग किया। कई महाशयों ने माँस का त्याग किया। खेद इस

बात का है कि जैनी भाई स्वयं बीच में बोलने लगते हैं इससे जनता में प्रभाव नहीं रहता। सायंकाल व्याख्यान हुआ। जैनेतर जनता अति प्रसन्न हुई। यहाँ १५ घर जैनियों के हैं। मन्दिर बहुत सुन्दर है। शास्त्र-प्रवचन का हाल बहुत बड़ा है। दूसरे दिन प्रात:काल समयसार का प्रवचन किया। अनन्तर रत्नकरण्डश्रावकाचार के भावना प्रकरण से ३ भावनाओं का वर्णन किया। पं०सदासुखराय जी ने बहुत सुन्दर वर्णन किया है। सबने प्रेम से सुना, परन्तु जिनको उनपर विचार करना चाहिये वे कदापि उनका पालन नहीं करते यह महती त्रुटि है।

अम्बाड़ा से ४ मील चलकर इसलामपुर आ गये। यह बस्ती पठान लोगों की है। ३ घर जैनियों के हैं। मार्ग में १ पठान ने ६ आम उपहार में दिये। १ जैनी भाई लेने को प्रस्तुत नहीं हुए। मैंने कहा कि अवश्य लेना चाहिये। आखिर यह भी तो मनुष्य हैं। इनके भी धर्म का विकास हो सकता है। बाह्य आचरण के अनुकूल ही मनुष्यों का व्यवहार चलता है। इससे ही हम लोग उनसे घृणा करने लगते हैं, अत: आवश्यकता अन्तरंग आचरण के निर्मल करने की है। उसके अर्थ बाह्य आचरण को भी निर्मल बनाने की आवश्यकता है। यदि बाह्य आचरण शुद्ध हो जाये तो अन्तरङ्ग आचरण का निर्मल होना कठिन नहीं। अगले दिन इसलामपुर से ४ मील चलकर रामनगर आये। बीच में १ नहर मिली। हवा ठण्डी थी। साथ ही हवा की प्रचुरता से बालू के कण बहुत उठते थे जिससे आँखों में कष्ट प्रतीत होता था। यहाँ वालों ने बहुत ही स्वागत किया। अनेकों स्थानों पर दरवाजे बने हुए थे। जगह-जगह सजावट थी। लोगों में उत्साह ही उत्साह दृष्टिगोचर हो रहा था। धर्मशाला में ठहराया। ८ बजे प्रवचन हुआ। बहुत से मनुष्य आये। प्रवचन रुचिकर हुआ, परन्तु विशेष वाचालता (कोलाहल) से चित्त नहीं लगा। पश्चात् भोजन किया। मध्याह्न के बाद २ बजे से सभा हुई जिसमें मनुष्यों की भीड़ बहुत आई। क्षुल्लकद्वय तथा अन्य लोगों के व्याख्यान हुए। अगले दिन प्रात: ७ बजे वाचनालय खुला। समारोह अच्छा था। पश्चात् ८ बजे से ९ बजे तक प्रवचन हुआ। बहुत मनुष्य एकत्र हुए। सबने प्रवचन सुना। जैनियों की अपेक्षा अन्य मनुष्यों ने बड़े स्नेह से धर्म के प्रति जिज्ञासा प्रकट की तथा उनके चित्त में मार्ग का विशेष आदर हुआ। अनन्तर भोजन के लिए गमन किया। बहुत ही भीड़ थी। भोजन करना कठिन हो गया। एक के बाद एक आता ही रहा।

वैशाख सुदी २०-११ संवत् १००६ को ६।। बजे चल कर ७ मील नानौता आ गये। श्री महेन्द्र ने बहुत ही आदर से अपने घर में स्थान दिया। स्नानान्तर मन्दिर में गये। आपके घर पर आपकी माँ तथा स्त्री ने आहार दिया। २ बजे बाद उत्सव हुआ। कई सहस्र मनुष्य उत्सव में आये। कीर्तन करने वालों ने कीर्तन किया। प्राय: संसार में मनुष्य जो काम करता है वह अपने उत्सव के लिये करता है। उन्नति का मार्ग कषाय-निवृत्ति है, कषाय की निवृत्ति ज्ञान से होती हैं, ज्ञान का मूल कारण आगमज्ञान है और आगमज्ञान का कारण विद्या का अभ्यास है। दूसरे दिन बड़े मन्दिर में प्रवचन हुआ। मनुष्य संख्या पुष्कल थी। परन्तु हमको इतनी योग्यता नहीं कि उन्हें प्रसन्न कर सकते। केवल १ घण्टा समय गया। हम रूढ़ि के गुलाम हैं और उसी की पूर्ति करना चाहते हैं। बहुत आदमी जिसमें प्रसन्न हों उसी में प्रसन्नता मानना हमारा कार्य है, परन्तु धर्म का स्वरूप तो निर्मल आत्मा की परिणति है। उसकी यथार्थता मोह-राग-द्वेष के अभाव में ही है। यदि राग-द्वेष की प्रचुरता है तो आत्मा का कल्याण होना असम्भव है। प्रवचनों में जैन लोगों के अतिरिक्त अन्य लोग भी आते हैं। परन्तु उन्हें उनकी भाषा में तत्त्व का उपदेश नहीं होता, अत: वे लोग उपदेश के फल से वञ्चित रह जाते हैं। जैन लोग स्वयं इसकी चेष्टा नहीं करते, केवल ऊपरी व्यवहार में अपना समय व्यय कर देते हैं। एक दिन प्रकाशचन्द्र जी रईस के यहाँ भोजन हुआ। आपने स्याद्वाद विद्यालय को १०००) दिये। भोजन भी निरन्तराय हुआ। प्रकाशचन्द्र व उनकी पत्नी दोनों योग्य हैं। एक दिन चतुरसेन के यहाँ भोजन हुआ। आपने भी स्याद्वाद विद्यालय को ५०१) प्रदान किये तथा महेन्द्र ने भी १००१) उक्त विद्यालय को दिये। कुछ लोगों ने देने का वचन दिया। यह सब हुआ, परन्तु यह सुनकर बहुत खेद हुआ कि नानौता ग्राम में कई जैनी भाई मदिरा पान करते हैं तथा कई वेश्यागामी हैं। त्यागी लोगों को शुद्ध भोजन मिलना प्राय: कठिन है। क्षुल्लक पूर्णसागर जी लोगों के सुधार का बहुत प्रयास करते हैं। बहुत मनुष्य अष्टमूलगुण का नियम लेते हैं, किन्तु जानते कुछ नहीं। इससे व्रत का निर्वाह होना कठिन सा प्रतीत होता है। इस प्रान्त में सदाचार की त्रुटि महती है। नानौता में ४ दिन लग गये।

वैशाख सुदी १५ सम्वत् २००६ को नानौता से ३ मील चल कर यमुना की नहर पर आ गये। यहाँ से ४ मील चलकर तीतरों आये। यहाँ जैनियों के १० घर हैं। मन्दिर में प्राय: जैन लोग बहुत कम आते हैं। हम जिस घर भोजन के लिये गये, पता चला कि उस घर से कोई भी दर्शन करने को नहीं जाता।

यहाँ पर ३ बजे सभा हुई जिसमें पं०हुकमचन्द्र जी सलावावालों ने मूर्तिपूजा विषयक व्याख्यान दिया। अगले दिन १।। बजे तीतरों से चलकर कर्च्चीगढ़ी आ गये। यहाँ ८ घर जैनियों के हैं। १ मन्दिर है। यहाँ पर रामाभाई खतोली के निवास करते हैं, सज्जन हैं, आँख से नहीं दिखता, वृद्धावस्था है। यहाँ के जैनी आपके साथ अच्छा सलूक करते हैं। मन्दिर स्वच्छ हैं। सब भाईयों ने पूजा करने की प्रतिज्ञा ली। अगले दिन ७ मील चलकर पक्कीगढ़ी आये। यहाँ १ मन्दिर है। १० घर जैनियों के हैं जो सम्पन्न हैं। मिडिल स्कूल में प्रवचन हुआ। जनता अच्छी थी। लाला जम्बूप्रसाद जी के यहाँ भोजन हुआ। आपने ५१) स्याद्वाद विद्यालय को दिए। मध्याह्न के बाद क्षुल्लक चिदानन्दजी का उपदेश हुआ। आपको देने का बहुत शौक है। अगले दिन पक्कीगढ़ी से ३ मील चलकर भैंसवाल आए। यहाँ ३ घर जैनों के हैं। सर्व सम्पन्न हैं। यहाँ जाट लोगों की बस्ती है। ग्राम में ईख बहुत उत्पन्न होती है। इससे यहाँ के कृषक सम्पन्न हैं। पैसा की पुष्कलता सबके है, किन्तु वह दुरुपयोग में जाता है। देहातों में धार्मिक विद्या के जानने वाले नहीं और शहरों में ऐश आराम से लोगों को अवकाश नहीं। अब तो काम और अर्थ पुरुषार्थ ही मुख्य रह गए हैं।

यहाँ से ६ मील चलकर जेठ बदी ४ को शामली आ गये। यहाँ पर १०० घर जैनियों के हैं। बड़ी भार मण्डी है। आज कल इस नगर में सट्टा की प्रचुरता है। यहाँ २ मन्दिर हैं, किन्तु पूजन और स्वाध्याय का प्रचार नहीं। जिसके घर भोजन किए वह भला आदमी है। ३ बजे से आमसभा हुई, परन्तु फलांश जो सर्वत्र होता है यहाँ भी वही हुआ। वाह वाह में संसार लुट रहा है। आप स्वयं निज स्वरूप से च्युत हैं और संसार को उस स्वरूप में लगाना चाहता है...... यह सर्वथा उचित नहीं। जो मनुष्य जगत् के कल्याण की चेष्टा करते हैं उनका स्वयं अपनी ओर लक्ष्य नहीं। ऐसे लोगों का प्रयत्न अन्धे के हाथ में लालटेन के सदृश है। संसार की विडम्बना का चित्रण करना संसारी काम है। जिसको नाना विकल्प उत्पन्न होते हैं वह पदार्थ को नाना रूप में देखता है। वास्तव में पदार्थ तो अभिन्न है, अखण्डित है, यह उसे क्षमोपशम ज्ञान से नाना रूप में देखता है।

आज यहाँ प्रातःकाल होने के पूर्व एक घटना हुई जो कल्पना में न आने के योग्य है। स्वप्न में बाबा भागीरथ जी का दर्शन हुआ। दर्शन होना

असम्भव नहीं, परन्तु जैसा उनका रूप न था वैसा देखा। उन्हें दिगम्बर मुद्रा में देख मैंने कहा— महाराज! आप दिगम्बर हो गये? आप तो यहाँ पञ्चम गुणस्थान वाले श्रावक थे? यहाँ से स्वर्ग गये, देवपर्याय पाई। फिर यह मुद्रा कहाँ पाई? उन्होंने कहा— भाई! गणेशप्रसाद! तुम बड़े भोले हो। मैं तुम्हारे समझाने के लिए आया हूँ। यद्यपि मैं अभी सागरों पर्यन्त आयु भोग कर मनुष्य होऊँगा तो तब दिगम्बर पद का पात्र बनूँगा, परन्तु तुमको कहता हूँ कि तुमने जो पद अंगीकार किया है उसकी रक्षा करना। व्रत धारण करना सरल है, परन्तु उसकी रक्षा करना कठिन है। बाह्य में १ चद्दर और २ लंगोटी रखना, १ बार पानी पीना कठिन नहीं तथा आजन्म निर्वाह करना कोई कठिन नहीं। किन्तु आभ्यन्तर निर्मलता होना अति कठिन है।

आज जेठ बदी ८ सं० २००६ का दिन था। उपवास करना चाहिये, परन्तु शक्ति की न्यूनता से १ बार तो प्रतिदिन भोजन होता ही है, किन्तु जो भोजन प्रतिदिन करते थे, उससे कुछ अल्प किया। लोग संसार में शान्ति चाहते हैं, परन्तु संसार का स्वरूप ही अशान्ति का पुञ्ज है। उसमें शान्ति खोजना रम्भास्तम्भ में सार अन्वेषण करने के सदृश है। संसार के अभाव में शान्ति है। लौकिक मनुष्य स्थान विशेष को संसार और मोक्ष समझते हैं वह नहीं। संसार असंसार आत्मा की परिणति विशेष है। आत्मा की सकर्म परिणति संसार है और निष्कर्म परिणति असंसार है— मोक्ष है। नवमी के दिन शीतलप्रसादजी शाहपुरवालों के यहाँ भोजन किया। प्रत्येक मनुष्य की यह दृष्टि रहती है कि हमारे यहाँ ऐसा भोजन बने जो सर्वश्रेष्ठ हो, तथा पात्र हमारी इच्छानुसार उतना भोजन कर लेवे। चाहे पात्र को लाभ हो, चाहे अलाभ हो। भोजन की इच्छा का ही नाम आहार है। आहार संज्ञा के कारण संसार में महान् अनर्थ होते हैं। अनर्थ की जड़ भोजन की लिप्सा है। अच्छे-अच्छे महान् पुरुष इसके वशीभूत होकर जो क्रिया करते हैं वह किसी से गुप्त नहीं। भोजन की लालसा अच्छे-अच्छे पुरुषों का तिरस्कार करने में कारण हो जाती है।

एक दिन लोगों ने सभा में निर्णय किया कि लड़की वाले से रुपया नहीं लेना। समय की बलवत्ता देखो कि लोग लड़की वाले से ठहराव कर रुपया माँगने लगे हैं। कितनी अकर्मण्यता लोगों में आ गई है और लोभ की कितनी सीमा बढ़ गई है? वास्तव में लोभ ही पाप का मूल कारण है। बहुत से मनुष्य लोभ

के वशीभूत हो कर नाना अनर्थ करते हैं। आज संसार दुखी है, इसका लोभ ही मूल हेतु है। हजारों मनुष्यों के प्राण लोभ के वशीभूत होने से चले गये। आज संसार में जो संग्राम हो रहा है उसका कारण राज्यलिप्सा है। आज जितने यन्त्रों का संचालन हो रहा है उसका अन्तरङ्ग कारण लोभ है और यन्त्रों में जो असंख्य प्राणियों का घात हो रहा है उसका मूल कारण यह लोभ ही है। आजकल तत्त्वज्ञान का आदर नहीं, केवल ऊपरी बातों से लोक का रञ्जन करना ही व्याख्यान का विषय रहता है। मैंने बहुत विचार किया कि अब इन विषयों में न पड़ूँ तथा आत्मकल्यण की ओर दृष्टिपात करूँ, परन्तु पुरातन संस्कार भावना के अनुसार कार्य नहीं होने देते। व्याख्यान देना तभी उपयोगी होगा जिस दिन आत्मवृत्ति निर्मल हो जावेगी। उसी दिन अनायास संवर हो जायेगा, संवर ही मोक्षमार्ग है। इसके बिना मोक्षमार्ग का लाभ होना अति कठिन नहीं, असम्भव है। मनुष्यों के साथ विशेष सम्पर्क नहीं करना चाहिए, क्योंकि सम्पर्क ही राग का कारण है। राग के विषय को त्यागने में भी राग की निवृत्ति होती है। निर्विषय राग कहाँ तक रहेगा? सर्वथा ऐसा सिद्धान्त नहीं कि पहले राग छोड़ो, पश्चात् विषय त्यागो।........यदि क्षयोपशम ज्ञान को पाया है तो उसे पराधीन जान उसका अभिमान छोड़ो। भोजन की लिप्सा छोड़ो। उदयानुकूल कार्य होते हैं। पर ने हमारा उपकार किया, पर का उपकार किया, यह अहंकार त्यागो। न तो कोई देने वाला है और न कोई हरण करने वाला है। सर्व कार्य सामग्री से होते हैं। केवल दैव भी कुछ नहीं कर सकता और न केवल पुरुषार्थ ही कार्यजनक हैं, किन्तु सामग्री कार्यजननी है। बाह्याभ्यन्तर निमित्त की उपस्थिति ही सामग्री कहलाती है।

सामली के बाद विशेष आवास काँदला में हुआ। यहाँ प्रवचन में मनुष्यों का समुदाय अच्छा रहा, किन्तु समुदाय से ही तो कुछ नहीं होता। शास्त्रप्रवचन केवल पद्धति मात्र रह गया है। वास्तव में तो न कोई वक्ता है, और न श्रोता है। मोह की बलवत्ता में ही यह सब ठाठ हो रहा है। जहाँ तक मोह की सत्ता है। वहाँ तक यह सब प्रपञ्च है। संसार के मूल कारण रागादिक हैं। इनके सद्भाव में ही यह सर्व हो रहा है। राग की प्रबलता षष्ठ गुणस्थान तक ही है, इसलिये यह लीला वहीं तक सीमित है। ....यह भाव वक्ता तथा श्रोता के हृदय में आ जावे तो प्रवचन की सार्थकता है। महावीर से पं०धरणेन्द्रकुमारजी आये। उन्हीं के यहाँ भोजन हुआ। आपने १ कषायप्राभृत भेंट किया तथा स्याद्वाद विद्यालय को ११) प्रदान किये। आपकी श्रद्धा धर्म में उत्तम है। वास्तव में श्रद्धा

श्रद्धा आत्मा का अपूर्व गुण है। इसके होने पर सर्व गुण स्वयमेव सम्यक् हो जाते हैं। इसकी महिमा अचिन्त्य है। इसके होने पर ज्ञान सम्यक् और मिथ्याचारित्र अविरत शब्द से व्यवहृत होने लगता है। जेठ सुदी २ का प्रवचन बहुत शान्ति से समाप्त हुआ। प्रकरण ब्रह्मचर्य व्रत का था। परपदार्थ से भिन्न आत्मा का निश्चय कर जो परपदार्थों में राग-द्वेष का त्याग कर देता है, वही पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला होता है। लौकिक मनुष्य केवल जननेन्द्रिय द्वारा विषय सेवन को ही ब्रह्मचर्य का घातक मानते हैं, परन्तु परमार्थ से सर्व इन्द्रिय द्वारा जो विषय सेवन की इच्छा है, वह सब ब्रह्मचर्य का घातक है। आज देहली से २० मनुष्य आये। सबका यही आग्रह था कि दिल्ली चलिये। चातुर्मास का अवसर निकट था तथा उसके उपयुक्त दिल्ली ही स्थान था, इसलिये हमने कह दिया कि दिल्ली की ओर ही तो चल रहे हैं।

काँदला में एक दिन पल्टूराम जी के यहाँ भोजन हुआ। आप बहुत ही सज्जन तथा तत्त्वज्ञानी हैं। आप स्थानकवासी सम्प्रदाय के हैं। आपका हृदय विशाल है, परन्तु साथ में कुछ आग्रह भी है। स्थानकवासी सम्प्रदाय का कुछ व्यामोह है। यद्यपि आप निर्ग्रन्थ पद को ही मुख्य मानते हैं, फिर भी वस्त्रधारी को भी मुनि मानने में संकोच नहीं करते। दिगम्बर सम्प्रदाय में तो यह अकाट्य मान्यता है कि बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का जहाँ त्याग है, वहीं मुनि पद हो सकता है। एक दिन यहाँ ग्राम के सबसे बड़े प्रसिद्ध मौलवी ने २ आम भोजन के लिये दिये। लोगों ने बहुत टिप्पणी की, परन्तु मैंने उन्हें आहार में लिया, खेद इसका है कि लोग बिना शिर-पैर की टीका-टिप्पणी करते हैं। यदि ये ही आम किसी मुसलमान की दुकान से लाये होते तो ये लोग टीका-टिप्पणी न करते। अस्तु, लोग अपने अभिप्राय के अनुसार टीका-टिप्पणी करते हैं। हमको उचित है कि उससे भय न करें। पाप से भयभीत रहें। किसी के प्रति अन्यथा न विचारें। जो होना है, होगा, दूसरे में खेद किस बात का? मेरा तो बार-बार यही लक्ष्य रहता है कि आत्मा की निर्मलता ही सुख का कारण है, और सुख ही शान्ति का उपाय है। उपाय क्या? सुख ही शान्ति है। इधर प्रवचन में अजैन लोग भी बहुत आते हैं और जैनधर्म के मर्म को श्रवण कर प्रसन्न भी होते हैं। आत्मा अनादि अनन्त है, यह सबको मान्य है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आत्मा कूटस्थ रहे, परिणाम बिना परिणामी नहीं और परिणामी

बिना परिणाम नहीं, अतः यह मानना सर्वथा उचित है कि आत्मा न तो सर्वथा नित्य है, और न सर्वथा अनित्य है, किन्तु नित्यानित्यात्मक हैं।

(२)

जेठ सुदी १० सं० २००६ को ५ बजे प्रातः काँदला से चलकर गंगेरु आ गये। यहाँ पर १ मन्दिर है। ४० घर जैनियों के हैं। मन्दिरमार्गी हैं। इनके अतिरिक्त ४० घर स्थानकवासियों के हैं। ये लोग मूर्ति को नहीं मानते हैं। आलम्बन के बिना धर्म का कोई आचार इनमें नहीं है, और न धर्म का स्वरूप ही समझते हैं। नाममात्र के जैन हैं। सायंकाल को सभा हुई, जिसमें अष्टमूलगुण आदि के व्याख्यान हुए। यहाँ से ६ मील चलकर कैराना आये। यहाँ पर ४० घर जैनियों के हैं। प्रायः सम्पन्न हैं, सरल हैं, स्वाध्याय और पूजन का अच्छा प्रबन्ध है। यहाँ जैनियों के अनेक बालक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में हैं, परन्तु संघ का उद्देश्य क्या है, किसी को पता नहीं। देश में सर्वत्र इनका प्रचार है। कुछ इनसे पूछो, बताते नहीं। केवल देश का भला हो, यह कह देते हैं। वास्तव बात कुछ बताते नहीं। भारवतर्ष ऋषिभूमि रही, परन्तु अब तो यहाँ के मनुष्य कामलोलुप हो गये। प्रवचन में बहुत लोग आये। प्रवचन का सार यही था कि ज्ञान का विपरीत अभिप्राय से मुक्त हो जाना, सम्यग्दर्शन है, पदार्थ को जानना सो सम्यग्ज्ञान है, और कर्मघात करना चरित्र है। इस तरह ज्ञान ही सम्यग्दर्शनादि तीन रूप है—विद्यानन्द स्वामी ने यही बात श्लोकवार्तिक में कही है—

मिथ्याभिप्रायनिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्टं हि दर्शनम् ।
ज्ञानत्वमर्थविज्ञप्तिश्चर्यात्वं कर्म्महन्तृता ।।

भोजन में अन्तराय तथा पैर में मोच आ जाने के कारण एक दिन यहाँ और रुकना पड़ा। शरीर की दशा पतनोन्मुख है, फिर भी हम बाह्य आडम्बर में उलझ रहे हैं, यह दुःख की बात है। उचित तो यह है कि धर्मसाधन में सावधान रहें। धर्म-साधना का अर्थ यह है कि परिणामों की व्यग्रता से रक्षा हो। धर्म माने बाह्य क्रिया नहीं। किन्तु हम अज्ञानी लोगों ने बाह्य क्रिया में धर्म मान रक्खा है। आज यहाँ से जाना था, परन्तु किट्ठल के मनुष्यों में परस्पर रात्रि को वैमनस्य हो गया। वैमनस्य का कारण पाठशाला के अर्थ चन्दा था। परमार्थ से पूछा जावे तो संसार में दुःखादि का कारण परिग्रह-पिशाच है। यह जहाँ आया वहाँ

अच्छे-अच्छे महापुरुषों की मति भ्रष्ट कर देता है। परिग्रह की मूर्च्छा इतनी प्रबल है कि आत्मीयज्ञान से वञ्चित कर देती है। कहाँ तक लिखा जावे? जब तक इसका सद्भाव है तब तक आत्मा यथाख्यात चारित्र से वञ्चित रहती है। अविरत अवस्था से पार होना कठिन है।

आषाढ़ बदी १ सं० २००६ को किट्ठल से ५ मील चलकर छपरौली आ गये। यहाँ पर १०० घर जैनधर्म वालों के हैं जिनमें ५० घर मन्दिरमार्गी दिगम्बर आम्नाय वालों के हैं और शेष स्थानकवासियों के हैं। पञ्चमकाल का महात्म्य है कि इस निर्मल धर्म में भी पन्थों की उत्पत्ति हो गई। शान्ति का मार्ग तो मिथ्याभिप्राय के त्यागने से होता है, परन्तु उस ओर दृष्टि नहीं। दृष्टि को शुद्ध बनाना ही आत्मा के कल्याण का मूल मार्ग है। हमारी भूल ही हमारे संसार का परिभ्रमण का कारण है। बहुत विचार करने के बाद हमने तो यह निश्चय किया कि अपनी अन्तरङ्ग की परिणति निर्मल करना चाहिये। परपदार्थों के गुण-दोषों की समालोचना की अपेक्षा आत्मीयपरिणति को निर्मल करना बहुत लाभदायक है। देवपूजा करने का तात्पर्य यह है कि आत्मा की परिणति निर्मल होने से यह दशा आत्मा की हो जाती है। अर्थात् आत्मा देव पद को प्राप्त हो जाता है। मेरी आत्मा भी यदि इनके कथित मार्ग पर चलने की चेष्टा करे, तो कालान्तर में हम भी तत्तुल्य हो सकते हैं, परन्तु हमारी प्रवृत्ति अत्यन्त निन्द्य है।

छपरौली से ४ मील चलकर नगला आये। यहाँ १५ घर जैनियों के हैं। सब दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं। १ मन्दिर है, स्वच्छ है, २ वेदिकाएँ हैं, १ काली मूर्ति अत्यन्त मनोज्ञ है। यहाँ जाट लोग बहुत हैं, प्राय: सम्पन्न हैं। प्रवचन में सब लोग आये। आजकल लोगों के हृदय में धार्मिक संघर्ष का जोर प्राय: कम हो गया है और लोग प्रेम से एक दूसरे की बात सुनने को तैयार हैं.... यह प्रसन्नता की बात है। धर्म जीव का स्वच्छ स्वभाव है जिसका उदय होते ही आत्मा कैवल्यावस्था का पात्र हो जाती है। मोक्ष, आत्मा की केवलपरिणति को कहते हैं। उसके अर्थ ही यावत् प्रयास है। यदि उसका लाभ न हुआ तो सर्व प्रयास विफल है। अगले दिन यहाँ से ४ मील चलकर बावली आ गये। यह ग्राम बहुत बड़ा है। मन्दिर भी यहाँ का विशाल है। यहाँ श्री शान्तिनाथ की मूर्ति अत्यन्त मनोहर और आकर्षक है, परन्तु मूर्ति के अनुरूप स्थान नहीं। यहाँ पर परस्पर मनोमालिन्य बहुत है और वह इतना विकृत हो गया है कि जिससे हानि की

सम्भावना है। बहुत से मनुष्य ऐसे होते हैं जिन्हें कलह ही प्रिय होता है। जनता उनके पक्ष में आ जाती है। सदसद्विवेक होना अत्यन्त कठिन है। शास्त्र का अध्ययन करनेवाले जब इस विषय में निष्णात नहीं तो ज्ञानी मनुष्य तो अज्ञानी ही हैं।

अषाढ़ बदी ५ सं २००६ को बावली से चलकर बड़ौत आ गये। यह नगर अच्छा है, व्यापार का केन्द्र है। ५०० घर दिगम्बर जैनों के हैं। २ मन्दिर हैं। बड़ी शान से स्वागत किया। कालेज भवन में बहुत भीड़ थी। व्याख्यान का प्रयास बहुत लोगों ने किया, परन्तु कोलाहल के कारण कुछ असर नहीं हुआ। हमने भी कुछ बोलना चाहा, परन्तु कुछ बोल न सके। लोगों का कोलाहल और हमारी वृद्धावस्था इसके प्रमुख कारण थे। कालेज की विल्डिंग बहुत बड़ी है। किराया अच्छा आता है। दूसरे दिन प्रातःकाल प्रवचन हुआ, भीड़ बहुत थी। अब शास्त्र की प्रणाली से शास्त्र होता नहीं, क्योंकि जनता अधिक आती है और शोरगुल बहुत होता है। इस स्थिति में यथार्थ बात तो कहने में आती नहीं, केवल सामाजिक बातों में शास्त्र का प्रवचन होने लगता है। समाज में विद्वान् बहुत हैं तथा व्याख्याता भी उत्तम हैं, किन्तु वे स्वयं को अपने ज्ञान का आदर नहीं करते। यदि वे अपने ज्ञान का आदर स्वयं करें तो संसार स्वयं मार्ग पर आ जावे अथवा न आवे, स्वयं तो कल्याण पर आ जावेंगे। ज्ञान के आदर से अभिप्राय तदनुकूल आचरण हैं। तदनुकूल आचरण के बिना ज्ञान की प्रतिष्ठा ही क्या है? मुझे तो अन्तरङ्ग से लगता है कि बोलना न पड़े, अपनी परिणति को निर्मल बनाने का प्रयत्न करूँ, इसी में सार दिखता है। संसार में ऐसा कोई शक्ति-शाली पुरुष नहीं जो जगत् की सुधारणा कर सके। बड़े-बड़े पुरुष हो गये। वे भी संसार की गुत्थी सुलझा न सके तब अल्पज्ञानी इसकी चेष्टा करे, यह महती दुर्बोधता है। यदि कल्याण की इच्छा है तो अपने भावों को सुधारा जाय। इच्छा को रोकना ही सुख का कारण है। सुख कोई अन्य पदार्थ नहीं, जिसके अर्थ किसी से याचना की जावे। जैसे कुम्भकार घट को चाहता है और यह जानता है कि घट की पर्याय मिट्टी में होती है। वह निरन्तर १ ढेर मिट्टी का घर में रखता है। यदि वह मिट्टी की पूजा करने लगे तथा जप करने लगे कि घट बन जावे तथा घटानुकूल व्यापार न करे तो क्या घट बन जावेगा? इसी प्रकार सुख आत्मा का गुण है और आत्मा में सदा विद्यमान है, परन्तु वर्तमान में मोह के कारण उसमें दुःखरूप परिणमन हो रहा है। यदि यह प्राणी सुख-प्राप्ति के अनुकूल चेष्टा न करे—आत्मा से मोह परिणति को विघटित न करे तो क्या अपने आप सुखगुण प्रकट हो जावेगा?

आषाढ़ बदी ९ सं० २००६ को श्रीक्षुल्लक चिदानन्दजी तथा क्षुल्लक पूर्णसागरजी के केशलुञ्च हुए। दृश्य देखने के लिये अपार भीड़ एकत्रित हुई। यद्यपि केशलुञ्च एक क्रिया है और इसको मुनि तथा ऐलक करते हैं एवं यह एकान्त में होता है, किन्तु अब इसे प्रभावना का अंग बना दिया है, सहस्रों मनुष्य इकट्ठे हो जाते हैं तथा जयकार के नारे लगाते हैं। पञ्चम काल हैं, मनुष्य स्वेच्छाचारी हैं, जो मन में आता है, वह करते हैं। आगम की अवहेलना भले ही हो जावे, परन्तु जो असत्कल्पना मन में आ जावे, उसकी सिद्धि होना ही चाहिये। मनुष्य आवेग में आकर अनेक अनर्थ कर सकता है। यद्यपि केशलुञ्च करना कोई धर्म नहीं। केश हैं, पास में पैसा नहीं। यदि उन्हें रक्खा जावे तो कौन सँभाले, यूका आदि हो जावें, अत: हाथ से उपाड़ना ही धर्म है। उसे जनता वीतरागता का द्योतक समझती है तथा जय-जयकार के नारे लगाती है और उसी में हमारे जो त्यागी हैं वे द्वादशानुप्रेक्षा का पाठ पढ़ते हैं, तथा नाना नारे लगाते हैं। मेरी समझ से व्रती को आगम की अवहेलना करना उचित नहीं। बड़ौत में ६ दिन लग गये। अष्टाह्निका के पूर्व दिल्ली पहुँचना था, इसलिए बीच में अधिक रुकना रुचिकर नहीं होता था।

आषाढ़ बदि ११ सं० २००६ को प्रात:काल ५ बजे बड़ौत से चलकर ७ बजे बड़ौली आये। यहाँ पर १ मन्दिर तथा १० घर जैनों के हैं, साधारण स्थिति के हैं, सरल हैं। परिणामों की सरलता जो छोटे ग्रामवासियों में होती है, वह बड़े ग्रामों के मनुष्यों में नहीं होती। बड़े ग्रामों के मनुष्यों के विषय की लोलुपता अधिक रहती है, क्योंकि छोटे ग्रामों की अपेक्षा उनमें विषय सेवन की सामग्री अधिक रहती है, और यह अनादि से विषयलोलुप बन रहा है। इसी दिन मध्याह्न के बाद चलकर मसूरपुर आ गये। यहाँ १ मन्दिर और २० घर जैनियों के हैं। मसूरपुर से ६ मील बागपत आये। यहाँ पर २० घर जैनियों के तथा १ मन्दिर है। १ हाईस्कूल भी है। मनुष्य सज्जन हैं, परन्तु यहाँ कोई समागम नहीं। इससे जैनत्व का विशेष परिचय नहीं। कहाँ तक लिखें? न जानने के कारण प्राय: जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों की विरलता होती जाती है। लोगों की बुद्धि बलिहारी है कि वे स्वकीय द्रव्य मन्दिरों के सजाने तथा सोने-चाँदी के उपकरणों के एकत्रित करने में तो व्यय करते हैं पर जिनसे जैन सिद्धान्तों का ज्ञान बढ़े, हमारी सन्तान सुबोध हो, इस ओर उनका लक्ष्य नहीं। त्रयोदशी के दिन बागपत से ३ मील चलकर टटेरीमण्डी आ अये। यहाँ पर १० घर जैनियों के तथा १

चैत्यालय है। चैत्यालय बहुत ही सुन्दर है। आज बहुत ही गर्मी रही। तृषा ने बहुत सताया, परन्तु स्वप्न में यह ध्यान आया कि यह व्रत धारण करना उपयोगी नहीं। प्रत्युत यही विचार चित्त में आया कि परिषह सहन करना ही तप है। आत्मा की अचिन्त्य शक्ति है। परिणामों की निर्मलता से यह आत्मा अनायास ही संसार के बन्धन से विमुक्त हो सकता है। जहाँ तक बने अभिप्राय शुद्ध करने की महती आवश्यता है।

चतुर्दशी को टटेरमण्डी से साढ़े ५ मील चलकर खेखड़ा आ गये। यह ग्राम बहुत प्रसिद्ध है। इसमें बाबा भागीरथजी प्राय: निवास करते थे। यहाँ लगभग २०० घर जैनियों के हैं। लोगों ने बहुत स्वागत से लाकर लाला उग्रसेन की कोठी में ठहराया था ९ बजे मन्दिर गये। वहाँ पर बहुत जनता थी। मुझे लगा कि जनता धर्म की पिपासु है, परन्तु धर्म का स्वरूप बतलाने वाले विरले हैं। मैं तो अपने आत्मा को इस विषय में प्राय: बहुत ही दुर्बल देख रहा हूँ। जहाँ तक बने पर की वञ्चना मत करो। पर की वञ्चना हो व मत हो, आपकी वञ्चना तो हो ही जाती है। आपकी वञ्चना का अर्थ है कि आप वर्तमान में जिस कषाय से दु:खी होता है, उसी का बीज फिर बो लेता है। आत्मा को दु:ख देनेवाली वस्तु इच्छा है। वह जिस किसी विषय की हो, जब तक उसकी पूर्ति नहीं होती, यह जीव दु:खी रहता है तथा आत्मा भी आगामी दु:ख का पात्र हो जाता है। यह सब होने पर भी मनुष्य निज-हित करने में संकुचित रहते हैं। केवल संसार की वासनाएँ इन्हें सताती रहती हैं। वासनाओं में सबसे बड़ी वासना लोकेषणा है, जिसमें सिवाय संक्लेश के कुछ नहीं।

दूसरे दिन प्रात:काल कन्या पाठशाला का निरीक्षण किया। द्रव्य की पुष्कलता के अभाव में यथायोग्य व्यवस्था नहीं। यहाँ पर २०० घर जैनियों के हैं, परन्तु उनमें परस्पर प्रेम नहीं और संघटन होना भी असम्भव सा है। मानकषाय की तीव्रता के कारण लोग एक दूसरे को कुछ नहीं समझते। दूसरे के साथ नम्रता का भाव आने में अपमान समझते हैं, यही सर्वत्र पारस्परिक वैमनस्य का कारण होता है। यदि हृदय से मान की तीव्रता निकल जावे और एक-दूसरे के प्रति आत्मीयभाव हो जाय तो वैमनस्य मिटने में क्या देर लगेगी? जहाँ वैमनस्य नहीं, एक दूसरे के प्रति मत्सरभाव नहीं, वहाँ बड़े-से-बड़े काम अनायास सिद्ध हो जाते हैं वा द्रव्य की कभी कमी नहीं रहती। यह वैमनस्य का रोग सर्वत्र है और

सर्वत्र ही इसका यही एक निदान है। इसे मिटाने की क्षमता सबमें नहीं। वही मिटा सकता है, जो स्वयं कषायजन्य कलुषता से परे हो।

आषाढ़ सुदि २ सं० २००६ को प्रातः ५ बजे चलकर बड़ेगाँव क्षेत्र पर आ गये। यहाँ पर १ विशाल मन्दिर है और मन्दिर के चारों कोनों पर ४ छोटे मन्दिर हैं। उनमें भी प्रतिमाएँ विराजमान हैं। यहाँ पर श्री पारसदासजी ब्रह्मचारी रहते हैं। पण्डित श्यामलालजी का भी यहाँ निवास है। आज बाहर से १०० यात्री आ गये दिल्ली से राजकृष्णजी, उनकी-पत्नी तथा श्रीमान् जुगलकिशोरजी और घड़ीवालों के बालक भी आये। मध्याह्न बाद बाबाजी का प्रवचन हुआ। श्री पं०जुगलकिशोरजी से बातचीत हुई। १० लाख रुपये के सद्भाव में प्राचीन संस्कृत साहित्य का उद्धार प्रारम्भ हो सकता है। दूसरे दिन बड़ेगाँव से १ मील चलकर नहर पर आये और वहाँ से साढ़े ५ मील चलकर नहर के ऊपर १ बंगला सरकारी था, उसमें निवास किया। यहाँ पर लाला रघुवीरसिंहजी व श्री जैनेन्द्रकिशोरजी दिल्लीवालों के चौका में भोजन किया। श्री ब्र०कृष्णाबाईजी भी आई थीं। इनकी त्यागचर्या बड़ी ही कठिन है। स्त्रीजाति स्वभावतः कष्टसहिष्णु होती है।

आषाढ़ सुदि ४ सं० २००६ को बंगला से साढ़े ५ मील का मार्ग तय कर टीला के बाग में निवास किया। यह बाग श्री लाला उलफतरायजी दिल्ली वालों का है। गर्मी के प्रकोप के कारण स्वाध्याय नहीं हुआ। वैसे उपयोग की स्थिरता को लिये स्थान सुन्दर है, परन्तु बाह्य कारणकूट के अभाव में कुछ नहीं हुआ। मेरी अवस्था ७५ वर्ष की हो गई, परन्तु उसका लाभ न लिया और न लेने की चेष्टा है। इसका मूल कारण मोह की प्रबलता है। जिसने मोह की प्रभुता पर विजय नहीं पाई उसने मनुष्य जीवन का सार नहीं पाया। पंचमी को प्रातः टीला से ५ मील चलकर शाहदरा आ गये। यहाँ पर ५० घर जैनों के तथा १ मन्दिर है। स्थान भद्र है। जलवायु उत्तम है। हम लोग धर्मशाला में सानन्द ठहर गये। यहाँ के लोगों की प्रवृत्ति ग्रामवासियों के सदृश है, परन्तु दिल्ली के समीपवर्ती होने से यहाँ के मनुष्य प्रायः उसी विचार के हैं। यहाँ दिल्ली से बहुत मनुष्य आये थे, किन्तु सबकी प्रवृत्ति वही है जो होना चाहिये। निवृत्तिमार्ग की ओर दृष्टि बहुत ही कम है। मुझे लगा कि कल्याण के अर्थ लोग इतस्ततः भ्रमण करते हैं। किन्तु कल्याण का मार्ग संसार में कहीं भी नहीं। आभ्यन्तर आत्मा की निर्मल परिणति में ही है। शाहदरा से ३ मील चलकर राजकृष्ण के बाग में ठहर गये।

यहीं पर भोजन हुआ। दोपहर को १ मिनट भी विश्राम नहीं मिला, १ मनुष्य के बाद १ मनुष्य का आगमन बना रहा और संकोचवश में बैठा रहा। वास्तव में आभ्यन्तर मोह की परिणति इतनी प्रबल है कि इसके प्रभाव में आकर कुछ भी रागांश का त्यागना कठिन है। बाह्य रूपादि विषयों का त्याग तो प्रत्येक मनुष्य कर सकता है, किन्तु आभ्यन्तर त्याग करना अति कठिन है।

आषाढ सुदी सं० २००६ को राजकृष्णजी के बाग से ३ मील चलकर यमुना पुल के १ फर्लाङ्ग बाद लोगों ने विश्राम लिवाया। तदनन्तर एक विशाल जुलूस के साथ १ मील चलकर लालमन्दिर में आ गये। जनता बहुत थी, फिर भी प्रबन्ध सराहनीय था। यहीं पर लालमन्दिर की पंचायत ने अभिनन्दनपत्र श्रीमान् पं०मक्खनलालजी के द्वारा समर्पित किया। मैंने भी अपना अभिप्राय जनता के समक्ष व्यक्त किया। मेरा अभिप्राय यह था कि त्याग से ही कल्याण मार्ग सुलभ है। त्याग के बिना जीव चतुर्गतिरूप संसार में अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है आदि। यहाँ से १ मील चलकर अनाथाश्रम के भवन में ठहर गया। मुरार से लेकर यहाँ तक ७ माह के निरन्तर परिभ्रमण से शरीर श्रान्त हो गया था, तथा चित्त भी क्लान्त हो चुका था, इसलिए यहाँ इस मञ्जिल पर आते ही ऐसा जान पड़ा, मानों भार उतर गया हो। पं०चन्द्रमौलि ने मुरार से लेकर देहली तक साथ रह कह सब प्रकार की व्यवस्था बनाये रक्खी।

●

दिल्ली का ऐतिहासिक महत्त्व और राजा हरसुखराय

भारतीय इतिहास में दिल्ली का महत्त्वपूर्ण स्थान है, रहा है और आगे रहेगा। इसका प्राचीन नाम इन्द्रप्रस्थ है। यह वर्तमान में भारत की राजधानी है और पहले भी इसे राजधानी बनने का सौभाग्य प्राप्त रहा है। दिल्ली को उजाड़ने, पुन: बसाने और कत्लेआम करने-कराने आदि के ऐसे भीषणतम दृश्य इतिहासप्रसिद्ध हैं कि जिनका स्मरण भी शरीर में रोमाञ्च ला देता है। दिल्ली पर तुंवर (तोमर), चौहान, पठानों, मुगलों तथा अंग्रेजों आदि ने शासन किया है। वर्तमान में स्वतन्त्र भारत की राजधानी होने से दिल्ली की शोभा अनूठी है। यहाँ की जनसंख्या २२ लाख से कम नहीं है। जिसमें जैनियों की जनसंख्या पच्चीस हजार से कम नहीं ज्ञात होती। रात्रि में बिजली की चमचमाहट और कारों की दौड़ देख साधारण जनता विस्मित हो उठती है। दिल्ली में प्राचीन समय से ही जैनों का गौरव रहा है। यहाँ अनेक जैन श्रीमन्त, राजमन्त्री तथा कोषाध्यक्ष हो गये हैं। जैन संस्कृति के संरक्षक अनेक जैनमन्दिर समय-समय पर यहाँ बनते रहे हैं। वर्तमान में जैनियों के २९ मन्दिर और ४-५ चैत्यालय हैं। ३-४ मन्दिरों में अच्छा विशाल शास्त्रभण्डार भी है। वर्तमान मन्दिरों में चाँदनी चौक की नुक्कड़ पर बना लालमन्दिर सबसे प्राचीन है, क्योंकि उसका निर्माण शाहजहाँ के राज्यकाल में हुआ था। दूसरा दर्शनीय ऐतिहासिक मन्दिर राजा हरसुखराय का है जो 'नयामन्दिर' के नाम से लोक में ख्यात है। इस मन्दिर में पच्चीकारी का बहुत बारीक और अनूठा काम है, जो कि ताजमहल में भी उपलब्ध नहीं होता।

दिल्ली का यह ऐतिहासिक मन्दिर जो अपनी कला के लिये प्रसिद्ध है, दर्शनीय है। उसकी अनूठी कारीगरी अपूर्व और आश्चर्यकारक है। दिल्ली के वर्तमान ऐतिहासिक स्थानों में इसकी गणना की जाती है। भारत पर्यटन के लिये आनेवाले विदेशी जन दिल्ली के पुरातन स्थानों के साथ इस मन्दिर की कलात्मक पच्चीकारी और सुवर्णाङ्कित चित्रकारी को देखकर हर्षित तथा विस्मित होते हैं। इस मन्दिर के निर्माता जैनसमाज के प्रसिद्ध राज्यश्रेष्ठी लाला हरसुखराय हैं जो राजा की उपाधि से अलंकृत थे। उन्होंने वि०सं० १८५७ में इसे बनवाना शुरू किया था और सात वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद वि०सं० १८६४ में यह बनकर

तैयार हुआ था। इसका प्रतिष्ठा महोत्सव सं० १८६४ वैशाख सुदी ३ (अक्षय तृतीया) को सूर्य मन्त्रपूर्वक हुआ था। उस समय इस मन्दिर की लागत लगभग सात लाख रुपया आई थी जब कि कारीगर को चार आना और मजदूर को दो आना प्रतिदिन मजदूरी के मिलते थे।

मन्दिर के बाहर प्रवेशद्वार के ऊपर बनी हुई कलात्मक छतरी सांची के तोरणद्वारों के समान सुन्दर तोरणद्वारों से अलंकृत है। उसमें पाषाण का कोई भी ऐसा हिस्सा नहीं दिखता, जिसमें सुन्दर बेलबूटा, गमला अथवा अन्य चित्ताकर्षक चीजें उत्कीर्ण न की गई हों। यह छतरी दर्शक को अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहती। मन्दिर में प्रवेश करते ही दर्शक को मुगलकालीन १५० वर्ष पुरानी चित्रकला के दर्शन होते हैं। मन्दिर की छतें लाल पाषाण की हैं और उनपर बारीक घुटाईवाला पलस्तर कर उसके ऊपर चित्रकारी अङ्कित की गई है। चित्रकारी इतनी सधी हुई कलम से बनाई गई है कि जिसे देखकर दर्शक आनन्द-विभोर हो उठता है। ज्यों-ज्यों दर्शक की दृष्टि सभी दहलानों, दरवाजों और गोल डांटों आदि में अङ्कित चित्रकला देखती है, त्यों-त्यों उसकी अतृप्ति बढ़ती जाती है। मन्दिर का प्राङ्गण विशाल और मनोरम है। इतना विशाल प्राङ्गण अन्य मन्दिरों में कम देखने को मिलता है। जब दर्शक चौक में से मूलवेदी का निरीक्षण करता है, साथ ही वेदी के चारों ओर लगे हुए जंगलों की बारीक जाली की कटाई का अवलोकन करता है तो वह आनन्द-विभोर हो उठता है। जब वह वेदी की बारीक कलात्मक पच्चीकारी वेदी के चारों ओर चारों दिशाओं में बने हुए सिंह के युगलों को तथा उनकी मूछों के बारीक बालों को देखता है, तब उसे उस शिल्पी के चातुर्य पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। उसके बाद जब दर्शक वेदी के ऊपरी भाग में बने हुए कमल का अवलोकन करता है, जिस पर आदिनाथ भगवान् की सं० १६६४ की प्रतिष्ठित प्रशान्त मूर्ति विराजमान है। साथ ही जब उसे ज्ञात होता है कि जब मन्दिर बना था तब इस कमल की लागत दस हजार रुपया थी और वेदी की सवा लाख रुपया तब वह और भी अधिक आश्चर्य में पड़ जाता है। यह वेदी मकराने के सुन्दर सफेद संगमर्मर के पाषाण से बनाई गई है। इसमें कहीं-कहीं तो पच्चीकारी का इतना बारीक काम है कि जो अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। गर्भालय के चारों ओर दीवारों पर सुवर्णाङ्कित अनेक ऐतिहासिक एवं पौराणिक भावों को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। जैसे गजकुमार मुनि का अग्नि उपसर्ग, सेठ सुदर्शन के शील-प्रभाव से शूली का सिंहासन होना, सीता का

सतीत्व-परिचय के लिये अग्निकुण्ड में प्रवेश करना, रावण का कैलाशगिरि को उठाना और बाली मुनि का तपश्चरण, भरत और बाहुबली के दृष्टि, जल और मल्ल नामक तीन युद्ध, राजा मधु का वैराग्य, सनत्कुमार चक्रवर्ती की देवों द्वारा परीक्षा, अवन्ती सेठ सुकुमाल का वैराग्य, मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त का भद्रबाहु श्रुतकेवली से स्वप्नों का फल पूँछना, यादववंशी भगवान् नेमिनाथ और उनके चचेरे भाई श्रीकृष्ण के बल की परीक्षा, अकलंकदेव का बौद्धाचार्य के साथ राजसभा में शास्त्रार्थ तथा भगवान् जिनेन्द्र के समवरण का दृश्य। ऊपर मानतुङ्गाचार्य के भक्तामर स्तोत्र के ४८ काव्यों को सुवर्णाक्षरों में अङ्कित किया गया है। साथ ही उनकी सिद्धि तथा ऋद्धिमन्त्रों को भी स्पष्ट रूप से चित्रित किया है। तीर्थों में पावापुरी, चम्पापुरी, मन्दारगिरि और मुक्तागिरि के चित्र अंकित हैं। ऊपर अनेक देवगण अपने-अपने वाद्यों को लिये हुए दिखलाये गये हैं। मूल वेदी के अतिरिक्त अन्य ३ वेदियाँ भी पीछे चलकर यहाँ बनवाई गई हैं, जिनपर प्राचीन एवं नवीन मूर्तियाँ विराजमान हैं। इन मूर्तियों में स्फटिक, नीलम और मरकत की मूर्तियाँ भी विद्यमान हैं। कुछ मूर्तियाँ तो ११११२ तथा ११५३ वि०सं० तक की प्रतिष्ठित हैं। चौक के बाँई ओर दहलान में चारों ओर सुवर्णाक्षरों में आचार्य कुमुदचन्द्र का कल्याणमन्दिरस्तोत्र अङ्कित है और बगलवाले कमरा में विशाल सरस्वती भवन है। सरस्वती भवन में प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी आदि के १८०० के लगभग हस्तलिखित ग्रन्थ हैं तथा २०० के लगभग हिन्दी, संस्कृत के गुटकों का भी संकलन है। इन ग्रन्थों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ १४८६ वि०सं० का लिखा हुआ है। ५०० से अधिक मुद्रित ग्रन्थ भी संगृहीत हैं।

यहाँ चौक के सामने वाली दहलान में शास्त्रसभा होती है। यह सभा अपने ढंग की एक ही है। यही सभा लाला हरसुखराय तथा लाला सगुनचन्द्र के समय सगुनचन्द्रशैली के नाम से प्रसिद्ध थी। संवत् १८८१ में जयपुर के विद्वान् पं०मन्नालालजी, अमरचन्द्रजी दीवान के साथ हस्तिनागपुर की यात्रा को गये थे। यात्रा कर जब वापिस दिल्ली आये तब लाला सगुनचन्द्रजी ने चातुर्मास में दिल्ली ठहरा लिया और उनसे शास्त्रप्रवचन सुना। साथ ही लालाजी नें उनसे राजा चामुण्डराय के चारित्रसार की हिन्दी टीका करने की प्रेरणा की, जिसे उन्होंने वि०सं०१८८१ में बनाकर पूर्ण की थी। छहढाला के कर्त्ता पं०दौलतराम जी ने भी अपना अन्तिम जीवन यहीं बिताया और तत्त्वचर्चा तथा स्वाध्याय का रस लिया एक अनेक आध्यात्मिक पद बनाये। प्रसन्नता है कि शास्त्रसभा की परम्परा अभी तक चली आ रही है।

मन्दिर के निर्माता राजा हरसुखराय जी के पिता लाला हुकूमतसिंह हिसार के रहनेवाले थे। दिल्ली के बादशाह के आग्रह से दिल्ली आकर रहने लगे थे। बादशाह ने उन्हें शाही मकान प्रदान किया था। लाला हूकूमत सिंह के पाँच पुत्र थे— १. हरसुखराय, २. मोहनलाल, ३. संगमलाल, ४. मेवाराम और ५. तनसुखराय। इनमें हरसुखराय ज्येष्ठ थे। आप बहुत ही गंभीर तथा समयानुकूल कार्य करने में अत्यन्त पटु थे। बादशाह ने इन्हें अपना खजांची बना दिया तथा इनके कार्य से वह इतना खुश हुआ कि इन्हें 'राजा' पद से अलंकृत कर दिया। इन्हें सरकारी-सेवाओं के उपलक्ष्य में तीन जागीरें, सनदें तथा सार्टिफिकेट आदि भी प्राप्त हुए थे, जो उनके कुटुम्बियों के पास आज भी सुरक्षित हैं। ये स्वभावत: दानी और दयालु थे। इनके पास जाकर कोई गरीब मनुष्य असहाय नहीं रहा। वि०सं० १८५८ को रात्रि के समय बिस्तर पर पड़े-पड़े राजा साहब के मन में मन्दिर बनवाने का विचार उठा और दूसरे दिन प्रात:काल ही उस विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिये आपने अपने मकान के पास ही विशाल जमीन खरीद ली तथा बादशाह से मन्दिर निर्माण की आज्ञा ले ली। शुभमुहूर्त्त में मन्दिर की नींव डाली गई और मन्दिर बनना आरम्भ हो गया। सात वर्ष तक बराबर काम चलता रहा, परन्तु जब शिखर में थोड़ा काम बाकी रह गया। तब आपने काम बन्द कर दिया। काम बन्द देख लोगों में तरह-तरह की चर्चाएँ उठीं। कोई कहता कि बादशाह ने शिखर नहीं बनने दी, इसलिए काम बन्द कर हम जैनियों की प्रतिष्ठा कम करा दी आदि। कुछ लोग राजासाहब के पास पहुँचे और काम बन्द करने का कारण पूछने लगे। उन्होंने उत्तर दिया कि भाईयो! अपनी स्थिति छिपाना बुरा है, अत: आप लोगों से कहता हूँ कि मेरी जितनी पूँजी थी, वह सब इसमें लग गयी। अब आप लोग चंदा एकत्रित कर बाकी कार्य पूरा करा लीजिये। राजा साहब के इतना कहते ही उनके इष्ट-मित्रों ने असर्फियों के ढेर उनके सामने लगा दिये। उन्होंने कहा कि नहीं, इतने धन का अब काम बाकी नहीं है, बहुत थोड़ा ही काम बाकी रह गया है, सो उसे आप एक दो नहीं, किन्तु जैनियों से थोड़ा-थोड़ा इकट्ठा लाइये। आज्ञानुसार समस्त जैनियों के घर से चन्दा इकट्ठा हुआ, उससे मन्दिर पुरा हुआ।

जब वि०सं० १८६४ में मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई और कलशारोहण का समय आया तक सब लोगों ने राजा साहब से प्रार्थना की कि आप कलशारोहण कीजिये। इसके उत्तर में राजा साहब ने पगड़ी उतारकर कहा कि भाइयो! मन्दिर

मेरा नहीं है समस्त जैन भाईयों के चन्दा से इसका निर्माण हुआ है, इसलिए पञ्चायत इसका कलशारोहण करे और वही उसका प्रबन्ध करे। उस समय लोगों की समझ में आया कि राजा साहब ने काम बन्दकर इसलिए चन्दा कराया था। वे लोग गद्‌गद हो गये। राजा साहब ने कहा भाइयो! यदि मैं इसमें आप लोगों का सहयोग न लेता। तो सदा मेरे मन में यह अहंकार उठता रहता कि यह मन्दिर मेरा है अथवा मेरी बात जाने दो, हमारी जो संतान आगे होगी, उसके मन में भी यह अहंकार उठता रहेगा कि यह मेरे पूर्वजों का बनवाया हुआ है। आप सबके चन्दा से इसका काम पूरा हुआ है, इसलिए यह आप सबका मन्दिर है। मेरा इसके ऊपर कुछ भी स्वत्त्व आज से नहीं है। उसी समय से मन्दिर का नाम 'पंचायती मन्दिर' प्रचलित हुआ। दिल्ली के अतिरिक्त आपने हस्तिनागपुर, अलीगढ़, करनाल, सोनपत, हिसार, सांगानेर और पानीपत आदि स्थानों पर भी मन्दिंर निर्माण कराये हैं।

हस्तिनागपुर के मन्दिर बनवाने की तो विचित्र कथा है। वहाँ के राजा को सरकारी खजाने का २ लाख रुपया भरना था, पर भरने का समय निकट आने पर वह रुपयों का प्रबन्ध न कर पाया। इतना रुपया कौन देगा? इस चिन्ता में राजा निमग्न था। कुछ लोगों ने राजा हरसुखराय का नाम सुझाया। राजा ने अपना आदमी हरसुखराय जी के पास भेजा। उन्होंने आश्वासन दिया कि व्यग्र न हों, समय पर आपका रुपया खजाने में जमा हो जायगा। समय के पूर्व ही उन्होंने दो लाख रुपया खजाने में जमा कर दिया और अपने यहाँ बही में वह रुपया राजा के नाम न लिखकर हस्तिनागपुर में मन्दिर बनवाने के लिये राजा के पास भेजे, यह लिखा दिया। समय ने पलटा खाया। हस्तिनागपुर के राजा की स्थिति सुधरी और उन्होंने २ लाख रुपया राजा हरसुखरायजी के पास पहुँचाया। हरसुखराय जी ने कागज पत्र दिखाकर कहा कि हमारे यहाँ आपके राजा के नाम कोई रुपया नहीं निकलता। लोग बड़े आश्चर्य में पड़े कि दो लाख रुपये की रकम इनके यहाँ नामें नहीं पड़ी। जब इस ओर से अधिक आग्रह हुआ तब उस वर्ष की बही निकलवाई गई तथा उसमें लिखा राजा साहब को बताया गया कि वह रुपया तो उन्होंने हस्तिनागपुर में मन्दिर बनवाने के लिये आपके पास भेजा था। राजा उनके व्यवहार से गद्‌गद हो गया और उसने अपनी देखरेख में हस्तिनागपुर का मन्दिर बनवा दिया।

आप अपने व्यवहार से समाज के गरीब-से-गरीब व्यक्ति को अपमानित नहीं करते थे, तथा सबको साथ लेकर चलते थे। वि०सं० १८६७ में आपके प्रयत्न से शाही लवाजमा के साथ रथोत्सव हुआ था और जैनधर्म की अद्भुत प्रभावना हुई थी। वि०सं० १८८० में आपका देहावसान हुआ था। आपका एक ही पुत्र था, जिसका सुगुनचन्द्र नाम था। यह भी अपने पिता के समान ही प्रतापी, धर्मनिष्ठ तथा पुण्यशाली था।

वर्तमान में भी यहाँ भारतवर्षीय दि०जैन अनाथालय नाम की संस्था चलती है, जिसका विशाल भवन तथा साथ में स्कूल हैं। समाज में कई उत्साही व्यक्ति हैं, जो निरन्तर समाज को आगे बढ़ाते रहते हैं, लाला राजकृष्ण भी एक दक्ष व्यक्ति हैं। इन्होंने अपने पुरुषार्थ से अच्छी से अच्छी सम्पत्ति संचित की है तथा अहिंसा मन्दिर का निर्माण करा कर समाजसेवा के लिये उसका ट्रस्ट करा दिया है। इनके सिवा लाला फिरोजीलाल जी का नाम भी उल्लेखनीय है। ये अधिकतर अपनी सम्पत्ति का उपयोग धार्मिक कार्यों में करते रहते हैं।

दिल्ली का परिकर

मेरे साथ श्री क्षुल्लक पूर्णसागरजी, क्षुल्लक चिदानन्दजी, ब्र०सुमेरुचन्द्रजी भगत तथा एक दो त्यागी और थे। श्री कर्मानन्दजी, जिनका आधुनिक नाम ब्र०निजानन्द था यहाँ थे ही, ब्र०चाँदमल जी भी उदयपुर से आ गये थे, इसलिये यहाँ समय सम्यक् रीति के व्यतीत होता था। दिल्ली बड़ा शहर है। अनेक मोहल्लों में दूर-दूर पर जिनमन्दिर तथा जैनियों के घर हैं। वृद्धावस्था के कारण मेरी प्रवचन की शक्ति प्राय: क्षीण हो गई थी, इन सबके प्रवचनों और भाषणों से जनता को लाभ मिलता रहता था। प्रवचन के बाद मैं भी जो बनता था, कह देता था। पहले दिन कण्ठ रुद्ध होने के कारण मैं कुछ नहीं कह सका, इसलिए सभा विसर्जित हो गई। श्री रघुबीरसिंहजी रईस के यहाँ भोजन हुआ। आपने ५०१) दान में दिये। आज मन में विचार आया कि जगत् को प्रसन्न करने का भाव त्याग दो। जो कुछ बने, स्वात्महित की ओर दृष्टिपात करो। संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो सबका कल्याण कर सके। कल्याण का मार्ग स्वतन्त्र है। अन्तर्गत राग-द्वेष का त्याग करना ही, आत्मशान्ति का साधक है। अन्तरङ्ग रागादिक आत्मा के शत्रु हैं, उनसे आत्मा में अशान्ति पैदा होती है, और अशान्ति आकुलता की जननी हैं, आकुलता ही दु:ख है, दु:ख किसी को इष्ट नहीं, सर्व संसार दु:ख

मेरा नहीं है समस्त जैन भाईयों के चन्दा से इसका निर्माण हुआ है, इसलिए पञ्चायत इसका कलशारोहण करे और वही उसका प्रबन्ध करे। उस समय लोगों की समझ में आया कि राजा साहब ने काम बन्दकर इसलिए चन्दा कराया था। वे लोग गद्‌गद हो गये। राजा साहब ने कहा भाइयो! यदि मैं इसमें आप लोगों का सहयोग न लेता। तो सदा मेरे मन में यह अहंकार उठता रहता कि यह मन्दिर मेरा है अथवा मेरी बात जाने दो, हमारी जो संतान आगे होगी, उसके मन में भी यह अहंकार उठता रहेगा कि यह मेरे पूर्वजों का बनवाया हुआ है। आप सबके चन्दा से इसका काम पूरा हुआ है, इसलिए यह आप सबका मन्दिर है। मेरा इसके ऊपर कुछ भी स्वत्त्व आज से नहीं है। उसी समय से मन्दिर का नाम 'पंचायती मन्दिर' प्रचलित हुआ। दिल्ली के अतिरिक्त आपने हस्तिनागपुर, अलीगढ़, करनाल, सोनपत, हिसार, सांगानेर और पानीपत आदि स्थानों पर भी मन्दिंर निर्माण कराये हैं।

हस्तिनागपुर के मन्दिर बनवाने की तो विचित्र कथा है। वहाँ के राजा को सरकारी खजाने का २ लाख रुपया भरना था, पर भरने का समय निकट आने पर वह रुपयों का प्रबन्ध न कर पाया। इतना रुपया कौन देगा? इस चिन्ता में राजा निमग्न था। कुछ लोगों ने राजा हरसुखराय का नाम सुझाया। राजा ने अपना आदमी हरसुखराय जी के पास भेजा। उन्होंने आश्वासन दिया कि व्यग्र न हों, समय पर आपका रुपया खजाने में जमा हो जायगा। समय के पूर्व ही उन्होंने दो लाख रुपया खजाने में जमा कर दिया और अपने यहाँ बही में वह रुपया राजा के नाम न लिखकर हस्तिनागपुर में मन्दिर बनवाने के लिये राजा के पास भेजे, यह लिखा दिया। समय ने पलटा खाया। हस्तिनागपुर के राजा की स्थिति सुधरी और उन्होंने २ लाख रुपया राजा हरसुखरायजी के पास पहुँचाया। हरसुखराय जी ने कागज पत्र दिखाकर कहा कि हमारे यहाँ आपके राजा के नाम कोई रुपया नहीं निकलता। लोग बड़े आश्चर्य में पड़े कि दो लाख रुपये की रकम इनके यहाँ नामें नहीं पड़ी। जब इस ओर से अधिक आग्रह हुआ तब उस वर्ष की बही निकलवाई गई तथा उसमें लिखा राजा साहब को बताया गया कि वह रुपया तो उन्होंने हस्तिनागपुर में मन्दिर बनवाने के लिये आपके पास भेजा था। राजा उनके व्यवहार से गद्‌गद हो गया और उसने अपनी देखरेख में हस्तिनागपुर का मन्दिर बनवा दिया।

आप अपने व्यवहार से समाज के गरीब-से-गरीब व्यक्ति को अपमानित नहीं करते थे, तथा सबको साथ लेकर चलते थे। वि०सं० १८६७ में आपके प्रयत्न से शाही लवाजमा के साथ रथोत्सव हुआ था और जैनधर्म की अद्भुत प्रभावना हुई थी। वि०सं० १८८० में आपका देहावसान हुआ था। आपका एक ही पुत्र था, जिसका सुगुनचन्द्र नाम था। यह भी अपने पिता के समान ही प्रतापी, धर्मनिष्ठ तथा पुण्यशाली था।

वर्तमान में भी यहाँ भारतवर्षीय दि०जैन अनाथालय नाम की संस्था चलती है, जिसका विशाल भवन तथा साथ में स्कूल हैं। समाज में कई उत्साही व्यक्ति हैं, जो निरन्तर समाज को आगे बढ़ाते रहते हैं, लाला राजकृष्ण भी एक दक्ष व्यक्ति हैं। इन्होंने अपने पुरुषार्थ से अच्छी से अच्छी सम्पत्ति संचित की है तथा अहिंसा मन्दिर का निर्माण करा कर समाजसेवा के लिये उसका ट्रस्ट करा दिया है। इनके सिवा लाला फिरोजीलाल जी का नाम भी उल्लेखनीय है। ये अधिकतर अपनी सम्पत्ति का उपयोग धार्मिक कार्यों में करते रहते हैं।

दिल्ली का परिकर

मेरे साथ श्री क्षुल्लक पूर्णसागरजी, क्षुल्लक चिदानन्दजी, ब्र०सुमेरुचन्द्रजी भगत तथा एक दो त्यागी और थे। श्री कर्मानन्दजी, जिनका आधुनिक नाम ब्र०निजानन्द था यहाँ थे ही, ब्र०चाँदमल जी भी उदयपुर से आ गये थे, इसलिये यहाँ समय सम्यक् रीति के व्यतीत होता था। दिल्ली बड़ा शहर है। अनेक मोहल्लों में दूर-दूर पर जिनमन्दिर तथा जैनियों के घर हैं। वृद्धावस्था के कारण मेरी प्रवचन की शक्ति प्राय: क्षीण हो गई थी, इन सबके प्रवचनों और भाषणों से जनता को लाभ मिलता रहता था। प्रवचन के बाद मैं भी जो बनता था, कह देता था। पहले दिन कण्ठ रुद्ध होने के कारण मैं कुछ नहीं कह सका, इसलिए सभा विसर्जित हो गई। श्री रघुबीरसिंहजी रईस के यहाँ भोजन हुआ। आपने ५०१) दान में दिये। आज मन में विचार आया कि जगत् को प्रसन्न करने का भाव त्याग दो। जो कुछ बने, स्वात्महित की ओर दृष्टिपात करो। संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो सबका कल्याण कर सके। कल्याण का मार्ग स्वतन्त्र है। अन्तर्गत राग-द्वेष का त्याग करना ही, आत्मशान्ति का साधक है। अन्तरङ्ग रागादिक आत्मा के शत्रु हैं, उनसे आत्मा में अशान्ति पैदा होती है, और अशान्ति आकुलता की जननी हैं, आकुलता ही दु:ख है, दु:ख किसी को इष्ट नहीं, सर्व संसार दु:ख

से भयभीत है। आषाढ़ सुदी १२ के दिन कण्ठ ठीक हो जाने के कारण मैंने कुछ कहा। मेरे कहने का भाव यह था कि—

आत्मा मोहोदय के कारण परपदार्थों में आत्मबुद्धि कर दुःखी हो रहा है। एक प्रज्ञा ही ऐसी प्रबल छैनी है जिसके पड़ते ही बन्ध और आत्मा जुदे-जुदे हो जाते हैं। आत्मा और अनात्मा का ज्ञान कराना प्रज्ञा के आधीन है। जब आत्मा और अनात्मा का ज्ञान होगा तब ही तो मोक्ष हो सकेगा। परन्तु इस प्रज्ञारूपी छैनी का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। बुद्धि में निज का अंश छूटकर पर में न मिल जाय, और पर का अंश निज में न रह जाय, यही सावधानी का मतलब है।

धन-धान्यादिक जुदे हैं, स्त्री-पुत्रादिक जुदे हैं, शरीर जुदा है, रागादिक भावकर्म जुदे हैं, द्रव्यकर्म जुदे हैं, मति-ज्ञानादिक क्षायोपशमिक ज्ञान जुदे हैं। यहाँ तक कि ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने वाले ज्ञेय के आकार भी जुदे हैं। इस प्रकार स्वलक्षण के बल से करते-करते अन्त में जो शुद्ध चैतन्यभाव बाकी रह जाता है, वही निज का अंश है। वही उपादेय है। उसी में स्थिर हो जाना मोक्ष है। प्रज्ञा के द्वारा जिसका ग्रहण होता है, वही चैतन्यरूप 'मैं' हूँ। इसके सिवाय अन्य जितने भाव हैं निश्चय से वे परद्रव्य हैं—परपदार्थ हैं। प्रज्ञा के द्वारा जाना जाता है कि आत्मा ज्ञाता है, द्रष्टा है। वास्तव में ज्ञाता-द्रष्टा होना ही आत्मा का स्वभाव है। पर इसके साथ जो मोह की पुट लग जाती है, वह समस्त दुःखों का मूल है। अन्य कर्म के उदय से तो आत्मा का गुण रुक जाता है, पर मोह का उदय इसे विपरीत परिणाम देता है। अभी केवलज्ञानावरण का उदय है। उसके फलस्वरूप केवलज्ञान प्रकट नहीं हो रहा है, परन्तु मिथ्यात्व के उदय से आत्मा का आस्तिक्य गुण अन्यथा रूप परिणम रहा है। आत्मा का गुण रुक जाय, इसमें हानि नहीं, पर मिथ्यारूप हो जाने में महती हानि है। एक आदमी को पश्चिम की ओर जाना था, कुछ दूर चलने पर उसे दिशा भ्रान्ति हो गई। वह पूर्व को पश्चिम समझ कर चलता जा रहा है, उसके चलने में बाधा नहीं आई पर ज्यों-ज्यों चलता जाता है त्यों-त्यों अपने लक्ष्य से दूर होता जाता है। दूसरे आदमी को दिशा-भ्रान्ति तो नहीं हुई, पर पैर में लकवा मार गया, इससे चलते नही बनता, वह अचल होकर एक स्थान पर बैठा रहता है, पर अपने लक्ष्य का बोध होने से वह उससे दूर तो नहीं हुआ, कालान्तर में ठीक होने से शीघ्र ही ठिकाने पर पहुँच जावेगा।

एक को आँख में कामला रोग हो गया, जिससे उसका देखना बन्द तो नहीं हुआ, देखता है, पर सभी वस्तुएँ पीली-पीली दिखती हैं। उससे वर्ण का वास्तविक बोध नहीं हो पाता। एक आदमी परदेश गया। वहाँ उसे कामला रोग हो गया। घर पर स्त्री थी, उसका रङ्ग काला था। जब वह परदेश से लौटा और घर आया तो उसे स्त्री पीली-पीली दिखी। उसने उसे भगा दिया। कहा कि मेरी स्त्री तो काली थी, तू यहाँ कहाँ से आई? वह कामला रोग होने से अपनी ही स्त्री को पराई समझने लगा। इसी प्रकार मोह के उदय में यह जीव कभी-कभी अपनी चीज को पराई समझने लगता है, और कभी पराई को अपनी। यही विभ्रम संसार का कारण है, इस लिए ऐसा प्रयत्न करो कि जिससे पाप का बाप यह मोह आत्मा से निकल जाय। हिंसादिक पाँच पाप हैं अवश्य, पर ये मोह के समान अहितकर नहीं हैं। पाप का बाप यही मोहकर्म है। यही दुनिया को नाच नचाता है। मोह दूर हो जाय और आत्मा के परिणाम निर्मल हो जायें, तो संसार से आज छुट्टी मिल जाय। पर हो तब न। संस्कार तो अनादिकाल से इस जाति के बना रक्खे हैं कि जिससे उसका छूटना कठिन दिखने लगता है।

ज्ञान के भीतर जो अनेक विकल्प उठते हैं, उसका कारण मोह ही है। किसी व्यक्ति को आपने देखा, यदि आपके हृदय में उसके प्रति मोह नहीं है, तो कुछ भी विकल्प उठने का नहीं। आपको उसका ज्ञान भर हो जायगा। पर जिसके हृदय में उसके प्रति मोह है, उसके हृदय में अनेक विकल्प उठते हैं— यह विद्वान् हैं, अमुक कार्य करता है, इसने अभी भोजन किया है या नहीं? आदि। बिना मोह को कौन पूछने चला कि इसने अभी खाया है या नहीं? मोह के निमित्त से ही अत्मा में एक पदार्थ को जानकर दूसरा पदार्थ जानने की इच्छा होती है। जिसके मोह निकल जाता है, उसे एक आत्मा ही आत्मा का बोध होने लगता है। उसकी दृष्टि बाह्य ज्ञेय की ओर जाती नहीं। ऐसी दशा में आत्मा आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा से आत्मा में ही जानने लगता है। एक आत्मा ही षट्कारकरूप हो जाता है। सीधी बात यह है कि उसके सामने से कर्त्ता, कर्म, करणादिक विकल्प हट जाता है।

चेतना यद्यपि एकरूप है फिर भी वह सामान्य-विशेष भेद से दर्शन और ज्ञानरूप हो जाती है। जब कि सामान्य और विशेष पदार्थमात्र का स्वरूप है तब चेतना उसका त्याग कैसे कर सकती है? यदि वह उसे भी छोड़ दे तब तो अपना

अस्तित्व भी खो बैठे और इस रूप में वह जड़रूप होकर आत्मा का भी अन्त कर दे सकती है, इसलिये चेतना का द्विविध परिणाम होता ही है। हाँ, चेतना के अतिरिक्त अन्य भाव आत्मा के नहीं हैं। इसका यह अर्थ नहीं समझने लगना कि आत्मा में सुख, वीर्य आदि गुण नहीं हैं। उसमें तो अनन्त गुण विद्यमान हैं और हमेशा रहेंगे, परन्तु अपना और उन सबका परिचायक होने से मुख्यता चेतना को ही दी जाती है। जिस प्रकार पुद्गल में रूप, रसादि गुण अपनी-अपनी सत्ता लिये हुए विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा में भी ज्ञान, दर्शन आदि अनेक गुण अपनी-अपनी सत्ता लिये हुए विद्यमान रहते हैं। इस चेतनातिरिक्त पदार्थों को पररूप जानता हुआ ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो कहे कि ये मेरे हैं। शुद्ध आत्मा को जाननेवाले के ये भाव तो कदापि नहीं हो सकते।

जो चोरी आदि अपराध करता है, वह शंकित होकर घूमता है, उसे हमेशा शङ्का रहती है कि कोई मुझे चोर जान कर बाँध न ले, पर जो अपराध नहीं करता है, वह सर्वत्र नि:शंक होकर घूमता है। 'मैं बाँधा न जाऊँ' इस प्रकार चिन्ता ही उसे उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार जो आत्मा परभावों का ग्रहण कर चोर बनता है, वह हमेशा शङ्कित ही रहेगा। और संसार के बन्धान में बँधेगा। सिद्धि का न होना अपराध है। अपराधी मनुष्य सदा शङ्कित रहता है, अत: यदि निरपराधी बनना है तो आत्मा की सिद्धि करो। आत्मा से परभावों को जुदा करो। अमृतचन्द्रस्वामी कहते हैं कि मोक्षार्थी पुरुषों को सदा इस सिद्धान्त की सेवा करना चाहिए कि मैं शुद्ध चैतन्यज्योतिरूप हूँ और जो ये अनेक भाव प्रतिक्षण उल्लसित होते हैं, वे सब मेरे नहीं है, स्पष्ट ही परद्रव्य हैं।

एक दिन (आषाढ़ सुदी १३) को श्री पं०जुगलकिशोर जी मुख्त्यार ने जैनधर्म के सिद्धान्त पर अच्छा प्रकाश डाला। अन्त में आपने यह भाव प्रदर्शित किया कि हमें जैनशासन को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। आज लोगों में जैनधर्म के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हो रही है। परस्पर का तनाव भी लोगों का न्यून हो गया है, इसलिए यह अवसर है कि हम जैनधर्म के प्राचीनग्रन्थ जनता के सामने लावें और अच्छे रूप में लावें, जैनधर्म के पवित्र सिद्धान्त मन्दिर की चहारदीवालों के अन्दर सदियों से कैद चले आ रहे हैं, उन्हें हमें बाहर प्रकाश में लाना चाहिए। मुख्त्यारसाहब ने यह बात इस ढंग से कही कि सबको पसंद आ गई। आपका वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा में है। लोगों ने प्रेरणा दी कि वह स्थान आपकी संस्था

के लिए उपयुक्त नहीं है। यहाँ राजधानी में उसका संचालन होना चाहिए। जनता ने स्थान की व्यवस्था करने का आश्वासन दिया। जैन समाज में रुपये के व्यय की त्रुटि नहीं, परन्तु उसका उपयोग कुछ विवेक के साथ नहीं होता। यदि इसी का उपयोग यथार्थ हो तो मानव जाति का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है। मानव जाति की कथा छोड़ो, जैनधर्म तो संसार मात्र के प्राणियों का संरक्षक है।

श्रीकर्मानन्द जी (निजानन्दजी) के प्रवचन रोचक होते हैं। जनता में धर्मश्रवण की उत्सुकता बहुत है, परन्तु एकत्रित होकर इतना कलरव करते हैं कि सब आनन्द किरकिरा हो जाता है। सावन वदी ७ सं० २००६ को रविवार था, इसलिए जनता की भारी भीड़ उपस्थित हुई। श्री क्षु०चिदानन्दजी महाराज ने मनुष्यों को समझाने की बड़ी चेष्टा की, परन्तु उनका सब प्रयत्न जनता के कलरव में विलीन हो गया। पं०मक्खनलालजी ने भी प्रयत्न किया, पर कोई प्रभाव जनता पर न पड़ा। इसके अनन्तर आरा से पधारी हुई चन्दाबाई ने भी अपनी मधुर ध्वनि से उपदेश दिया, परन्तु जनता में सर्वप्रयत्न विलीन हो गये। अन्त में हमारा प्रयत्न भी असफल ही रहा। लोग जिस भावना को लेकर धर्मायतनों में उपस्थित होते हैं उसकी पूर्ति की बात तो भूल जाते हैं और बाह्य वातावरण में इतने निमग्न हो जाते हैं कि सार की कोई वस्तु उनके हाथ नहीं पड़ती। श्रीराजकृष्ण के भाई हरिचन्द्रजी के यहाँ एक दिन आहार करने के लिये गये। यहीं पर श्रीलाला सरदारीमल्लजी भी आये। आपने महिलाश्रम बनने पर पूर्ण बल दिया। मैंने कहा कि भैया! दिल्ली में कमी किस बात की है? महिलाश्रम बन जाय तो महिलाओं का भला ही होगा।

वस्तुतः धर्म का तत्त्व सरल है, किन्तु अन्तरङ्ग में माया न होना चाहिए। क्षयोपशमज्ञान का होना कठिन बात नहीं, किन्तु सम्यग्ज्ञान होना अति कठिन है। इसका मूल कारण यह है कि हम अनात्मीय पदार्थों में आत्मीय बुद्धि मान रहे हैं। आज तक न कोई किसी का हुआ, न है और न होगा। फिर भी बलात् मानने में हम त्रुटि नहीं करते। एक दिन नये मन्दिर में गये। यह मन्दिर धर्मपुरा में है। इसमें स्फटिक मणि की कई मूर्तियाँ रम्य हैं। बाहुबली स्वामी की मूर्ति अति सुन्दर है। दर्शन करने से चित्त में शान्ति आ जाती है। यथार्थ में शान्ति का कारण तो आभ्यन्तर में है, बाह्य तो निमित्तमात्र है। निमित्त कारण बलात् कार्य नहीं कराता, किन्तु यदि तुम करना चाहो तो वह सहकारी हो जाता है।

धर्मपुरा के मन्दिर में क्षु०पूर्णसागरजी का प्रवचन हुआ। अष्टमूलगुणधारण और सप्तव्यसन के त्याग पर बल था। नगरों की अपेक्षा महान् नगर में विशेष प्रभावना होती है, परन्तु उस प्रभावना में मुख्यता वाह-वाह की रहती है। मार्मिक सिद्धान्त का विवेचन नहीं होता। मनुष्यों का कल्याण, तत्त्वविवेकमूलक रागद्वेष-निवृत्ति में ही होता है। केवल तत्त्वविवेक के परामर्श से शान्ति का लाभ नहीं। एक दिन सेठ के कूचा में बनारस से आगत पं०कैलाशचन्द्रजी का उत्तम व्याख्यान हुआ। पश्चात् हमने भी कुछ अस्पष्ट भाषा में कहा। सावन सुदी पूर्णिमा रक्षाबन्धन के दिन श्री ब्र०निजानन्द (कर्मानन्द) की समारोह के साथ क्षुल्लक दीक्षा हुई। ७००० हजार मनुष्यों का समुदाय था। समारोह में पं०माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य फिरोजाबाद, पं०कैलाशचन्द्रजी बनारस तथा पं०राजेन्द्रकुमारजी के भाषण हुए। श्रीनिजानन्दजी पहले आर्यसमाजी थे, परन्तु बाद में आप जैन सिद्धान्त से प्रभावित हो जैन हो गये। कुछ समय पहले आपने ब्रह्मचर्य-प्रतिमा धारण की थी और आज क्षुल्लक-दीक्षा लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा धारण की। लोकेषणा की चाह न हो तो आदमी अच्छा है—प्रभावक है।

एक दिन बैजवाड़ा के मन्दिर भी गया। वहाँ प्रवचन हुआ। समुदाय अच्छा था, परन्तु वास्तविक लाभ कुछ नहीं। यथार्थ में प्राणीमात्र का कल्याण उसी के अधीन है। जिस काल में वह अपनी ओर दृष्टिपात करता है, उस काल में अनायास बाह्यपदार्थों से विरक्त होकर आत्मकल्याण के मार्ग में लग जाता है। अतः सर्वविकल्पों को त्यागकर आत्महित करना, व्यर्थ की झंझटों में पड़ना अच्छा नहीं। एक दिन धीरज पहाड़ी के लोगों ने पहाड़ी पर ले जाने की चेष्टा की। फलस्वरूप हमलोग ३।। मील का लम्बा मार्ग तयकर सदर पार पहाड़ी पर पहुँच गये। यहाँ पर हीरालाल हाईस्कूल में व्याख्यान हुआ। बहुत ही भीड़ थी, परन्तु प्रबन्ध अच्छा था। इसी प्रकार एक दिन डिप्टीगंज में भी गये। वहाँ भी प्रवचन और व्याख्यान सभाएँ हुईं, परन्तु सार कुछ नहीं निकला। यदि प्रवचन और व्याख्यान सभाओं से लाभ लेकर एक भी आदमी सुमार्ग पर आता तो मैं इन सब आयोजनों को सारपूर्ण समझता। लोगों का ख्याल तो ऐसा हो गया है कि ये सुनानेवाले हैं, कुछ देना लेना तो है नहीं। एक तरह का सिनेमा है, पर सिनेमा में तो पैसा का व्यय है, यह अमूल्य दृश्य है। मेरे हृदय से तो यह ध्वनि निकल पड़ी कि—

जो सुख चाहो मित्र तुम, तज दो पर की आस ।
सुख नाही संसार में, सदा तुम्हारे पास ।।

गल्पवाद में दिन गया, विषय भोग में रात ।
भोंदू के भोंदू रहे, रात दिना विललात ।।

हरिजन मन्दिर-प्रवेश

इसी समय समाज में हरिजन मन्दिर-प्रवेश आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। अस्पृश्यों के उद्धार की भावना तो भारत में बहुत पहले से चली आ रही थी, पर अब स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत का जो विधान बना, उसमें मनुष्यमात्र को समानाधिकार घोषित किया गया। उसी का आलम्बन लेकर बम्बई प्रान्त की सरकार ने एक कानून ऐसा बनाया कि जिसमें अस्पृश्य लोग भी मन्दिरों में जाने से न रोके जावें। हिन्दू भाईयों के साथ ही साथ यह कानून जैनधर्मावलम्बियों पर भी लागू होता था, अत: वे भी अपने मन्दिरों में अस्पृश्य लोगों को जाने से नहीं रोक सकते थे। यदि रोकते तो दण्ड के पात्र होते। इस कानून की प्रतिक्रिया करने के लिए श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराज ने अन्न के आहार का त्याग कर दिया। केवल सिंघाड़ा, दूध तथा फल ही लेने लगे। इस समाचार से समाज में इस आन्दोलन ने जोर पकड़ लिया। कुछ लोग यह कहने लगे कि हरिजनों को मन्दिर-प्रवेश की आज्ञा मिलने से धर्म-विरुद्ध काम हो जायगा, क्योंकि जब हरिजनों को हम अपने घरों में नहीं आने देते, तब मन्दिरों में कैसे आने देंगे? उनके आने से मन्दिर अशुद्ध हो जावेंगे, तथा हमारे धर्मायतनों में हमारी जो स्वतन्त्रता है उसमें बाधा आने लगेगी एवं अव्यवस्था हो जायगी। हरिजन जब हमारे धर्म के माननेवाले नहीं तब बलात् हमारे मन्दिरों में सरकार उन्हें क्यों प्रविष्ट कराना चाहती है? इसके विरुद्ध कुछ लोगों का यह कहना रहा कि यदि हरिजन शुद्ध और स्वच्छ होकर धार्मिक भावना से मन्दिर आना चाहते हैं, तो उन्हें बाधा नहीं होना चाहिये। मन्दिर कल्याण के स्थान हैं और कल्याण की भावना लेकर यदि कोई आता है, तो उसे रोका क्यों जाय? इस चर्चा को लेकर एक दिन मैंने कह दिया कि हरिजन संज्ञी पञ्चेद्रिय पर्याप्तक मनुष्य हैं। उनमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की सामर्थ्य है, सम्यग्दर्शन ही नहीं, व्रत धारण करने की भी योग्यता है। यदि कदाचित् काललब्धि वश उन्हें सम्यग्दर्शन या व्रत की प्राप्ति हो जाय तब भी क्या वे भगवान् के दर्शन से वञ्चित रहे आवेंगे? समन्तभद्राचार्य ने तो सम्यग्दर्शन सम्पन्न चाण्डाल को भी देव संज्ञा दी है पर आज के मनुष्य धर्म की भावना जागृत होने पर भी उसे जिन दर्शन-मन्दिर प्रवेश के अनधिकारी मानते

हैं।......मेरे इस वक्तव्य को लेकर समाचारपत्रों से लेख-प्रतिलेख लिखे गये। अनेकों को हमारा वक्तव्य प्रसन्द आया। अनेकों की समालोचना का पात्र हुआ। पर अपने हृदय का अभिप्राय मैंने प्रकट कर दिया। मेरी तो श्रद्धा है कि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव सम्यग्यदर्शन के अधिकारी हैं, यह आगम कहता है। सम्यग्दर्शन के होने में वर्ण और जातिविशेष की आवश्यकता नहीं। देव और नारकी तो कितना ही प्रयास करें उन्हें सम्यग्दर्शन के सिवाय व्रत धारण नहीं हो सकता, क्योंकि वैक्रियिक शरीरवालों के चतुर्थ गुणस्थान तक ही हो सकता है। मनुष्य और तिर्यञ्चों के पञ्चम गुणस्थान भी होता है। मनुष्यों के महाव्रत भी होता है और यही एक पर्याय ऐसी है कि जिससे यह जीव कर्मबन्धन काट मोक्ष का पात्र हो जाता है। मनुष्यों का वर्ण विभाग आगम में देखा जाता है— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें प्रारम्भ के तीन वर्ण वाले उच्चगोत्री हैं और अन्तिम वर्णवाले अर्थात् शूद्र नीचगोत्री हैं। उच्च गोत्र में ही मुनिव्रत होता है। शुद्रों में उच्च गोत्र नहीं, अतएव उनके मुनिधर्म नहीं होता। श्रावक के ही व्रत हो सकते हैं। उनमें भी जो स्पृश्य शूद्र हैं वे क्षुल्लकव्रत धारण कर सकते हैं, अस्पृश्य शूद्र व्रती हो सकते हैं। इसमें बहुत से महाशय उन्हें द्वितीय प्रतिमा तक मानते हैं। अस्तु, जो आगम में कहा सो ठीक है।

आजकल हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश पर बहुत विवाद चल रहा है। बड़े-बड़े धर्मात्माओं व बड़े-बड़े पण्डितों का कहना है कि वे मन्दिर नहीं जा सकते, क्योंकि उनमें चाण्डाल, चर्मकार, भंगी आदि अनेक बहुत ही घृणित रहते हैं तथा आचार-विचार से शून्य हैं। ये मन्दिर में आकर दर्शन नहीं कर सकते, यह चरणानुयोग की पद्धति है। परन्तु करणानुयोग में उनके भी सम्यग्दर्शन तथा व्रत हो सकता है। चाण्डाल के भी इतने निर्मल परिणाम हो सकते हैं कि वह अनन्त संसार का कारण जो मिथ्यात्व है उसका अभाव कर सकता है। अब विचार करो कि जो आत्मा सबसे बड़े पाप को नाश कर दे, वह फिर भी चाण्डाल बना रहे। चाण्डाल का सम्बन्ध यदि शरीर से ही है, तब तो हमें कोई विवाद नहीं। रहो, परन्तु आत्मा तो जब सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तब पुण्य जीवों की गणना में हो जाता है। आगम में मिथ्यादृष्टि जीवों को पापी जीव कहा है। चाहे वह किसी वर्ण का हो। हाँ, चरणानुयोग की अपेक्षा जो देव, गुरु और शास्त्र की श्रद्धा रखता है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। बाह्य में जिसके चरणानुयोग के अनुकूल व्रत हैं। उसे व्रती कहते हैं। चरणानुयोग के सिद्धान्त का व्यवहार में उपयोग नहीं। व्यवहार

हो, परन्तु अन्तरङ्ग की निर्मलता का बाह्य में नियम से असर पड़ता है। जिस व्याघ्री ने सुकोशल स्वामी के उदर को विदारण किया उस समय उसका परिणाम अतिमलिन था— आर्त-रौद्र परिणाम के वशीभूत हो वह दया का भाव बिलकुल भूल गई। उसके उदर विदारण से स्वामी के किंचित् भी अन्यथा वृत्ति नहीं हुई। उन्होंने तो क्षपकश्रेणी द्वारा केवलज्ञान उत्पन्न किया। उसी समय देव लोग उनकी पूजा करने आये, तथा कीर्तिधर स्वामी जो उनके पिता थे, दैवयोग से वहाँ आ गये। उन्होंने उस व्याघ्री को समझाया कि जिस पुत्र के वियोग में मरकर व्याघ्री हुई, उसी का उदर विदारण किया, यह सब मोह का माहात्म्य है। मुनि के वाक्य श्रवणकर व्याघ्री एकदम शिर धुनने लगी। यह देख मुनि ने कहा कि व्यर्थ शोक को त्याग। संसार की यही दशा है, यही भवितव्य था, शान्तभाव धारणकर आत्मकल्याण के मार्ग में अपने को तन्मय कर दे। उसने मुनि-मुखारविन्द से अनुपम उपदेश सुन एकदम संन्यासमरण की प्रतिज्ञा कर ली और अन्त में स्वर्ग गई। ऐसे अनेक उदाहरण आगम में मिलते हैं, परन्तु हम लोग इतने स्वार्थी हो गये कि विरले तो यहाँ तक कह देते हैं कि यदि इनका सुधार हो जायगा तो हमारा कार्य कौन करेगा? लोक में अव्यवस्था हो जायगी, अतः इनको उच्च धर्म का उपदेश ही नहीं देना चाहिये। जगत् में इतना स्वार्थ फैल गया है कि जिनके द्वारा हमारा सर्व व्यवहार बन रहा है उन्हीं से हम घृणा करते हैं। कबीरदास एक साधु हो गया। अध्यात्म की ओर उसकी दृष्टि थी। यदि वह व्यवहार की तरफ कुछ भी दृष्टि देता तो अच्छे-अच्छे उसके अनुयायी हो जाते फिर भी उसने लाखों मनुष्यों मद्य-मांस छुड़वा दिया और लाखों आदमियों को सरल बना दिया। आज हम लोग धर्म जो कि प्राणीमात्र का है उसके विकास में बाधक बने रहे हैं। यद्यपि धर्म का विकास आत्मा में ही होता है और आत्मा ही उसका उत्पादक है तथा आत्मा ही उसका घातक है। जिस समय आत्मा पर से भिन्न अपने स्वरूप को जानता है, उसी समय पर में निजत्व की कल्पना को त्याग देता है और उसके त्याग से उसकी रक्षा के लिये अनुकूल पदार्थों के संचय का उद्यम स्वयमेव नहीं होता तथा प्रतिकूल पदार्थों के निग्रह करने की चेष्टा स्वयमेव शान्त हो जाती है। किन्तु व्यवहार में जिन महात्माओं ने आत्मज्ञान की पूर्णता प्राप्त की, उनके स्मरण के अर्थ जो मन्दिर आदि आयतन हैं, उनकी आवश्यकता जघन्य अवस्था में आवश्यक है, अतः मानवजाति मन्दिर आदि का निर्माण करती है। उस मन्दिर में वही जा सकता है जो स्वच्छ हो, क्योंकि मन्दिर एक पवित्र स्थान है और उसमें पवित्र आत्मा की स्थापना रहती है। अब यहाँ पर यह विचारना

है कि पवित्रता उभयविध है— एक तो यह कि आत्मा पञ्च पापों का परित्यागी हो तथा जिसके दर्शन करने जावे, उसमें श्रद्धा हो। यह तो अन्त:करण की शुद्धता होनी चाहिये और दूसरी बाह्य में शरीर शुद्ध हो, स्वच्छ वस्त्रादिक हो। जिसके यह उभयविध शुद्धता हो वह मनुष्य उस मन्दिर में प्रतिष्ठापित देव के दर्शन का अधिकारी हो। मूर्तिपूजा का अधिकारी वही हो जो उस मन्दिर के अधिकारियों द्वारा निर्मित नियमों का पालन करे।

यथार्थ में जो प्रतिमा है उसमें जिस देव की स्थापना है वह तो साक्षात् है नहीं, केवल स्थापना है। उस देव पर किसी जाति विशेष का अधिकार नहीं। प्रत्येक मनुष्य, यदि उस देव में उसकी श्रद्धा है तो उसकी आराधना कर सकता है, केवल उच्चगोत्रवाले ही उसके आराधक हो सकते हैं, यह नियम नहीं। आजकल उच्चवर्णवालों ने यह नियम बना रक्खा है कि ये हमारे ही भगवान् हैं। उनकी जो मूर्ति हमने बना रक्खी है उसे अन्य विधर्मियों को पूजने का अधिकार नहीं है। तत्त्व से विचार कर देखो, तुमने मूर्ति में भगवान् की स्थापना ही तो की है। स्थापना २ प्रकार की होती है— एक तदाकार और दूसरी अतदाकार। तदाकार स्थापना में पञ्चकल्याणक की आवश्यकता होती है और अतदाकार स्थापना में विशेष आडम्बर की आवश्यकता नहीं। केवल विशुद्ध परिणामों की आवश्यकता है। मन ही में भगवान् की स्थापना कर प्रत्येक प्राणी पूजन कर सकता है। उस पूजा को आप नहीं रोक सकते। उससे भी मनुष्य लाभ उठा सकते हैं। अरहन्त नाम का स्मरण प्राणीमात्र कर सकता है। उसमें आपके निषेध एक काम में न आवेंगे, क्योंकि वर्ण समाम्नाय अनादिसिद्ध है और वह प्रत्येक मनुष्य के उपयोग में आ सकता है। इसी तरह जैसे आपको श्रीतीर्थंकरदेव की मूर्ति बनाने का अधिकार है वैसे यदि अन्य भी बनावे और पूजे तो आप रोकनेवाले कौन? हाँ, लोक में जिन वस्तुओं पर जिनका अधिकार है, वे उनकी कहलाती हैं। अन्य उसे बिना स्वामी की आज्ञा के उपयोग में नहीं ला सकता। अथवा यह भी कोई नियम नहीं, क्योंकि संसार में नीति प्रसिद्ध है 'वीरभोग्या वसुन्धरा।' देखिये, चक्रवर्ती जब उत्पन्न होते हैं तब क्या लाते हैं, पर वे षट्खण्ड के राजा बन जाते हैं। इसी प्रकार जब उन्हें राज्य से विरक्तता आती है तथा विरक्तता के आने पर जब दिगम्बर पद धारण करते हैं तब चक्रादि शस्त्र स्वयमेव चले जाते हैं। उनके पुत्र सामान्य राजा रह जाते हैं, अत: यह कोई नियम नहीं कि जो वस्तु आज हमारी है, वह कल भी हमारी ही रहे।

देखो, विचारो, जो मनुष्य संज्ञी है, यदि उसे संसार से अरुचि हो तथा धर्म साधन करने की उसकी भावना जागृत हो तो उसे कोई मार्ग भी तो होना चाहिए। मन्दिर एक आलम्बन है। उससे वञ्चित रहा, आप स्वयं उससे बोलना नहीं चाहते, वाङ्मय आगम है, उसे पढ़ने का अधिकारी नहीं, अत: स्वाध्याय नहीं कर सकता, आप सुनाना नहीं चाहते, तब वह तत्त्वज्ञान से वञ्चित रहेगा, तत्त्वज्ञान के बिना संयम का पात्र कैसे होगा और संयम के बिना आत्मा का कल्याण कैसे कर सकेगा? इस तरह आपने भगवान् का जो सार्वधर्म है, उसकी अवहेलना की। धर्म प्राणी मात्र का है, उसका पूर्ण विकास मनुष्य पर्याय में ही होता है, अत: चाहे चाण्डाल हो अथवा महान् दयालु हो, धर्मश्रवण के अधिकारी दोनों ही हैं। आपको यदि धर्म का रहस्य मिला है तो पक्षपात को तिलाञ्जलि दो और उस धर्म का विकास करो, अन्यथा उसका लोप करोगे, तो तुम स्वयं ऐसे कर्मचक्र में आओगे और अनन्त काल तक भवभ्रमण के पात्र होओगे। अत: जाति अभिमान का परित्याग प्राणी मात्र पर दया करो, जिनके आचरण मलिन हैं, उन्हें सदाचार की शिक्षा दो। वह भी तो मनुष्य हैं। हम जो बड़े बनते हैं, अपने को पुण्यवान् मानते हैं, उन्हीं ने अपने आराम के लिये शूद्रों को सेवावृत्ति दी और आप स्वयं राजा बन बैठे। सबसे जघन्य काम जिसे आप न कर सके, भंगियों के सुपुर्द किया और उनको चाण्डाल शब्द से पुकारने लगे। प्राय: मनुष्य जो कार्य करता है, उसी के अनुरूप उसका परिणाम बन जाता है, यही संस्कार कहलाता है। आत्मा में ज्ञान-दर्शन गुण है। प्रत्येक आत्मा में यह बात है। यही जब विकृत अवस्था को धारण करता है, तब अनन्त का पात्र होता है और नाना यातनाएँ सहता है। प्रत्येक आत्मा ज्ञानादि गुणों का आश्रय है। अनादि काल से इसके साथ पर द्रव्य का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। एक क्षेत्र में ही धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये षट्द्रव्य स्वकीय-स्वकीय सत्ता लिये निवास कर रहे हैं। उनमें जीव और पुद्गल को छोड़कर चार द्रव्य तो अपने-अपने स्वभाव में लीन हैं। उनमें कोई प्रकार की विकृति नहीं आती। २ द्रव्य—जीव और पुद्गल इनमें विभावनामक शक्ति है, उससे उनका परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो रहा है। जीव के रागादिक परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल में ज्ञानावरणादि रूप परिणाम होता है और कर्म के उदय को पाकर जीव में रागादि परिणाम होते हैं। उन रागादिक के द्वारा जीव नाना प्रकार के कार्य करता है। जो पदार्थ अपने अनुकूल होते हैं, उन्हें इष्ट मान लेता है और जो प्रतिकूल होते हैं उन्हें अनिष्ट

मानता है। यदि इष्ट पदार्थ मिले, तो उनके साधकों से राग और अनिष्ट पदार्थ मिले, तो उनके साधकों से द्वेष करने लगता है। इस प्रकार निरन्तर राग-द्वेष की कल्पना से मुक्त नहीं होता और मुक्त होने का कारण जो उपेक्षाभाव (रागद्वेष-रहित परिणाम) है, उस ओर इस जीव की दृष्टि नहीं। उपयोग आत्मा का एक काल में एक ही होता है।

इस प्रकार हमने तो अपना भाव प्रकट कर दिया। यद्यपि यह निश्चय है कि जो होना है वही होगा। संसार की दशा को बदलने की किसी में सामर्थ्य नहीं। परन्तु अभिप्राय के विरुद्ध बात कहना और करना दम्भ है, इसलिये यह लिखकर मैं निर्द्वन्द्व हो गया।

●

पावन दशलक्षण पर्व

दशलक्षण पर्व आ गया। कटनी से श्री पं०जगन्मोहनलालजी शास्त्री आ गये। लाल मन्दिर में विशाल मण्डप का आयोजन हुआ। प्रति दिन १ बजे से मण्डप में पं०जगन्मोहनलालजी का प्रवचन होता था। अनन्तर कुछ हम भी कह देते थे। जैन समाज में दशलक्षण पर्व का महत्त्व अनुपम है। भारत में सर्वत्र जहाँ जैन रहते हैं, वहाँ इस समय यह पर्व समारोह के साथ मनाया जाता है। पर्व का अर्थ तो यह है कि इस समय आत्मा में समाई हुई कलुषित परिणति को दूरकर उसे निर्मल बनाया जाय, पर लोग इस ओर ध्यान नहीं देते। बाह्य प्रभावना में ही अपनी सारी शक्ति व्यय कर देते हैं।

प्रारम्भ के दिन जब मेरा विवेचन का अवसर आया, तब मैंने कहा कि यद्यपि आज उत्तम क्षमा का दिन है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आज मार्दव धर्म धारण नहीं करना चाहिए। धर्म तो प्रत्येक दिन सभी धारण करने योग्य हैं। फिर क्षमा आदि का जो क्रम बताया है, वह केवल निरूपण की अपेक्षा से बताया है। क्षमाधर्म क्रोधकषाय पर विजय प्राप्त करने से होता है। क्रोधकषाय के उदय में यह आत्मा स्वात्मनिष्ठ रत्नत्रय के विकास को रोक देता है। देखो, उपशम-सम्यग्दृष्टि का काल जब जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से ६ आवलि प्रमाण बाकी रह जाता है तब यदि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया या लोभ में से किसी एक का उदय आ जावे, तो यह जीव उपरितन गुणस्थानों से गिरकर द्वितीय सासादन गुणस्थान में आ जाता है और सम्यग्दर्शनरूपी रत्नमय पर्वत की शिखर से नीचे गिर जाता है। इससे जान पड़ता है कि कषाय का उदय अच्छा नहीं।

द्वितीय दिन मार्दव धर्म का व्याख्यान हुआ। मृदु का भाव मार्दव होता है और मृदु का अर्थ कोमल है। इसकी व्याख्या करना पण्डितों का कार्य है, परन्तु इतना हर कोई जानता है कि मन, वचन और काय के व्यापार में कठोरता न आना चाहिए। कठोरता का व्यवहार बहुत ही अनुचित होता है। जिसका व्यवहार मृदुता को लिये हुए होता है उसको जगत् प्रिय मानता है, वह जगत् में प्रत्येक समय आदर का पात्र होता है। कोई भी उसके साथ असद्व्यवहार नहीं करता।

तृतीय दिन आर्जवधर्म का विवेचन हुआ। आर्जव धर्म सरल परिणामों से होता है, यह कह देना कौन कठिन है? परन्तु जीवन में उतर जाय यह कठिन है। मायारूप पिशाची के वशीभूत हुआ यह प्राणी नाना स्वांग बनाता है। आज तो लोगों की बात-बात में मायाचार का व्यवहार भरा हुआ है। मायाचार का व्यवहार रहते परिणामों में नि:शल्यता नहीं आती और नि:शल्यता के अंभाव में शान्ति कहाँ से प्राप्त हो सकती है? अत: शान्ति के यदि इच्छुक हो तो माया रहित व्यवहार करो।

चतुर्थ दिन शौचधर्म का व्याख्यान था। शौचधर्म कहीं बाहर से नहीं आता, किन्तु आत्मा की निर्मल परिणति हो जाने से आत्मा में ही प्रकट होता है। आत्मा की परिणति लोभकषाय के कारण कलुषित हो रही है, अत: कलुषिता का अपहरण करने के लिये लोभ का संवरण करना आवश्यक है। शौचधर्म आत्मा की स्वकीय परिणति है और लोभ उसकी विकृत परिणाति है। जब कि एक गुण की एक समय में एक ही पर्याय होती है तब लोभ के रहते हुए शौचरूप परिणति नहीं हो सकती।

पञ्चम दिन सत्यधर्म का व्याख्यान था। वास्तव में सत्यधर्म तो वह है, जहाँ पर का लेश नही। जहाँ पर में आत्मबुद्धि है, वहाँ धर्म का लेश नहीं। आत्मा का स्वभाव भगवान् ने ज्ञान और दर्शन कहा है। अर्थात् उसका स्वभाव जानना और देखना बतलाया है। चेतना आत्मा का लक्षण है। चेतना का द्विविध परिणाम होता है। उनमें से स्वपरव्यवसायात्मक परिणाम को ज्ञान कहते हैं और केवल स्वव्यवसायात्मक परिणाम को दर्शन कहते हैं। मोह के वशीभूत हुआ प्राणी अपने ज्ञान-दर्शनरूप स्वभाव से विमुख हो जाता है, यही असत्य धर्म है। स्वभावविमुख प्राणी के वचन ही अन्यथा निकलते हैं।

षष्ठ दिन संयम धर्म का दिवस था। संयमधर्म यह शिक्षा देता है कि सर्व तरफ से वृत्ति को संकोच करो। जहाँ परपदार्थों में दृष्टि गई, उनको अपनाया वहाँ संयम गुण का घात हुआ। मेरा तो यह विश्वास है कि हम केवल संयम को जानते हैं पर उसके अनुभव से शून्य हैं, अन्यथा जैसी हमारी विषयों में प्रवृत्ति है, वैसी संयम में क्यों न होती? बाह्य में संयम धर लेने पर भी अन्तरङ्ग उन्हीं विषय-कषायों की ओर आकृष्ट क्यों होता?

सप्तम दिन तप का व्याख्यान था। अनादि से आत्मा में जो परपदार्थों की इच्छा उत्पन्न हो रही है वही तप धर्म में बाधक है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन

है, परन्तु मोहजन्य इच्छा के कारण इसके सामने जो आता है, उसे यह अपना मान लेता है। जहाँ किसी पदार्थ में अपनत्वबुद्धि हुई वहीं उसकी रक्षा का भाव उत्पन्न हो जाता है। जहाँ रक्षा का भाव उत्पन्न हुआ, वहाँ उसके साधक-बाधक कारणों में राग-द्वेष—इष्ट अनिष्ट की कल्पना अनायास हो जाती है।

अष्टम दिन त्यागधर्म का मार्मिक विवेचन था। अनादि से यह आत्मा परवस्तु को अपना मान रहा है। यद्यपि पर अपना होता नहीं और न एक अंश उसका हममें आता है। वस्तु जिस मर्यादा में है, उसी में रहेगी, परन्तु हम मोह के वशीभूत हो वस्तु स्वरूप को अन्यथा मान रहे हैं। जिस तरह कामला रोग वाला श्वेत शङ्ख को पीत मानता है, उसी तरह मैं अनात्म पदार्थ को स्वात्मा मान रहा हूँ। जब तक किसी पदार्थ से अपनत्व बुद्धि नहीं हटती, तब तक उसका त्याग होना सम्भव नहीं।

नवम दिन आकिञ्चन्य धर्म का अवसर था। आत्मा से मूर्च्छाभाव निकल जाने पर आकिञ्चन्य धर्म प्रकट होता है। मूर्च्छा का अर्थ पर में ममता भाव है। यद्यपि संसार का कोई पदार्थ किसी का नहीं। सब अपने अस्तित्व गुण से परिपूर्ण हैं, तो भी यह मोही प्राणी उन्हें अपने अस्तित्व में मिलाना चाहता है और जब वे इसके अस्तित्त्व में नहीं मिलते, तब दुःखी होता है। व्यर्थ ही परपदार्थों का भार अपने ऊपर ले, संक्लेश का अनुभव करता है। 'काजी दुर्बल क्यों? नगर की चिन्ता से' यह कहावत हमारी प्रवृत्ति में आ रही है।

दशम दिन ब्रह्मचर्य का प्रकरण था। परमार्थ से ब्रह्मचर्य का अर्थ ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूप में लीन होना है। योग और कषाय ये दोनों ही आत्मा को आत्मलीनता से विमुख कर रहे हैं, अतः इनका अभाव करने से ही ब्रह्मचर्य में पूर्णता आती है। बाह्य में स्त्री-त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं। प्रारम्भ में स्वदार संतोष ब्रह्मचर्य कहलाता है, परन्तु सप्तम प्रतिमा से स्वदार का भी त्याग हो जाता है।

चतुर्दशी के दिन अनन्तनाथ महाप्रभु का निर्वाणोत्सव हुआ था। इस लिये वह लोक में अनन्त चतुर्दशी के नाम से प्रसिद्ध है। आज के दिन नगर में गाजे-बाजे के साथ सर्व समूह का विशाल जुलूस निकला। तदनन्तर श्री जिनेन्द्रदेव का कलशाभिषेक हुआ। आश्विन कृष्ण प्रतिपदा के दिन क्षमा-वाणी का आयोजन हुआ। कलशाभिषेक के बाद सबका सम्मेलन हुआ।

नम्र-निवेदन

भादों सुदी पूर्णिमा के दिन, दिल्ली से निकलने वाले हिन्दुस्तान दैनिक पत्र में यह लेख छपा हुआ दृष्टिगोचर हुआ कि वर्णी गणेशप्रसाद शूद्र लोगों के मन्दिर प्रवेश के पक्ष में हैं...... अस्तु, हम किसी पक्ष में नहीं, किन्तु यह अवश्य कहते हैं कि धर्म आत्मा की परिणति विशेष है और उसका विकास संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में प्रारम्भ हो जाता है। देव-नारकी के तो अविरत अवस्था ही तक होती है। अर्थात् उनके सम्यग्दर्शन तक ही होती है, व्रत नहीं हो सकता। तिर्यगवस्था में अणुव्रत हो सकता है। अर्थात् तिर्यञ्च के पञ्चम गुणस्थान हो सकता है और मनुष्य के चतुर्दश गुणस्थान हो सकते हैं, वह मोक्ष का पात्र हो सकता है। मनुष्यों में विशेष शक्ति तथा ज्ञान के प्रकट होने की योग्यता है। मनुष्यों में गोत्र के दोनों भेद होते हैं। अर्थात् नीचगोत्र भी होता है और उच्चगोत्र भी। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये उच्चगोत्र वाले हैं और शूद्र नीच गोत्रवाला है। शूद्र के दो भेद हैं—एक स्पृश्य शूद्र और दूसरा अस्पृश्य शूद्र। स्पृश्य शूद्र क्षुल्लक तक का पद ग्रहण कर सकते हैं, उच्चगोत्र वाले उन्हें भक्तिपूर्वक दान देते हैं, उन्हें मन्दिर जाने का प्रतिबन्ध नहीं। रहे अस्पृश्य शूद्र, जिन्हें हरिजन कहते हैं, सो इनके भी व्रत प्रतिमा हो सकती है। ये १२ व्रत पाल सकते हैं, धर्म की भी अकाट्य श्रद्धा इन्हें हो सकती है, फिर इनको भी देवदर्शन से क्यों रोका जावे? चरणानुयोग क्या आज्ञा देता है, इसका तो हमें विशेष ज्ञान नहीं, परन्तु हृदय हमारा यह कहता है कि उनके साथ इतना वैमनस्य रखना अनुचित है वह भी आखिर मनुष्य हैं, उन्हें भी धर्म का मर्म समझाना चाहिये। वह भी धर्म समझकर हिंसादि पाप के त्यागी हो सकते हैं। ज्ञान के उपार्जन से ही धर्म का श्रद्धान हो सकता है।

श्रीमान् आचार्य शान्तिसागरजी महाराज वर्तमान काल में अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति हैं। उनके आदेशानुसार सम्पूर्ण दिगम्बर जैन जनता चलने को प्रस्तुत है। आपने हरिजन मन्दिर-प्रवेश बिल के कारण आजीवन अन्न त्याग दिया है, इससे सम्पूर्ण समाज बहुत ही खिन्न है। होना ही चाहिये।

इसी अवसर पर मैंने महाराज से निम्नाङ्कित निवेदन किया कि महाराज! मैं आपसे कुछ निवेदन करूँ, साहस नहीं होता किन्तु एक नम्र निवेदन है कि जब चतुर्गति के जीवों को सम्यक्त्व होता है तब मनुष्यगति में जन्म पानेवाले हरिजन भी उसके पात्र हैं तथा मनुष्य और तिर्यग्गति में जन्म लेनेवाले पञ्चम

गुणस्थानवर्ती भी होते हैं, तब क्या हरिजन इस गुणस्थान के पात्र नहीं हो सकते? यह तो करणानुयोग की कथा रही, परन्तु व्यवहार में चरणानुयोग के अनुसार मनुष्य पर्याय में जिसे देव, गुरु और शास्त्र की श्रद्धा हो, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जब यह व्यवस्था है, तब हरिजन भी इस श्रद्धा के पात्र हो सकते हैं, जब देव, शास्त्र और गुरु की श्रद्धा के पात्र हैं, तब देवदर्शन के अधिकारी क्यों नहीं हो सकते? जब देवदर्शन के अधिकारी हैं, तब फिर हरिजन मन्दिर-प्रवेश बिल पर इतनी आपत्ति क्यों? चरणानुयोग के अनुकूल मद्य, मांस, मधु का त्याग होना चाहिये, तब वे भी इस त्याग के पात्र हैं तथा जब गुरु की श्रद्धा के पात्र हैं, तब क्या वे हरिजन आपकी भी वन्दना के पात्र नहीं हो सकते हैं? यदि वे श्रद्धालु जहाँ पर आप तत्त्वोपदेश कर रहे हैं, आकर उपदेश को श्रवण करें तथा आपकी वन्दना करें, तो क्या नहीं आने देंगे? अत: यह सिद्ध होता है कि हरिजन भी देवदर्शन के पात्र हो सकते हैं, तब हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल पर इतनी आपत्ति क्यों?

धर्म तो जीव की निज परिणति है। उसका विकास संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में होता है। वह चारो गतिवाला जीव हो सकता है। वहाँ पर यह नहीं है कि अमुक व्यक्ति ही उसका पात्र है। यह अवश्य है कि भव्य, पर्याप्तक, संज्ञी जागृदवस्थावाला जीव होना चाहिये। हरिजनों में भी ऐसे जीव हो सकते हैं। हरिजनों में उत्पत्ति होने से वह इसका पात्र नहीं, यह कोई नहीं कह सकता। वे निन्द्य कार्य करते हैं, इससे सम्यग्दर्शन के पात्र न हों, यह कोई नियामक कारण नहीं? क्योंकि उच्च गोत्रवाले भी प्रात:काल शौचादि क्रिया करते हैं तथा यह कहो कि उस कार्य में हिंसा बहुत होती है, इससे वे सम्यग्दर्शनादि के पात्र नहीं, तब मिलवालों के जो हिंसा होती है— हजारों मन चमड़ा और चर्बी का उपयोग होता है, तदपेक्षा तो उनकी हिंसा अल्प ही है, अत: हिंसा के कारण वे दर्शन के पात्र नहीं, यह कहना उचित नहीं। यदि यह कहा जाय कि भोजनादि की अशुद्धता के कारण वे दर्शन के पात्र नहीं, तो प्राय: इस समय बहुत ही कम ऐसे मनुष्य मिलेंगे, जो शुद्ध भोजन करते हैं, अत: यह निर्णय समुचित प्रतीत होता है कि जो मनुष्य धर्म की श्रद्धा रखता हो, वह भी जिनदेव के दर्शन का पात्र हो सकता है। यह ठीक है कि उसके व्यवहार में शुद्ध वस्त्रादि होना चाहिये तथा मद्य, मांस, मधु का त्यागी होना चाहिये। व्यवहार धर्म की यह बात है।

निश्चयधर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। उसका तो यहाँ पर विवाद ही नहीं है, क्योंकि उसके पालन के प्रत्येक संज्ञी जीव पात्र हो सकते हैं। धर्म प्रत्येक प्राणी का

है। उसके बिना आत्मा जीवित नहीं रह सकता। त्रिकाल में उसका सद्भाव है। जैसे पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहते हैं, उसके बिना पुद्गल का अस्तित्व नहीं। इसी प्रकार आत्मा का धर्म दर्शन-ज्ञान है। इनसे शून्य आत्मा नहीं रह सकता, हाँ, यह अवश्य है कि स्पर्शादिक का परिणमन किसी रूप में हो, किन्तु सामान्य स्पर्शादिगुण के बिना जैसे उसके विशेष नहीं रह सकते, इसी प्रकार दर्शन-ज्ञान का परिणमन कोई रूप में हो, उनके बिना यह परिणमन विशेष नहीं रह सकता। जब यह व्यवस्था है, तब सर्व जीव दर्शन-ज्ञान के पात्र हैं। उनके अन्दर जो विकृति आ गई, उसका अभाव करना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिये। जब यह बात है, तब जैसे हम संज्ञी है और आत्महित चाहते हैं, ऐसे ही और मनुष्य भी, चाहे किसी जाति विशेष के हों, उन्हें भी आत्महित करने का अधिकार है। इसके सिवाय जब उनके वज्रर्षभनाराच संहनन हो सकता है और वे सप्तम नरक जाने का पापोपार्जन कर सकते हैं, तब उत्तम पुण्य उपार्जन कर ले, इसमें क्या क्षति है? पशुओं में मत्स्य सप्तम नकर जाता है, उसके दृष्टान्त से यह बाधित नहीं, क्योंकि मनुष्यपर्याय तिर्यक्पर्याय से भिन्न है। आगम में शूद्र के क्षुल्लक पर्याय हो सकती है, ऐसा विधान है, तब क्या लोग उसे आहार नहीं दे सकते? यह समझ में नहीं आता। यदि आहार दे सकते हैं, तो श्री जिनेन्द्रदेव के दर्शन के अधिकारी न हों, यह बुद्धि में नहीं आता। केवल हठवाद को छोड़कर अन्य युक्ति नहीं। धर्म तो आत्मा की उस निर्मल परिणति को कहते हैं, जिसमें अधर्म का लेश न हो। उस परिणति में तो पुण्य को भी हेय माना है, क्योंकि पुण्य से केवल स्वर्ग की प्राप्ति होती है और स्वर्ग में केवल भोगों की मुख्यता है— वे चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर नहीं जा सकते। आजन्म उसी गुणस्थान में रहते हैं। मनुष्य पर्याय ही संयम का मूल कारण है। संयम के उदय में ही यह जीव परवस्तु के त्याग का पात्र हो सकता है। सम्यग्दर्शन के होते ही अभिप्राय निर्मल हो जाता है। परवस्तु से भिन्न आत्मा को उसी समय जान जाता है। केवल चरित्रमोह के उदय से ऐसा संस्कार बैठा हुआ है जिससे पर को भिन्न जानकर भी यह जीव उसे त्यागने में असमर्थ रहता है। अस्तु,

समाचारपत्रों में बहुत विवाद चला। दोनों पक्ष के लोगों ने अपनी-अपनी बात लिखी। किसी ने किसी को बुरा लिखा और किसी ने किसी को। पदार्थ का स्वरूप जैसा है वैसा ही है। लोग अपनी-अपनी कषाय से प्रेरित हो उसे विवाद की भूमि बनाकर दुःखी होते हैं।

●

दिल्ली के शेष दिन

असौज वदी ४ सं० २००६ को मेरा जयन्ती उत्सव था, जिसमें उद्योगमन्त्री भी पधारे थे। आपने समयानुकूल अच्छा भाषण दिया। अनेक लोगों ने श्रद्धाञ्जलियाँ दीं, जिन्हें सुनकर मुझे बहुत संकोच उत्पन्न हुआ। श्री शान्तिप्रसादजी साहु प्रसिद्ध नररत्न हैं। आप बहुत ही नम्र तथा शान्त हैं। आपने एक लाख रुपया स्याद्वाद विद्यालय को देकर अमर कीर्ति का अर्जन किया। अब बहुत अंशों में विद्यालय की त्रुटि दूर हो गई। आशा है इनके दान से समाज भी चेतेगी। महाविद्यालय समाज का महोपकार कर रहा है। श्रीयुत रतनलालजी मादेपुरिया ने भी २१००) स्याद्वाद विद्यालय को दिये। ११) मासिक ब्याज देते जावेंगे और रुपये अपने यहाँ ही जमा रक्खेंगे। जब विद्यालय को आवश्यकता पड़ेगी, वापिस दे देवेंगे। परन्तु मेरी बुद्धि से यह बात यथार्थ नहीं, क्योंकि दान का रुपया दे देना ही श्रेयस्कर है। इसमें काल पाकर नकारा भी हो सकता है, क्योंकि द्रव्य अपने ही पास तो है। काल पाकर लोग बड़े-बड़े वायदे भी तबदील कर देते हैं। मैं इस दान को दान नहीं मानता। दान के मायने दत्त द्रव्य से ममत्व त्याग देना है। दान देकर उससे ममता रखना दान के परिणामों का विघात है। मनुष्य आवेग में आकर दान तो कर बैठता है और लोगों से धन्यवाद भी ले लेता है। पश्चात् जब अन्तरङ्ग से विचार करता है, तब व्यग्र होने लगता है। वह विचारता है कि मैंने बड़ी गलती की, जो रुपया दे आया। रुपये से संसार में मेरी प्रतिष्ठा है। इसके प्रसाद से बड़े-बड़े महान् पुरुष मेरे द्वार पर चक्कर लगाते हैं। कहाँ तक कहें, बड़े-बड़े विद्वान् भी इसकी प्रतिष्ठा करते हैं। प्राय: प्राचीन राजाओं की प्रशंसा में जो काव्य बने हैं, वे अधिकांश इसी द्रव्य की लालच में पड़कर बने हैं। अस्तु,

मैंने तो उत्सव में यही कहा कि संसार के प्राणिमात्र पर दया करो। हम लोग आवेग में आकर संसार के प्राणियों को नाना प्रकार से निग्रह करते हैं। हमारे प्रतिकूल हुआ उसे अपना शत्रु और अनुकूल हुआ उसे मित्र मान लेते हैं। वास्तव में न तो कोई मित्र है और न कोई शत्रु है। यही भावना निरन्तर आना चाहिये। वह भी इस उद्देश्य से कि आत्मा बन्धन से विनिर्मुक्त हो जावे। मनुष्य जन्म की सार्थकता संयम के पालने में हैं। संयम का अर्थ कषाय से आत्मा की रक्षा करना है। इसके लिये परपदार्थों से सम्पर्क त्यागो। यद्यपि परपदार्थ सदा विद्यमान रहेंगे,

क्योंकि लोक में सर्वपदार्थ व्याप्त है। इस तरह उनका त्यागना किस प्रकार बनेगा, यह प्रश्न उठता है तथापि उनमें जो हमारी आत्मीय कल्पना है, उसके त्याग से परपदार्थों का त्यागना बन जाता है। वे यथार्थ में दुःखदायी नहीं, किन्तु उनमें जो ममत्वभाव है, वही दुःखदायी है। राग-द्वेष आत्मा के सबसे प्रबल शत्रु हैं, उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये। 'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे' इस वाक्य से संतोष कर लेना अन्य बात है और पुरुषार्थ कर राग-द्वेष का निपात करना, अन्य बात है। राग-द्वेष कोई ऐसे वज्र नहीं जो भेदे न जा सकें। अपनी भूल से ये होते और अपनी बुद्धिमत्ता से विलीन हो सकते हैं। कायरता से इनकी सत्ता नहीं जाती। ये वैभाविकभाव हैं— आत्मा के क्लेशकारक हैं। इनके सद्भाव में आत्मा को बेचैनी रहती है। उसके अर्थ यह नाना प्रकार के उपाय करता है। उससे बेचैनी का ह्रास नहीं होता, प्रत्युत वृद्धि होती है।

स्पृश्यास्पृश्य की चर्चा लोग करते हैं, पर जैनधर्म कब कहता है कि तुम अस्पृश्यों को नीच समझो। तुम्हीं लोग तो अस्पृश्यों को जूठन खिलाते हो और यहाँ बड़ी-बड़ी बातें बनाते हो। नियम करो कि हम अस्पृश्यों को अपने जैसा भोजन देंगे, फिर देखो अपने प्रति उनका हृदय कितना पवित्र और ईमानदार रहता है। मैं अन्य की बात नहीं कहता, पर बाईजी की कहता हूँ। सागर की बात है। सावन, दीपावली आदि पर्वों के दिन बाईजी जो पेड़ा या पुड़ी मुझे खिलाती थीं वही अपनी मेहतरानी को खिलाती थीं। जब उनसे कोई कहता कि आप इसे पीछे का बचा हुआ रद्दी पेड़ा क्यों नहीं दे देतीं? तो वे उसे घुड़ककर उत्तर देती थीं कि क्या मैं इसे रोज देती हूँ? इसे अच्छा भोजन कब मिलेगा? एक बार संडास में बाईजी की सोने की चूड़ी गिर गई, पर बाईजी को पता नहीं। दूसरे दिन वह मेहतरानी अपने आप चूड़ी घर दे गई। हम सबको उसकी ईमानदारी पर आश्चर्य हुआ। मैं स्वयं एक बार रेशन्दीगिरि के मेले में तांगा से गया, साथ में और भी बहुत से तांगे थे। बाईजी ने मुझे चार पेड़े रख दिये, रास्ते में मैंने दो पेड़े तांगावाले को दिये और दो मैंने खाये। कच्ची रास्ता में धूल उड़ने लगी, मुझे कष्ट हुआ। मैंने नाक पर कपड़ा लगा लिया। तांगा वाले ने ज्यों ही देखा, झट से तांगा आगे ले गया। इससे साथवाले ने तांगेवालों से आगे ले जाने को कहा और साथ में इस बात की धमकी दी कि हमने भी तो तुम्हें उतना ही किराया दिया है। तांगेवाले ने कहा कि आपने किराया दिया, सो तो ठीक है, पर स्वयं भूखा रह कर दो पेड़े तो नहीं दिये? हृदय पर हृदय का असर पड़ता है। आप धोबी का धुला

कपड़ा उठाने में दोष समझते हैं, पर शरीर पर चर्बी से सने कपड़े बड़े शौक से धारण करते हैं। क्या यही जैनधर्म है? जैनधर्म पवित्रता का विरोधी नहीं, पर घृणा को वह कषाय अतएव हेय समझता है। क्या कहें, लोक बाह्य आचार में तो बाल की खाल निकालते हैं, पर अन्तरङ्ग को शुद्ध करने की ओर ध्यान ही नहीं देते। दिल्ली में हरिजन विषयक चर्चा हमारे अन्तरङ्ग की परीक्षा रही। पर मेरे मन में जो बात थी, वह व्यक्त कर दी। मैं तो इस पक्ष का हूँ कि प्राणीमात्र को धर्म-साधन का अधिकार है। पञ्च पाप त्यागने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य को है, क्योंकि जब उसकी आत्मा बुद्धिपूर्वक पाप करती है, तब उसे छोड़ भी सकती है। मन्दिर में आना न आना इसमें बाधक नहीं। आजकल सर्वत्र यही चर्चा हो रही है कि हरिजनों को मन्दिर नहीं जाने देना चाहिये, क्योंकि वे हरिजन हैं। अपवित्र हैं, पूर्वाचार्यों ने उन्हें अस्पृश्य बतलाया है। अस्पृश्य का अर्थ यह है कि उनको स्पर्श कर स्नान करना पड़ता है। यहाँ प्रश्न होता है कि वे आखिर अस्पृश्य क्यों हैं? ये मदिरापान करते हैं, इससे अस्पृश्य हैं, या हम लोगों के द्वारा की हुई गन्दगी को स्वच्छ करते हैं, इसलिये अस्पृश्य हैं, या शरीर से मलिन रहते हैं, इससे अस्पृश्य हैं, या परम्परा से हम उन्हें अस्पृश्य मानते आ रहे हैं इससे अस्पृश्य हैं? यदि वें मदिरापान से अस्पृश्य हैं, तो लोक में बहुत से उच्चकुलीन भी मदिरापान आदि करते हैं, वे भी अस्पृश्य होना चाहिये। यदि गन्दगी को स्वच्छ करने से अस्पृश्य हैं, तो प्रत्येक मनुष्य गन्दगी साफ करता है, वह भी अस्पृश्य हो जावेगा। यदि शरीर की मलिनता अस्पृश्यता का कारण है, तो बहुत से उत्तम कुल वाले भी शरीर की मलिनता से अस्पृश्य हो जावेंगे। यदि उनमें मलिनाचार की बहुलता, उनकी अस्पृश्यता में साधक है, तो यह बहुत उत्तम कुलों में भी पाई जाती है। विरले-विरले उत्तम कुल वाले तो इतना पापाचार करते हैं, जितना नीच कुलवाले भी नहीं कर सकते। इससे सिद्ध होता है कि चाहे ऊँच हो या नीच, जिसमें पापाचारमय प्रवृत्ति है, वही कल्याण के मार्ग से दूर है। यदि आज शूद्र पञ्चपाप का त्याग कर देवें, तो वह भी अणुव्रती हो सकते हैं तथा अन्तरङ्ग से जिनेन्द्रदेव की भक्ति के पात्र हो सकते हैं। ब्राह्मण मर कर नरक जा सकता है और चाण्डाल मर कर स्वर्ग में देव हो सकता है।यह तो अपनी अन्तरङ्ग परिणति की निर्मलता के ऊपर निर्भर है। इस निर्मलता को रोकने का किसी को अधिकार नहीं। खेद इस बात का है कि जो अपने को उच्च वर्णवाले मानते हैं, उन्हीं ने नीच कहे जाने वाले लोगों की पवित्रता का अपहरण किया

है। इसी का फल है कि उच्च वर्ण वाले ऊपर से उच्च वर्ण हैं, पर भीतर से उनमें उच्चता के दर्शन नहीं होते। अस्तु, अप्रासङ्गिक चर्चा आ गई, परमार्थ की बात तो यह है कि शुद्ध चित्त के लिये शुद्ध आत्मा को जानो। शुद्ध ज्ञान वह है, जिसमें रागादिभाव की कलुषता न हो। शत्रु रागादिक ही हैं, अन्य कोई नहीं, रागादि के अनुकूल परपदार्थ होता है, तब तो उसकी रक्षा का प्रयत्न होता है और रागादि के प्रतिकूल होने से उसके नाश के लिये प्रयत्न करने की सूझती है। इस परिणति को धिक्कार ही देना चाहिये।

जयन्ती का उत्सव समाप्त हुआ, लोग अपने-अपने घर गये। एक दिन साहु शान्तिप्रसादजी ने भारतीय ज्ञानपीठ बनारस के लिये दस लाख रुपये के शेयर प्रदान किये और उससे सम्बद्ध कागजों पर मैंने हस्ताक्षर कर दिये। हस्ताक्षर तो कर दिये, पर जब विचार किया, तब मुझे लगा कि मैंने महती भूल की। उचित यही था कि चाहे कुछ हो, परिग्रह के विषय में कुछ भी नहीं करना चाहिये। अस्तु, जो हुआ, सो ठीक है, अब ऐसे कार्यों में उपयोग नहीं लगाना चाहिये..... यह विचार स्थिर किया। यथार्थ में कल्याण का मार्ग तो निराकुलता में है। जहाँ आकुलता है, वहाँ शान्ति नहीं। हमारी प्रवृत्ति आजन्म प्रवृत्तिमार्ग में लग रही है, अतः निरीहमार्ग की ओर जाना अतिकठिन है। धन्य है, उन महापुरुषों को जिनकी प्रवृत्ति निर्दोष रहती है।

चित्तवृत्ति निरन्तर कलुषित रहे, यह महान् पाप का उदय है। जब परिग्रह का सम्बन्ध नहीं, तब कलुषित होने का कोई कारण ही नहीं। वास्तव में देखा जावे, तो हमने परिग्रह त्यागा ही नहीं। जिसको त्यागा है, वह तो परिग्रह ही नहीं। वे तो पर पदार्थ हैं, उनको त्यागना ही भूल है, क्योंकि उनका आत्मा से सम्बन्ध ही नहीं। आत्मा तो दर्शन-ज्ञान-चरित्र का पिण्ड है। उसमें मोह के विपाक से कलुषता आती है, जो कि चारित्रगुण की विपरिणाति—विरुद्ध परिणति है, उसे ही त्यागना चाहिये। उसका त्याग यही है कि वह होवे, इसका विषाद मत करो तथा उसमें निजत्व कल्पना न करो।

चित में न जाने कितने विकल्प आते हैं, जिनका कोई भी प्रयोजन नहीं। प्रत्येक मनुष्य के यह भाव होते हैं कि लोक में मेरी प्रतिष्ठा हो। यद्यपि इससे कोई लाभ नहीं, फिर भी न जाने लोकैषणा क्यों होती है? सर्व विद्वान् निरन्तर यह घोषणा करते हैं कि संसार असार है। इसमें एक दिन मृत्यु का पात्र होना पड़ेगा।

पर असार का कुछ अर्थ ही समझ में नहीं आता। मृत्यु होगी, इसमें क्या विशेषता है? इससे वीतराग तत्त्व को क्या सहायता मिलती है, कुछ ध्यान में नहीं आता। मुझे तो लगने लगा है कि बहुत बोलना, जिस प्रकार आत्मशक्ति को दुर्बल करने का कारण है, उसी प्रकार बहुत सुनना भी आत्मशक्ति के ह्रास का कारण है। आगमाभ्यास भी उतना सुखद है, जितना आत्मा धारण कर सके। बहुत अभ्यास यदि धारणा से रिक्त है, तो जैसे उदराग्नि के बिना गरिष्ठ भोजन लाभदायक नहीं, वैसे ही वेद अभ्यास भी लाभदायक नहीं, प्रत्युत हानिकारक है। यद्वा-तद्वा मनुष्यों से वार्तालाप करना उचित नहीं। धर्म के अर्थ शरीर-दण्डन की आवश्यकता नहीं। शरीर न तो धर्म का कारण है और न अधर्म का। इससे उपेक्षा रखना ही श्रेयस्कर है। संसार आज नाना प्रकार के संकटों में जा रहा है, इसका मूल कारण परिग्रह है। सर्व पापों का मूल कारण परिग्रह ही है। 'मूर्छा परिग्रहः— 'ममेदं बुद्धिलक्षणम्' यही परिग्रह का स्वरूप है। संसार का कारण परिग्रह ही है। परिग्रह का अर्थ मोह-राग-द्वेष है, यही संसार है और यही दुःख का मूल कारण है।

आसौज सुदी ८ का दिन था। दरियागंज में शान्ति से स्वाध्याय कर रहा था कि एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने सुनाया कि— 'आचार्य शान्तिसागर जी ने कहा है कि यदि वर्णी का मत हरिजन के विषय में हमारे मन्तव्यानुकूल नहीं, तब वे इसमें मौन धारण करें। यदि कुछ बोलेंगे, तब उनके हक्क में अच्छा न होगा, अर्थात् उनको जैन दिगम्बर मतानुयायी अपने सम्प्रदाय बल से पृथक् कर देवेंगे'।

इसका तात्पर्य यह है कि दिगम्बर जैन उन्हें आदर की दृष्टि से न देखेंगे। मैंने यह विचार किया कि मनुष्यों की दृष्टि से कुछ कल्याण तो होता नहीं और न मनुष्यों की दृष्टि में आदर पाने के लिए मैंने वीतराग जिनेन्द्र का धर्म स्वीकार किया है। मेरा तो विश्वास है कि जैनधर्म किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं, तब धर्म साधन के जो अङ्ग हैं, वे क्यों सर्वसाधारण के लिये उपयोग में आने से रोके जाते हैं? कल्पना करो, कोई हरिजन जैनधर्म का श्रद्धालु बन गया, तब उसे क्या ये लोग श्रावक के अनुकूल क्रिया नहीं करने देंगे? यदि नहीं करने देंगे, तो निश्चय ही उन्होंने उसे धर्म से वञ्चित किया, यह समझना चाहिये। धर्म तो आत्मा की परिणति है, उसे कोई रोक नहीं सकता। एक दो नहीं सब मिलकर भी मेरी वीतराग धर्म से श्रद्धा को दूर नहीं कर सकते। लोकैषणा की मुझे अभिलाषा नहीं है। मैनें विचार किया कि अच्छा हुआ कि एक आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त हुए।

असौज सुदी में प्रात:काल ७ बजे चलकर ८ बजे न्यू दिल्ली आ गये। नसियाजी में ठहरे। स्थान रम्य है। यहाँ से एक फर्लांग दूर पर श्री मन्दिरजी हैं। बहुत ही रम्य मन्दिर है। बीच में एक वेदिका है। उसमें श्रीजिनेन्द्रदेव का बिम्ब है। इसके अतिरिक्त लगभग १०० गज पर दूसरा जिन मन्दिर है, जो खण्डेलवालों का है। बहुत ही रम्य है। चौक में नीम का वृक्ष है। बहुत ही ठंडा है। स्थान उत्तम है, परन्तु धर्म साधन करनेवाला कोई नहीं। यहाँ पर यदि अनुसन्धान विभाग खोला जावे तो उन्नति हो सकती है, परन्तु न तो कोई महापुरुष ऐसा है जो इस कार्य में उत्साह दिखावे और न कोई करनेवाला है। एक दिन फिर भी यहाँ आये, प्रवचन हुआ, जनता अच्छी थी, प्राय: सर्व अंग्रेजी विद्या में पटु हैं, साथ ही धार्मिक रुचि अच्छी रखते हैं। हमारे साथ खुले भावों से व्यवहार किया तथा यह प्रतिज्ञा ली कि सांयकाल शास्त्र-प्रवचन करेंगे।

एक दिन क्षुल्लक पूर्णसागरजी रुष्ट होकर चले गये। यहाँ पर खलबली मच गई कि वर्णीजी से रुष्ट होकर चले गये। वर्णीजी ने कुछ कहा होगा, ऐसा अनुमान लोगों ने लगाया। परन्तु, मैंने तो कुछ कहा भी नहीं, संसार की गति विचित्र है, जो चाहे सो आरोप करे। इतना अवश्य था कि इनके समागम से निरन्तर क्लेश रहता था। आप आहार के बाद श्रावकों से केन्द्रीय समिति के नाम पर प्रेरणा कर दान कराते, जिसकी लम्बी-चौड़ी स्कीम कुछ समझ में नहीं आती। क्षुल्लक वृत्ति तो नि:स्पृह है। उसे दान आदि कराकर, उसके व्यवस्थापक बनना शोभास्पद नहीं है। वास्तव में इनकी प्रकृति अपने से मिलती नहीं। २ घण्टा बाद पं०चन्द्रमौलिजी आये, तब चित्त को संतोष हुआ।

आसौज समाप्त हुआ। कार्तिक वदी १ को सागर से सिंघई कुन्दनलालजी आये। बहुत ही स्नेह जनाया। अन्ततो गत्वा नेत्रों से अश्रुपात आ गये। प्राचीन स्मृति करते-करते कई घण्टा बिता दिये। आपका निरन्तर यही कहना था कि सागर चलिये। वहाँ आपको सर्व प्रकार से शान्ति मिलेगी। मुझे उनकी स्नेह-दशा देख, ऐसा लगा जैसे इस व्यक्ति के साथ जन्मान्तर का स्नेह हो। मैंने उनसे यही कहा कि अब सर्व उपद्रवों का त्याग कर आत्महित में लगो। स्नेह ही संसार बन्धन का कारण है। हमारा और आपका जीवन भर स्नेह रहा। अब अन्तिम समय है, अत: स्नेह बन्धन तोड़ कर आत्महित की ओर दृष्टि देना श्रेयस्कर है।

कार्तिक वदी ३, २००६ को लालमन्दिर में शास्त्रप्रवचन हुआ। पं०श्री शीतलप्रसाद जी का भाषण बहुत रोचक हुआ। कुछ हो, जो आनन्द वक्ता को आता है, वह श्रोताओं को नहीं आता। वह अपने में तन्मय हो जाता है। उपदेश देने की आकांक्षा शान्त होने पर वक्ता को शान्ति मिलती है। शान्ति का मूल कारण कषाय का अभाव है। कषायाग्नि के शान्त करने के लिये आवश्यकता इस बात की हैं कि पर पदार्थों से सम्बन्ध छोड़ा जावे।

रोहतक से श्री नानकचन्द्र जी आये। आपके साथ अन्य ४ प्रतिष्ठित व्यक्ति भी थे। आपका आग्रह था कि रोहतक चलिये, परन्तु मैंने उत्तर दिया कि विचार पूर्व की ओर जाने का है। गिरिराज श्री सम्मेदशिखरजी पर पहुँचने की उत्कण्ठा बलवती है। इसलिये वे निराश हो गये। हमारे मन में बार-बार यही भाव आता था कि अब हमें व्यवहारमार्ग में नहीं पड़ना चाहिए। व्यवहार में पड़ना ही आत्मकल्याण का बाधक है। जहाँ पर के साथ सम्बन्ध हुआ, वहीं संसार का पोषक तत्त्व आ गया, इसी का नाम आस्रव है।

एक दिन पं०महेन्द्रकुमारजी और पं०फूलचन्द्रजी बनारसवालों का शुभागमन हुआ। कुछ चर्चा हुई। चर्चा मे पं०राजेन्द्र कुमार जी तथा स्वामी निजानन्दजी भी थे। कुछ निष्कर्ष न निकला। आगम का प्रमाण ही सब कहते हैं, किन्तु शान्तिपूर्वक वाक्यविन्यास नहीं होता। विवाद हरिजन समस्या का है। एक पक्ष तो यह कहता है कि हरिजन जैन मन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकता और एक कहता है कि भगवान् महावीर का यह संदेश है कि प्राणीमात्र धर्मधारण का पात्र है। मुझे इस विवाद से आनन्द नहीं आया। आजकल मानवों में सहनशक्ति नहीं, तत्त्वचर्चा में अनापशनाप शब्दों का प्रयोग करने में संकोच नहीं। धर्म को पैतृक सम्पत्ति मान रक्खा है तथा उसमें अन्य को प्रवेश करने का हक्क नहीं, कुछ समझ में नहीं आता। अस्तु, लोग अपनी-अपनी दृष्टि से ही तो पदार्थ को देखते हैं। मैंने विचार किया कि यद्वा तद्वा मत बोलों, वही बोलो जिससे स्वपरहित हो। यों तो पशु-पक्षी भी बोलते हैं पर उनके बोलने से क्या किसी का हित होता है। मनुष्य का बोल बहुत कठिनता से मिलता है।

यहाँ क्षुल्लक चिदानन्दजी भी थे। इन्होंने जैन शास्त्रों को सस्ते मूल्य में प्रकाशित कराने के लिए एक सस्ती ग्रन्थमाला का आयोजन किया और उसके द्वारा कई ग्रन्थों का प्रकाशन भी हुआ। जनता ने इस कार्य के लिये द्रव्य भी

अच्छा दिया, पर कार्य तो व्यवस्था से ही स्थायी हो सकता है, भावुकता से नहीं। मेरे मन में रह रहकर यही विचार घर करता गया कि पर से संसर्ग करना ही पाप का मूल है। जब अन्य द्रव्य स्वाधीन हैं तब पर से सम्बन्ध जोड़ना ही दुःख का बीज है। अनादि से आत्मा ने इसी रोग को अपनाया और उससे जो जो दुर्दशा इस जीव की हुई वह किसी से गुप्त नहीं— सबको अनुभूत है। पर का वेदन ही दुर्दशा का मूल कारण है। जिन्हें इन दुर्दशाओं से अपने को बचाना है, उन्हें उचित है कि इन पर, पदार्थों का सम्पर्क त्याग दें, एकाकी होने का अभ्यास करें। जहाँ तक मनुष्य की मनुष्यता पर आँच नहीं आती वहाँ तक परपदार्थ का सम्बन्ध रहे परन्तु निज न माने। मनुष्यता वह वस्तु है, जो आत्मा को संसारबन्धन से मुक्त करा देती है। अमानुषता ही संसार-दुःखों की जननी है। मनुष्य वह जो अपने को संसार-के कारणों से सुरक्षित रक्खे। मनुष्य वही है, जो कुत्सित परिणामों में स्वात्मरक्षा करे। केवल गल्पवाद से आत्मा की शुद्धि नहीं। शुद्धि का कारण निर्दोष दृष्टि है। हे भगवान्! (हे आत्मन्) तुम भगवान् होकर भी क्यों पतित हो रहे हो?

एक दिन नये मन्दिर में सतघरे की कन्या पाठशाला का वार्षिकोत्सव था। चारों क्षुल्लक वहाँ विराजमान थे। २०० छात्राएँ व महिलाएँ उपस्थित थीं। १ कन्या ने बहुत जोरदार शब्दों में व्याख्यान दिया। सुनकर सर्व जनता प्रसन्न हुई। पूर्णसागर महाराज ने २५००) जो उनके पास भारतवर्ष की स्कीम का है, उसमें से दिया तथा उन्होंने अपील की, जिससे ३०००) और भी हो गया।

अमावस्या के दिन वीर निर्वाणोत्सव था। जनसमुदाय अच्छा था, परन्तु कुछ नहीं निकला और न निकलने की सम्भावना है। बोलना बहुत और काम कुछ न करना, यह आज के मानवों की वस्तु स्थिति है। गल्पवाद से कुछ कल्याण नहीं होता। कर्तव्यवाद से च्युत रहना जिसको इष्ट है, वही गल्पवाद का रसिक है। आगामी दिन वीरसेवा मन्दिर की कमेटी हुई, जिसमें उसके स्थायित्व तथा दिल्ली में आने विषय पर विचार हुआ।

दिल्ली के चातुर्मास का यह मेरा अन्तिम दिन था, इसलिये बहुत लोग आये। महासभा के मन्त्री परसादीलालजी आये। आप शान्त पुरुष हैं, किन्तु आजकल की परिस्थिति पर पूर्ण रीति से विचार नहीं करते। कुशल हैं और प्राचीनता के ऊपर बहुत बल देते हैं। प्राचीनता उत्तम हैं, किन्तु उसका जो धार्मिक

भाव है, उस पर गम्भीर दृष्टि से विचारना चाहिये। धर्म पर किसी जाति-विशेष का अधिकार नहीं। प्रत्येक मनुष्य धर्मात्मा हो सकता हैं। जिन्हें हम अस्पृश्य शूद्र कहते हैं, वे भी पञ्चपापों का मूल जो मिथ्याभाव उसे छोड़कर पञ्चपाप का त्याग कर सकते हैं। यदि वे चाहें, तो हम लोग जैसा शुद्ध भोजन करते हैं, वे भी कर सकते हैं।

हम दिल्ली में आनन्द से ३ माह २४ दिन रहे, सर्व प्रकार की सुविधा रही। यहाँ पर जनता में धर्म-श्रवण का अच्छा उत्साह रहा। समय-समय पर अनेक वक्ताओं का यहाँ समागम होता रहता था। दिल्ली भारत की राजधानी होने से व्याख्यान सभाओं में मनुष्य-संख्या पुष्कल रहती थी। यहाँ के व्याख्याता मुख्य में थे— श्रीनिजानन्दजी क्षुल्लक, श्रीपूर्णसागरजी क्षुल्लक तथा श्रीचिदानन्द जी क्षुल्लक। मैं वृद्धावस्था के कारण बहुत कम भाग ले पाता था। त्यागियों में श्रीचांदमल्ल जी साहब उदयपुर का भी अच्छा प्रभाव था। पण्डितों में श्री राजेन्द्र कुमारजी संघ-मन्त्री का व्याख्यान अति प्रभावक होता था। दशलक्षणपर्व के ६ दिन बड़ी शान्ति से बीते। ६वें दिन न जाने हरिजन की चर्चा ने कहाँ से प्रवेश किया, जो सर्व गुड़ मिट्टी हो गया और मेरे मत्थे यह टीका मढ़ा गया कि वर्णीजी हरिजन प्रवेश के पक्षपाती हैं। यद्यपि मैं न तो पक्षपाती हूँ और न विरोधी हूँ किन्तु आत्मा ने यही साक्षी दी कि जो मन में हो, सो वचनों से कहो। यदि नहीं कह सकते, तो तुमने अब तक धर्म का मर्म ही नहीं समझा। अनन्तानन्त आत्मायें हैं, परन्तु लक्षण सबके नाना नहीं, एक ही है। भगवान् उमास्वामी ने जीव का लक्षण उपयोग माना है। भेद अवस्थाप्रयुक्त है, अवस्था परिवर्तनशील है। एक दिन हम बालक थे, अवस्था परिवर्तन होते-होते आज वृद्ध अवस्था को प्राप्त हो गये..... यह तो शारीरिक परिवर्तन हुआ, किन्तु आत्मा में भी परिवर्तन हुआ। एक दिन ऐसा था जब दिन में १० बार पानी और ५ बार भोजन करते हुए भी संकोच न करते थे, पर आज एक बार जल और भोजन ग्रहण करके सन्तोष करते हैं। कहने का तात्पर्य है कि सामग्री के अनुकूल प्रतिकूल मिलने पर पदार्थों में परिणमन होते रहते हैं। आज जिनको हम अपवित्र और नीच सम्बोधन से पुकारते हैं, वे ही मनुष्य यदि उत्तम समागम पा जावें, तो उत्तम विचार के हो सकते हैं, अन्यथा जो दशा उनकी हो रही है, वह किसी से गुप्त नहीं। आगम में गृध्र पक्षी को व्रती लिखा है। वह मृत्यु पाकर स्वर्ग कल्पवासी देव हुआ। देव ही नहीं, श्रीरामचन्द्र को मृत भ्रातृ का मोह दूर करने में निमित्त भी हुआ।

कार्तिक सुदी २ को दिन के २ बजे दिल्ली से सहादरा के लिये प्रस्थान कर दिया। मार्ग में अत्यन्त भीड़ थी, लोगों को विशेष अनुराग था। सहस्त्रों स्त्री-पुरुषों के अश्रुपात आ गया। पुलतक सर्व भीड़ रही। बाद में क्रम-क्रम से कम होती गई। हम लोग ५ बजे सहादरा पहुँच गये। भारत बैंक के मैनेजर श्री राजेन्द्रप्रसादजी भी आये, भद्र पुरुष हैं। मोह की महिमा अपरम्पार है। बहुत से मानव तो बहुत ही दु:खी हुए। चार माह के सम्पर्क ने मनुष्यों के मन को मोहयुक्त कर दिया। इसीलिये पृथक् होते समय उन्हें दु:ख का अनुभव हुआ।

दिल्ली से हस्तिनागपुर

प्रातःकालिक क्रियाओं से निवृत्त हो, मन्दिर में शास्त्रप्रवचन के अर्थ गये। वहाँ पर दिल्ली से ५० नर-नारी आ गये। वही राग का आलाप, कोई अन्य बात नहीं थी। बहुत मनुष्यों का कहना था कि आप दिल्ली लौट चलें, जो कहो सो कर देवें। पर हमको तो कुछ करवाना नहीं, भूलभुलैया में फँसकर क्या करता? यहाँ से चलकर गाजियाबाद आये। भोजन के बाद १ बजे से ३ बजे तक सभा हुई। यहाँ पर एक वर्णी शिक्षा मन्दिर की स्थापना हुई। यहाँ से २।। मील चल वेगमाबाद स्टेशन से १ फर्लाङ्ग सड़क पर ठहर गये। यहाँ पर एक शरणार्थी पंजाबी मनुष्य बड़ा भला आदमी था। भोजनादि के लिये आग्रह किया। अभी अन्य मतावलम्बियों में साधु पुरुष का महान् आदर है। जैनधर्म प्राणीमात्र का कल्याण करनेवाला है। जैन कहने को तो कहते हैं कि हम जिन भगवान् के उपासक हैं, परन्तु उनके मार्ग का आदर नहीं करते। यहाँ से ५ मील चल कर मुरादनगर की धर्मशाला में ठहर गये। धर्मशाला उत्तम थी, रात्रि को हम लोग तत्त्व-विचार करते रहे। वास्तव में अन्तरङ्ग की वासना की ओर ध्यान देना चाहिये। यदि अन्तरङ्ग वासना शुद्ध है, तो सब कुछ है। अनादि काल से हमारी वासना पर पदार्थों में ही निजत्व की कल्पना कर असंख्य प्रकार के परिणामों को करती है। वे परिणाम कोई तो रागात्मक होते हैं और कोई द्वेषरूप परिणम जाते हैं। जो रुच गये, उनमें राग और जो प्रतिकूल हुए, उनमें द्वेष करने लगते हैं।

मुरादनगर से ४ मील चलकर मोदीनगर आये। यहाँ पर भोजन हुआ। यहाँ से ४ मील चलकर एक स्टेशन पर स्कूल में ठहर गये। वहाँ स्कूल के हेडमास्टर अत्यन्त भद्र थे। बहुत से छात्र यहाँ पर थे, उनमें दो छात्र शरणार्थी थे। उनके चेहरे पर कुछ औदासीन्य था। पूछने पर कारण मालूम हुआ कि जब वे पंजाब से आये, तब उनके कुटुम्ब के मनुष्य वहीं पाकिस्तानी मुसलमानों के द्वारा कत्ल कर दिये गये। हमने एक-एक कुरता की खादी उन्हें श्री हुकमचन्द्रजी सलावा द्वारा दिला दी तथा हुकमचन्द्र जी ने ५) मासिक राजकृष्णजी द्वारा दिलाया। वे बहुत प्रसन्न हुए। यहाँ से चलकर मेरठ से २ मील पर १ सरोवर था, वहीं भोजन किया। तदनन्तर २ मील चलकर मेरठ पहुँच गये। यहाँ बोर्डिंग में निवास हुआ। अनेक नर-नारी स्वागत के लिये आये। मनुष्य धर्म का आदर करता है

और धर्म का आदर होना चाहिये, क्योंकि वह निज वस्तु है तथा पर की निरपेक्षता ही से होता है। हम अनादि से जो भ्रमण कर रहे हैं उसका मूल कारण यह है कि हमने आत्मीय परिणति को नहीं माना। बाह्य पदार्थों के मोह में आकर राग-द्वेष सन्तति को उपार्जन करते रहे और उसका जो फल हुआ वह प्राय: सबके अनुभवगम्य है।

आज कार्तिक सुदी ८ सं० २००६ का दिन था। प्रात:काल मेरठ के मन्दिर में शास्त्रप्रवचन हुआ। श्री हुकुमचन्द्रजी सलावा ने भोजन कराया। दिनभर मनुष्यों का समागम रहा, केवल गल्पवाद में दिन गया। दिल्ली से लाला जैनेन्द्रकिशोरजी का शुभागमन हुआ। आप बहुत ही सज्जन हैं, श्री प्रेमप्रसादजी से बातचीत हुई, बहुत ही सज्जन हैं। श्री लाला फिरोजीलालजी दिल्ली से आये। बहुत उदार और योग्य हैं। आपका धर्मप्रेम सराहनीय है। यहाँ से प्रात:काल की क्रियाओं से निवृत हो मिल मन्दिर में स्वाध्याय किया। यहाँ से ३ मील चल कर, तोपखाना आ गये, यहीं पर भोजन किया, यहाँ पर मन्दिर बहुत ही सुन्दर है, पत्थर का दरवाजा बहुत मनोहर है, अन्दर भी उत्तम पत्थर लगा है। २ घण्टा यहाँ पर बिताये। बहुत से मनुष्य मिलने आये। २० आदमी और महिलायें गुजरात प्रान्त के आये। धार्मिक मनुष्य थे, शिखरजी की यात्रा को जा रहे थे, लोग सरल प्रकृति के थे, यू०पी० के मनुष्य चञ्चल होते हैं। तोपखाना से ३ मील चलकर एक चक्की पर ठहर गये। सानन्द रात्रि बीती। प्रात:काल प्रवचन हुआ, भोजन के बाद यहाँ से चलकर ४ मील पर १ धर्मशाला में ठहर गये। यहाँ से ३ मील चलकर, छोटे मुहाना आ गये। स्कूल में ठहरे, प्रात:काल प्रवचन हुआ, बहुत कुछ तत्त्व चर्चा हुई। कार्तिक सुदी ११ को प्रात: ५ बजे मवाना आ गये, मन्दिर में प्रवचन हुआ, प्रकरण राम और रावण के युद्ध का था, अन्याय का जो फल होता है, वही हुआ। रावण मृत्यु को प्राप्त हुआ, श्रीरामचन्द्रजी महाराज की विजय हुई। रावण रावण था, पर आज रावण के दादा पैदा हो गये हैं। रावण तो सीता के सम्पर्क से दूर रहा, केवल अपनी दुर्भावना के ही कारण कुगति का पात्र हुआ, पर आज तो ऐसे-ऐसे मानव विद्यमान हैं, जिन्होंने परस्त्री के चक्र में पड़कर अपना सर्वस्व खो दिया। यहाँ से १ बजे चलकर ४ मील पर एक बाग में ठहर गये। बाग १ मील का था, परन्तु ऊजड़ था, कोई प्रबन्ध नहीं। दूसरे दिन प्रात:काल श्रीहस्तिनागपुर आ गया। स्थान शान्ति का रत्नाकर है, परन्तु मेला की भीड़-भाड़ के कारण उस समय शान्ति दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी।

कार्तिक सुदी १४ सं० २००६ को उत्तर प्रान्तीय गुरुकुल का उत्सव हुआ, किन्तु जब अपील इुई, तब विशेष सफलता नहीं हुई, केवल सात हजार रुपया हुआ। इसका मूल कारण, इस प्रान्त में जितने जैन लोग हैं, सबकी प्रवृत्ति अंग्रेजी पढ़ाने की है। आचरण भी प्राय: धर्म के अनुकूल नहीं। भोजनादि में शिथिलता रहती है, वेषभूषा अपनी योग्यता और कुल मर्यादा के प्रतिकूल है। पूर्णिमा को प्रात:काल मण्डप में प्रवचन हुआ। ९ बजे के बाद कमेटी के मेम्बरों में कुछ वैमनस्य था, वह दूर हो गया। उसके बाद मन्दिर गये, शुद्धि करने के बाद भोजन के लिए निकले। भोजनगृह में निर्विघ्न प्रवेश किया, पर ज्यों ही भोजन प्रारम्भ किया, त्यों ही दूध का ग्रास लेने के बाद उसमें तिरूला निकल आया। अन्तराय आ गया। लोगों को विकलता हुई। आज अपराह्नकाल में श्रीजी का रथ निकला। बीस हजार के करीब भीड़ थी, बड़ी भक्ति से रथ निकाला गया, मनुष्यों में बहुत उमंग थी। दूसरे दिन प्रात:काल प्रवचन हुआ, मनुष्यों का समुदाय अच्छा था। गुरुकुल को कुछ चन्दा भी हो गया। लोगों में उत्साह की त्रुटि नहीं, किन्तु योग्य नेता की कमी है। श्रीमास्टर उग्रसेनजी इसके कार्य करने में अग्रसर हुए और सम्भव है इनके प्रयास से गुरुकुल की पूर्ति हो जावे।

गुरुकुल का नवीन भवन बनकर तैयार था, अत: मगसिर वदी २ को ९ बजे उसका उद्घाटन हुआ। मास्टर उग्रसेनजी ने अति मार्मिक व्याख्यान दिया। लोगों के हृदय में अति उत्साह हुआ, हमारे चित्त में भी संस्था के उत्कर्ष के अर्थ में बहुत उद्वेग हुआ, परन्तु हम पराधीन थे, क्योंकि हमने यह निश्चित विचार कर लिया था कि एक बार श्रीपार्श्वप्रभु के निर्वाण क्षेत्र के दर्शन अवश्य करना, किसी के चक्र में न आना। चाहे २ मील ही क्यों न चला जावे। कल्याण का मार्ग निरीह वृत्ति है। आराधना करो, परन्तु फल की इच्छा न करो। धीरे-धीरे जब समुदाय अपने-अपने घर चला गया, अत: वातावरण शान्त हो गया। मगसिर बदी ३ को प्रात:काल सानन्द स्वाध्याय हुआ। भोजन करने के उपरान्त १ घण्टा आराम कर सामायिक किया, तदनन्तर २।। बजे चलकर ३ मील के बाद गणेशपुर में आ गये।

इटावा की ओर

सामायिक आदि करके परस्पर कुछ चर्चा हुई। तदनन्तर सो गये। १२।। बजे निद्रा भङ्ग हो गई, आधा घण्टा कुछ विचार किया, पश्चात् कठिनता से

निद्रा आयी। उस समय यह विचार मन में आया कि जिनके पास वस्त्र नहीं, ऐसे गरीब लोग कैसे रात्रि व्यतीत करते होंगे? तब यही मन में आया कि उनकी आशा वश हो जाती है। आशा ही तो समस्त दु:खों का कारण है, जिसने आशा पर विजय पा ली, उसने जगत.को जीत लिया। दूसरे दिन प्रात:काल गणेशपुर से चलकर ८।। बजे मवाना आ गये। मन्दिर में स्वाध्याय के बाद भोजन किया। २ बजे से संस्कृत कालेज में प्रिंसिपल साहब के आग्रह से गये। बहुत ही योग्य पुरुष हैं। आधा घंटा आपका व्याख्यान हुआ। आध्यात्मिक शिक्षा के बिना लौकिक शिक्षा कुछ अर्थकारी नहीं। चौथाई घंटा मैंने भी इसी विषय पर कुछ कहा। पश्चात् यहाँ से चलकर ५ बजे मुहाना आ गये और स्कूल में ठहर गये। दूसरे दिन छोटे मुहाने से ३ मील चलकर एक गाँव में ठहर गये। दिल्लीवाले छुट्टनलाल मैंदावालों के यहाँ भोजन किया। बहुत ही योग्य व्यक्ति हैं। यहाँ से ५ मील चलकर चक्की पर ठहर गये और वहाँ रात्रि भर रहे। रात्रि सानन्द बीती। मन में भाव आया कि 'अन्तरङ्ग की निर्मलता के बिना बाह्य निर्मलता वकवेष के समान है। तोता, राम राम रटता है, परन्तु उसका तात्पर्य नहीं समझता, अत: जो कुछ रटो उसको समझो। समझो के मायने तदनुसार प्रवृत्ति करो।' यहाँ से ३ मील चलकर तोपखाना आ गये। यहीं पर भोजन किया। मध्याह्नोपरान्त शास्त्र-प्रवचन किया। लोग शांतिपूर्वक सुनते रहे।

सर्व मनुष्य सुख चाहते हैं, परन्तु सुख प्राप्ति दुर्लभ है। इसका मूल कारण उपादान शक्ति का विकास नहीं। वक्ताओं को यह अभिमान है कि हम श्रोताओं को समझा कर सुमार्ग कर ला सकते हैं और श्रोताओं की यह धारणा है कि हमारा कल्याण वक्ता के आधीन है, पर बात ऐसी नहीं है।

तोपखाना में १५ घर जैनियों के हैं, प्राय: अंग्रेजी विद्या के पण्डित हैं, स्वाध्याय में रुचि नहीं। परन्तु यह सभी चाहते हैं कि येन केन उपाय से संसार-बन्धन से छूटें। इसके अर्थ महान् प्रयास भी करते हैं। मर्यादा से अधिक त्यागियों और पण्डितों की शुश्रुषा करते हैं, यही समझते हैं कि त्यागी और पण्डितों के पास धर्म की दुकान है, उनका जितना आदर सत्कार करेंगे, उतना ही हमको धर्म का लाभ होगा। किन्तु होगा क्या, सो कौन कहे? कहावत तो यह याद आती है कि 'फुट्टी देवी ऊँट पुजारी।'

दूसरे दिन मिल में प्रवचन किया, पश्चात् वहाँ से चलकर बोर्डिंग में आये, सामायिक की। १२।। बजे श्रीपद्मपुराण का स्वाध्याय किया, प्रकरण था श्री

रामचन्द्र जी की विजय हुई। यथार्थ में बात यही है— न्यायमार्ग में जिनकी प्रवृत्ति होती है, उनकी अन्त में विजय होती है। अन्यायमार्ग में जो प्रवृत्त होते हैं, वे ही न्यायमार्ग में चलने वालों से पराभव प्राप्त करते हैं। अतः मनुष्यों को चाहिए कि न्यायमार्ग में चलें। संसार दुःखमय है, इसका कारण आत्मा परपदार्थ को निज मानकर नाना विकल्प करता हैं। अगले दिन नगर में प्रवचन हुआ, वहीं पर आहार हुआ, पश्चात् बोर्डिंग में आ गये। यहाँ पर निरन्तर भीड़ रहती है, स्वाध्याय भी नहीं हो पाता, केवल गल्पवाद में समय जाता है, वस्तुतः मेरे हृदय की दुर्बलता ही भीड़ एकत्री करती है। हृदय की दुर्बलता कार्य की बाधक है। मोह के कारण यह दुर्बलता है इसका जीतना महान् कठिन है।

मगसिर वदी १० सं० २००६ को यहाँ से १ बजे चलकर ४ मील की दूरी पर एक बाग में ठहर गये। यह बाग पहले बहुत ही सुन्दर रहा होगा पर अब तो नष्ट-भ्रष्ट हो गया है, जिस मकान में ठहरे वह बहुत ही अस्वच्छ था— मकड़ी और मच्छरों का घर था। येन-केन प्रकारेण यहाँ रात्रि भर सोये। प्रातःकाल ४ मील चलकर फफूँदा आ गये। फफूँदा कसबा अच्छा है, यहाँ पर गूजर लोगों की बस्ती है, सब सम्पन्न हैं, इन्होंने बहुत सत्कार किया, हमने समाधिशतक का प्रवचन किया, परन्तु जो सुख होना चाहिये, वह नहीं हुआ। इसका मूल कारण आत्मीक रस नहीं। यहाँ से २ बजे चलकर खरखोंदा के स्कूल में ठहर गये। स्थान अच्छा था, रात्रि को स्वाध्याय अच्छा हुआ। स्वाध्याय से आत्मकल्याण होता है, कल्याण का अर्थ है, पर पदार्थों से ममता त्याग। ममता का कारण अहम्बुद्धि। यहाँ से ४ मील चलकर कौनी ग्राम में एक राजपूत के बंगले में ठहर गये। बंगला उत्तम था, एक घण्टा स्वाध्याय किया, सुनने वाले व्यग्र थे। व्यग्रता का कारण चञ्चलता है और इस ओर रुचि भी नहीं। स्वाध्याय के प्रति रुचि नहीं, रुचि न होने में मूल कारण कभी इस ओर लक्ष्य नहीं। निरन्तर गृहस्थों को अपने बालकादि के पोषण के अर्थ परिग्रह सञ्चय करने में समय का उपयोग करना पड़ता है, इस मार्ग में चलने का उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता। प्रातःकाल ४।। बजे से ५।। तक मोक्षमार्ग प्रकाश का स्वाध्याय किया, उसमें प्रकरण था कि मोह के उदय से यह जीव, पदार्थ का अन्य रूप श्रद्धा करता है, इसी से दुःखी होता है। जैसे कोई मनुष्य रज्जु में सर्प भ्रान्ति से भयभीत होता है। यह भ्रम दूर हो जावे, तो भय नहीं होवे। इसी प्रकार पर पदार्थों में निजत्व बुद्धि त्याग देवे, तो सुखी हो जावे। ९ बजे मन्दिर गये वहाँ पद्मपुराण का स्वाध्याय किया, उसमें

चर्चा थी कि बाली की दीक्षा का कारण रावण हुआ। यथार्थ में कारण तो उनकी आन्तरिक विरक्तता थी। रावण उसमें निमित्त हुआ। बाली मोक्ष को प्राप्त हुए। आज एक मास्टर के घर भोजन हुआ। श्री जैनेन्द्रकिशोरजी तथा राजकृष्णजी दिल्ली वाले आये। शाम को श्री पतासीबाईजी भी आ गईं। रात्रि को चर्चा हुई, श्री जैनेन्द्र किशोर का स्नेह बहुत है, उनका भाई भी मुरादाबाद से आया ८००) मासिक पाता है, उसकी धर्मपत्नी भी साथ थी। सबका अन्तरङ्ग यह था कि आप दिल्ली रह जाओ, कुटिया हम बनवा देंगे। आप निर्द्वन्द्व धर्म साधन करिये। यहाँ से चलकर हापुड़ निवास हुआ, तदनन्तर वहाँ से ४ मील चल कर हाफिजनगर आ गये। यहाँ तक दो आदमी हापुड़ से आये, लोगों में धर्म प्रेम अच्छा है, रामचन्द्र बाबू यहाँ पर बहुत योग्य हैं, आपकी प्रवृत्ति भी अच्छी है। पण्डित परमानन्द जी दिल्ली से यहाँ आये, १ बजे कुछ चर्चा हुई, चर्चा का सार यही था कि प्राचीन साहित्य का प्रचार होना चाहिए। बिना प्राचीन साहित्य के जैन संस्कृति की रक्षा होना कठिन है। मेरा ध्यान यह है कि प्राचीन साहित्य के प्रचार के साथ-साथ उसके ज्ञाता भी तैयार होते रहना चाहिये, अन्यथा अकेला प्राचीन साहित्य क्या कर लेगा? आज लोगों की दृष्टि इंग्लिश विद्या के अध्ययन की ओर ही बलवती होती जा रही है, क्योंकि वह अर्थकरी है तथा संस्कृत-प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं के अध्ययन से विमुख हो रही है, क्योंकि उससे ऐहिक अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। यह समाज के हित के लिये अच्छी बात नहीं दिखती।

यहाँ से ५ मील चलकर गुलावटी आये, ग्राम के बाहर स्थान में ठहर गये, स्थान मनोज्ञ था, पानी यहाँ का अच्छा था, प्रातःकाल स्वाध्याय अच्छा हुआ, पश्चात गर्मी में कुछ नहीं हुआ। यह विचार अमल में लाने की महती आवश्यकता है— जिनके विचार में मलिनता है, उनका सर्व व्यापार लाभप्रद नहीं। सर्व चेष्टा संसार बन्धन से मुक्त होने के लिये है, परन्तु वर्तमान में मनुष्यों के व्यापार संसार में फँसने के लिये हैं। व्यापार का प्रयोजन पञ्चेन्द्रियों के विषय से है। यहाँ से ३ मील चलकर, एक शिवालय में ठहर गये, स्थान अत्यन्त मनोज्ञ है। कूप का जल मिष्ट है, आज भोजन करने की इच्छा नहीं थी, फिर भी गये, परन्तु अन्तराय हो गया। उदर निर्मल रहा। इच्छा को स्वाधीन रखना ही कल्याणमार्ग है। यहाँ का जो मैनेजर है, वह जाट है, प्रकृत्या भद्र और उदार मनुष्य है। यहाँ पर बाहर से आनेवालों को पानी भी पीने के लिये मिलता है, बन्दरों का निवास भी यहाँ पुष्कल है। कोई-कोई दयालु उन्हें भी भोजन दे देते हैं। यहाँ से ५ मील

चलकर बुलन्दशहर आ गये। एक वैश्य के मकान में ठहर गये। इसने सट्टा में सर्व धन खो दिया। हमको बहुत आदर से ठहरया, पुष्पमाला चढ़ाई तथा १५ मिनट तक पैरों पर लोटा रहा। उसकी यह श्रद्धा थी कि इनके आशीर्वाद से हमारा कल्याण हो जावेगा। लोगों की धर्म में श्रद्धा है, परन्तु धर्म का स्वरूप समझने की चेष्टा नहीं करते, केवल पराधीन होकर कल्याण चाहते हैं। कल्याण का अस्तित्व आत्मा में निहित है, किन्तु जब हमारी दृष्टि उस ओर जावे, तब तो काम बने। दो दिन बुलन्दशहर में रहे, सानन्द समय बीता। समय के प्रभाव से मनुष्यों में धर्म की रुचि का कुछ ह्रास हो रहा है, पर स्त्रीगण धर्म की इच्छा रखता है, फिर भी मनुष्यों में इतनीं शक्ति और दया नहीं जो उनको सुमार्ग पर लानें की चेष्टा करें। यथार्थ की बात तो यह है कि स्वयं सन्मार्ग पर नहीं, पर को क्या सन्मार्ग पर चलावेंगे? जो स्वयं अपने को कर्मकलंक से रक्षित नहीं कर सकते, वह पर की रक्षा क्या करेंगे?

यहाँ से चलकर मामन आये, एक राजपूत के घर ठहरे। रात्रि को यह विचार उठे कि किसी से कटुक वचन मत बोलो, सर्वदा सुन्दर हितकारी परिमित वचन बोलने का प्रयास करो, अन्यथा मौन रहो। समागम त्यागो, भोजन के समय अन्य को मत ले जाओ। भोजन में लिप्सा का त्याग करो। पराधीन भोजन में सन्तोष रखना ही सुख का कारण है। यदि भिक्षा-भोजन अङ्गीकृत किया है, तो उसमें मनोवांछित की इच्छा हास्यकारी है। 'भैक्ष्यममृतम्' ऐसा आचार्यों का मत है। जो मानव गृहस्थी में रत हैं, उनकी ही लिप्सा शान्त नहीं होती तब अन्य की कथा ही क्या है? यहाँ दिल्ली से जैनेन्द्रकिशोरजी सकुटुम्ब आये। राजकृष्णजी, उनके भाई, पं०राजेन्द्रकुमारजी, लाला मक्खनलालजी, पं०परमानन्दजी, श्रीमान् पं०जुगलकिशोरजी मुख्त्यार, लाला उलफतरायजी तथा श्री सरदारीमल्लजी का बालक वा उनकी लड़की सूरजबाई आदि अनेक लोग आये। पं०खुशालचन्द्रजी एम०ए०, साहित्याचार्य भी पधारे, सबका आग्रह यही था कि दिल्ली चलो, पर मैं तो गिरिराज जाने का निश्चय कर चुका था, अत: दिल्ली जाने के लिये तैयार नहीं हुआ। सब लोग निराश होकर लौट गये।

यहाँ से चल कर ४ मील बाद मरिपुर आ गये। यहाँ पर कोरी का एक बालक ठण्ड में नंगा था, उसे मैंने मेरे पास जो ३ गज कपड़ा था, वह दे दिया, यह देख लाला खचेडूमल तथा मंगलसेनजी ने भी उसे कपड़ा दिया। गरीब का

काम बन गया, यह देख मुझे हर्ष हुआ। दया बड़ी वस्तु है, दया से ही संसार की स्थिति योग्य रहती है। जहाँ निर्दयता है, वहाँ परस्पर में बहुत कलह रहती है। इस समय संसार में जो कलह हो रही है, वह इसी दया के अभाव में हो रही है। वर्तमान में मनुष्य इतने स्वार्थी हो गये हैं कि एक दूसरे की दया नहीं करते। यहाँ से ४ मील चल कर नगली की धर्मशाला में ठहर गये और वहाँ से प्रातः ५ मील चल कर १ धर्मशाला में विश्राम किया। यहीं भोजन हुआ। यहाँ पर सेठ शान्तिप्रसादजी की लड़की मिलने आई, साथ में उसकी फूफी व भावज भी थी। मुझे लगा कि 'सर्व मनुष्य धर्म के पिपासु हैं, परन्तु धर्म का मर्म बतानेवाले विरलता को प्राप्त हो गये। अपने अन्तरङ्ग में यद्वा तद्वा जो समझ रक्खा है, वही लोगों को सुना देते हैं। अभिप्राय स्वात्मप्रशंसा का है। लोग यह समझते हैं कि हमारे सदृश अन्य नहीं। धर्म के ठेकेदार बनते हैं, पर धर्म तो मोह क्षोभ से रहित आत्मा की परिणति का नाम है। उस पर दृष्टि नहीं।

दूसरे दिन प्रातः ३ मील चल कर गवाना आ गये। यहीं पर भोजन किया। पश्चात् ५ मील चलकर भरतरी की धर्मशाला में ठहर गये। धर्म-शाला में ही शिवालय है, यहाँ से अलीगढ़ ८ मील है। श्री पं०चाँदमल्ल जी यहाँ से चले गये सेठ भौंरीलाल जी सरियावाले खुरजा से साथ थे। यहाँ गया से १ मनुष्य रामेश्वर जैनी तथा १ बर्तन मलनेवाला भी आ गया। इस धर्मशाला में १ साधु था, वह भला आदमी था। यहाँ से ५ मील चलकर अलीगढ़ से ३ मील इसी ओर आगरावालों के मिल के सामने १ छोटी सी धर्मशाला थी, उसमें ठहर गये। १० बजे भोजन को गये, परन्तु २ ग्रास के बाद ही अन्तराय हो गया। अन्तराय का होना, लाभदायक है, जो दोष हैं, वे अपगत हो जाते हैं, क्षुधा परिषह के सहने का अवसर आता है, अवमौदर्य तप का अवसर स्वयमेव हो जाता है। आत्मीय परिणामों का परिचय सहज हो जाता है।

यहाँ से ३ मील चलकर अलीगढ़ आ गये। यहाँ श्री सेठ बैजनाथजी सरावगी कलकत्ता वाले मिल गये। आपका अभिप्राय निरन्तर जैन जाति के उत्कर्ष में मग्न रहता है, तथा यथाशक्ति दान भी करते रहते हैं, आजकल आपका उद्योग बनारस में ऐसा छात्रावास बनाने का है, जिसमें २०० छात्र अध्ययन करें। तथा एक महान् मन्दिर भी बने, इस कार्य के लिए सर सेठ हुकुमचन्द्र जी इन्दौरवालों ने अस्सी हजार का विपुल दान किया है। यहाँ से खिरनीसहाय गया। यहाँ दोपहर बाद

श्री क्षुल्लक चिदानन्दजी का प्रवचन हुआ। मैं एक बाग में चला गया, वहीं ४ बजे तक स्वाध्याय किया, पश्चात् यहीं आ गया। एक दिन यहाँ ग्राम के बाहर सड़क पर मन्दिर है, उसमें गये। श्री बाबा चिदानन्दजी ने अष्टमूलगुण पर व्याख्यान दिया, पश्चात् मैंने भी आधा घंटा कुछ कहा। परमार्थ से क्या कहा जावे? क्योंकि जो वस्तु अनिर्वचनीय है, उसे वचनों से व्यक्त करना, एक तरह की अनुचित प्रणाली है, परन्तु बिना वचन के उसके प्रकाश करने का मार्ग नहीं। यह सर्वसाधारण को विदित हैं कि ज्ञान ज्ञेय में नहीं आता, फिर भी उसे प्रकाशित करने की चेष्टा मनुष्य करते ही हैं।

पौष वदी १ सं० २००६ को यहाँ से एटा के लिए प्रस्थान किया। ६ मील चलकर चक्की पर ठहर गये। सामायिक करने के बाद चक्की का स्वामी आ गया और अपनी व्यथा सुनाने लगा— सुनकर यही निश्चय हुआ कि संसार में सर्व दुःख के पात्र हैं। सारांश यह है कि जो संसार में सुख चाहते हैं, वे पर पदार्थों से मूर्च्छा त्यागें। मूर्च्छा त्याग बिना कल्याण नहीं। दूसरे दिन प्रातःकाल ७ बजे चलकर ९ बजे गङ्गा नहर आ गये। यहाँ कूप का पानी बहुत स्वादिष्ट था। भोजनोपरान्त कुछ लेट गये। स्थान अतिरम्य था। यहाँ से १२ मील शासनी ठीक दक्षिण दिशा में है। यहाँ पर एक ग्राम है, जिसका नाम पहाड़ी है। वहाँ से ८ औरतें आयीं और महान् आग्रह करने लगीं कि हमारे ग्राम में निवास करो। हमने बहुत समझाया, तब कहीं उन्हें सन्तोष हुआ। उन्होंने रविवार और एकादशी का ब्रह्मचर्य व्रत लिया। उन औरतों में एक औरत गरीब थी, उसे एक थान, दुसूती का जो संघ के लोगों को अलीगढ़ में एक श्वेताम्बर भाई ने दिया था, दिलवा दिया। बड़े आग्रह से उसने लिया। यहाँ से चलकर अकराबाद के कुँवर साहब के बाग में ठहर गये। दूसरे दिन ४ मील चलकर गोपी बाजार के स्कूल में ठहर गये। यहाँ पर छात्रों की परीक्षा ली, ५) पण्डित भँवरीलालजी सरियावालों ने छात्रों को पारितोषिक दिया। सामायिक के बाद ४ मील चलकर सिकन्दराराऊ आ गये। यहाँ २ घर जैन के हैं।

सिकन्दराराऊ से ४ मील चल कर रतवानपुर आ गये। ग्रामवाले बहुत मनुष्य आये, सर्व साधारण परिस्थिति के थे, किन्तु सज्जन थे। यहाँ से १ बजे चल कर भदरवास के ग्राम पंचायत भवन में ठहर गये। गाँव के अनेक लोग मिलने आये। भदरवास से ४ मील चल कर पिलुआ आ गये। यहाँ पर ३ घर पद्मावतीपुरवालों के हैं, १ मन्दिर है, जो सामान्यतया उत्तम है। प्रेम से भोजन कराया। दिल्ली से श्री जैनेन्द्रकिशोरजी तथा राजकृष्णजी आये। इनका अनुराग विशेष है।

पौष वदी ७ सं० २००६ को एटा आ गये। यहाँ पर २०० घर पद्मावतीपुरवालों के हैं, धर्मवत्सल हैं। यहाँ पं०पन्नालालजी मथुरा संघ से आये। प्रातःकाल मन्दिर में प्रवचन हुआ। सायंकाल पार्क में आम सभा हुई। सभा में सभ्य पुरुष आये। पं०पन्नालालजी मथुरा का व्याख्यान हुआ, मैंने भी कुछ कहा। यहाँ रात्रि को सिविल सर्जन सपत्नीक आये। मिल कर बहुत प्रसन्न हुए। आपने मंगलवार को ब्रह्मचर्य व्रत लिया। एक दिन बड़े मन्दिर में प्रवचन हुआ। मनुष्यों के चित्त में कुछ प्रभाव पड़ा। यहाँ पर एक कायस्थ रहते हैं। उन्होंने सबको अच्छी तरह फटकारा, फलस्वरूप पाठशाला चालू करने के लिये ६०००) ध्रौव्यफण्ड तथा ५०) मासिक का चन्दा हो गया। लोगों में परस्पर सौमनस्य नहीं और अन्तरङ्ग में विद्या में रुचि नहीं।

दूसरे दिन भोजन के पश्चात् सामायिक किया और १ बजे चलकर ६।। मील छिछैना के बंगला में ठहर गये। यहाँ तक एटा से २५ आदमी आये, पश्चात् लौट गये, कोई प्रामाणिक बात नहीं हुई। यहाँ चल कर मलावन तथा टटऊ कसवा में ठहरते हुए, पौष बदी १२ को कुरावली आ गये। यहाँ पर २५ घर जैनियों के हैं। यहाँ पर जो पण्डित है, वे उपादान को ही मुख्य मानते हैं, निमित्त हाजिर हो जाता है। हाजिर शब्द का अर्थ क्या? शून्य। अस्तु, कहाँ तक कहा जावे, विवाद के सिवाय कुछ नहीं। आजकल ही क्या, प्रायः सर्व काल में हठवाद का उत्तर यथार्थ होना कठिन है। सब यह चाहते हैं कि यदि हमारी बात गई तो कुछ भी न रहा अतः जैसे बने तैसे अपनी हठ की रक्षा करना चाहिये, तत्त्व कहीं जावे। यदि मनुष्यों में हठ न होती तो ३६३ पाखण्ड मत न चलते। आत्मा के अभिप्राय असंख्यात हैं, अतः उतने विकल्प मतों के हो सकते हैं, संग्रह से ३६३ बतला दिये हैं। तात्त्विक दृष्टि जब आती है तब सर्व पक्षपात विलय जाते हैं।

यहाँ पर जसवन्तनगरवाले सुदर्शन सेठ भी आये। आप बहुत सज्जन हैं, आपके आग्रह से ग्रन्टरोड़ का मार्ग बदल कर इटावा की ओर चल दिए। कुरावली ६।। मील चलकर हरिदेव के नगले में ठहर गये। यहाँ पर पलाल का प्रबन्ध अच्छा रहा। देहात में आदमी सरल परिणामों के होते हैं। बोली सादी होती है, परन्तु अभिप्राय निर्मल होते हैं, नगला से ७ मील चलकर मैनपुरी आ गये। धर्मशाला में ठहर गये, स्थान मनोज्ञ है, परन्तु जो शान्ति चाहिए, वह नहीं मिलती,

क्योंकि मनुष्यों का संसर्ग दूर नहीं होता। दोपहर बाद सभा हुई। पर हमसे बोला नहीं गया। सरदी का प्रकोप था, अत: गला बैठ गया। मनुष्य केवल निमित्त उपादान की चर्चा में अपना काल बिताते हैं। पढ़े लिखे हैं नहीं, परिभाषा जानते नहीं, केवल अनाप-सनाप कह कर समय खो देते हैं, एक दिन यहाँ के कटरा बाजार के मन्दिर में दर्शनार्थ गये। बहुत विशाल मन्दिर है, इस तरह का मन्दिर हमने नहीं देखा। संस्कृत ग्रन्थों का भण्डार भी विपुल है, उसमें गोम्मटसार, मूलाचार, प्रमेयकमलमार्तण्ड, यशस्तिलकचम्पू आदि बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं। २०० के लगभग सब होंगे। हमने अवकाशाभाव से ग्रन्थ नहीं देखे। शास्त्र में समागम अच्छा नहीं। यहाँ बनारस से श्वेताम्बर साधु श्रींकान्तिविजयजी आये, बहुत ही सज्जन प्रकृति के थे, मन्दिरों के दर्शन किये व साम्यभाव से वार्तालाप किया। यहाँ से १ बजे करहल को चल दिये और ३।। मील चलकर अंड्सी की एक धर्मशाला में ठहर गये। वहाँ से १-२ स्थानों पर ठंहरते हुए करहल पहुँच गये। यहाँ लमेचू जैनियों के २०० घर हैं, ४ मन्दिर और २ चैत्यालय हैं, जैनियों के घर सम्पन्न हैं, १ हाईस्कूल तथा १ औषधालय भी। ऐसे स्थानों पर त्यागी वर्ग को रहना चाहिये, बहुत कुछ उपकार हो सकता है। प्रार्चीन ग्रन्थभण्डार भी है। लोगों ने स्वागत का बहुत आडम्बर किया। वास्तव में आडम्बर के सामने धर्म की प्रभावना होती नहीं। जैनधर्म का जो सिद्धान्त था, उसे गृहस्थों ने लुप्त कर दिया। त्यागी वर्ग भी अपने कर्तव्य से च्युत है। पठन-पाठन करने का अवसर नहीं। केवल गल्पवाद रह गया है, सो उससे क्या होनेवाला है? लोकप्रशंसा के अर्थ ही मनुष्यों की चेष्टाएँ रहती हैं। सार तो निवृत्तिमार्ग में है, सो बनती नहीं, गल्पवाद से कर्तव्यवाद अच्छा होता है। जहाँ तक बने धर्म के अर्थ उपयोग निर्मल रखना अच्छा है।

पौष सुदी ५ सं० २००६ को जसवन्तनगर आ गये, यहाँ पर जनता ने मन:प्रसार का स्वागत किया। बाहर से भी बहुत से मनुष्य आये थे। स्त्रीसमाज की संख्या भी प्रचुर थी। स्त्रीसमाज में पुरुषसमाज की अपेक्षा धर्म की आकांक्षा बहुत है, परन्तु वक्ता महोदय तदनुकूल व्याख्यान नहीं देते। मेरी समझ से व्याख्यान पात्र के अनुकूल होना चाहिए। भोजन का पाक उदराग्नि के अनुकूल होता है, यदि उदराग्नि के अनुकूल भोजन न मिले तो, उसकी सार्थकता नहीं होती। पौष सुदी ६ सं०२००६ को बड़ा दिन था। स्कूलों का अवकाश होने से बच्चों के हृदयों में उत्साह था। मेरे मन में विचार आया कि जिस वस्तु का पतन होता

है, एक दिन वह वृद्धि को प्राप्त होती है। दिन का ह्रास जितना होना था, हो गया, अब वृद्धि का अवसर आ गया। यहाँ बनारस से पं०कैलाशचन्द्रजी व खुशालचन्द्रजी आये पं०कैलाशचन्द्रजी ने शुद्धाचरण पर आधा घंटा अच्छा व्याख्यान दिया। आज बड़े वेग में ज्वर आ गया, ८ बजे तक बेचैनी रही, उसी में नींद आ गई। एक बार खुली, अन्त में कुछ शान्ति आई, परन्तु पैरो में बात की बहुत वेदना रही। दोनों पैर सूज गये। उपचार जिसके मन में आता है, सो करता है। मेरा तो दृढ़तम विश्वास है कि जिसके बहुत सहायक होते हैं, उसे कभी साता नहीं मिल सकती। अनेकों के साथ सम्बन्ध होना, यह ही महासंकट है। जिसके अनेक सम्बन्ध होंगे, उसका उपयोग निरन्तर झंझटों में उलझा रहेगा। मनुष्य वही है, जो पर को सबसे हेय समझे। हेय ही न समझे, उनमें न राग करे न द्वेष। सबसे बड़ा दोष यदि हममें है, तो यह है कि हम सबको खुश करना चाहते हैं, और इसका मूल कारण सब हमको अच्छी दृष्टि से देखें। अर्थात् सब यह कहें, देखो कैसा शुद्ध आदमी है। इस लोकैषणा ने ही हमें पतित कर रक्खा है। जिस दिन इस लोकैषणा को त्याग देंगे, उसी दिन सुमार्ग मिल जायगा। सुमार्ग अन्यत्र नहीं, जिस दिन रागकलंक का प्रक्षालन हो जायेगा, उसी दिन आनन्द की भेरी बजने लगेगी।

आत्मा का स्वरूप ज्ञान-दर्शन है, अर्थात् देखना-जानना। जब देखने जानने में विकार होता है, तब पर पदार्थों में राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष का उदय होने पर, यह जीव किसी में इष्ट और किसी में अनिष्ट कल्पना करने लगता है। पश्चात् इष्ट की रक्षा का और अनिष्ट के विनाश का संतत प्रयत्न करता है। यही इसी जीव के संसार-भ्रमण का कारण है।

प्रातःकाल मोक्षमार्गप्रकाश का स्वाध्याय किया। श्रीमान् पं०टोडरमल्लजी एक महान् पुरुष हो गये हैं, उन्होंने गोम्मटसारादि अनेक ग्रन्थों की इतनी सुन्दर व्याख्या की है कि अल्पज्ञानी भी उनके मर्म का वेत्ता हो सकता है। इससे भी महोपकार उन्होंने मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थ को सरल भाषा में रचकर किया है। उसमें उन्होंने चारों अनुयोगों की शैली को ऐसी निर्मल पद्धति से दर्शाया है कि अल्पज्ञानी उन अनुयोगों के पारंगत विद्वान् हो सकते हैं तथा भारत में जो अनेक दर्शन हैं, उनकी प्रणाली का भी दिग्दर्शन कराया है। इस ग्रन्थ का जो गम्भीर दृष्टि से स्वाध्याय करेगा, वह नियम से सम्यग्दर्शन का पात्र होगा। पैरों की वेदना का

बहुत वेग बढ़ गया। जितना-जितना उपचार होता है, उतना-उतना वेग बढ़ता है। यद्यपि वेदना बहुत तीव्र होती थी, परन्तु असन्तोष कभी नहीं आया। फिर वेदना होती ही क्यों है? इसका पता नहीं चलता। इतना अवश्य है कि असाता के तीव्र उदय में ऐसा समागम स्वयमेव जुड़ जाता है। जिससे मोही जीव अनेक प्रकार की कल्पना कर दुःख भोगने का कर्त्ता बनता है। अस्तु, यहाँ के लोग वैयावृत्य में निरन्तर तत्पर थे। पैरों की वेदना ज्यों की त्यों थी और ज्वर भी यदा-कदा आ ही जाता था। इसलिए लोग पाटे पर बैठाकर इटावा ले आये। यहाँ गाड़ीपुरा की धर्मशाला में ठहरे। स्थान अच्छा है। मन्दिर भी इसी में है। एक कूप भी। यहाँ आने पर असाता का उदय धीरे-धीर कम हुआ तथा उपचार भी अनुकूल हुआ, इसलिए आरोग्य लाभ हो गया।

इटावा

आठ दश दिन बड़ी व्याग्रता में बीते। प्रवचन आदि बन्द था। केवल आत्मशान्ति के अर्थ दैनंदिनी में जब कभी दो चार वाक्य लिख लेता था। जैसे—

आत्मपरिणति को कलुषित होने से बचाओ, पर की सहायता से किसी भी कार्य की सिद्धि न होगी और न अकार्य की सिद्धि होगी। जैसे शुद्धोपयोग निजत्व का साधक है, वैसे ही रागद्वेष संसार के साधक हैं। मेरा न कोई शत्रु है, और न मित्र है। मैं स्वकीय परिणति द्वारा स्वयं ही अपना शत्रु और मित्र हो जाता हूँ।

'सबसे क्षमा माँगने की अपेक्षा अन्तरङ्ग क्रोध पर विजय प्राप्त करो। ऐसा वचन मत बोलो कि जिससे किसी को अन्तरङ्ग कष्ट पहुँचे। इसका तात्पर्य यह है कि अपने हृदय में पर को कष्ट पहुँचे, ऐसा अभिप्राय न हो। वचन की मधुरता और कटुकता से इसका यथार्थ तत्त्व अनुमित नहीं होता।'

'लोकवञ्चना के चक्र में पड़े मानव, उन शब्दों का व्यवहार करते हैं कि जिनसे लोग समझें यह बड़ा विरक्त है। परन्तु उनमें विरक्तता का अंश भी नहीं। यदि विरक्तता का अंश होता, तो स्वप्रतिष्ठा के भाव ही न होते।

'संसार में सुख का उपाय निराकुल परिणति है। निराकुल परिणति का मूल कारण अनात्मीय पदार्थों में आत्मीय बुद्धि का त्याग है। उसके होते ही रागद्वेष स्वयमेव पलायमान हो जाते हैं। सबसे मुख्य पौरुष यह है कि अभिप्राय में साधुता

आ जाये। जब तक पर को निज मानता है, तब तक असाधुता नहीं जा सकती। जहाँ असाधुता है, वहाँ रागद्वेष की संतति निरन्तर स्वकीय अस्तित्व स्थापित करती है।'

'सबको प्रसन्न करने की चेष्टा अग्नि में कमल उत्पन्न करने की चेष्टा है। अपनी परिणति स्वच्छ रखो, संकोच करना अच्छा नहीं। संकोच वहीं होता है, जहाँ पर के रुष्ट होने का भय रहता है। परन्तु विराग दशा में पर के तुष्ट या रुष्ट होने का प्रयोजन क्या है?'

'गुरुदेव से यह प्रार्थना की कि हे गुरुदेव! अब तो सुमार्ग पर लगाओ, आपकी उपासना करके भी यदि सुमार्ग पर न आये, तो कब अवसर सुमार्ग पर आने का आवेगा? गुरुदेव ने उत्तर दिया कि अभी तुमने मेरी उपासना की ही कहाँ है? केवल गल्पवाद में समय खोया है। हम तो निमित्त हैं, तुझे उपादान पर दृष्टिपात करना चाहिए। गुरुदेव का अर्थ आत्मा की शुद्ध परिणति है।

'किसी का सहारा लेना उत्तम नहीं, सहारा निज का ही कल्याण करनेवाला है। पञ्चास्तिकाय में श्री कुन्दकुन्द महाराज ने तो यहाँ तक लिखा है कि हे आत्मन्! यदि तूँ संसार बन्धन से छूटना चाहता है, तो जिनेन्द्र की भक्ति का भी त्याग कर' क्योंकि वह भी चन्दननगसंङ्गत दहन की भाँति दुःख का ही कारण है।'

'निवृत्ति ही कल्याण का मर्ग है अन्ततोगत्वा यही शरण है। परपदार्थ का सम्बन्ध छोड़ना ही शान्ति का मार्ग है। शान्ति का उपाय अन्य नहीं, किन्तु निजत्व दृष्टि है। जिस प्रकार हमारी दृष्टि पर की ओर हैं, उसी प्रकार यदि आत्मा की ओर हो जाय, तो कल्याण सुनिश्चित है। लोग पर की चिन्ता में व्यर्थ ही काल-यापन करते हैं'।

'शान्ति का मूल मन्त्र अन्तरङ्ग की कलुषता का नाश है, कलुषता का कारण पर पदार्थों में ममता बुद्धि है, ममता बुद्धि ही संसार की जननी है। जब परपदार्थ में आत्मीय अंश भी नहीं, तब उसमें राग करना व्यर्थ है। परन्तु यह मोही जानकर भी गर्त में पड़ता है। इसको दूर करने का यत्न करो'।

'आत्मतत्त्व की यथार्थता प्रत्येक व्यक्ति में होती है, परन्तु उसकी अनुभूति से वञ्चित रहते हैं। इसका मूल कारण हमारी अनादिकालीन परानुभूति ही है,

क्योंकि ज्ञान में स्वपर्याय का ही संवेदन होता है। किन्तु मिथ्यात्व की प्रबल में लोग स्वरूप से वञ्चित हो, पर को ही निज मान लेते हैं।

१० दिन के बाद जिनेन्द्र के दर्शन किये। ये दिन बहुत व्यग्रता के थे। परन्तु अन्तरङ्ग में विकलता नहीं आई। बनारस से श्री सेठ बैजनाथजी सरावगी, पं०कैलाशचन्द्रजी, अधिष्ठाता हरिश्चन्द्रजी झवेरी, लालचन्द्रजी तथा फतहचन्द्रजी साहब आ गये। सबने बहुत ही आत्मीयता दिखलायी। श्री०पं०कैलाशचन्द्र जी का मार्मिक प्रवचन हुआ। श्रीयुत ब्र०चाँदमल्लजी साहब भी उदयपुर से आ गये, आप बहुत विवेकी पुरुष हैं, अपने कार्य में सन्नद्ध रहते हैं, स्वाध्यायपटु हैं, प्रवचन समीचीन शैली से करते हैं। हमारे शरीर की दशा देख, आपने कहा कि अब आप शान्ति से काल यापन करो, व्यर्थ विकल्पों से अपने को सुरक्षित रक्खो। दिल्ली से श्री ताराचन्द्रजी तथा राजकृष्णजी भी आये। राजकृष्णजी एक कमण्डलु लाये। कमण्डलु को देख मेरे मन में विचार आया कि परमार्थ से पीछी कमण्डलु वही रख सकता है जिसके अनतरङ्ग में संसार से भीरुता हो। भीरुता भी उसी को हो सकती है जो इसे दुःखात्मक समझे। दुःख का कारण परमार्थ से पर नहीं हमारी कल्पना ही है। वह इन पदार्थों में निजत्व मान दुःख की जननी बन जाती है। दुःख का कारण रागादिक है। जबलपुर से श्री टेकचन्द्रजी और राँची से सेठ चाँदमल्लजी साहब भी आये। अब चाँदमल्ल जी अपनी इस पर्याय में नहीं है। आपका बोध सुपुष्ट था। आप अन्तरङ्ग से विरक्त भी थे। आपका आग्रह था कि आप गिरिराज चलें, वहाँ पर हमारा भी निवास करने का अभिप्राय है। मैंने कहा—इच्छा तो यही है कि गिरिराज पहुँचकर श्रीभगवान् पार्श्वनाथ की शरण लूँ, पर यह शरीर जब इच्छानुकूल प्रवृत्ति करे, तब कार्य बने। सागर से श्रीबालचन्द्रजी मलैया, पं०पन्नालालजी तथा दिल्ली से श्री जैनेन्द्रकिशोरजी सकुटुम्ब आये। प्रातःकाल आनन्द से प्रवचन हुआ। हमारे प्रवचन के अनन्तर श्री चाँदमलजी ब्रह्मचारी का व्याख्यान हुआ। व्याख्यान सामयिक था। लोगों की दृष्टि सुनने की ओर तो है, पर करने की ओर नहीं। करने से दूर भागते हैं, परन्तु किये बिना सुनना और बोलना दोनों ही कुछ प्रयोजन नहीं रखते। परमार्थ तो यह है कि कषायपूर्वक मन-वचन-काय का जो व्यापार हो रहा है, वह रुक जावे, तो कल्याण का पथ सुलभ हो जावे। धीरे-धीर शीत की बाधा कम हो गई और हमारे शरीर में वात के कारण जो बाधा हो गई थी, वह दूर हो गई। यहाँ स्वर्गीय ज्ञानचन्द्रजी गोलालारे की धर्मपत्नी धनवन्ती देवी ने ७५०००) पचहत्तर हजार रुपया जैन

पाठशाला के अर्थ प्रदान किया। माघ शुक्ल ५ सोमवार दिनांक २३ जनवरी, १९५० को उसका मूहूर्त्त था। उद्घाटन मेरे हाथों से हुआ। द्वितीय दिन महिला सभा का आयोजन हुआ। श्री धनवन्ती देवी ने मुख्याध्यक्षा का पद अङ्गीकार किया। हम लोग भी सभा में गये। जन समुदाय पुष्कल था। पं०कैलाशचन्द्रजी बनारस का व्याख्यान समयोचित था। पाठशाला का नाम श्री ज्ञानधन जैन संस्कृत पाठशाला रक्खा गया। आज सर्वत्र पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार है, इसलिए लोगों के संस्कार भी उसी प्रकार हो रहे हैं। लोगों के हृदय से अध्यात्म-सम्बन्धी संस्कार लुप्त होते जा रहे हैं। यही कारण है कि सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति दृष्टिगोचर हो रही है। शान्ति का आस्वाद आजतक नहीं आया। इसका मूल कारण विरोधी पदार्थों में तन्मयता है। हम क्रोध को त्यागने में असमर्थ हैं और क्षमा का स्वाद चाहते हैं, यह असम्भव है। संस्कार निर्मल बनाने की आवश्यता है। हम आजतक जो संसार में भ्रमण कर रहे हैं, इसका मूल कारण अनादि संस्कारों के न त्यागने की ही कुटेव है।

२६ जनवरी का दिन आ गया। आज से भारत में नवीन विधान लागू होगा, अत: सर्वत्र उत्साह का वातावरण था। श्रीयुत महाशय डॉक्टर राजेन्द्रप्रसादजी बिहार निवासी इसके सभापति होंगे। आप आस्थामय उत्तम पुरुष हैं। भारत को स्वतन्त्रता मिली, परन्तु इसकी रक्षा निर्मल चारित्र से होगी। यदि हमारे अधिकारी महानुभाव अपरिग्रहवाद को अपनावें तथा अपने आपको स्वार्थ की गन्ध से अदूषित रक्खें तो सरल रीति से स्वपर का भला कर सकते हैं। श्री हुकुमचन्द जी सलावा वाले आये। आप योग्य तथा स्वाध्याय के व्यसनी हैं। एक महाशय कुरावली से भी आये, उनकी यह श्रद्धा है कि उपादान से ही कार्य होता है, इसमें किसी को विवाद नहीं परन्तु उपादान से ही होता है यह कुछ संगत नहीं, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति पूर्ण सामग्री से होती है, न केवल उपादान से और न केवल निमित्त से। शास्त्र में लिखा है 'सामग्री जनिका कार्यस्य' अर्थात् सामग्री कार्य की जननी है। यदि निमित्त के बिना केवल उपादान से कार्य होता है तो मनुष्यपर्याय रूप निमित्त के बिना ही आत्मा को सर्वत्र मोक्ष हो जाना चाहिए, क्योंकि मोक्ष का उपादान आत्मा तो सर्वत्र विद्यमान है। यदि मनुष्यपर्यायाविष्ट आत्मा ही मोक्ष का उपादान है, तो मनुष्य रूप निमित्त की उपेक्षा कहाँ रही। अत: अनेकान्तदृष्टि से पदार्थ का विवेचन हो, तो उत्तम है। कानपुर से भी बहुत लोग आये और आग्रह करने लगे कि कानपुर चलिये, परन्तु मैं चल सकूँ, इसके योग्य मेरा शरीर नहीं,

अतः मैने जाने से इनकार कर दिया। मेरे मन में तो अटल श्रद्धा है कि शान्ति का मार्ग न तो पुस्तकों में है, न तीर्थयात्रादि में है, न सत्समागमादि में है और न केवल दिखावा के योग-निरोध में है। किन्तु कषायनिग्रह पूर्वक सर्व अवस्था में है। श्रद्धा की यह शक्ति है कि उसके साथ सम्यग्ज्ञान हो जाता है। और स्वानुभवात्मक निजस्वरूप में प्रवृत्ति हो जाती है। गिरिडीह से श्रीयुत् कालूराम जी और श्रीरामचन्द्रजी बाबू भी आये। आप दोनों ही योग्य पुरुष हैं। आपका अभिप्राय है कि अब मैं श्री पार्श्वनाथ प्रभु के चरणकमलों में रहकर अपनी अन्तिम अवस्था शान्ति से यापन करूँ। मेरी अवस्था इस समय ७६ वर्ष हो गई है, शरीर दिन-प्रतिदिन शिथिल होता जाता है, स्मरणशक्ति घटती जाती है। केवल अन्तरङ्ग में धर्म का श्रद्धान दृढ़तम है। किन्तु सहकारी कारण का सद्भाव भी आवश्यक है। सेठ चम्पालाल जी गया वालों ने भी यही भाव प्रकट किया, परन्तु इच्छा रहते हुए भी मैं शरीर की अवस्था पर दृष्टिपात कर लम्बा मार्ग तय करने के लिए सक्षम नहीं हो सका।

लोग बात तो बहुत करते हैं, परन्तु कर्तव्यपथ में नहीं लाते। कर्त्तव्यपथ में लाना बहुत ही कठिन है। उपदेश देना सरल है, परन्तु स्वयं उस पर आरूढ़ होना दुष्कर है। मैंने यही निश्चय किया कि आत्मा की परिणति जानने-देखने की है, अतः तुम ज्ञाता-द्रष्टा ही रहो। पदार्थ में जैसा परिणमन होना है हो, उसमें इष्टानिष्ट-कल्पना न करो, क्योंकि यही संसार की जड़ है। यदि तुम्हें संसार का अन्त करना है, तो पर से आत्मीयता त्यागो। सर्वोत्तम बात यह है कि किसी के चक्र में न आवे, चक्र ही परिभ्रमण का मुख्य कारण है। मनुष्यों से स्नेह करना ही पाप का कारण है, संसार का मूल कारण यही है। जिन्हें बन्धन का उच्छेद करना है, उन्हें उचित है कि वे पर की चिन्ता त्यागें। पर की चिन्ता करना, मोही जीवों का कर्त्तव्य है।

यहाँ नीलकण्ठ नामक स्थान है, जिसके कूप का जल अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद है, यहाँ रहते हुए मैंने उसी का जल पिया। एकान्त शान्त स्थान है। अधिकांश मैं दिन का समय यहीं व्यतीत करता था। फाल्गुल का मास लग गया और ऋतु में परिवर्तन दिखने लगा। भिण्ड से मनुष्य आये और उन्होंने भिण्ड चलने का आग्रह किया। शरीर तथा ऋतु की अनुकूलता देख, मैंने भिण्ड जाने की स्वीकृति तो दे दी, परन्तु आकाश में मेघ की घटा छाई हुई थी, इसलिये उस दिन जाना

नहीं हो सका। तीसरे दिन जब आकाश स्वच्छ हो गया, तब फाल्गुन कृष्ण ५ को ११। बजे प्रस्थान किया।

इटावा के अञ्चल में

इटावा के पास ही श्रीविमलसागर का समाधिस्थान है। स्थान की नीरवता देख १५ मिनट वहाँ विश्राम किया। यह धर्मसाधन का उत्तम स्थान है, परन्तु कोई ठहरने वाला नहीं। बातों के बनाने वाले बहुत हैं, कर्तव्य पालन करनेवाले कम हैं। यहाँ से ३ मील चलकर गोरेनी का नगरों में ठहर गये। प्रात: यहाँ से २ मील चलकर चम्बल नदी के घाट पर टहर गये। बहुत सुन्दर दृश्य है। नीचे नदी बह रही है, ऊपर सहस्त्रों टीला है। एक बंगला है, २ फर्लांग पर १ ग्राम है, जिसका नाम उदी है। यहाँ पर १ मिडिल स्कूल है। ९ बजे शास्त्रप्रवचन हुआ, अन्य लोग भी आये, स्कूल के मास्टर तथा छात्रगण भी थे। आगत जनता से मैंने कहा कि आप बीड़ी पीना छोड़ दें तथा परस्त्री का त्याग भी कर दें, सुनकर आम जनता प्रसन्न हुई तथा अधिकांश ने प्रतिज्ञा ली। यहाँ से चलकर वरही में ठहरे और प्रात: ५ मील चलकर फूफ आ गये। जैन मन्दिर की धर्मशला में ठहरे, यहाँ २० घर जैनियों के हैं, लोग भद्र जान पड़ते हैं, श्रीराजारामजी गोलसिंगारे के घर भोजन किया। उन्होंने जो खर्च हो उस पर एक पैसा प्रति रुपया दान करने का नियम लिया तथा उनकी गृहिणी ने अष्टमी चतुर्दशी को शीलव्रत लिया। आज ईसरी से पत्र आया कि ब्र०कमलापतिजी का स्वर्गवास हो गया। समाचार जानकर पिछली घटनाएँ स्मृत हो उठीं, आप बरायठा (सागर) के रहनेवाले थे। सम्पन्न होने पर भी गृह से विरक्त थे। आपके साथ बुन्देलखण्ड में मैंने बहुत भ्रमण किया था तथा वहाँ प्रचलित कई रुढ़ियाँ बन्द कराई थीं। आपको शास्त्र का ज्ञान भी अच्छा था। अष्टमी का दिन होने से सम्यक् प्रकार धर्मध्यान में दिन बीता। स्वाध्याय अच्छा हुआ, स्वाध्याय का फल स्वपर विवेक का होना है। इससे संवर और निर्जरा होती है। आगमाभ्यास से उत्तम मोक्ष मार्ग का अन्य सहायक नहीं। यहाँ से दूसरे दिन ४ मील चलकर दीनपुरा में रात्रि बिताई। प्रात: २ मील चलकर भिण्ड के बाहर एक सुरम्य स्थान में ठहर गये। यहाँ से १ फर्लांग मन्दिर है, बहुत विशाल है। मध्याह्न के बाद २ बजे से नसिमा में सभा हुई, जनसंख्या अच्छी थी। श्री पं०पन्नालालजी काव्यतीर्थ प्रोफेसर हिन्दू विश्वविद्यालय का व्याख्यान समयानुकूल हुआ, श्री ब्र०चाँदमल्लजी का भी उत्तम व्याख्यान हुआ। तदनन्तर

मैंने भी कुछ कहा। मेरे कहने का भाव यह था कि महती आवश्यकता विशुद्धि की है। बिना भेदज्ञान के विशुद्धि रूप परिणति होना दुष्कर है। भेदज्ञान की बाधक परपदार्थ में निजत्व कल्पना है। भेद के होने में सबसे मुख्य कारण आत्मीय ज्ञान की प्राप्ति है। जिस प्रकार हम घटपटादि पदार्थों को जानने में मनोवृत्ति रखते है, उसी प्रकार आत्मज्ञान में भी हमें चेष्टा करना चाहिये। उपदेश का फल तो यह है कि परलोक के अर्थ प्रयत्न किया जावे। जो मनुष्य आत्मतत्त्व की यथार्थता से अनभिज्ञ हैं वे कदापि मोक्षमार्ग के पात्र नहीं हो सकते। यहाँ कभी गोलसिंघारों के मन्दिर में और कभी चैत्यालय में प्रवचन होता था, जनता अच्छी आती थीं। यहाँ पर समयसार की रुचिवाले बहुत हैं पर विशेषज्ञ गिनती के हैं। एक दिन प्रवचन में चर्चा आई कि क्या सम्यग्दृष्टि कुदेवादिक की पूजा कर सकता है? मेरा भाव तो यह है कि जिसे अनन्त संसार के बन्धनों से छुटानेवाला सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया, वह रागद्वेष से लिप्त कुदेवादिक की पूजा नहीं कर सकता। वीतराग सर्वज्ञ तथा सम्भव हो तो हितोपदेशकत्व बिना अन्य किसी भी जीव के सुदेवत्व नहीं आता। भले ही वह जैनधर्म से प्रेम रखता हो और जिनशासन की प्रभावना करता हो, पर है कुदेव ही। समन्तभन्तभद्र स्वामी ने इस विषय में अपना अभिप्राय निम्न प्रकार दिया है।

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्यु शुद्धदृष्टयः ।।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि पुरुष भय, आशा, स्नेह और लोभ के वशीभूत होकर कुदेव, कुआगम और कुलिङ्गियों को प्रणाम न करे। लोग न जाने क्यों पक्षव्यामोह में पड़ इतनी स्पष्ट बात को भी ग्रहण नहीं करते? उन्हें देव, अदेव की परिभाषा भी नहीं जमती, ऐसा जान पड़ता है। एक दिन गोलालारों के मन्दिर में भी प्रवचन हुआ, जनता अच्छी आयी, परन्तु प्रवचन का वास्तविक प्रभाव कुछ नहीं हुआ। मेरा तो यह विश्वास है कि वक्ता स्वयं उसके प्रभाव में नहीं आता, अन्य को प्रभाव में लाना चाहता है, यह प्रवचनकर्ता में महती त्रुटि है। एक सहस्र वक्ता और व्याख्यान देनेवालों में एक भी अमल करने वाला होना कठिन है। यहाँ लोगों में आपसी वैमनस्य अधिक है। एक पाठशाला स्थापित होने की बात उठी अवश्य, पर कुछ लोगों के पारस्परिक संघर्ष के कारण काम स्थगित हो गया। धन्य है, जिन्होंने कषायरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली। एक दिन पुरानी मण्डी में

नहीं हो सका। तीसरे दिन जब आकाश स्वच्छ हो गया, तब फाल्गुन कृष्ण ५ को १।। बजे प्रस्थान किया।

इटावा के अञ्चल में

इटावा के पास ही श्रीविमलसागर का समाधिस्थान है। स्थान की नीरवता देख १५ मिनट वहाँ विश्राम किया। यह धर्मसाधन का उत्तम स्थान है, परन्तु कोई ठहरने वाला नहीं। बातों के बनाने वाले बहुत हैं, कर्तव्य पालन करनेवाले कम हैं। यहाँ से ३ मील चलकर गोरेनी का नगरों में ठहर गये। प्रात: यहाँ से २ मील चलकर चम्बल नदी के घाट पर ठहर गये। बहुत सुन्दर दृश्य है। नीचे नदी बह रही है, ऊपर सहस्रों टीला है। एक बंगला है, २ फर्लांग पर १ ग्राम है, जिसका नाम उदी है। यहाँ पर १ मिडिल स्कूल है। ९ बजे शास्त्रप्रवचन हुआ, अन्य लोग भी आये, स्कूल के मास्टर तथा छात्रगण भी थे। आगत जनता से मैंने कहा कि आप बीड़ी पीना छोड़ दें तथा परस्त्री का त्याग भी कर दें, सुनकर आम जनता प्रसन्न हुई तथा अधिकांश ने प्रतिज्ञा ली। यहाँ से चलकर वरही में ठहरे और प्रात: ५ मील चलकर फूफ आ गये। जैन मन्दिर की धर्मशला में ठहरे, यहाँ २० घर जैनियों के हैं, लोग भद्र जान पड़ते हैं, श्रीराजारामजी गोलसिंगारे के घर भोजन किया। उन्होंने जो खर्च हो उस पर एक पैसा प्रति रुपया दान करने का नियम लिया तथा उनकी गृहिणी ने अष्टमी चतुर्दशी को शीलव्रत लिया। आज ईसरी से पत्र आया कि ब्र०कमलापतिजी का स्वर्गवास हो गया। समाचार जानकर पिछली घटनाएँ स्मृत हो उठीं, आप बरायठा (सागर) के रहनेवाले थे। सम्पन्न होने पर भी गृह से विरक्त थे। आपके साथ बुन्देलखण्ड में मैंने बहुत भ्रमण किया था तथा वहाँ प्रचलित कई रुढ़ियाँ बन्द कराई थीं। आपको शास्त्र का ज्ञान भी अच्छा था। अष्टमी का दिन होने से सम्यक् प्रकार धर्मध्यान में दिन बीता। स्वाध्याय अच्छा हुआ, स्वाध्याय का फल स्वपर विवेक का होना है। इससे संवर और निर्जरा होती है। आगमाभ्यास से उत्तम मोक्ष मार्ग का अन्य सहायक नहीं। यहाँ से दूसरे दिन ४ मील चलकर दीनपुरा में रात्रि बिताई। प्रात: २ मील चलकर भिण्ड के बाहर एक सुरम्य स्थान में ठहर गये। यहाँ से १ फर्लांग मन्दिर है, बहुत विशाल है। मध्याह्न के बाद २ बजे से नसिमा में सभा हुई, जनसंख्या अच्छी थी। श्री पं०पन्नालालजी काव्यतीर्थ प्रोफेसर हिन्दू विश्वविद्यालय का व्याख्यान समयानुकूल हुआ, श्री ब्र०चाँदमल्लजी का भी उत्तम व्याख्यान हुआ। तदनन्तर

मैंने भी कुछ कहा। मेरे कहने का भाव यह था कि महती आवश्यकता विशुद्धि की है। बिना भेदज्ञान के विशुद्धि रूप परिणति होना दुष्कर है। भेदज्ञान की बाधक परपदार्थ में निजत्व कल्पना है। भेद के होने में सबसे मुख्य कारण आत्मीय ज्ञान की प्राप्ति है। जिस प्रकार हम घटपटादि पदार्थों को जानने में मनोवृत्ति रखते है, उसी प्रकार आत्मज्ञान में भी हमें चेष्टा करना चाहिये। उपदेश का फल तो यह है कि परलोक के अर्थ प्रयत्न किया जावे। जो मनुष्य आत्मतत्त्व की यथार्थता से अनभिज्ञ हैं वे कदापि मोक्षमार्ग के पात्र नहीं हो सकते। यहाँ कभी गोलसिंघारों के मन्दिर में और कभी चैत्यालय में प्रवचन होता था, जनता अच्छी आती थी। यहाँ पर समयसार की रुचिवाले बहुत हैं पर विशेषज्ञ गिनती के हैं। एक दिन प्रवचन में चर्चा आई कि क्या सम्यग्दृष्टि कुदेवादिक की पूजा कर सकता है? मेरा भाव तो यह है कि जिसे अनन्त संसार के बन्धनों से छुटानेवाला सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया, वह रागद्वेष से लिप्त कुदेवादिक की पूजा नहीं कर सकता। वीतराग सर्वज्ञ तथा सम्भव हो तो हितोपदेशकत्व बिना अन्य किसी भी जीव के सुदेवत्व नहीं आता। भले ही वह जैनधर्म से प्रेम रखता हो और जिनशासन की प्रभावना करता हो, पर है कुदेव ही। समन्तभन्तभद्र स्वामी ने इस विषय में अपना अभिप्राय निम्न प्रकार दिया है।

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्यु शुद्धदृष्टयः।।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि पुरुष भय, आशा, स्नेह और लोभ के वशीभूत होकर कुदेव, कुआगम और कुलिङ्गियों को प्रणाम न करे। लोग न जाने क्यों पक्षव्यामोह में पड़ इतनी स्पष्ट बात को भी ग्रहण नहीं करते? उन्हें देव, अदेव की परिभाषा भी नहीं जमती, ऐसा जान पड़ता है। एक दिन गोलालारों के मन्दिर में भी प्रवचन हुआ, जनता अच्छी आयी, परन्तु प्रवचन का वास्तविक प्रभाव कुछ नहीं हुआ। मेरा तो यह विश्वास है कि वक्ता स्वयं उसके प्रभाव में नहीं आता, अन्य को प्रभाव में लाना चाहता है, यह प्रवचनकर्ता में महती त्रुटि है। एक सहस्र वक्ता और व्याख्यान देनेवालों में एक भी अमल करने वाला होना कठिन है। यहाँ लोगों में आपसी वैमनस्य अधिक है। एक पाठशाला स्थापित होने की बात उठी अवश्य, पर कुछ लोगों के पारस्परिक संघर्ष के कारण काम स्थगित हो गया। धन्य है, जिन्होंने कषायरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली। एक दिन पुरानी मण्डी में

२ मन्दिरों के दर्शन किये। मन्दिर बहुत ही रमणीय हैं, ५०० मनुष्य इसमें शास्त्र श्रवण कर सकते हैं। एक मन्दिर भट्टारक जी का बहुत ही स्वच्छ, निर्मल तथा विशाल है। भिण्ड जैनियों की प्राचीन बस्ती है, जनसंख्या अच्छी है, यदि सौमनस्य से काम करें, तो जनकल्याण के अच्छे कार्य यहाँ हो सकते हैं। ९-१० दिन यहाँ रहने के बाद फाल्गुन शुक्ला को चलकर दीनपुरा आ गये और दूसरे दिन दीनपुरा से फूफ आ गये। यहाँ मुरार से ४ महिलाएँ आईं थीं। उनके यहाँ हमारा भोजन हुआ। भोजन बड़े भाव से कराया। फूफ से ५ मील चलकर वरही आये। यहाँ पर १ मन्दिर प्राचीन बना हुआ है, चम्बल के तट से आधा मील है। ९० हाथ गहरा कूप है, फिर भी जल क्षार है, यहाँ पर ३ घर जैनियों के हैं, अच्छे सम्पन्न हैं, शिक्षा इस प्रान्त में कम है। यहाँ से चलकर उडूग्राम में ठहर गये। यहाँ से चलकर नगरा ग्राम में आ गये। यहाँ एक ब्राह्मण महोदय के घर में ठहर गये, आप बहुत ही सज्जन हैं, आपने आदर से व्यवहार किया। भोजन के उपरान्त १ बजे चलकर ३ बजे इटावा की नशियाँ में आ गये, स्थान रम्य है, यहाँ पर श्री विमलसागरजी की समाधि हुई थी, किन्तु अब यहाँ पर इटावा वालों की दृष्टि नहीं। इस तरह इटावा के अञ्चल में भ्रमण कर यही अनुभव किया कि सर्व मनुष्यों के धर्म की आकांक्षा रहती है, तथा सबको अपना उत्कर्ष भी इष्ट है, परन्तु मोह के नशा में अन्ध कैसी दशा होरही है, यही अकल्याण का मूल है। मोह एक ऐसी मदिरा है कि जिसके नशा में यह जीव स्व को भूल पर को अपना मानने लगता है। यह विभ्रम ही संसार-परिभ्रमण का कारण है। जिसके यह विभ्रम दूर होकर स्व का यथार्थ बोध हो जाता है वह पर से यथासम्भव शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है।

अष्टाह्निका पर्व

फाल्गुन शुक्ला ८ सं०२००६ से अष्टाह्निका पर्व प्रारम्भ हो गया। यह महा़पर्व है। इस पर्व में देवगण नन्दीश्वर द्वीप जाते हैं, वहाँ पर ५२ जिनालय हैं। मनुष्यों का गमन वहाँ नही, देवगण ही वहाँ जाते हैं, मनुष्य चाहे, विद्याधर हों, चाहे ऋद्धिधारी मुनि हों, नही जा सकते। किन्तु मनुष्यों में वह शक्ति है कि संयमांश को ग्रहण कर देवों की अपेक्षा असंख्यगुणी निर्जरा कर सकते हैं। मन्दिर में समयसार का प्रवचन हुआ। कुछ बांचो, परन्तु बात वही है, जो हो रही है, संसार के चक्र में जीव उलझ रहा है, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन संज्ञाओं

के आधीन होकर आत्मीय स्वरूप से अपरिचित रहता है। आत्मा में ज्ञायक शक्ति है, जिससे वह स्वपर को जानता है, परन्तु, अनादिकाल से मोहमद का ऐसा प्रभाव है कि आपापर की ज्ञप्ति से वञ्चित हो रहा है। संसार एक अशान्ति का भण्डार हैं, इसमें शान्ति का अत्यन्त अनादर है, वास्तव में अशान्ति का अभाव ही शान्ति का उत्पादक हैं। अशान्ति के प्रभाव से सम्पूर्ण जगत् व्याकुल है। अशान्ति का वाच्यार्थ अनेक प्रकार की इच्छाएँ हैं। ये ही हमारे शान्ति स्वरूप में बाधक हैं। जब हम किसी विषय की अभिलाषा करते हैं, तब आकुलित हो जाते हैं, जब तक इच्छित विषय का लाभ न हो, तब तक दु:खी रहते हैं। अन्तरङ्ग से यदि यह बात उत्पन्न हो जाय कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं में परिपूर्ण है, उसे परपदार्थ की आवश्यकता नहीं। जब तक परपदार्थ की आवश्यकता अनुभव में आती है, तब तक इसे स्वद्रव्य की पूर्णता में विश्वास नहीं.....तो पर की आकांक्षा मिट जाय और पर की आकांक्षा मिटी कि अशान्ति ने कूच किया। जो मनुष्य शान्ति चाहते हैं, वे परजनों के संसर्ग से सुरक्षित रहें। पर संसर्ग में बुद्धि में विकार आता है, विकार से चित्त में आकुलता होती है। जहाँ आकुलता है, वहाँ शान्ति नहीं, शान्ति बिना सुख नहीं और सुख के अर्थ ही सर्वप्रयास मनुष्य करता है। अनादि से हमारी मान्यता इतनी दूषित है कि निज को जानना ही असम्भव है। जैसे खिचड़ी खाने वाला मनुष्य केवल चावल का स्वाद नहीं बता सकता। वैसे ही मोही जीव शुद्ध आत्मद्रव्य का स्वाद नहीं बता सकता। मोह के उदय में जो ज्ञान होता है, उसमें परज्ञेय को निज मानने की मुख्यता रहती हैं। यद्यपि पर निज नहीं, परन्तु क्या किया जावे। जो निर्मल दृष्टि है, वह मोह के सम्बन्ध में इतनी मलिन हो गई है कि निज की ओर जाती ही नहीं। इसी के सद्भाव में जीव की यह दशा हो रही है, उन्मत्तक (धतूरा) पान करने वाले की तरह अन्यथा प्रवृत्ति करता है, अत: इस चक्र से बचने के अर्थ पर से ममता त्यागो, केवल वचनों से व्यवहार करने से ही सन्तोष मत कर लो। जो मोह के साधक हैं, उन्हें त्यागो। जैसे पञ्चेन्द्रियों के विषय त्यागने से ही मनुष्य इन्द्रिय विजयी होगा; कथा करने से कुछ तत्त्व नहीं निकलता। बात असल में यह है कि हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान है, इस ज्ञान में जो पदार्थ भासमान होगा, उसी ओर हमारा लक्ष्य जावेगा, उसी की सिद्धि के अर्थ हम प्रयास करेंगे, चाहे वह अनर्थ की जड़ क्यो न हो। अनर्थ की जड़ बाह्य वस्तु नहीं, वह तो अध्यवसान में विषय पड़ती है, अतएव बाह्य वस्तु बन्ध का जनक नहीं। श्री कुन्दकुन्ददेव ने लिखा है—

वत्थु पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ।।

पदार्थ को निमित्त पाकर, जो अध्यवसान भाव जीवों को होता है, वही बन्ध का कारण है, पदार्थ बन्ध का कारण नहीं है।

यहाँ कोई कह सकता है कि यदि ऐसा सिद्धान्त है, तो बाह्य वस्तु का त्याग क्यों कराया जाता है? तो उसका उत्तर यही है कि अध्यवसान न होने के अर्थ ही कराया जाता है। यदि बाह्य पदार्थ के आश्रय बिना अध्यवसान भाव होने लगे, तो जैसे यह अध्यवसान भाव होता है कि मैं रण में वीरसू माता के पुत्र को मारूँगा, वहाँ यह भी अध्यवसान भाव होने लगे कि मैं वन्ध्यापुत्र को प्राणरहित करूँगा, परन्तु नहीं होता, क्योंकि मारणक्रिया का आश्रयभूत बन्ध्यासुत नहीं है, अतः जिन्हें बन्ध न करना हो वे बाह्य वस्तु का परित्याग कर देवें। परमार्थ से अन्तरङ्ग मूर्छा का त्याग ही बन्ध की निवृत्ति का कारण है। मिथ्या विकल्पों को त्याग कर यथार्थ वस्तु स्वरूप के निर्णय में अपने को तन्मय करो, अन्यथा इसी भवचक्र के पात्र रहोगे। तुम विश्व से भिन्न हो, फिर भी विश्व को अपनाते हो, इसमें मूल जड़ मोह है, जिनके वह नहीं वह मुनि है, ये अध्यवसान आदि भाव जिनके नहीं, वही महामुनि हैं। वे ही शुभ-अशुभ कर्म से लिप्त नहीं होते।

जिस जीव को यह निश्चय हो गया कि मैं पर से भिन्न हूँ, वह कदापि पर के संयोग में प्रसन्न और विषादी नहीं हो सकता। प्रसन्नता और अप्रसन्नता मोहमूलक है। मोह ही एक ऐसा महान् शत्रु इस जीव का है कि जिसकी उपमा नहीं की जा सकती, उसी के प्रभाव से चौरासी लाख योनियों में जीव का भ्रमण हो रहा है अतः जिन्हें यह भ्रमण इष्ट नहीं, उन्हें उसका त्याग करना चाहिए।

खेद करो मत आतमा खेद पाप का मूल ।
खेद किये कुछ ना मिलै, खेद करहु निर्मूल ।।

खेद पाप की जड़ है, अतः हे आत्मन्? खेद करना श्रेयस्कर नहीं किन्तु खेद के जो कारण हैं, उनसे निवृत्ति पाना श्रेयस्कर है। मैं अनादि काल से संसार में भटक कर दुःखी हो रहा हूँ, ऐसा विचार कर कोई खेद करने बैठ जाय, तो क्या वह दुःख से छूट जायगा? नहीं, दुःख से तो तभी छूटेगा, जब संसार-भ्रमण के कारण मोहभाव से जुदा होगा

लोग प्रवचनों में आते हैं, पर शास्त्रश्रवण का रस नहीं। इसका मूल कारण आगमाभ्यास नहीं किया और न उस ओर रुचि ही है। लोगों को बुद्धि न हो, सो बात नहीं। सांसारिक कार्यों में तो बुद्धि इतनी प्रबल है कि बाल की भी खाल निकाल दें, परन्तु इस ओर दृष्टि नहीं। कई श्रोता तो रूढ़ि से आते हैं, कई वक्ता की परीक्षा के अर्थ आते हैं, कई वक्ता की वाणी कुशलता से आते हैं, और कई कौतूहल से आते हैं, अधिक भाग महिलाओं का होता है। आत्मकल्याण की भावना से कोई नहीं आता, यह बात नहीं, परन्तु ऐसे जीव विरले हैं। यदि यह बात न होती, तो शास्त्रश्रवण करते जीवन व्यतीत हो गया, पर प्रवृत्ति में अन्तर क्यों नहीं आया? यहाँ तो यह बात है कि शास्त्र में लिखा, सो ठीक, और वक्ता जो कह रहा है, सो ठीक, पर काम हम वही करेंगे, जो करते चले आ रहे हैं। एक कहावत है कि आप कहें सो ठीक और वे कहें सो ठीक, पर नरदा का द्वार यहीं रहेगा। अस्तु, पर्व भर लोगों में अच्छा उत्साह रहा।

उदासीनाश्रम और संस्कृत विद्यालय का उपक्रम

चैत्र कृष्ण ३ संवत् २००६ को प्रातःकाल यहाँ उदासीनाश्रम की स्थापना हो गई। श्री लक्ष्मण प्रसादजी ने १००) मासिक और कई महाशयों ने मिलकर १५०) मासिक रुपये दिये। ४ उदासीन भाई आश्रम में प्रविष्ट हुए, साथ ही बहुत से मनुष्यों के भाव इस ओर ऋजु हुए, परन्तु थोड़ी देर की उफान है, घर जाकर भूल जाते हैं। पं०फूलचन्द्रजी बनारस से आये थे, आज बनारस वापस चले गये। आप स्वच्छ बात करते हैं, किन्तु समय की गतिविधि देखकर व्यवहार करें, तब उनका प्रयास सफल हो सकता है। पं०पन्नालालजी काव्यतीर्थ भिण्ड गये थे, वहाँ से उन्हें वर्णीचेयर के लिए ५०१) मिले थे, वह रुपये पं० फूलचन्द्रजी के हाथ भेज दिए। पं०झम्मनलालजी तर्कतीर्थ कलकत्तावाले आये। प्राचीन विद्वानों में से हैं, व्युत्पन्न भी हैं, परन्तु प्रकृति के तीक्ष्ण हैं। ३ छात्रों ने संस्कृत पढ़ने का भाव प्रकट किया। संस्कृत भाषा उत्तम भाषा है, जैनागम का भाव इस भाषा के अध्ययन के बिना सुगम रीति से लभ्य नहीं, परन्तु आज लोगों की दृष्टि पैसे की ओर लग रही है। इस भाषा के अध्ययन से पैसा की प्राप्ति पुष्कल नहीं होती, इसलिए धनिवर्ग अपने बालकों को इसका अध्ययन नहीं कराते, परन्तु इतना निश्चित है कि इस भाषा से हृदय में जो शुद्धि या निर्मलता आती है, वह अन्य भाषाओं से नहीं। ३ छात्रों द्वारा अभ्यन्तर की प्रेरणा से संस्कृत

भाषा के अध्ययन की बात सुन हृदय में प्रसन्नता हुई। यहाँ पंसारी टोला के मन्दिर में प्राचीन साहित्य भण्डार है, ग्रन्थों को दीमक और चूहों ने बहुत नुकसान पहुँचाया है, लोग शास्त्र भण्डारों का महत्त्व नहीं समझते, इसलिए उनकी रक्षा की ओर विशेष प्रयत्नशील नहीं रहते, अपने हुन्डी दस्तावेज आदि को लोग जिस प्रकार सुरक्षित रखते हैं, उसी प्रकार शास्त्र भी सुरक्षित रखने योग्य हैं।

श्री ज्ञानचन्द्रजी की धर्मपत्नी ने जो ७५०००) का दान निकाला था उसके ट्रस्ट होने में कुछ लोग बाधा उपस्थित कर रहे थे, तथा कितने ही लोगों की यह भावना थी कि यह रुपये अंग्रेजी स्कूल में लगाये जावें। मुझे इसमें हर्ष विषाद नहीं था, परन्तु भावना यह थी कि अंग्रेजी अध्ययन के लिए तो नगर में छात्रों को अन्य साधन सुलभ हैं, अत: उसी में द्रव्य लगाने से वास्तविक लाभ नहीं। संस्कृत अध्ययन के और खासकर जैनधर्म सहित संस्कृत अध्ययन के साधन नहीं, इसलिये उसके अर्थ द्रव्य व्यय करना उत्तम है। अस्तु, मुझे इस विकल्प में नहीं पड़ना ही श्रेयस्कर है, यह विचार कर मैं तटस्थ रह गया।

चैत कृष्ण ६ सं०२००६ को शाम के समय यहाँ से २ मील चल कर श्री सोहनलाल जी के बाग में ठहर गये। प्रात:काल सामायिक कर चलने के लिये तैयार हुए। इतनें में इटावा से बहुत से सज्जन आ गये। सबने बहुत आग्रह किया कि आप इटावा ही रहिये, क्योंकि गर्मी पड़ने लगी है, अत: मार्ग में आपको बहुत कष्ट होगा। मैंने कहा— मुझे कोई आपत्ति नहीं श्रीचम्पालाल सेठी से पूछिये। अन्त में उन लोगों ने कहा कि यदि आप रह जावें तो धनवंती बाई का ७५०००) पचहत्तर हजार रुपया संस्कृत विभाग में लगा देवेंगे। संस्कृत विभाग का नाम सुन मेरे हृदय में बहुत प्रसन्नता हुई। अन्ततोगत्वा यही निश्चय किया कि रहना चाहिये। निश्चयानन्तर हम सोहनलालजी के बाग से वापिस आ गये। मनुष्यों के चित्त में उत्साह हुआ, श्री मुन्नालालजी को इतना उत्साह हुआ कि उन्होंने १२५) प्रतिमास देने को कहा तथा धनवन्ती के ७५०००) भी पृथक् से इसी कार्य के लिए दिलाये। 'शुभस्य शीघ्रम्' के अनुसार चैत्र कृष्ण ९ सं०२००६ को ही पं०झम्मनलालजी द्वारा संस्कृत विद्यालय का काम शुरू हो गया। ५ छात्रों ने लघुसिद्धान्तकौमुदी प्रारम्भ की, सेठ भगवानदासजी के सुपुत्र ने सर्वार्थसिद्धि प्रारम्भ की। श्री बनवारीलालजी त्यागी ने द्रव्यसंग्रह का प्रारम्भ किया। अन्त में श्रीपाल वैद्य ने मिष्ठान वितरण किया। सानन्द उत्सव समाप्त हुआ। श्री मुन्नालालजी ने

इटावा में ही चातुर्मास करने का आग्रह किया, तो मैंने यह बात समझ रक्खी कि यदि चैत्र सुदी १५ तक संस्कृत विद्यालय के लिए १ लक्ष रुपये की रजिस्ट्री हो जायेगी, तो कार्तिक सुदी २ तक रह जावेंगे। चातुर्मास की बात सुन जनता को बहुत उल्लास हुआ।

जैनदर्शन के लेख पर

जबसे हरिजन मन्दिर-प्रवेश की चर्चा चली, कुछ लोगों ने अपने स्वभाव या पक्ष विशेष की प्रेरणा से हरिजन मन्दिर-प्रवेश के विधि-निषेध साधक आन्दोलनों को उचित-अनुचित प्रोत्साहन दिया। कुछ लोगों को जिन्हें आगम के अनुकूल किन्तु अपनी धारणा के प्रतिकूल विचार सुनाई दिये, उन्होंने कहना प्रारम्भ किया कि 'वर्णीजी हरिजन-मन्दिर-प्रवेश के पक्षपाती हैं।' इतना ही नहीं, दलविशेष और पक्षविशेष का आश्रय लेकर, अपनी स्वार्थ-साधना के लिये, यद्वा तद्वा आगम प्रमाण उपस्थित करते हुए, मेरे प्रति जो कुछ मन में आया, ऊटपटांग कह डाला। इससे मुझे जरा भी रोष नहीं, परन्तु उन सम्भ्रान्त जनों के भ्रम का निराकरण करने के लिए, कुछ लिखना आवश्यक हो गया। यद्यपि, इससे मेरी न तो पक्षपाती बनने की इच्छा है और न विरोधी। किन्तु आत्मा की प्रबल प्रेरणा सदा यही रहती है कि जो मन में हो, सो वचनों से कहो। यदि नहीं कह सकते, तो तुमने अब तक धर्म का मर्म ही नहीं समझा।

'जैनदर्शन' के सम्पादक ने वर्णीलेख पर शूद्रों के विषय में बहुत कुछ लिखा हैं, आगम प्रमाण भी दिये हैं। मैं आगम की बात को सादर स्वीकार करता हूँ, किन्तु आगम का जो अर्थ आप लगावें, वही ठीक है, यह आप जानें। श्री १०८ कुन्दकुन्दमहाराज ने तो यहाँ तक लिखा है—

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं ।।

आगम में लिखा है कि अस्पृश्य शूद्र से स्पर्श हो जावे तो, स्नान करना चाहिये। यहाँ यह जिज्ञासा है कि अस्पृश्य क्या अस्पृश्य जाति में पैदा होने से हो जाता है? यदि यह बात है तो ब्राह्मणादि ३ वर्णों में पैदा होने से सबको उत्तम होना चाहिये, परन्तु ऐसा देखा जाता है कि यदि उत्तम जाति का निन्द्य काम करता है, तो वह चाण्डाल गिना जाता है, उससे लोग घृणा करते हैं,

पंक्तिभोजन में उसे शामिल नहीं करते और वहीं मनुष्य जो उत्तम कुल में पैदा हुआ, यदि मुनि धर्म अंगीकार कर लेता है, तो पूज्य माना जाता है। देवतुल्य उसकी पूजा होती है, तथा उसके वाक्य आर्षवाक्य माने जाते हैं। अथवा वह तो मनुष्य हैं, उत्तम कुल के हैं, किन्तु जहाँ न तो कोई उपदेष्टा है और न मनुष्यों का सद्भाव है ऐसे स्वयंभूरमण द्वीप और समुद्र में असंख्यात तिर्यञ्च मछली, मगर तथा स्थलचारी जीव व्रती होकर स्वर्ग के पात्र होते हैं, तब कर्मभूमि के मनुष्य यदि व्रती होकर जैनधर्म पालें, तो क्या आप रोक सकते हैं। आप हिन्दू न बनिये, यह कौन कहता है, परन्तु जो हिन्दू उच्च कुलवाले हैं, वे यदि मुनि बन जावें, तब क्या आपत्ति है? हिन्दू शब्द का अर्थ मेरी समझ में धर्म से सम्बन्ध नहीं रखता। जिस प्रकार भारत का रहने वाला भारतीय कहता है, इसी तरह देश विशेष में रहने वाला हिन्दू कहलाता है। जन्म से मनुष्य एक सदृश उत्पन्न होते हैं, किन्तु जिन को जैसा सम्बन्ध मिला, उसी तरह उनका परिणमन हो जाता है।

भगवान् आदिनाथ के समय ३ वर्ण थे, भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की, यह आदिपुराण से विदित है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन तीन वर्णों से ही ब्राह्मण हुए। मूल में ३ वर्ण कहाँ से आये? विशेष ऊहापोह से न तो आप ही अपने को वैश्य सिद्ध कर सकते हैं, और न मैं ही। क्योंकि इस विषय में मैं तो पहले से ही अपने आपको अनभिज्ञ मानता हूँ। आपने लिखा कि आचार्य महाराज दयालु हैं, तब क्यों बेचारों पर दया नहीं करते। आप लोग अपनी त्रुटि को नहीं देखते। आपका जो उपकार इन शुद्रों से होता है, वह अन्य से नहीं होता। यदि वे एक दिन के लिये भी अपनी-अपनी सेवाएँ छोड़ देवें, तो पता लग जावेगा। आपने उनके साथ जो व्यवहार किया, यदि उसका वर्णन किया जावे, तो अश्रुपात होने लगे। वे तो तुम्हारे उन कामों को करते हैं, जिनसे तुम घृणा करते हो, पर तुम उसका जो प्रतिकार करते हो, सो नीचे के वाक्यों से देखो। जब तुम्हारे यहाँ पंक्ति-भोजन होता है, तब अच्छा-अच्छा माल तो तुम उदर में स्वाहा कर लेते हो और उच्छिष्ट पानी से सिंचित पत्तलें उनके हवाले करते हो, बलिहारी इस दया की। अच्छे-अच्छे फल तो आप खा गये और काने-काने बचे, सो इन बेचारों को सौंप दिये, फिर इस पर बनते हो हम आर्ष पद्धति की रक्षा करनेवाले हैं

गृद्ध पक्षी मुनि के चरणों में लोट गया, उससे पूर्व भव मुनि ने वर्णन किये, सीता तथा रामचन्द्रजी को मुनि महाराज ने उसकी रक्षा का भार सुपुर्द किया।

अब देखिए, जहाँ गृद्ध पक्षी व्रती हो जावे वहाँ शूद्र शुद्ध नहीं हो सकते, यह बुद्धि में नहीं आता। यदि शूद्र इन कार्यों को त्याग देवे और मद्यादि पान छोड़ देवे तो वह व्रती हो सकता है। मन्दिर आने दो, मत आने दो, आपकी इच्छा। जिसप्रकार आप उनका बहिष्कार करते हैं, यदि वे भी कल्पना करो, सर्व सम्मति कर आपके साथ कोई व्यवहार न करें, तो आप क्या करेंगे? धोबी यदि वस्त्र प्रच्छालन छोड़ दे, चर्मकार मृत पशु न हटावे, वसौरिन सौरी का काम न करे और भङ्गिन शौचगृह शुद्ध न करे, तो संसार में हाहाकार मच जावे। हाहाकार की तो कोई बात नहीं, हैजा, प्लेग, चेचक और क्षय जैसे अनेक भयंकर रोगों का आश्रय हो जावेगा, अतः बुद्धि से काम लों, उनके साथ मानवता का व्यवहार करो, जिससे यह भी सुमार्ग पर आवें। यह देखा जाता है कि यदि वह अध्ययन करें, तो आपके बालको के सदृश बी०ए०, एम०ए०, बैरिस्टर हो सकते हैं। फिर जैसे आप पञ्च पाप त्यागकर व्रती बनते हो, यदि वह भी पञ्च पाप त्यागें, तो इसका विरोध कौन कर सकता है?

मैं मुरार में था, एक भंगी प्रतिदिन शास्त्र-श्रवण करता था, सुनकर कुछ भयभीत भी होता था। वह हमेशा उत्सुक रहता था कि शास्त्र के समय मैं अवश्य रहूँ। जिस दिन उसका नागा हो जाता था, उस दिन बहुत खिन्न रहता था। मांसादि का त्यागी था। एक दिन वह अपने मुखिया को लाया। मुखिया बोला— कुछ कहते हो? मैंने एक नया उत्तरीय वस्त्र उसे दिया और कहा कि तुम यह वस्त्र अपने साधु महात्मा को देना और उनसे हमारा जयराम कहना तथा जो वह कहैं, सो उनका संदेशा हम तक पहुँचाना। दूसरे दिन वह अपने साधु का संदेश लाया कि जो वर्णीजी कहें, सो अपने को करना चाहिए। क्या कहते हो? मैंने कहा— जो तुम्हारे भोज होनेवाला है, उसमें माँस न बनाना। 'जो आज्ञा' कहता हुआ वह चला गया, फिर २ दिन बाद आया और कहने लगा कि हमारे जो भोज था, उसमें माँस नहीं बनाया गया।

आप लोगों ने यह समझ रक्खा है कि जो हम व्यवस्था करें, वही धर्म है। धर्म का सम्बन्ध आत्मद्रव्य से है, न कि शरीर से। हाँ, यह अवश्य है कि जब तक आत्मा असंज्ञी रहता है, तब तक वह सम्यग्दर्शन का पात्र नहीं होता, संज्ञी होते ही धर्म का पात्र हो जाता है। आर्ष वाक्य है— चारों गति वाला संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव इस अनन्त संसार के नाशक सम्यग् दर्शन का पात्र हो सकता

है। वहाँ पर यह नहीं लिखा कि अस्पृश्य शूद्र या हिंसक सिंह या व्यन्तरादिक देव या नरक के नारकी इसके पात्र नहीं होते। जनता को भ्रम में डाल कर हर एक को बावला कह देना, कोई बुद्धिमता नहीं। आप जानते हैं— संसार में यावत् प्राणी हैं, सर्व सुख चाहते हैं और सुख का कारण धर्म है। यद्यपि धर्म का अन्तरङ्ग साधन निज में ही है, तथापि उसके विकास के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता होती है। जैसे घटोत्पत्ति मृत्तिका से ही होती है, फिर भी कुम्भकारादि बाह्य साधनों की आवश्यकता अपेक्षित है एवं अन्तरङ्ग साधक तो आत्मा में ही है, फिर भी बाह्य साधनों की अपेक्षा रखता है। बाह्य साधन देव-शास्त्र-गुरु हैं। आप लोगों ने यहाँ तक प्रतिबन्ध लगा रक्खे हैं कि अस्पृश्य शूद्रादि को मन्दिर आने का अधिकार नहीं। उनके आने से मन्दिर में अनेक प्रकार के विघ्न होने की सम्भावना है। यदि शान्त भाव से विचार करो, तो पता लगेगा कि हानि नहीं लाभ हीं होगा। प्रथम तो हिंसादि पाप संसार में होते हैं, यदि वह अस्पृश्य शूद्र, जैनधर्म को अंगीकार करेंगे तो वह महापाप अनायास कम हो जावेंगे। ऐसा न हो, यदि दैवात् हो जावें, तो आप क्या करोगे? चांडाल के भी राजा का पुत्र चमर ढुलता देखा गया, ऐसी कथा प्रसिद्ध है, क्या गप्प है? अथवा कथा छोड़ो, श्री समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड में लिखा है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ।।

आत्मा में अचिन्त्य शक्ति है, जिस प्रकार आत्मा अनन्त संसार के कारण मिथ्यात्व के करने में समर्थ है, उसी प्रकार अनन्त संसार के बन्धन काटने में भी समर्थ है। आप विद्वान् हैं, जो आपकी इच्छा हो, सो लिखिये, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य कोई लिखे, उसे रोकने की चेष्टा करें। आपकी दया तो प्रसिद्ध है, रहो, हमें इसमें आपत्ति नहीं। आप सप्रमाण यह लिखिए कि अस्पृश्य शूद्रों को चरणानुयोग की आज्ञा से धर्म करने का कितना अधिकार है? तब हम लोगों का यह वाद, जो आपको अरुचिकर हो, शान्त हो जावेगा। श्री आचार्य महाराज से इस व्यवस्था को पूछकर लिख दीजिये, जिसमें व्यर्थ विवाद न हो। केवल समालोचना से कुछ नहीं, शूद्रों के विषय में जो भी लिखा जावे, सप्रमाण लिखा जावे। कोई शक्ति नहीं, जो किसी के विचारों का घात कर सके, निमित्त तो अपना कार्य करेगा, उपादान अपना करेगा।

एक महाशय ने तो जैनमित्र में यहाँ तक लिख दिया कि तुम्हारा क्षुल्लक पद छीन लिया जावेगा, मानों धर्म की सत्ता, आपके हाथों में आ गई हो। यह 'संजद' पद नहीं, जो हटा दिया। जैनदर्शन के सम्पादक ने जो लिखा, उसका उत्तर देना, मेरे ज्ञान का विषय नहीं है, क्योंकि मैं न आगमज्ञ हूँ और न अब हो सकता हूँ, परन्तु मेरा हृदय यह साक्षी देता है कि मनुष्यपर्यायवाला, चाहे वह किसी जाति का हो, कल्याणमार्ग का पात्र हो सकता है। शूद्र भी सदाचार का पात्र है। हाँ, यह अन्य बात है कि आप लोगों के द्वारा जो मन्दिर निर्माण किये गये हैं, उनमें मत आने दो। गवर्नमेंट भी ऐसा कानून आपके अनुकूल बना देवे, परन्तु जो सिद्धक्षेत्र हैं, कोई आपको अधिकार नहीं, जो उन्हें वहाँ जाने पर रोक लगा सको। जो आपके मन्दिर में शास्त्र हैं, उन्हें न बाँचने दो, किन्तु जो पब्लिक वाचनालय है, उनमें आप उन्हें नहीं मना कर सकते। यदि वह पञ्च पाप छोड़ देवें, और रागादि रहित आत्मा को पूज्य मानें, अर्हत् का स्मरण करें, तो क्या रोक सकते हो? अथवा, जो आपकी इच्छा हो, सो करो।

मुझे धमकी दी कि पीछी कमण्डलु छीन लेवेंगे, छीन लो, सर्व अनुयायी मिल जाओ, चर्या बन्द कर दो, परन्तु जो हमारी श्रद्धा धर्म में है, उसे भी छीन लोगे? मेरा हृदय किसी की बन्दरघुड़की से नहीं डरता। मेरे हृदय में तो दृढ़ विश्वास है कि अस्पृश्य शूद्र सम्यग्दर्शन और व्रतों का पात्र है, मन्दिर आने-जाने की बात आप जानें, या जो आचार्य महाराज कहें, उसे मानो। यदि अस्पृश्यता का सम्बन्ध शरीर से है, तो रहो, आत्मा की क्या हानि है? यदि आत्मा से है, तो जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया, फिर अस्पृश्यता कहाँ रही? मेरा तो विश्वास है कि गुणस्थानों की परिपाटी से जो मिथ्या गुणस्थानवर्ती है, वह पापी है, चाहे वह उत्तम वर्ण का क्यों न हो? यदि मिथ्यादृष्टि है, तो परमार्थ से पापी है, यदि सम्यक्त्वी है, तो उत्तम आत्मा है। यह नियम शुद्रादि चारों वर्णों पर लागू है। परन्तु व्यवहार में सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन का निर्णय बाह्य आचरणों से है, अतः जिनके आचरण शुभ हैं, वे ही उत्तम कहलाते हैं, जिनके आचरण मलिन हैं, वे जघन्य हैं, एक उत्तम कुलवाला, यदि अभक्ष्य-भक्षण करता है। वेश्यागमनादि पाप करता है, तो उसे भी पापी जीव मानो, उसे भी मन्दिर मत आने दो, क्योंकि वह शुभाचरण से पतित है, और एक अस्पृश्य सदाचारी है, तो वह भगवान् के दर्शन का अधिकारी आपके मत से न हो परन्तु पंचम गुणस्थान वाला अवश्य हो सकता है।

पापत्याग की महिमा है, उत्तम कुल में जन्म लेने से उत्तम हो गये, यह कदाग्रह छोड़ों। उत्तम कुल की महिमा सदाचार से है, कदाचार से नहीं। नीच कुलीन मलिनाचार से कलंकित हैं, माँस खाते हैं, मृत पशुओं को ले जाते हैं और आपके शौचगृह साफ करते हैं, इसी से तो उन्हें अस्पृश्य कहते हो तथा पंक्तिभोज में आप उन्हें उच्छिष्ट भोजन देते हो। तत्त्व से कहो, उन्हें अस्पृश्य बनाने वाले आप लोग हैं। इन पापों से यदि वे परे हो जावें, तब भी आप क्या उन्हें अस्पृश्य मानेंगे? बुद्धि में नहीं आता। आज एक भंगी यदि ईसाई हो जाता है, और पढ़-लिखकर डाक्टर हो जाता है, तो आप लोग उसकी दवा गट-गट पीते हैं या नहीं? क्यों उससे स्पर्श कराते हो? आपसे तात्पर्य बहुभाग जनता से है। आज जो पाप करते हैं, वे यदि किसी आचार्य महाराज के सानिध्य को पाकर पापों का त्याग कर देवें, तो क्या वे साधु नहीं हो सकते? व्याघ्री ने सुकौशल स्वामी के उदर को विदारण किया और वहीं श्रीकीर्तिधर मुनि के उपदेश से विरक्त हो समाधि मरण कर स्वर्ग-लक्ष्मी की भोक्ता हुई। अत: सर्वथा किसी का निषेध कर अधर्म के भागी मत बनो। हम तो सरल मनुष्य हैं, जो आपकी इच्छा हो सो कह दो, आप लोग ही जैनधर्म के ज्ञाता और आचरण करनेवाले रहो, परन्तु ऐसा अभिमान मत करो, कि हमारे सिवाय अन्य कोई कुछ नहीं जानता।

पीछी कमण्डलु छीन लेवेंगे, यह आचार्य महाराज की आज्ञा है, सो पीछी कमण्डलु तो बाह्य चिह्न हैं, इनके कार्य तो कोमल वस्त्र तथा अन्य पात्र से हो सकते हैं। पुस्तक छीनने का आदेश नहीं दिया, इससे प्रतीत होता है कि पुस्तक ज्ञान का उपकरण है, वह आत्मा की उन्नति में सहायक है उस पर आपका अधिकार नहीं, जैन दर्शन की महिमा तो वही आत्मा जानता है, जो अपनी आत्मा को कषायभावों से रक्षित रखता है। अस्तु, हरिजन-विषयक यह अन्तिम वक्तव्य देकर, मैं इस ओर से तटस्थ हो गया।

अक्षय तृतीया

एक दिन श्रीधनवन्ती देवी के यहाँ से आहार कर धर्मशाला में आये। मध्याह्न की सामायिक के बाद धवल ग्रन्थ का स्वाध्याय किया। श्री सोहनलाल जी कलकत्ता वालों ने, जो कि मूल निवासी इटावा के हैं, बनारस विद्यालय का घाट बनवाने के लये १०००) एक सहस्र रुपया अपनी धर्मपत्नी के नाम देना स्वीकृत किया। श्रीसोहनलालजी बहुत ही भद्र आदमी हैं। आपने सम्मेदशिखर जी में तेरहपन्थी

कोठी में एक विशाल मन्दिर बनवाया है, तथा उसमें चन्द्रप्रभ भगवान् की शुभ्रकाय विशाल मूर्ति विराजमान कराई है। यदि कोई परिश्रम करता, तो घाट के १०००००) एक लक्ष रुपया अनायास हो जाता है। यहाँ पंसारी टोला के मन्दिर में पुष्कल स्थान है, अत: अधिकांश शास्त्र-प्रवचन यहीं होता था।

वैशाख सुदी ३ अक्षय तृतीया का दिन था, प्रात:काल प्रवचन के बाद कुछ कहने का अवसर आया, तो मैंने कहा कि आज का दिन महान् पवित्र और उदारता का दिन है। आज श्री आदिनाथ तीर्थंकर को श्रेयान्स राजा ने इक्षुरस का आहार दिया था, यह वर्णन श्री आदिपुराण में पाया जाता है, इसी कारण राजा श्रेयान्स को श्री आदिनाथ के अग्रज सुपुत्र भरत चक्रवर्ती ने दानतीर्थ के आदिविधाता की पदवी प्रदान की थी। यह पर्व भारतवर्ष में आजतक प्रचलित है, और इसके प्रचलित रहने की आवश्यकता भी है, क्योंकि हमारा जिस क्षेत्र में जन्म हुआ है, वह कर्मभूमि के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर मनुष्य समाज एक सदृश नहीं है। कोई वैभवशाली है, तो किसी के तन पर वस्त्र भी नहीं है। कोई आमोद-प्रमोद में अपना समय यापन कर रहा है, तो कोई हाहाकार के शब्दों द्वारा आक्रन्दन कर रहा है। कोई अपने स्त्री, पुत्र, भ्राता आदि के साथ तीर्थयात्रा कर, पुण्य का पात्र हो रहा है, तो कोई उसी समय अपने अनुकूल प्राणियों के साथ वेश्यादि-व्यसनों में प्रवृत्ति कर, पापपुञ्ज का उपार्जन कर रहा है। कहने का तात्पर्य यह है, कि कर्मभूमि में अनेक प्रकार की विषमता देखी जाती है। यही विषमता 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' इस सूत्र की यथार्थता दिखला रही है। जो संसार से विरक्त हो गये, और जिन्होंने अपनी क्रोधादि विभाव परिणतियों पर विजय प्राप्त कर ली है, उनका यही उपकार है, कि प्रजा को सुमार्ग पर लगावें, और हम लोगों को उनके निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर उनकी इच्छा की पूर्ति करनी चाहिये तथा उनकी वैयावृत्य कर अपना जीवन सफल करना चाहिए। वे आहार को आवें, तो यथागम रीति से आहारदान देकर उन्हें निराकुल करने का यत्न करना चाहिये। जो विद्वान् हैं, उन्हें उचित है, कि अपने ज्ञान के द्वारा संसार का अज्ञान दूर करने का प्रयत्न करें तथा हम अज्ञानीजनों को उचित है, कि उनके परिवारादि के पोषण के अर्थ भरपूर द्रव्य दें। यदि हमारे धन की विपुलता है, तो उसे यथोचित कार्यों में प्रदान कर जगत् का उपकार करें, जगत् का यह काम है, कि उसके प्रति कृतज्ञता का भाव रक्खे। यदि संचित धन का उपयोग न किया जावेगा, तब या तो उसे दायादगण अपनावेगा या राष्ट्र लेगा। जब संसार की यह व्यवस्था है, तब पुष्कल

द्रव्यवाले आगे आकर बंगाल तथा पंजाब आदि के जो मनुष्य गृहविहीन होकर दु:खी हो रहे हैं, उन्हें सहायता पहुँचावें। जिनके पास पुष्कल भूमि है उसमें गृहविहीन मनुष्यों को बसावें तथा कृषि करने को देवें। जिनके पास मर्यादा से अधिक वस्त्रादि हैं, वें दूसरों को देवें, मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि आप जो भोजन ग्रहण करते हैं, उसमें से भी कुछ अंश निकालकर शरणागत लोगों की रक्षा में लगा दो। यदि इस पद्धति को अपनाया जावेगा, तो जनता क्रान्ति से स्वत: दूर रहेगी, अन्यथा वह दिन शीघ्र आनेवाला है, जिस दिन लोग किसी की अनावश्यक सम्पत्ति को सहन नहीं करेंगे, उसे बलात् छीनकर जनता के उपयोग में लावेंगे। अत: समय के पहले ही अपनी परिणति को सुधारो और यथेष्ट दान देकर परलोक की रक्षा करो। धनवन्ती देवी ने आपके सामने एक आदर्श उपस्थित किया है। संचित द्रव्य का, यदि अन्त में सदुपयोग हो जावे, तो यह दाता की भावी उत्तम परिणति का सूचक है। सब लोग यदि यही नियम कर लें, कि हमारे दैनिक भोजन तथा वस्त्रादि में जो व्यय होता है, उसमें से १) में १ पैसा परोपकार में प्रदान करेंगे, तो मेरी समझ से जैन समाज में प्रतिवर्ष लाखों रुपये, एकत्रित हो जावें और उनसे समाज सुधार के अनेक कार्य अनायास पूर्ण हो जावें।

●

विद्यालय का उद्घाटन और विद्वत्परिषद् की बैठक

श्री पं०कमलकुमारजी व्याकरणतीर्थ, जो पहले इन्दौर में सेठजी के विद्यालय में थे, इस्तीफा देकर यहाँ आये। आप बहुत ही योग्य और स्वच्छ हृदय के विद्वान् हैं। श्री ज्ञानधन पाठशाला के लिए सुयोग्य विद्वान् की आवश्यकता थी, सो इनके द्वारा पूर्ण हो गयी। पाठशाला का उद्घाटन समारोह करने का विचार हुआ, उसी समय अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् की कार्यकारिणी समिति बुलाने का भी विचार स्थिर हुआ। सर्वसम्मति से इसके लिए ज्येष्ठ शुक्ल ५का दिन निश्चय किया गया। उत्सव की तैयारियाँ की गईं। धर्मशाला के प्राङ्गण में सुन्दर मंडप बनाया गया। उद्घाटन-समारोह के अध्यक्ष श्री कलक्टर साहब बनाये गये। बाहर से श्री पं०बंशीधरजी न्यायालंकार इन्दौर, पं०कैलाशचन्द्रजी, पं०फूलचन्द्रजी, पं०खुशालचन्द्रजी बनारस, पं०दयाचन्द्रजी, पं०पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, पं०वर्धमानजी सोलापुर, पं०बंशीधरजी बीना, पं०दरबारीलालजी, पं०राजेन्द्र कुमारजी, पं०राजकृष्णजी देहली और पं०बंशीधरजी के सुपुत्र श्री पं०धन्यकुमारजी इन्दौर आदि अनेक विद्वान् पधारे।

उत्सव के प्रारम्भ में भी पं०कैलाशचन्द्रजी ने ज्ञानधन की बहुत सुन्दर व्याख्या की। अनेक विद्वानों के उत्तमोत्तम व्याख्यान हुए। श्री कलक्टर साहब ने त्याग पर बहुत बल दिया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि त्याग से ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है, आजकल दु;ख का मूल कारण परिग्रह की इच्छा है, इसका जिसने परित्याग कर दिया, उसके सुख का वर्णन कौन कर सकता है? सम्यग्ज्ञान की उपादेयता पर प्रकाश डालते हुए, मैंने भी कुछ कहा। पं०राजेन्द्र कुमारजी ने जैनधर्म के बन्धतत्त्व पर अच्छा प्रकाश डाला। उद्घाटन-समारोह के अनन्तर विद्वत्परिषद् की कार्यकारिणी की बैठक हुई। उसमें खास चर्चा का विषय यह था कि धवल सिद्धान्त के ९३वें सूत्र में 'संजद पद आवश्यक है', ऐसा निर्णय सागर में एकत्रित विद्वत्सम्मेलन में बहुत ही तर्क-वितर्क—ऊहापोह के साथ किया था, उसके लगभग ३ साल बात श्रीमान् आंचार्य शान्तिसागर जी महाराज ने ताम्रपत्र की प्रति से 'संजद' पद हटाने का आदेश दिया। इस आदेश का विचारक विद्वानों के हृदय पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। कार्यकारिणी में इस विषय को लेकर निम्न प्रकार प्रस्ताव पास हुआ—

'फाल्गुन शुक्ला ३ वीर निर्वाण संवत् २४७६ को गजपन्था में आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज द्वारा की गई, जीवस्थान सत्प्ररूपणा के ९३वें सूत्र से ताड़पत्रीय मूल प्रति में उपलब्ध 'संजद' पद के निष्कासन की घोषणा पर विचार करने के बाद भारतवर्षीय दि०विद्वत्परिषद् की यह कार्यकारिणी जून, सन् ४७ में सागर में आयोजित विद्वत्सम्मेलन के अपने निर्णय को दुहराती है, तथा इस प्रकार से ताम्रपत्रीय एवं मुद्रित प्रतियों में 'संजद' पर निष्कासन की पद्धति से अपनी असहमति प्रकट करती है।'

बैठक समाप्त होने पर, विद्वान् लोग तो अपने-अपने स्थान पर चले गये, पर मेरे मन में निरन्तर यह विकल्प उठता रहा, कि एक ऐसा अवसर आता जो ५ निष्णात विद्वान् एक निरापद-स्थान में निवास कर जैनधर्म के मार्मिक सिद्धान्त को जनता के समक्ष निर्भीक होकर वचनों द्वारा प्रख्यापन करते, तथा यह कहते आप लोग इसका निर्णय करें। यदि आप महाशयों के परीक्षा-विमर्श में यह तत्त्व अभ्रान्त ठहरे, तो उसका प्रचार करिये, यदि किसी प्रकार की शंका रहे, तो निर्णय करने का प्रयास करिये तथा जो सिद्धान्त लिखे जावें, वहाँ पर अन्य ने किस रीति से उसे माना है, यह भी दिग्दर्शन में आ जावे। सबसे मुख्य तत्त्व आत्मा का अस्तित्व है, इसके उत्तर में अनात्मीय पदार्थों पर विचार किया जावे। व्याख्यानों द्वारा सिद्धान्त के दिखाने का जितना प्रयास किया जावे, उससे अधिक लेखबद्ध प्रणाली से दिखाया जावे। इन कार्यों के लिए २५०००) वार्षिक व्यय की आवश्यकता है। परीक्षण के तौर पर ४ वर्ष यह कार्य करवाया जावे। जो पण्डित इस कार्य को करे उन्हें २००) नकद और भोजन दिया जावे। इनमें जो मुख्य विद्वान् हों उन्हें २५०) तथा सबका भोजन व्यय २५०) सब मिलाकर १३००) मासिक तो विद्वानों का हुआ। इसके बाद ४ अंग्रेजी साहित्य के विद्वान् रक्खे जावें, ४०० उन्हें दिया पावे, १००) भोजन व्यय तथा २००) भृत्यों को, इस तरह २०००) मासिक यह हुआ। वर्ष में २४००) हुआ, १०००) वार्षिक यात्रा का व्यय। इस प्रकार शान्तिपूर्वक कार्य चलाया जावे तो बहुत कुछ प्रश्न सरल रीति से निर्णीत हो जावें। एक आदमी समझ लेवे १ गजरथ यही हुआ। इससे बहुत काल के लिए जैनधर्म के अस्तित्व की सामग्री एकत्र हो जावेगी।

एक दिन श्री जुगलकिशोरजी मुख्त्यार और पं०परमानन्दजी कलकत्ता से लौटकर आये और कहने लगे कि वीरसेवामन्दिर की नींव दृढ़तम हो गई। कलकत्ता

वाले बाबू छोटेलाल जी तथा बाबू नन्दलाल जी की इस ओर अच्छी दृष्टि है। आप साहित्य के महान् अनुरागी हैं। आप यह चाहते है कि मानवमात्र के हृदय में जैनधर्म का विकास हो जावे। जैनधर्म तो व्यापक धर्म है, हम किसी को धर्म देते हैं, यही बड़ी भारी भूल है। धर्म तो आत्मा की वह परिणति विशेष है, जो आत्मा को-संसार बन्धन से मुक्त करा देती है। वह परिणति शक्तिरूप से जीव मात्र मे है।........ यह संवाद सुनकर हृदय में प्रसन्नता हुई।

अनेक समस्याओं का हल-स्त्रीशिक्षा

पुरुष वर्ग ने स्त्रीसमाज पर ऐसे प्रतिबन्ध लगा रक्खे हैं कि उन्हें मुख को निरावरण करने में भी संकोच का अनुभव होता है। कहाँ तक कहा जावे? मन्दिर में जब वे श्रीदेवाधिदेव के दर्शन करती हैं, तब मुख पर वस्त्र का आवरण रहने से वे पूर्णरूप से दर्शन का लाभ नहीं ले सकतीं। यद्वा-तद्वा दर्शन करने के अनन्तर यदि शास्त्रप्रवचन में पहुँच गईं, तो वहाँ पर भी वक्ता के वचनों का पूर्ण रूप से कर्णों तक पहुँचना कठिन है। प्रथम तो कर्णों पर वस्त्र का आवरण रहता है तथा पुरुषों से दूरवर्ती उनका क्षेत्र रहता है। दैवयोग से किसी की गोद में बालक हुआ, और उसने क्षुधातुर हो रोना प्रारम्भ कर दिया, तो क्या कहें? सुनना तो एक ओर रहा, वक्ता प्रभृति मनुष्यों के वाग्वाणों का प्रहार होने लगता है— चुप नहीं करती बच्चों को?..... क्यों लेकर आती हैं?......... सबका नुकसान करती है,......... बाहर क्यों नहीं चली जाती.......इन वचनों को श्रवण कर शास्त्र-श्रवण की जिज्ञासा विलीन हो जाती है। अतः पुरुषवर्ग को उचित है, कि वह जिससे जन्मा है, वह स्त्री ही तो है, उसके प्रति इतना अन्याय न करे, प्रत्युत सबसे उत्तम स्थान उन्हें शास्त्र प्रवचन में सुरक्षित रखें। उनकी अशिक्षा ही उन्हें सदा अपमानित करती है।

मेरा तो ख्याल है कि यदि स्त्रीवर्ग शिक्षित होकर, सदाचारी हो जावे, तो आज भारत क्या जितना जगत् मनुष्यों के गम्य है, वह सभ्य हो सकता है। आज जिस समस्या का हल उत्तम से उत्तम मस्तिष्क वाले नहीं कर सके, उसका हल अनायास हो जायगा। इस समय सबसे कठिन समस्या 'जनसंख्या की वृद्धि किस उपाय से रोकी जाय' है। शिक्षित स्त्रीवर्ग इस समस्या को अनायास हल कर सकता

है। जिस कार्य के करने में राजसत्ता भी हार मानकर परास्त हो गई, उसे सदाचारिणी स्त्री सहज ही कर सकती है। वह अपने पतियों को यह उपदेश देकर सुमार्ग पर ला सकती हैं, कि जब बालक गर्भ में आ जावे, तब से आप और हमारा कर्तव्य है, कि यह बालक उत्पन्न होकर जब तक ५ वर्ष का न हो जावे तबतक विषय-वासना को त्याग देवें। ऐसा ही प्रत्येक स्त्री सभ्य व्यवहार करे इस प्रकार की प्रणाली से सुतरां वृद्धि रुक जावेगी। इसके होने से जो लाखों रुपया डाक्टर वैद्यों के यहाँ जाता है, वह बच जावेगा तथा जो टी०बी० के चिकित्सागृह हैं वे स्वयमेव धराशायी हो जावेंगे। अन्न की जो त्रुटि है, वह भी न होगी। दुग्ध पुष्कल मिलने लगेगा। गृहवास की पुष्कलता हो जावेगी, अतः स्त्रीसमाज को सभ्य बनाने की आवश्यकता है। उत्तम से उत्तम जो धोतियाँ मिलों से निकलती हैं यदि स्त्रियाँ उन्हें पहिनना बन्द कर देवें, तो मिल वालों की क्या दशा होगी? सो उन्हें पता चल जावेगा। करोड़ों का माल यों ही बरबाद हो जायेगा। यह कथा छोड़ो, आज स्त्री काँच की चूड़ी पहिनना छोड़ दे, और उसके स्थान पर चाँदी-सुवर्ण की चूड़ी का व्यवहार करने लगे तो चूड़ी वालों की क्या दशा होगी? रोने को मजदूर न मिलेगा। आज स्त्रीसमाज चटक-मटक के आभूषणों को पहिनना छोड़ दे, तो सहस्रों सुनारों की दशा कौन कह सकता है? इसी तरह वे पौडर लगाना छोड़ दे, तो विदेश की पौडर बनाने वाली कम्पनियों को अपना पाउडर समुद्र में फेंकना पड़े। कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्रीसमाज के शिक्षित और सदाचार से सम्पन्न होते ही संसार के अनेक व्यापार बन्द हो सकते हैं। पञ्चम काल में चतुर्थ काल का दृश्य यदि देखना है, तो स्त्रीसमाज की उपेक्षा न कर उसे सुशिक्षित बनाओ। सुशिक्षित से तात्पर्य उस शिक्षा से है, जिससे वे अपने कर्तव्य का निर्णय स्वयं कर सकें।

इटावा में चातुर्मास का निश्चय

जब मैं ईसरी से लौटकर सागर गया था, तब वहाँ की समाज ने हीरक जयन्ती महोत्सव करने का निश्चय किया था, पर कारणवश उस समय वह आयोजन स्थगित हो गया था। साधारण उत्सव हुआ था। तदनन्तर सर्व समाज ने 'वर्णी अभिनन्दन-ग्रन्थ' समर्पण के साथ-साथ हीरक-जयन्ती महोत्सव करने का निश्चय किया। व्यवस्था के लिये समिति का निर्माण हुआ। पं०पन्नालालजी साहित्याचार्य

उसके संयुक्तमन्त्री हुए तथा पं०खुशालचन्द्रजी गोरावाला अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादक निश्चित हुए। अब तक अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार होने की दशा में आ गया था, इसलिये उसके समर्पण एवं हीरक-जयन्ती महोत्सव को सम्पन्न कराने के लिये श्री पं०पन्नालालजी इटावा आये। उन्होंने यहाँ की समाज के समक्ष यह बात रखी, जिससे समाज को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। सबने यह निश्चय किया कि दीपावली के बाद इस उत्सव का आयोजन किया जावे। पं०पन्नालालजी बहुत ही श्रद्धालु और कर्मठ जीव हैं। आपकी लोगों ने योग्यता नहीं जानी।

लोगों की यह दृष्टि बन गई है कि वर्णीजी ने हमारा उपकार किया है, इसलिए हमें इनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करना चाहिये। परन्तु यथार्थ बात यह है कि संसार में सर्व मनुष्य अपने-अपने गीत गाते हैं, कोई किसी का उपकारी नहीं। केवल आत्मा में जो कषाय उत्पन्न होती है, उसे दूर करने का प्रयास करते हैं। कषाय से आत्मा में एक प्रकार की बेचैनी हो जाती है, वह बेचैनी ही कार्य में प्रवृत्ति कराती है। जैसे जिस समय हमको क्रोध उत्पन्न होता है, उस समय पर का अनिष्ट करने की इच्छा होती है। उससे हमको कुछ लाभ नहीं, परन्तु वह इच्छा जब तक है, जब तक बेचैनी से विकलता होती है। जब पर का अनिष्ट हो गया, तब वह विकलता मिट जाती है, हमारी श्रद्धा तो यह है कि क्रोध-कषाय का कार्य ही इसका कारण है। वास्तव में जो विकलता थी, वह क्रोधकषाय से थी, कार्य होने से हमारा क्रोध मिट गया। विचार कर देखो— न हम क्रोध करते, न विकलता होती, अतः क्रोध को न होने देना ही हमारा पुरुषार्थ है। इसका अर्थ यह है कि क्रोध होने पर उसमें आसक्त न होना। यही आगामी क्रोध न होने का उपाय है। क्रोध यह उपलक्षण है। मोहकर्म के उदय से यावत् (जितने) भाव हों, उन सबमें आसक्त न होना। कहाँ तक कहा जावे? देखने-जानने में जो पदार्थ आवें, उनके आने की रोक-टोक नहीं हो सकती। उनमें रागादि नहीं करना, यही संसार-बन्धन से मुक्त होने का अपूर्व मार्ग है— अद्वितीय उपाय है। आत्मद्रव्य की परिणति आत्मातिरिक्त पदार्थों के सम्बन्ध से ही कलुषित हो जाती है। कलुषित का अर्थ यह है कि उन पदार्थों में निजत्व कल्पनाकर हम किसी पदार्थ में राग करते हैं, और जो हमारे राग के विरुद्ध होता है, उसे पर मानते हैं, तथा उसके वियोग का यत्न करते हैं। इस प्रक्रिया को करते-करते अन्त में इस पर्याय का अन्त आ जाता है, अनन्तर जिस पर्याय में जाते हैं, वहाँ भी यही प्रक्रिया काम में लाते हैं, इस तरह अनन्त संसार के पात्र

होते हैं। यथार्थ में न तो अन्य पदार्थ हमारा है, और न हम अन्य के हैं, तब क्यों उनमें निजत्व कल्पना करते हैं? यही कल्पना दूर करने के अर्थ आगमाभ्यास है। आगम में तो इनका सुन्दर कथन है कि वह हमारे अनुभव में आ जावे, तो कल्याण मार्ग अति सुलभ हो जावे।

आत्मा नामक एक पदार्थ है, उसका अनादि काल से अजीव पुद्गल के साथ सम्बन्ध है। आत्मा चेतना गुण वाला द्रव्य है, पुद्गल जड़ है। उसका लक्षण स्पर्श-रस-गन्ध-रूप है— जहाँ ये पाये जावें, उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गल के साथ जीव का ऐसा सम्बन्ध है कि यह जीव उसे निज मान लेता है। निज मानकर उसको सदा रखने का प्रयास करता है। यदि कोई उसमें बाधा पहुँचाता है, तो उसे निज शत्रु मान लेता है। वास्तव में यह कषाय ही नाना खेल रचता है, इसलिए इसके निर्मूल करने का प्रयत्न करो।

चातुर्मास का समय निकट आ रहा था, इसलिए कई स्थानों के लोग अपने-अपने यहाँ चातुर्मास करने की प्रेरणा करते थे और मैं संकोच के कारण किसी को अप्रसन्न नहीं करना चाहता था। परमार्थ से यह हमारे हृदय की बहुत भारी दुर्बलता है। जहाँ चौमासा करना इष्ट नहीं था, वहाँ के लोगों को स्पष्ट मनाकर देने में हानि नहीं थी, परन्तु मैं ऐसा नहीं कर सका। अन्त में समाज की अत्यधिक प्रेरणा से इटावा में ही चातुर्मास करने का निश्चय कर लिया।

इस वर्ष इटावा में वैसे ही गर्मी का अभिक त्रास था, फिर दो आषाढ़ हो गये इससे ठीक 'दूबली और दो आषाढ़ वाली' कहावत चरितार्थ हो गई। अस्तु, जिस किसी तरह ग्रीष्मकाल व्यतीत हुआ। आकाश में श्यामल घन-घटा छाने लगी और जब कभी बूंदा-बांदी होने से लोगों को गर्मी की असह्य वेदना से त्राण मिला। कहाँ तो वे मुनिराज थे, जो जेठ मास की दुपहरियों में पर्वत की चट्टानों पर आतापन योग धारण करते थे, और कहाँ मैं, जो बुद्धिपूर्वक शीतल से शीतल स्थान खोजकर उसमें ग्रीष्मकाल बिताने का प्रयास करता हूँ? वस्तुतः शरीर से ममत्वभाव अभी दूर हुआ नहीं। मुख से कहना बात दूसरी है, और अमल में लाना बात दूसरी है। यदि शरीर से ममत्व छूट गया होता, तो क्या सर्दी, क्या गर्मी और क्या बारिस? सब एक सदृश ही रहते। चातुर्मास का निश्चय करते समय मन में यह विचार किया कि अन्यत्र की अपेक्षा इटावा में रहना ही अच्छा है। कारण कि यहाँ जलवायु की अनुकूलता है, जनता भी भद्र है। चार मास में सानन्द

अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन करो, गपोड़ावाद से बचो, केवल स्वात्मचिन्तन में काल लगाओ। क्षयोपशमज्ञान है, ज्ञेयान्तर में जावे, जाने दो, पर राग-द्वेष की मात्रा न हो, यही पुरुषार्थ करो, व्यर्थ दुःखी मत होओ।

सिद्धचक्र विधान

आषाढ़ शुक्ला अष्टमी सं० २००७ से सिद्धचक्रविधान का पाठ हुआ। मनोहररूप से पूजन सम्पन्न हुई, परन्तु परिणामों में शान्ति किसी के नहीं। केवल गल्पवाद में ही सर्व परिणमन हो जाता है। अन्तरङ्ग की निर्मलता होना दूर है। इस समय चिन्तन तो इस बात का होना चाहिये कि हमारे ही समान चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करनेवाली अनन्त आत्माएँ ज्ञानावरणादि कर्ममल को दूर कर आत्मा की शुद्ध दशा को प्राप्त हुई हैं, आत्मा में अशुद्धता परपदार्थ के सम्बन्ध से आती है। जिस प्रकार स्वर्ण में तामा, पीतल आदि धातुओं के संमिश्रण से अशुद्धता आती है, उसी प्रकार आत्मा में कर्मरूप पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध से अशुद्धता आती है। इस अशुद्धता का कारण आत्मा की अनादिकालीन मोह तथा रागद्वेष रूप परिणति है। मोह के कारण यह स्वरूप को भूलकर अपने को पररूप समझने लगता है। जिस शृगालों की मांद में पला सिंह का बालक अपने को भी शृगाल समझने लगता है। इसी प्रकार मनुष्यादि रूप पुद्गलजन्य पर्यायों के सम्पर्क में रहनेवाला जीव अपने को मनुष्यादि समझने लगता है। मनुष्यादि पर्यायों के साथ इस जीव की इतनी घनी आत्मीय बुद्धि हो जाती है कि वह उन्हें छोड़ने में बड़े कष्ट का अनुभव करता है। राग के कारण अन्य अनुकूल पदार्थों में इष्ट बुद्धि करता है, और द्वेष के कारण अन्य प्रतिकूल पदार्थों में अनिष्ट बुद्धि करता है। जिसे इष्ट मान लेता है, सदा उसके संयोग की इच्छा करता है, तथा उसके वियोग से डरता है, और जिसे अनिष्ट मान लिया है, सदा उसके वियोग की भावना रखता है, तथा उसके संयोग से डरता है। मोह की पुट साथ में रहने से वह पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को समझने में असमर्थ रहता है, इसलिये जिन कारणों से सुख होना चाहिये, उन कारणों से वह दुःख का अनुभव करता है। जैसे किसी मनुष्य की स्त्री मर गई, यहाँ विवेकी मनुष्य तो यह सोचता है कि स्त्री के निमित्त से गृहस्थाश्रम की नाना आकुलताओं का पात्र होना पड़ता था,

अब स्वयमेव वह सम्बन्ध छूट गया, अतः आनन्द का अवसर हाथ आया है, और मोही जीव सोचता है कि हाय मैं दुःखी हो गया। तत्त्वदृष्टि से विचार करो, तो यहाँ दुःख का कारण क्या है? उस जीव के हृदय में स्त्री के प्रति जो रागभाव था और मोह के कारण जो वह स्त्री को सुख का कारण मान रहा था, वही तो दुःख का कारण था। यदि उसके हृदय में यह भाव दृढ़ होता कि सुख ही हमारी आत्मा का गुण है, स्त्री उसका कुछ सुधार-बिगाड़ नहीं कर सकती, तो उसके मरने पर उसे दुःख नहीं होता। इस तरह मोहजन्य कलुषित परिणति के कारण यह जीव द्रव्यकर्मों को ग्रहण करता है और उसके उदय में पुनः कलुषित-परिणति करता है। जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा इस विपरीत परिणति को दूर कर परद्रव्य से अपना सम्बन्ध छुड़ा लिया है, वे सिद्ध कहलाते हैं। जीव की यह अचिन्त्य अव्याबाधत्व आदि गुणों से युक्त आत्यन्तिक अवस्था है। सिद्धचक्र का पाठ स्थापित करने का भाव यही है कि हम उनके गुणों का स्मरण कर इस बात का प्रयत्न करें कि हम भी उनके समान हो जावें। उनके गुणगान में ही समय-यापन किया और उन जैसी अवस्था हमारी न हो सकी, तो इससे क्या लाभ हुआ? आठ दिन तक विधिपूर्वक यह पाठ चला, श्रावणकृष्णा प्रतिपदा के दिन हवन पूर्ण हुआ। इस आयोजन में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का जमाव अधिक रहता था। पुरुषवर्ग की श्रद्धा न हो सो बात नहीं, परन्तु उन्हें व्यवसाय सम्बन्धी कार्यों में व्यस्त रहने के कारण अवसर कम प्राप्त हो पाता था। मैंने इन दिनों में प्रवचन के अतिरिक्त जनसम्पर्क से दूर रहने का प्रयास किया और निरन्तर यह विचार किया—

और कार्य की छोड़ो आशा
आतम हित कर भाई रे !
यही सार जगत में है उत्तम
अन्य सकल भव-जाला रे !
पर को मान निजातम भूला
सदा भ्रमत भव-वासा रे !
कहे सुखी भ्रम से निज को तूँ
भाँग पियो बौराया रे !
पर को दे उपदेश सुखी हुए
मानत निज को साधू रे !

बक बक करत बहुत दिन बीते
करत न निज को बाता रे !
शिव सुत अब निज की निज मानो
पर का कर निरवारा रे !

रक्षाबन्धन और पर्यूषण

श्रावण शुक्ला २ सं० २००७ को १५ अगस्त का उत्सव नगर में था। सदियों के बाद भारतवर्ष आज के दिन बन्धन से मुक्त हुआ है, इसलिए प्रत्येक भारतवासी के हृदय में प्रसन्नता का अनुभव होना स्वाभाविक है। आज के दिन भारत को स्वराज्य मिला, ऐसा लोग कहते हैं, पर परमार्थ से स्वराज्य कहाँ मिला? जब आत्मा पर पदार्थ के आलम्बन से मुक्त हो आत्माश्रित हो जावे, तब स्वराज्य मिला, ऐसा समझना चाहिये। खेद इस बात का है कि इस स्वराज्य की ओर किसी की दृष्टि नहीं जा रही है, हम लोग अपने को नहीं सम्भालते, संसार को उपदेश देते हैं कि कल्याणमार्ग पर चलो, परन्तु हम स्वयं कल्याणमार्ग पर नहीं चलते। अन्य को उपदेश देते हैं कि क्रोध मत करो, पर स्वयं क्षमा की अवहेलना करते हैं। इस स्थिति में पारमार्थिक स्वराज्य की प्राप्ति होना दुर्लभ है।

श्रावण शुक्ला पूर्णिमा सं० २००७ को रक्षाबन्धन पर्व आया। यह पर्व सम्यग्दर्शन के वात्सल्य अङ्ग का महत्त्व दिखलाने वाला है। सम्यग्दृष्टि का स्नेह धर्म से होता है और धर्म के बिना धर्मी रह नहीं सकता, इसलिए धर्मी के साथ उसका स्नेह होता है। जिस प्रकार गौ का बछड़े के साथ जो स्नेह होता है, उसमें गौ को बछड़े की ओर से होने वाले प्रत्युपकार की गन्ध भी नहीं होती, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि से धर्मात्मा से स्नेह करता है, तो उसके बदले वह उससे किसी प्रत्युपकार की आकांक्षा नहीं करता। कोई माता अपने शिशु से स्नेह इसलिए करती है कि यह वृद्धावस्था में हमारी रक्षा करेगा, पर गौ को ऐसी कोई इच्छा नहीं रहती, क्योंकि बड़ा होने पर बछड़ा कहीं जाता है, और गौ कहीं। फिर भी गौ बछड़े की रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी बाजी लगा देती है। सम्यग्दृष्टि यदि किसी का उपकार करे, और उसके बदले उससे कुछ इच्छा रक्खे, तो यह एक प्रकार का विनिमय हो गया, इसमें धर्म का अंश कहाँ रहा? धर्म का अंश

तो निरीह होकर सेवा करने का भाव है। विष्णुकुमार मुनि ने सात सौ मुनियों की रक्षा करने के लिए अपने आपको एकदम समर्पित कर दिया—अपनी वर्षों की तपश्चर्या पर ध्यान नहीं दिया और धर्मानुराग से प्रेरित हो, छल से वामन का रूप धर बलि का अभिमान चूर किया। यद्यपि पीछे चलकर इन्होंने भी अपने गुरु के पास जाकर छेदोपस्थापना की, अर्थात् फिर से नवीन दीक्षा धारण की, क्योंकि उन्होंने जो कार्य किया था, वह मुनि पद के योग्य कार्य नहीं था, तथापि सहधर्मी मुनियों की उन्होंने उपेक्षा नहीं की। किसी सहधर्मी भाई को भोजन, वस्त्रादि की कमी हो, तो उसकी पूर्ति हो जाय, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। यह लौकिक स्नेह है, सम्यग्दृष्टि का पारमार्थिक स्नेह इससे भिन्न रहता है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य हमेशा इस बात का विचार रखता है कि यह हमारा सहधर्मी भाई सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप जो आत्मा का धर्म है, उससे कभी च्युत न हो जाय तथा अनन्त संसार के भ्रमण का पात्र न बन जाय। दूसरे के विषय में ही यह चिन्ता करता हो, सो बात नहीं, अपने आपके प्रति भी यही भाव रखता है। सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित आदि आठ अङ्ग जिस प्रकार पर के विषय में होते हैं, उसी प्रकार स्व के विषय में भी होते हैं। रक्षाबन्धन रक्षा का पर्व है, पर की रक्षा वही कर सकता है, जो स्वयं रक्षित हो। जो स्वयं आत्मा की रक्षा करने में असमर्थ है, वह क्या पर का कल्याण कर सकता है? रक्षा से तात्पर्य आत्मा को पाप से पृथक् करो, पाप ही संसार की जड़ है। जिसने इसे दूर कर दिया, उसके समान भाग्यशाली अन्य कौन है?

आज जैन समाज से वात्सल्य अङ्ग का महत्त्व कम होता जा रहा है, अपने स्वार्थ के समक्ष आज का मनुष्य किसी के हानि-लाभ को नहीं देखता। हम और हमारे बच्चे आनन्द से रहें, परन्तु पड़ौस की झोपड़ी में क्या हो रहा है, इसका पता लोगों को नहीं। महल में रहनेवालों को पास में बनी झोपड़ियों की भी रक्षा करनी होती है, अन्यथा उनमें लगी आग उनके महल को भी भस्मसात् कर देती है। एक समय तो वह था कि जब मनुष्य बड़े की शरण में रहना चाहते थे, उनका ख्याल रहता था कि बड़ों के आश्रय में रहने से हमारी रक्षा रहेगी, पर आज का मनुष्य बड़ों के आश्रय से दूर रहने की चेष्टा करता है, क्योंकि उसका ख्याल बन गया है कि जिस प्रकार एक बड़ा वृक्ष अपनी छाँह में दूसरे छोटे पौधे को नहीं पनपने देता है, उसी प्रकार बड़ा आदमी समीपवर्ती—शरणागत अन्य मनुष्यों

को नहीं पनपने देता। अस्तु, रक्षाबन्धन पर्व हमें सदा यही शिक्षा देता है कि 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' अर्थात् सब सुखी रहें।

मैं कहने के लिए तो यह सब कह गया, पर सामायिक के बाद अन्तरंग में जब विचार किया, तब यही ध्वनि निकली कि पर की समालोचना त्यागो, आत्मीय समालोचना करो। समालोचना में काल लगाना भी उचित नहीं, प्रस्तुत वह काल उत्तम विचार में लगाओ। आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा है, वही रहने दो, इसमें इष्ट-अनिष्ट कल्पना से बचो। अनादिकाल से यही उपद्रव करते रहे, पर सन्तुष्ट नहीं हुये। आत्मपरिणति को स्वच्छ रक्खो, सो तो करता नहीं, संसार का ठेका लेता है। जो मनुष्य आत्मकल्याण से वंचित है, वे ही संसार के कल्याण में प्रयत्न करते हैं। संसार में यदि शांति चाहते हो, तो सबसे पहले पर में निजत्व की कल्पना त्यागो, अनन्तर अनादि काल से जो यह परिग्रह-पिशाच के आवेश में अनात्मीय पदार्थों से आत्महित का संस्कार है, उसे त्यागो। हम आहारादि संज्ञाओं से आत्मा को तृप्त करने का प्रयत्न करते हैं, यह सर्व मिथ्या धारणा है, इसे त्यागो। संतोष का कारण त्याग है, उस पर स्वत्व कल्पना करो। प्रतिदिन जल्पवाद से जगत् को सुलझाने की जो चेष्टा है, उसे त्यागो, और आपको सुलझाने का प्रयत्न करो। संसार मे धर्म और अधर्म तथा खान और पान यही तो परिग्रह है। लोग में जिसे पुण्यशब्द से व्यवहृत करते हैं, वह धर्म तुम्हारा स्वभाव नहीं, संसार में ही रखनेवाला है।

धीरे-धीरे पर्यूषण पर्व आ गया। चतुर्थी के दिन श्री पंडित झम्मनलालजी आ गये। पं०कमलकुमारजी यहाँ थे ही, इसलिये प्रवचन का आनन्द रहा। वृद्धावस्था के कारण हमसे अधिक बोला नहीं जाता और न बोलने की इच्छा ही होती है। उसका कारण यह है कि जो बात प्रवचन में कहता हूँ, तदनुरूप मेरी चेष्टा नहीं। मैं दूसरों से तो कहता हूँ कि रागादिक दुःख के कारण हैं, अतः इनसे बचो, पर स्वयं उनमें फँस जाता हूँ। दूसरों से कहता हूँ कि सर्व प्रकार से विकल्प त्यागो, पर स्वयं न जानें कहाँ-कहाँ के विकल्पों में फँसा हुआ हूँ।

पर्यूषण पर्व साल में तीन बार आता है— भाद्रपद, माघ और चैत्र में, परन्तु भाद्रपद के पर्यूषण का प्रचार अधिक है। पर्व के समय प्रत्येक मनुष्य अपने अभिप्राय को निर्मल बनाने का प्रयास करते हैं, और यथार्थ में पूछा जाय तो अभिप्राय की निर्मलता ही धर्म है। आत्मा की यह निर्मलता क्रोधादिक कषायों

के कारण तिरोहित हो रही है, इसलिए इन कषायों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं, इनमें क्रोध से क्षमा, मान से मार्दव, माया से आर्जव और लोभ से शौचगुण तिरोहित हैं। ये चार कषाय निकल जावे और उनके बदले क्षमा आदि गुण आत्मा में प्रकट हो जावे तो आत्मा का उद्धार हो जावे, क्योंकि मुख्य में यह चार गुण ही धर्म है। आगे जो सत्य आदि छ: धर्म कहे हैं, वे इन्हीं के विस्तार हैं— इन्हीं के अंग हैं। क्रोध को वही जीत सकता है, जिसने मान पर विजय प्राप्त कर ली हो। हम कहीं गये, किसी ने सत्कार नहीं किया, हमारी बात पूछी नहीं, हमें क्रोध आ गया। हमने किसी से कोई बात कही, उसने नहीं मानी, हमें क्रोध आ गया कि इसने हमारी बात नहीं मानी, इस प्रकार देखते हैं कि हमारे जीवन में जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसमें मान प्राय: कारण होता है। इसी प्रकार माया की उत्पत्ति लोभ से होती है। हमें आपसे किसी वस्तु की आकांक्षा है, तो उसे पाने के लिए हम इच्छा न रहते हुए भी आपके प्रति ऐसी चेष्टा दिखलावेंगे कि जिससे आपके हृदय में यह प्रत्यय हो जावे कि हमारे अनुकूल है। जब अनुकूलता का प्रत्यय आपके हृदय से दृढ़ हो जावेगा, तभी तो अपनी वस्तु देने का भाव होगा। इस तरह यह किसी का कहना ठीक है कि 'मानात्क्रोध: प्रभवति माया लोभात्प्रवर्तते' अर्थात् मान से क्रोध उत्पन्न होता है। और लोभ से माया प्रवृत्त होती है। जब आत्मा से क्रोध, लोभ भीरुत्व तथा हास्य की परिणति दूर हो जाती है, तो सत्य वचन में प्रवृत्ति अपने आप होने लगती है। असत्य बोलने के कारण दो हैं— १. अज्ञान और २. कषाय। इनमें अज्ञानमूलक असत्य आत्मा का घातक नहीं, क्योंकि उसमें परिणाम मलिन नहीं रहते, परन्तु कषायमूलक असत्य आत्मा का घातक है, क्योंकि उसमें परिणाम मलिन रहते हैं। जब आत्मा से क्रोधादि कषाय निकल गई तब असत्य बोलने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इंद्रियों के विषयों से निवृत्ति हो गई है, यही संयम है। यह निवृत्ति तभी हो सकती है जब लोभ कषाय की निवृत्ति हो जाय तथा यह प्रत्यय हो जाय कि आत्मा में सुख की उत्पत्ति विषयाभिमुखी प्रवृत्ति से नहीं, किन्तु तन्निवृत्ति से है। मानसिक विषयों की निवृत्ति हो जाना— इच्छाओं पर नियन्त्रण हो जाना, सो तप है। जब तक मन स्वाधीन नहीं होगा, तब तक उसमें इच्छायें उठा करेंगी और इच्छाओं के रहते परिणामों में स्थिरता स्वप्न में भी नहीं आ सकती। जब इच्छाएँ घट जावेंगी, तब उसके फलस्वरूप त्याग स्वत: हो जावेगा। भोजन करते-करते जब भोजन विषयक इच्छा दूर हो

जाती है, तब भोजन के त्याग करने में देर नहीं लगती। क्षुधित अवस्था में यह भाव होता था कि पात्र में भोजन जल्दी आवे और क्षुधाविषयक इच्छा दूर हो जाने पर भाव होता है कि कोई बलात् पात्र में भोजन न परोस दे। त्याग के बाद आकिञ्चन्य दशा का होना स्वाभाविक है। जब पुरातन परिग्रह का त्यांग कर दिया और इच्छा के अभाव में नूतन परिग्रह अंगीकृत नहीं किया तक आकिञ्चन्य दशा स्वयमेव होने की है ही। और जब अपने पास आत्मातिरिक्त किसी पदार्थ का अस्तित्त्व नहीं रहा— उसमें ममता परिणाम नहीं रहा, तब आत्मा का उपयोग आत्मा में ही लीन होगा, यही ब्रह्मचर्य है, इस प्रकार यह दश धर्मों का क्रम है। दश धर्मों का यह क्रम जीवन में उतर जावे तो आत्मा का कल्याण हो जावे। विचार कीजिए, क्षमा, मार्दव आदि धर्म किसके हैं, और कहाँ हैं? विचार करने पर ये आत्मा के हैं और आत्मा में ही हैं, परन्तु यह जीव अज्ञानवश इतस्तत: भ्रमण करता-फिरता है। लाखों का धनी व्यक्ति जिस प्रकार अपनी निधि को भूल दर-दर का भिखारी हो भ्रमण करता है, ठीक उसी प्रकार हम भी अपनी निधि को भूल उसकी खोज में इतस्तत: भ्रमण कर रहे हैं।

परम धर्म को पाय कर सेवत विषय कषाय ।
ज्यों गन्ना को पाय कर नीमहि ऊँट चबाय ।।

जिस प्रकार ऊँट गन्ना को छोड़कर नीम को चबाता है, उसी प्रकार संसार के प्राणी परमधर्म को छोड़कर विषय-कषाय का सेवन करते हैं। उनसे सुख मानते हैं। मोहोदय से इस जीव की दृष्टि स्वोन्मुख न हो पर की ओर हो रही है।

पर्व के समय प्रवचन होते हैं। वक्ता अपने क्षायोपशमिक ज्ञान के आधार पर पदार्थ का निरूपण करता है। यहाँ वक्ता से यदि कुछ विरुद्ध कथन भी होता है, तो अन्य समझदार व्यक्ति को समताभाव से उसका सुधार करना चाहिये, क्योंकि शास्त्रप्रवचन धर्मकथा है, विजिगीषुकथा नहीं। धर्मकथा का सार यह है, कि दश आदमी एकत्र बैठकर पदार्थ का निर्णय कर रहे हैं, इसमें किसी के जय-पराजय का भाव नहीं है। जहाँ यह भाव है, वहाँ वार्तालाप में विषमता आ जाती है। यह विषमताा पाप का कारण है। वार्तालाप के समय वक्ता या श्रोता किसी को यह भाव नहीं होना चाहिये कि हमारी प्रतिष्ठा में बट्टा न लग जावे। समताभाव से सत्य बात को स्वीकार करना चाहिये और समता भाव से ही असत्य बात का निराकरण करना चाहिये। यहाँ भाद्रपद शुक्ल १० के दिन पण्डितगणों में परस्पर

कुछ वार्तालाप की विषमता हो गई। विषमता का कारण 'परमार्थ से हमारी प्रतिष्ठा में कुछ बट्टा न लगे' यह भाव था। तत्त्व से देखो तो आत्मा निर्विकल्प है उसमें यशोलिप्सा ही व्यर्थ है। यश तो नामकर्म की प्रकृति है। यश से कुछ मिलता-जुलता नहीं है। जिस वक्ता ने शास्त्रप्रवचन में यश की लिप्सा रक्खी, उसका २ घण्टे तक गले की नशें खींचना ही हाथ रहा, स्वाध्याय के लाभ से वह दूर रहा, इसी प्रकार जिसे श्रोता ने वक्ता की परीक्षा का भाव रक्खा या अपनी बात जमाने का अभिप्राय रक्खा, उसने अपना समय व्यर्थ खोया। वक्ता का भाव तो यह होना चाहिये कि हम अज्ञानी जीवों को वीतराग जिनेन्द्र की वाणी सुनाकर सुमार्ग पर लगावें और श्रोता का भाव यह होना चाहिये कि वक्ता के श्रीमुख से जिनवाणी के दो शब्द सुन अपने विषय-कषाय को दूर करें।

पर्व के बाद आश्विन प्रतिपदा क्षमावाणी का दिन था, परन्तु जैसा उसका स्वरूप है, वैसा हुआ नहीं। केवल प्रभावना होकर समाप्ति हो गई। परमार्थ से अन्तरङ्ग से शान्तिभाव की प्राप्ति हो जाना यही क्षमा है, सो इस ओर तो लोगों की दृष्टि है नहीं, केवल ऊपरी भाव से क्षमा माँगते हैं, एक-दूसरे के गले लगते हैं। इससे क्या होनेवाला है? और खासकर जिससे बुराई होती है, उसके पास भी नहीं जाते, उससे बोलते भी नहीं, इसके विपरीत जिससे बुराई नहीं, उसके पास जाते हैं, उसके गले लगते हैं, उसे क्षमावाणी पत्र लिखते हैं आदि। यह सब क्या क्षमावणी उत्सव का प्राणशून्य ढाँचा नही है?

आश्विन कृष्ण ४ सं०२००७ को मेरे जन्मदिन का उत्सव था। पं०राजेन्द्रकुमारजी, पं०नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य, पं०चन्द्रमौलिजी, पं०पन्नरत्नजी, कवि चन्द्रसेनजी, पं०खुशालचन्द्रजी तथा राजकृष्ण आदि बाहर से आये। जयन्ती उत्सवों में जो होता है, वही हुआ, सबने प्रशंसा में चार शब्द कहे और हमने नीची गरदन कर उन्हें सुना। दूसरे दिन रतनलालजी मादेपुरिया, महावीर प्रसादजी ठेकेदार दिल्ली तथा फिरोजाबाद से छदामीलाल जी भी आये। छदामीलालजी ने आग्रह किया कि आप फीरोजाबाद आवें। हम कुछ करना चाहते हैं और अच्छा कार्य करेंगे। हम वहाँ एक सुन्दर मन्दिर और एक उद्योग विद्यालय खोलना चाहते हैं। पं०राजेन्द्र कुमारजी तथा खुशालचन्द्रजी ने भी इस पर जोर डाला तथा यह आग्रह किया कि वर्णी अभिनन्दन-ग्रन्थ के समर्पण का समारोह यहाँ न होकर फिरोजाबाद में ही हो। मैंने कहा कि अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पण की बात मैं नहीं

जानता, पर आप लोगों का यदि कुछ काम करने का भाव है और मेरे वहाँ पहुँचने में वह फलीभूत होता है, तो दीपावली बाद मैं चलूँगा। मेरे उत्तर सुन उन्हें प्रसन्नता हुई।

सब लोग अपने-अपने घर गये और पर्यूषण सम्बन्धी चहल-पहल भी जयन्ती उत्सव के साथ समाप्त हुई। मन में व्यग्रता का अभाव हुआ तथा निम्नाङ्कित भावना प्रकट हुई—

चाहत जो मन शान्ति-सुख, तजहु कल्पना-जाल।
व्यर्थ भरम के भूत में, क्यों होते बेहाल।।१।।
यह जगत की माया विकट, जो न तजोगे मित्र।
तो चहुँगति के बीच में, पावोगे दुख चित्र।।२।।

●

इटावा से प्रस्थान

आश्विन कृष्णा ८ सं०२००७ को राजकोट से डाक्टर और मोहन भाई आये। तत्त्वचर्चा का अच्छा आनन्द रहा। निमित्त-उपादान की चर्चा हुई। यद्यपि इस चर्चा में विशेष आनन्द नहीं, परन्तु फिर भी लोग यही करते हैं। 'आत्मा का कल्याण हो' यह मुख्य प्रयोजन है। वह उपादान की प्रधानता से हो या निमित्त की प्रधानता से हो, यही मुख्य उद्देश्य है। मेरी समझ के अनुसार तो कार्य की सिद्धि में न केवल उपादान कुछ कर सकता है और न निमित्त। जब दोनों की अनुकूलता हो तभी कार्य की सिद्धि हो सकती है। कुम्भकार के व्यापार से निरपेक्ष केवल मृत्तिका से घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती और मृत्तिका से निरपेक्ष केवल कुम्भकार के व्यापार से घट की रचना नहीं हो सकती। दोनों सापेक्ष रह कर ही कार्य उत्पन्न कर सकते हैं।

आश्विन कृष्ण १४ सं०२००७ को फिरोजाबाद से पं०माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य आये। प्रातःकाल ८।। से ९।। तक उनका प्रवचन हुआ। आपकी कथनशैली अच्छी है, उच्चकोटि के विद्वान् हैं, आपने श्लोकवार्तिक के ऊपर भाषाटीका लिखी है। जिसका प्रथम भाग मुद्रित हुआ है। उसको हमने देखा, व्याख्या समीचीन प्रतीत हुई। आपके द्वारा यह अभूतपूर्व कार्य हो गया है।

कार्तिक शुक्ला ६सं० २००७ के दिन जबलपुर से बहुत से मानव आये। सबने आग्रह किया कि जबलपुर चलिये। मैं संकोचवश कुछ निश्चित उत्तर नहीं दे सका, किन्तु मन में यह बात आई कि वहाँ जाने से जनता का उपकार बहुत हो सकता है, अतः जाना अच्छा है। उस देश में जाने से दान अच्छा होगा, तथा संस्थाएँ स्थिर हो जावेंगी।

प्रतिदिन प्रातःकाल मन्दिर में शास्त्रप्रवचन, मध्याह्न में स्वकीय स्थान पर स्वाध्याय और रात्रि को मन्दिर में प्रवचन यही क्रम यहाँ पर जब तक रहा, चलता रहा। चातुर्मास की समाप्ति के बाद मार्गशीर्ष कृष्ण पञ्चमी को इटावा से भिण्ड के लिये प्रस्थान कर दिया। जाते समय अनेक स्त्री-पुरुष आये। १०-११ माह यहाँ रहने से लोगों के हृदय में मेरे प्रति आत्मीय भाव उत्पन्न हो गया था, इसलिए जाते समय लोगों को बहुत दुःख हुआ। मैंने कहा कि यह स्नेह ही संसार-बन्धन

का कारण है। यदि आप लोगों ने इतने समय तक जैनधर्म का कुछ सार ग्रहण किया है, तो उसके अनुसार प्रथम तो किसी परपदार्थ में इष्ट-अनिष्ट की भावना ही नहीं होना चाहिये और यदि कारणवश किसी में इष्ट-अनिष्ट भावना हो भी गई है, तो उसके वियोग तथा संयोग में हर्ष-विषाद का अनुभव नहीं करना चाहिए। इस विषम संसार में अनादि से यह जीव परपदार्थ में निजत्व की कल्पना करता है। जिसमें निजत्व मानता है, उसे अपनाने की चेष्टा करता है, उसको किसी प्रकार बाधा न पहुँचे, ऐसा प्रयत्न सतत करता है। यदि कोई उसके प्रतिकूल हुआ, तो उसके पृथक् होने की चेष्टा करता है। बन्धन ही दुःख का मूल है, बन्धन स्नेह—मोहमूलक है और मोह परपदार्थों को अपना मानना एतन्मूलक है। इस संसार अटवी में अनन्तकाल भ्रमण करते-करते आज यह अलब्ध मनुष्यपर्याय का लाभ हुआ है। अथवा यह कथनमात्र है, क्योंकि अनन्त बार मनुष्य पर्याय पाया है। पर्याय ही नहीं पाया, अनन्त बार द्रव्यमुनि होकर अनन्तबार ग्रैवैयक तक गया, जहाँ ३१ सागर की आयु पाई, तत्त्वविचार में समय गया, किन्तु स्वात्मज्ञान से वञ्चित रहा। तब अवसर अच्छा है, यदि अन्तरङ्ग से परिश्रम किया जावे, तो अनायास भेद-ज्ञान का लाभ हो सकता है। भेदज्ञान वह वस्तु है जिसके होते ही यह आत्मा अनन्त संसार के बन्ध को छेद सकता है। भेदज्ञान के अभाव में, जो हमारी दशा हो रही है, वह हमको विदित है। उसके बिना ही हम पर को अपना मानते हैं और निरन्तर यही प्रयास करते हैं कि वह पदार्थ हमारे अनुकूल रहे। पदार्थ २ तरह के हैं, एक चेतन और दूसरे अचेतन। अचेतन पदार्थ तो जड़ हैं, उनमें न तो राग है और न द्वेष है। वह न किसी का भला करते हैं, और न किसी का बुरा करते हैं। हम स्वयं अपनी रुचि के अनुकूल उन्हें काल्पनिक बुरा-भला मान लेते हैं। इसमें कारण हमारी रुचि-भिन्नता है। यद्यपि यह निर्विवाद है कि सर्वपदार्थ अपने-अपने परिणमन से परिणत होते रहते हैं। कोई कर्त्ता-परिणमन करानेवाला नहीं, परन्तु तो भी हमारी ऐसी धारणा बन गई है कि अमुक निमित्त न होता तो यह न होता, क्योंकि लोक में जो कार्य देखे जाते हैं, वे सर्व ही उपादान और निमित्त से ही आत्म-लाभ करते हैं। आप लोगों का हित आपकी आत्मा पर निर्भर है, परन्तु आप लोगों ने मुझे उसका निमित्त मान रक्खा है, इसलिए मेरे वियोग में आपको दुःख का अनुभव हो रहा है।

जो संसार समुद्र से, है तरने की चाह।
भेदज्ञान नौका चढ़ो, पर की छोड़ो राह ।।

इटावा से ११/२ मील चलकर नलियाजी मिली। वहाँ तक बहुत लोगों का समुदाय रहा। नलियाजी में दो छोटे-छोटे मन्दिर हैं, दर्शन किये! एक मन्दिर में प्राचीन प्रतिबिम्ब है, बहुत मनोज्ञ है, किन्तु हाथ खण्डित है। एक समय ऐसा था जब यवनों के द्वारा अनेक मन्दिर ध्वस्त किये गये। यवन धर्मानुयायी मूर्तितत्त्व को नहीं समझते। मूर्तिपूजा उन्हें पसन्द नहीं। न करें, पर संसार की मूर्तियों और मन्दिर को ध्वस्त करने में कौन-सा धर्म है? बुद्धि में नहीं आता।

फिरोजाबाद की ओर

श्री क्षुल्लक बलदेवदासजी, जिनका दूसरा नाम सम्भवसागर था, तथा क्षुल्लक मनोहरलालजी इटावा से ही साथ हो गये थे। भिण्ड में पहुँचने पर, वहाँ जनता ने संघ का अच्छा स्वागत किया। श्री नेमिनाथ स्वामी के मन्दिर में श्रीयुत क्षुल्लक मनोहरलालजी का प्रवचन हुआ। आपने अति सरल शब्दों में, आत्मा में जो रागादिक होते हैं, उनका विवेचन किया। इसी प्रकरण में आपने यह भी कहा कि कार्य की उत्पत्ति सामग्री से होती है। सामग्री में एक उपादान और इतर सहकारी कारण होते हैं, जो स्वयं कार्यरूप परिणमे वह तो उपादान है, और जो सहायक हो, पर तद्रूप परिणमन नहीं करता, वह सहकारी होता है। सहकारी अनेक होते हैं। जैसे कुम्भ की उत्पत्ति में मिट्टी उपादान और कुम्भकारादि सहकारी होते हैं। इन सहकारियों में चेतन भी होते हैं, और अचेतन भी। सहकारी कारण चाहे चेतन हों चाहे अचेतन बलात्कार कार्य को उत्पन्न नहीं करते, किन्तु उनकी सहकारिता अति आवश्यक है। प्रवचन सुन जनता बहुत प्रसन्न हुई। एक दिन आदिनाथ स्वामी के मन्दिर में प्रवचन हुआ।

पिछले समय जब यहाँ आये थे, तब पाठाशाला चालू करने का प्रयत्न कुछ लोगों ने किया था, परन्तु परस्पर के वैमनस्य से यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका था। अब मार्गशीर्ष शुक्ला ९ सं०२००७ को पाठशाला का उद्‌घाटन श्री पं०झम्मनलालजी ने मङ्गलाष्टक पूर्वक सानन्द कराया। आज श्री राजकृष्ण जी, पं०राजेन्द्रकुमारजी तथा श्री छदामीलालजी आये। सबका उद्देश्य फिरोजाबाद में हीरक-जयन्ती महोत्सव तथा वर्णी अभिनन्दन-ग्रन्थ समारोह की स्वीकृति प्राप्त करना था। राजकृष्ण हृदय से बात करते हैं। पण्डित राजेन्द्रकुमार जी चतुर व्यक्ति हैं। समाज का हित चाहते हैं, तथा कार्य भी उसी के अनुरूप करते हैं, किन्तु

अन्तरङ्ग उनका गम्भीर है। उसका निश्चय करना, प्रत्येक व्यक्ति का कार्य नहीं। कुछ हो, जो वह कार्य करते हैं, समाज के हित की दृष्टि से करते हैं। मार्गशीर्ष शुक्ल ११ को पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर वाले आये। यह निश्चय हुआ कि अभिनन्दनग्रन्थ का समारोह फीरोजाबाद में हो। हमने यह निश्चय कर लिया कि फिरोजाबाद में उत्सव होने के बाद सागर जावेंगे। आज ही हम लोग भिण्ड छोड़कर फूफ आ गये। यह स्थान भिण्ड से ७ मील है। दूसरे दिन फूफ से चलकर चम्बल आये। यहाँ एक प्राचीन मन्दिर है। ३ बजे चम्बल पार हुए। आधा फर्लाङ्ग पानी में चलना पड़ा, तदनन्तर आधा मील चलकर उदी में आ गये। स्कूल में रात्रि को ठहर गये। प्रात:काल सामायिक का उद्यम किया। इतने में श्री क्षुल्लक मनोहरजी ने कहा, हम खुर्जा जावेंगे। मैंने कहा ठीक है। मन में विचार आया कि मैं संघ का आडम्बर कर लोगों के संयोग-वियोग के समय व्यर्थ ही हर्ष-विषाद का पात्र बनता हूँ, अत: जितने जल्दी बन सके, यह संघ का आडम्बर छोड़ देना चाहिए। पर का समागम सुखद नहीं, क्योंकि पर के समागम में अनेक विकल्प होते हैं। विकल्प ही आकुलता के जनक हैं। आत्मा में ज्ञान है, उसके द्वारा वह उस विकल्प के अनेक अर्थ स्वरुचि के अनुकूल लगाता है और कुछ यथार्थ भी लगाता है तथा उनको रखने की चेष्टा करता है। समागम में अनिष्ट-इष्ट कल्पना मत करो। इष्टानिष्ट कल्पना अन्तरङ्ग से होती है, अत: यदि समागम को नहीं चाहते हो, तो अन्तरङ्ग कल्पना त्याग दो। पर को इष्ट-अनिष्ट मानने की बात छोड़ो। दोष आप में देखो तभी सुमार्ग मिलेगा।

पौष कृष्ण ८ सं० २००७ सोमवार को ईसवीय नवीन वर्ष का प्रारम्भ हुआ। आज दैनंदिनी के प्रथम पृष्ठ पर लिखा कि **'यदि कश्चित् आत्मा संसारसमुद्रादुद्धर्तुमिच्छति तदास्मिन् यावन्तः पदार्थाः सन्ति तैः सह संसर्गो न कार्यः'** अर्थात् यदि कोई आत्मा संसार समुद्र से उद्धार पाने की इच्छा करता है, तो इसमें जितने पदार्थ हैं, उनके साथ सम्पर्क नहीं करना चाहिए। मन में विचार आया कि इस वर्ष में यदि शान्ति की अभिलाषा है तो इन नियमों का पालन करो—

प्रात:काल ३।। घंटा स्वाध्याय में बिताओ। तदनन्तर सामायिक करो। स्वाध्याय में पुस्तकों की मर्यादा रक्खो समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय..... इन पुस्तकों को णमोकार मन्त्र बनाओ। रात्रि में आधा घंटा बोलो, आधा घंटा शास्त्र-श्रवण करो। प्रात:काल स्वाध्याय के समय

किसी से मत बोलो। यदि बोलो तो जिसका स्वाध्याय कर रहे हो, उसी पर बोलो। भोजन की प्रक्रिया को सरल बनाओ। भृत्य का अभ्यास छोड़ो आत्मीय कार्य का भार परके ऊपर मत डालो। त्याग का अर्थ यह नहीं जो अन्य समाज को भारभूत बनो। सूत्र में स्वामी ने 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' लिखा है, तदनुकूल प्रवृत्ति करो। समाज भोजनादि द्वारा तुम्हारा उपकार करती है, तो तुमको भी उचित है कि यथायोग्य ज्ञानादि दान द्वारा उसका उपकार करो। यदि तुम त्यागी न होते, तो निर्वाह के अर्थ कुछ व्यापारादि करते, उसमें तुम्हारा काल जाता, अत: जो तुम्हारा भोजनादि द्वारा उपकार करे, उसका ज्ञानादि द्वारा उपकार कर, उससे उऋण होना चाहिए।

एक बार यहाँ चर्चा उठी कि यह जीव अच्छे बुरे-संस्कार पूर्व जन्म से लाता है। मेरा कहना था कि सब संस्कार पूर्व जन्म से नहीं लाता, बहुत से संस्कार वर्तमान सम्पर्क से भी उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति के समय मनुष्य नग्न ही होता है और मरण के समय भी नग्न रहता है। मनुष्य जिस देश में पैदा होता है, उसी देश की भाषा को जानता है, तथा जिसके यहाँ जन्म लेता है, उसी का आचार उस बालक का आचार हो जाता है, जन्मान्तर से न तो भाषा लाता है और न आचारादि क्रियाएँ। किन्तु जिस कुल में जो जन्म लेता है, उसी के अनुकूल उसका आचरण हो जाता है, अत: सर्वथा जन्मान्तर-संस्कार ही वर्तमान आचार का कारण है, यह नियम नहीं। वर्तमान में भी कारणकूट के मिलने से जीवों के संस्कार उत्तम हो जाते हैं। अन्य की कथा छोड़ो, पशुओं के भी मनुष्य सहवास से नाना-प्रकार की चेष्टाएँ देखी जाती हैं और उन बालकों में, जो ऐसे नाना-प्रकार की चेष्टाएँ देखी जाती हैं और उन बालकों में, जो ऐसे कुलों में उत्पन्न हुए, जहाँ ज्ञानादि के किसी प्रकार के साधन न थे, उत्तम मनुष्यों के सहवास से अच्छे संस्कार देखे गये। वे उत्तम विद्वान् और सदाचारी देखे गये। वर्तमान में जो डॉ०अम्बेडकर है, वह विधानसभा का सदस्य है। वह जिस कुल में उत्पन्न हुआ, यद्यपि उसमें यह सब साधन न थे, तो भी अन्य उत्तम सम्पर्क मिलने के कारण उसकी प्रतिभा चमक उठी। यहाँ के जो बालक विलायत में अध्ययन करने जाते हैं, उनके आचरण प्राय: जिस देश के शिक्षकों के सहवास में रहते हैं, वहीं के हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जीव के कितने ही संस्कार पूर्व जन्म से आते हैं, तो कितने ही इस जन्म के वातावरण से उत्पन्न होते हैं।

पौष कृष्णा १२ सं० २००७ के दिन इन्दौर वाले यात्री आये। आत्मकल्याण की लालसा से आदमी यत्र-तत्र भ्रमण करते हैं। जैसे गर्मी की ऋतु में पिपासातुर हरिण दो घूंट पानी के लिए इधर-उधर दौड़ता है, उसी प्रकार जगत् के मानव भी धर्म की लालसा से जहाँ-तहाँ दौड़ रहे हैं। कोई तीर्थक्षेत्र जाता हैं, तो कोई किसी मुनि, क्षुल्लक आदि उत्तम पुरुषों की संगति में जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्मपदार्थ इतना व्यापक है कि प्रत्येक व्यक्ति इसे आत्मीय मानता है। जितने मत संसार में प्रचलित हैं, धर्म ही उनका प्राण है। इसके बिना कोई भी मत जीवित नहीं रह सकता। जिस प्रकार मनुष्य में इन्द्रियादि प्राण हैं, उसी प्रकार मतमतान्तरों में धर्म प्राण हैं। किन्तु उसकी यथार्थता के बिना आज जगत् अनेक संकटों का पात्र बन रहा है। इसका मूल कारण धर्म के स्वरूप को न समझकर उठने वाली नाना प्रकार की कल्पनाएँ हैं। कोई तो पृथिवी विशेष के स्पर्श में धर्म मानते हैं, अर्थात् विशेष स्थान (तीर्थक्षेत्र) का स्पर्श करने से आत्मा पवित्र हो जाती है, तो कोई पानी के स्पर्श को ही धर्म का साधन मानते हैं, अर्थात् अमुक नदी या तडाग आदि के जल का स्पर्श करने— उसमें स्नान करने से धर्म मानते हैं और कोई अग्नि को ही धर्म का साधन समझ उसकी पूजा करते हैं। परन्तु यथार्थ में धर्म आत्मा की निर्मल परिणति है। निर्मलता कषाय के अभाव में आती है, और कषाय का अभाव स्वपर के वास्तविक स्वरूप को समझ लेने से होता है अत: स्वपर के यथार्थ स्वरूप को समझो। यथार्थ स्वरूप के सामने आत्मा को छोड़ पुद्गल या उसके निमित्त से उत्पन्न विकार को आत्मा न मानो और ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुणों का पुञ्ज जो आत्मा है, उसे पृथिवी आदि का विकार मत जानो।

चरणानुयोग के सिद्धान्त अटल हैं, उनका तात्पर्य यह है कि पर पदार्थों से ममता हटाओ। हम लोग पर पदार्थों का त्याग कर प्रसन्न हो जाते हैं, और मन से सोचते हैं कि हमने बहुत उत्तम कार्य किया। यहाँ परमार्थ से विचार करो कि जो पदार्थ हमने त्यागे, वे क्या हमारे थे? आप यहीं कहेंगे कि हमसे भिन्न थे, तब आप जो उनको आत्मीय समझ रहे थे, यही महती अज्ञानता थी। यावत् आपको भेदज्ञान न था, उन्हें निज मान रहे थे। यही अनन्त संसार के बन्धन का भाव था। भेद ज्ञान होने से आपकी अज्ञानता चली गई। फिर यदि आप उस पदार्थ को दान कर फल चाहते हैं, तो दूसरे को अज्ञान बनाने का ही प्रयास हैं और तुम स्वयं आत्मीय भेदज्ञान को मिटाने का प्रयास कर रहे हो। यह जो दान की

पद्धति है, वह अल्पज्ञानियों के लिये है। भेदज्ञान वाले तो इससे तटस्थ रहते हैं, अतः दान लेने-देने का व्यवहार छोड़ो। वस्तु पर विचार करो। आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा स्वयमेव है। उसमें विकार न आने दो। विकार का अर्थ यह कि ज्ञान-दर्शन का कार्य जानना देखना है उसे मोह-राग-द्वेष से कलङ्कित मत करो। इसी का नाम मोक्ष है, जहाँ राग-द्वेष-मोह है वहीं संसार है, जहाँ संसार है, वहीं बन्धन है और जहाँ बन्धन है, वहीं पराधीनता है।

पौष कृष्ण १३ सं०२००७ को यहाँ मल्लिसागरजी दिगम्बर मुनि आये। आपके आने का समाचार श्रवण कर बहुत श्रावक-श्राविकाएँ आपको लेने को गये। ११।। बजे आपका शुभागमन हुआ, आपने मन्दिर में दर्शन किये। हम लोग नित्य नियम के अनुसार सामायिक करने के लिये बैठ गये। सामायिक के बाद आये मुनि महाराज भी सामयिक के अनन्तर बाहर तख्त पर उपदेश देने लगे। लोगों ने चर्या के लिए प्रार्थना की। फिर क्या था? आप कहने लगे कि किसके यहाँ भोजन करें। किसी के शूद्र जल का त्याग है? दस्सों के यहाँ भोजन तो नहीं करते? परस्पर जातियों में विवाह तो नहीं करते? यह सुन भिण्ड का एक जैनी बोला—मेरे शूद्र जल का त्याग है। किसके समक्ष लिया? महाराज ने कहा। श्री १०८ सूर्यसागरजी महाराज के पास नियम लिया था.........उसने कहा। मुनिराज बोले— अरे वह तो उत्तर का मुनि है, प्रतिमा को स्पर्श कर नियम ले। वह मन्दिर में गया और प्रतिमा स्पर्श करके आया। आपने यह कार्य कराया। फिर नीचे आया, महाराज पड़गाए गये। आहार देनेवाली औरत के मुख से यह नहीं निकला कि दस्सों के घर भोजन नहीं करूँगी। इतने पर महाराज भोजन छोड़कर चले गये और स्टेशन पर साथ के मनुष्यों के यहाँ भोजन किया। ग्राम-ग्राम में चन्दा होता है। यहाँ से भी ९०) का चन्दा हो गया। साथ में मोटर है। हर जगह चन्दा होता है। यह दृश्य देख मुझे लगा कि पञ्चम काल का चमत्कार है। अब यही धर्म रह गया है।

पौष शुक्ला २ सं०२००७ को सहारनपुर से श्री रतनचन्द्रजी आये। आप योग्य व्यक्ति हैं। आपको करणानुयोग का अच्छा अभ्यास है। सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ का आप सरल रीति से ज्ञान करा देते हैं। आपने मुख्त्यारी छोड़ दी है, तथा युवावस्था में ब्रह्मचर्य ले रक्खा। आपका स्वभाव सरल है और सरलता के साथ आगमानुकूल प्रवृत्ति पर आपकी दृष्टि रहती है। आपके समागम से हर्ष हुआ।

हम निरन्तर इस प्रकार की चेष्टा करते हैं कि राग की सत्ता पर विजय प्राप्त कर लेवें, परन्तु आज तक हम उस पर विजय प्राप्त न कर सके। इसका मूल कारण यह ध्यान में आता है कि हमने अभी तक पर में निजत्व कल्पना को नहीं त्यागा है। अभी तक हम पर से अपनी प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा मान रहे हैं। जहाँ किसी व्यक्ति ने कुछ प्रशंसासूचक शब्दों का प्रयोग किया वहाँ हम एकदम प्रसन्न हो जाते हैं और निन्दा के शब्दों का प्रयोग किया कि एकदम अप्रसन्न हो जाते हैं। इसका मुख्य हेतु हमने यही समझा है कि पर हमारा भला-बुरा कर सकते हैं। संसार में अधिकांश मनुष्य ईश्वर को ही कर्ता-धर्ता मानते हैं, स्वतन्त्र हम कुछ नहीं कर सकते, परन्तु इस पर भी पूर्ण अमल नहीं। यदि कोई काम अच्छा बन गया, तो अपने को कर्त्ता मान लिया। यदि नहीं बना तो भगवान् को यही करना था..... यह कह सब दोष भगवान् के सिर मढ़ दिया। कुछ स्थिर विचार नहीं। यदि इस पिण्ड से छूटे तो शुभाशुभ परिणामों से उपार्जित कर्म का प्रभाव है हम क्या कर सकते है? ऐसा ही तो होना था..... ऐसा विश्वास अनेकों का है। यदि उन भले मानवों से पूछिये कि वह कर्म कहाँ से आये? तो इसका यही उत्तर है कि प्राक्तन कर्म का फल है। इस प्रकार यह संसार की प्रणाली बराबर चल रही है और चली जावेगी। मोक्ष का होना अति कठिन है। मैं तो अपने विषय में सदा यही अनुभव करता रहता हूँ कि—

सत्तर छह के योग में, गया मन का मेल ।
खाँड़ भरे भुस खात हैं, बिन विवेक के बैल ।।

सर्व पदार्थ अपनी सत्ता के लिये परिणमनशील हैं। कोई पदार्थ किसी के साथ तादात्म्य नहीं रखता। जिस पदार्थ में जो गुण व पर्यायें हैं, उन्हीं के साथ उनका तादात्म्य है। चाहे वह चेतन हो, चाहे अचेतन हो। चेतन पदार्थ का तादात्म्य चेतनगुण-पर्याय के साथ है, यह निर्णीत है, किन्तु अनादि काल से मोह का सम्बन्ध आत्मा के साथ हो रहा है। मोह पुद्गलद्रव्य का परिणमन है, किन्तु जब उसका विपाककाल आता है, तब यह आत्मा रागादिरूप परिणमन करता है। आत्मा में चेतना गुण है, उसका ज्ञान-दर्शन रूप परिणमन है। ज्ञानगुण का काम जानना है। जैसे दर्पण में स्वच्छता है। उसमें अग्नि का प्रतिबिम्ब पड़ता है, किन्तु बह्नि में जो उष्णता और ज्वाला है, वह दर्पण में नहीं है। एवं ज्ञानगुण स्वच्छ है, उसमें मोह के उदय में रागादिक होते हैं। वे यद्यपि आत्मा की उपादानशक्ति से

ही हुए हैं, तथापि मोहजन्य होने से नैमित्तिक हैं। यह जीव उन्हें स्वभाव मान लेता है, यही इसकी भूल है। यही भूल अनन्त संसार का कारण है। जिन्हें अनन्त संसार से पार होना हो, वे इस भूल को त्यागें। संसार को निज मत बनाओ और न निज को संसार बनाओ। न तुम किसी के हो, और न कोई तुम्हारा है, किन्तु मोह के आवेग में तुम्हें कुछ सूझता नहीं। यह विचार निरन्तर मेरे मन में घूमता रहताहै।

सेठ सुदर्शनलालजी का अत्यन्त आग्रह था, इसलिए पौष शुक्ला १४ को जसवन्तनगर आ गये। यहाँ श्री ताराचन्द्रजी रपरिया, वैनाड़ा मटरूमलजी तथा श्री ख्यालीरामजी आगरा आये थे। सौरीपुर के लिये ५५०) का चन्दा हो गया। सौरीपुर में श्वेताम्बरों तथा दिगम्बरों के बीच कुछ संघर्ष है। संघर्ष की जड़ परिग्रह है। यद्यपि श्वेताम्बर समाज में वर्तमान साधु समागम पुष्कल है और वे लोग पठन-पाठन में अपना समय लगाते हैं। कई विशिष्ट विद्वान् भी हैं, किन्तु न जाने दिगम्बर समाज से इतना वैमनस्य क्यों रखते हैं। धर्म वह भी अपना जैन मानते हैं और यह भी मानते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। चरित्र का लक्षण भी राग-द्वेष की निवृत्ति मानते हैं। वस्त्र रखकर भी यही अर्थ करते हैं कि इस परिग्रह में हमको मूर्च्छा नहीं। तब समझ में नहीं आता कि दिगम्बर मुद्रा से इतनी घृणा क्यों करते हैं? मूर्ति को सपरिग्रह बनाने में कोई प्रयत्न शेष नहीं रखते तथा कहते हैं कि यह वीतरागदेव की मूर्ति है। यह सब पञ्चम काल का महत्त्व है। कल्याण का पथ तो केवल आत्मा में हैं। जहाँ अन्य की अणुमात्र भी मूर्च्छा है, वहाँ श्रेयोमार्ग नहीं। बन्धावस्था ही संसार की जननी है, अन्य की कथा छोड़ो, परमात्मा में अनुराग भी परमात्मपद का घातक है तब वस्त्र में मूर्च्छा रखकर अपने को वीतरागी मानना क्या शोभा देता है। अनादि काल से इसी मूर्च्छा ने आत्मा को संसार का पात्र बना रक्खा है।

आत्मा की परिणति दो प्रकार की है— १. विकृति और २. अविकृति। विकृति परिणति ही संसार है। विकृति परिणति में ही यह आत्मा पर को निज मानता है और विकृति परिणति के अभाव में पर को पर और आपको आप मानने लगता है। इसी को स्वसमय कहते हैं। जिस समय आत्मा पर से भिन्न आत्मा को मानता है उसी समय दर्शन-ज्ञानमय जो आत्मा उसको छोड़कर परपदार्थों में निजत्व का अभिप्राय चला जाता है— नष्ट हो जाता है किन्तु चारित्र मोह

के सद्भाव में अभी उनमें रागादि का संस्कार नहीं जाता। इतना अवश्य है कि उन रागादि भावों का कर्तृत्व नहीं रहता। यही अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ।।

अर्थात् आत्मा का स्वभाव कर्तापना नहीं है। जैसे भोक्तृत्व नहीं है। अज्ञान से आत्मा कर्ता बनता है, और अज्ञान के अभाव में नहीं। चेतना आत्मा का निज गुण है, उसका परिणमन शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो तरह का होता है। अशुद्ध अवस्था में यह आत्मा परपदार्थ का कर्ता और भोक्ता बनता है और अज्ञान के अभाव में अपने ज्ञानपने का ही कर्ता होता है। तदुक्तम् —

'ज्ञानादन्यत्रेदं ममेति चेतना अज्ञानचेतना । सा द्विविधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च।'

अर्थात् ज्ञान से अतिरिक्त कर्त्ता आपको मानना यह कर्म-चेतना हैं और ज्ञान से अतिरिक्त का भोक्ता अपने को मानना, यही कर्मफल चेतना है। ऐसा सिद्धान्त है कि—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ।।

इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा जो परिणाम स्वतन्त्र करता है वह परिणाम तो कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है तथा जो परिणति होती है वह क्रिया हैं। ये तीनों परस्पर भिन्न नहीं। जिन्होंने आत्मतत्त्व की ओर दृष्टि दी, उन्होंने परसंयोग से होने वाले भावों को नहीं अपनाया। यही बूटी संसार-रोग को नष्ट करनेवाली है। बन्धावस्था दो पदार्थों के संयोग से होती है। इस अवस्था में होने वाला भाव संयोगज है। वे पदार्थ चाहे पुद्गल हों, चाहे जीव और पुद्गल हों, जहाँ सजातीय २ पुद्गल होते हैं, वहाँ पर एक तरह का भी परिणाम होता है और मिश्र भी होता है। जैसे दाल और चावल के संयोग से खिचड़ी होती है। उसका स्वाद न चावल का है और न दाल का। एवं हल्दी चूना में दोनों का एक तृतीय रंग हो जाता है। यद्यपि चूना हल्दी पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु लाल रंग दोनों का है। जिस पदार्थ में चाहे, वह चेतन हो, चाहे अचेतन, जो गुण और पर्याय रहते हैं, वे गुण और पर्याय उसी में तन्मय हो के रहते हैं। इसका अन्तर है कि गुण अन्वयी रूप से

निरन्तर द्रव्य के साथ तादात्म्य रखता है, और पर्याय क्रमवर्ती होने के कारण व्यतिरेक रूप से द्रव्य के साथ तादात्म्य रखता है। स्वामी कुन्दकुन्द महाराज ने कहा है—

'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं।'

जैसे आत्मा में चेतना गुण है, और मति, श्रुतादि उसकी पर्याय हैं, सो चेतना तो अन्वयी रूप है और पर्यायें क्रमवर्ती हैं। पयार्य क्षणभंगुर हैं, और गुण नित्य हैं। यदि पर्याय से भिन्न गुण न माना जावे, तो एक पर्याय का भंग होने पर जो दूसरी पर्याय देखी जाती है वह बिना उपादान के कहाँ से उत्पन्न होती? अतः मानना पड़ेगा कि पर्याय का आधार कोई है। जो आधार है उसी का नाम तो गुण है और उसका जो विकार है वही पर्याय है। जैसे आम्र आरम्भ में हरित होता है। काल पाकर वही पीत हो जाता है। इससे यह सिद्धान्त निर्गत हुआ कि आम्र का रूप हरित अवस्था से पीत अवस्था में परिवर्तित हुआ, इसी का नाम उत्पाद और व्यय है। सामान्य गुण ध्रांव्यरूप है ही। इस तरह विवेकपूर्वक विकृतिपरिणति को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। आज लोग धर्म-धर्म चिल्लाते हैं, पर धर्म के निकट नहीं पहुँच पाते। वह तो उसके ढाँचे में ही धर्मबुद्धि कर प्रतारित हो रहे हैं। परमार्थ से धर्म वह वस्तु है, जो आत्मा को संसार-बन्ध से मुक्त कर देता है। उसके बाधक पाप और पुण्य हैं। सबसे महान् पाप मिथ्यात्व है। इसके उदय में जीव आपको नहीं जानता। परपदार्थों में आत्मीयता की कल्पना करता है। कल्पना ही नहीं उसके स्वत्व में अपना स्वत्व मानता है। शरीर पुद्गलपरमाणु पुञ्ज का एक पुतला है। मिथ्यात्व के उदय में यह जीव उसे ही आत्मा मान बैठता है, और अहर्निश उसकी सेवा में व्यग्र रहता है। यदि कोई कहे भाई! शरीर तो अनित्य है, इसके अर्थ इतने व्यग्र क्यों होते हो? कुछ परलोक की भी चिन्ता करो। तत्काल उत्तर मिलता है कि न तो शरीरातिरिक्त कोई आत्मा है और न परलोक है। यह तो लोगों की वञ्चना करने के अर्थ एक जाल पण्डित महोदयों तथा ऋषिगणों ने बना रक्खा है। कहा है—

यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।
न जन्मनः प्राङ् न च पञ्चतायाः परो विभिन्नेऽवयवे न चान्तः ।
विशन्न निर्यन्न च दृश्यतेऽस्माद्भिन्नो न देहादिह कश्चिदात्मा ।।

चार्वाक का सिद्धान्त है कि पृथिवी जलादि का समुदाय ही एक आत्मा है। जैसे गेहूँ आदि सड़कर मादक शक्ति उत्पन्न कर देते हैं, ऐसे ही पृथिव्यादितत्त्व चेतन-शक्ति उत्पन्न कर देते हैं। शरीर से अतिरिक्त जीव पदार्थ न तो जन्म से पहले और न मरण के पश्चात् किसी ने देखा है, फिर उसके पीछे क्यों पड़ा जाय?

यहाँ से चलकर सिमरा तथा सिरसागंज के खास मुकाम पर माघ शुक्ल ४ सं० २००७ को फिरोजाबाद पहुँच गये। यहाँ पर श्रीआचार्य सूर्यसागरजी महाराज का दर्शन हुआ। आप बहुत ही शान्त तथा उपदेष्टा हैं। आपके प्रवचन से हमको पूर्ण शान्ति हुई। आपका कहना है, पर से सम्बन्ध त्यागो, पर से सम्बन्ध रखना ही संसार की जड़ है। जहाँ पर से सम्बन्ध किया, वहाँ मोह हुआ और मोह के होते ही उसमें निजत्व की कल्पना हो जाती है। आपके उपदेश का आत्मा पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा, किन्तु श्मशानवैराग्यवत् ही दशा रही। वहीं पर महाराज से मोह करने लगे। केवल वचन की कुशलता और काय की क्रिया से महाराज को यह प्रत्यय करा दिया कि हमने आपके उपदेश पर अमल किया। देखने वाले दर्शक भी हमारी क्रिया को देखकर प्रसन्न हुए—शिष्य हो तो ऐसा हो। परन्तु यह सब नाटक का दृश्य था—अन्तरङ्ग में कुछ भी न था। कल्याण का मार्ग यह नहीं, ऐसी चेष्टा केवल स्वात्मवञ्चना में ही परिणत हो जाती है।

●

फिरोजाबाद में विविध समारोह

श्री छदामीलालजी ने फिरोजाबाद में बहुत भारी उत्सव का आयोजन किया था। इस प्रान्त का यह वर्तमानकालीन उत्सव सबसे निराला था। क्या त्यागी, क्या व्रती, क्या विद्वान्, क्या सेठ, क्या राजनीति में काम करनेवाले— सब लोगों के लिये मेला में एकत्रित करने का प्रयास किया था। मेला का बहुत अधिक विस्तार था। रावटी और तम्बुओं का नगर अपनी अलग शान दिखा रहा था। रात्रि के समय बिजली के बल्बों का अनोखा चमत्कार देखने के लिए अनायास जन-समूह एकत्रित हो जाता था। उत्सव का उद्‌घाटन उत्तर प्रदेश के तात्कालिक प्रधानमन्त्री श्री पन्तजी ने किया था। श्री आचार्य सूर्यसागरजी तथा हम लोगों का नगरप्रवेश का उत्सव माघशुक्ल ५ सं० २००७ को सम्पन्न हुआ। बहुत अधिक भीड़ तथा जुलूस की सजावट थी।

इसी समय यहाँ सूर्यसागरजी महाराज की अध्यक्षता में व्रती सम्मेलन, श्री सेठ राजकुमारजी सिंह इन्दौर की अध्यक्षता में जैन संघ मथुरा का अधिवेशन और श्री काका कालेलकर की अध्यक्षता में हीरकजयन्ती-महोत्सव तथा वर्णी अभिनन्दनग्रन्थ समर्पण समारोह हुआ था। प्रात:काल मुख्य पण्डाल के सामने धूप में प्रवचन प्रारम्भ हुआ। मुनिसंघ विराजमान था। बाहर से ७०-७५ व्रती भी पधारे हुए थे, जो यथायोग्य बैठे थे। अपार जनता एकत्रित थी। महाराज ने मुझे प्रवचन के लिये बैठा दिया। मैंने कहा कि प्रवचन का अधिकार तो आचार्यमहाराज का है। उनके समक्ष मुझे बोलने का अधिकार नहीं, पर उनकी आज्ञा का पालन करना हमारा कर्तव्य है—

प्रकरण समयसार के बन्धाधिकार का था। 'रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि' आदि गाथा का अवतरण देते हुए मैंने कहा कि मिथ्यात्व, अज्ञान तथा अविरतरूप जो त्रिविध भाव हैं, यही शुभाशुभ कर्मबन्ध के निमित्त हैं, क्योंकि यह स्वयं अज्ञानादिरूप हैं। यही दिखाते हैं—

जैसे जब यह अध्यवसान भाव होता है कि 'इदं हिनस्मि' मैं इसे मारता हूँ, तब यह अध्यवसानभाव अज्ञानमय भाव है, क्योंकि जो आत्मा सत् है, अहेतुक है तथा ज्ञप्तिरूप एक क्रिया वाला है, उसका और रागद्वेष के विपाक से जायमान

हननादि क्रियाओं का विशेष भेदज्ञान न होने से भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं होता, अत: अज्ञान रहता है, भिन्न आत्मदर्शन न होने से मिथ्यादर्शन रहता है और भिन्न आत्मा का चारित्र न होने से मिथ्याचारित्र का ही सद्भाव रहता है। इस तरह मोहकर्म के निमित्त से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का सद्भाव आत्मा में है। इन्हीं के कारण कर्मरूप पुद्‌गल द्रव्य का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप बन्ध होता है।

यदि परमार्थ से विचारा जावे तो आत्मा स्वतन्त्र हैं, और यह जो स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण वाला पुद्गलद्रव्य है, वह स्वतन्त्र है। इन दोनों के परिणमन भी अनादिकाल से स्वतन्त्र हैं, परन्तु इन दोनों में जीवद्रव्य चेतनगुणवाला है, और उसमें यह शक्ति है कि जो पदार्थ उसके सामने आता है, वह उसमें झलकता है— प्रतिभासित होता है। पुद्गल में भी एक परिणमन इस तरह का है कि जिससे उसमें भी रूपी पदार्थ झलकता है, पर मेरे में यह प्रतिभासित है, ऐसा उसे ज्ञान नहीं। इसके विपरीत आत्मा में जो पदार्थ प्रतिभासमान होता है उसे यह भान होता है कि ये पदार्थ मेरे ज्ञान में आये। यही आपत्ति का मूल है, क्योंकि इस ज्ञान के साथ में जब मोह का सम्बन्ध रहता है, तब यह जीव उन प्रतिभासित पदार्थों को अपनाने का प्रयास करने लगता है। यही कारण अनन्त संसार का होता है।

प्रत्येक मनुष्य यह मानता है कि पर पदार्थ का एक अंश भी ज्ञान में नहीं आता, फिर न जाने, क्यों उसे अपनाता है? यही महती अज्ञानता है। अत: जहाँ तक सम्भव हो आत्मद्रव्य को आत्मद्रव्य ही रहने दो। उसे अन्य रूप करने का जो प्रयास है, वही अनन्त संसार का कारण है। ऐसा कौन बुद्धिमान होगा, जो पर द्रव्य को आत्मीय द्रव्य कहेगा। ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिसका भाव होता है, वह उसका स्वधन है। जिसका जो स्व है, वह उसका स्वामी है, अत: यह निष्कर्ष निकला कि जब अन्य द्रव्य अन्य का स्व नहीं, तब अन्य द्रव्य अन्य का स्वामी कैसे हो सकता है? यही कारण है कि ज्ञानी जीव पर को नहीं ग्रहण करता। मैं भी ज्ञानी हूँ, अत: मैं भी पर को ग्रहण नहीं करूँगा। यदि मैं परद्रव्य को ग्रहण करूँ, तो यह अजीव मेरा स्व हो जावे और मैं अजीव का स्वामी हो जाऊँगा। अजीव का स्वामी अजीव ही होगा, अत: हमें बलात्कार अजीव होना पड़ेगा, परन्तु ऐसा नहीं, मैं तो ज्ञाता-द्रष्टा हूँ, अत: परद्रव्य को ग्रहण नहीं करूँगा। जब परद्रव्य मेरा नहीं, तब वह छिद जावे, भिद जावे, कोई ले जावे अथवा जिस-किस

अवस्था को प्राप्त हो, पर मैं उसे ग्रहण नहीं करूँगा। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञानी, धर्म-अधर्म, अशन-पान आदि को नहीं चाहता। ज्ञानमय ज्ञायक-भाव के सद्भाव से वह धर्म का केवल ज्ञाता-दृष्टा रहता है जब ज्ञानी जीव के धर्म का ही परिग्रह नहीं तब अधर्म का परिग्रह तो सर्वथा असम्भव है। इसी तरह से न अशन का परिग्रह है, और न पान का परिग्रह है, क्योंकि इच्छा परिग्रह है, ज्ञानी जीव के इच्छा का परिग्रह नहीं। इनको आदि देकर जितने प्रकार के परद्रव्य के भाव हैं, तथा परद्रव्य के निमित्त से आत्मा में जो भाव होते हैं, उन सबको ज्ञानी जीव नहीं चाहता। इस पद्धति से जिसने सर्व अज्ञानभावों का वमन कर दिया, तथा सर्व पदार्थों के आलम्बन को त्याग दिया, केवल टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव का अनुभव करता है, उसके बन्ध नहीं होता। योग के निमित्त से यद्यपि बन्ध होता है, पर वह स्थिति और अनुभाग से रहित होने के कारण अकिंचित्कर है। जिस प्रकार चूना आदि के श्लेष के बिना केवल ईंटों के समुदाय से महल नहीं बनता, उसी प्रकार रागादि परिणाम के बिना केवल मन-वचन-काय के व्यापार से बन्ध नहीं होता। अत: प्रयत्न कर इन रागादि विकारों के जाल से बचना चाहिये।

शरीरादि से भिन्न ज्ञाता-द्रष्टा लक्षण वाला स्वतन्त्र द्रव्य हूँ। मेरी जीवन में जो स्पृहा है, वही बन्ध का कारण है। अनादिकाल से जीव और पुद्गल का सम्बन्ध हो रहा है, इससे दोनों ही अपने-अपने स्वरूप से च्युत हो अन्य अवस्था को धारण कर रहे हैं।

हेयोपादेय तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान आगम के अभ्यास से होता है, परन्तु हम लोग उस ओर से विमुख हो रहे हैं। श्री कुन्दकुछ स्वामी ने तो यहाँ तक लिखा है कि—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा यि ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ।।

अर्थात् साधु का चक्षु आगम है, संसार के समस्त प्राणियों का चक्षु इन्द्रिय है, देवों का चक्षु अवधिज्ञान है और सिद्ध परमेष्ठी का चक्षु सर्वदर्शी केवलज्ञान है। इसलिए अवसर पाया है, तो अहर्निश आगम का अभ्यास करो।

हमारे प्रवचन के बाद महाराज ने भी जीव की वर्तमान दशा का वर्णन किया और यह बताया कि देखो अनन्त ज्ञान का धनी जीव अज्ञानी होकर ज्ञान की खोज

में इधर-उधर भटक रहा है। यह जीव अपनी ओर तो देखता ही नहीं है, केवल पर की ओर देखता है। यदि अपनी ओर भी देख ले, तो इसका कल्याण हो जावे। एक आदमी था, प्रकृति का भोला था, आत्मज्ञान की इच्छा से किसी विद्वान् के पास गया और आत्मज्ञान की भिक्षा माँगने लगा। विद्वान् समझदार था, इसलिए उसने विचार किया कि यह सीधा है, अत: इस तरह नहीं समझेगा। उसने कह दिया कि उत्तर में एक तालाब है। उसमें एक मगर रहता है, उसके पास जाओ। वह तुम्हें आत्मज्ञान देगा। भोला आदमी वहाँ गया और मगर से बोला कि तुम आत्मज्ञान देते हो? मुझे भी दो। मगर ने कहा, हाँ देता हूँ। अनेकों मानवों को मैंने आत्मज्ञान दिया है। तुम भी ले जाओ, पर एक काम करो, मुझे जोर की प्यास लग रही है, अत: सामने के कुएँ से एक लोटा पानी लाकर पहले मुझे पिलाओ, पश्चात् प्यास शान्त होने पर तुम्हें आत्मज्ञान दूँगा। आदमी ने कहा कि मगर रात-दिन तो पानी में रह रहा है, फिर भी कहता है कि मैं पिपासातुर हूँ, सामने कूप से १ लोटा पानी ला दो। यह तो महामूर्ख है यह क्या आत्मज्ञान देगा? उस विद्वान् ने मुझे बड़ा धोखा दिया। मगर ने कहा, जिस प्रकार तुम हमारी ओर देख रहे हो, उसी प्रकार अपनी ओर भी तो देखो। जिस प्रकार मैं जल में रह रहा हूँ, उसी प्रकार तुम भी अनन्त ज्ञान के बीच रहे हो। जिस तरह मुझे कूप के जल की पिपासा है, उसी तरह तुम्हें भी मुझसे आत्मज्ञान की पिपासा है। भोला आदमी समझ गया और तत्काल चिन्तन करने लगा कि अहो! मैंने आज तक अपने स्वभाव की ओर दृष्टि नहीं दी, और दरिद्र बनकर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण किया।

महाराज के प्रवचन के बाद सभा समाप्त हुई। सबने आहार ग्रहण किया। माघ शुक्ला ११ सं०२००७ को मध्याह्न के बाद १ बजे से श्री महाराज की अध्यक्षता में व्रती सम्मेलन का उत्सव हुआ। जिसमें अनेक विवादग्रस्त विषयों पर चर्चा हुई। एक विषय यह था कि यदि कोई त्रिवर्णवाला जैनधर्म की श्रद्धा से सहित हो और जैनधर्म की प्रक्रिया से आहार तैयार करे, तो व्रती उसके घर भोजन कर सकता है या नहीं? पक्ष-विपक्ष की चर्चा के बाद यह निर्णय हुआ कि जैनधर्म का श्रद्धालु त्रिवर्णवाला यदि जैनधर्म की प्रक्रिया से आहार बनाता है, तो व्रती! उसे ग्रहण कर सकता है।

एक विषय था कि क्षुल्लक की नवधाभक्ति होनी चाहिये या नहीं? इस विषय पर भी बहुत वाद-विवाद हुआ, परन्तु अन्त में महाराज ने निर्णय दिया कि नवधा

भक्ति का पात्र मुनि है, क्षुल्लक नहीं। क्षुल्लक को पड़गाह कर पादप्रक्षालन करना तथा मन, वचन, काय और अन्न-जल की शुद्धता प्रकट कर आहार देना चाहिये।

एक विषय निमित्त उपादान की प्रबलता का भी था। इस पर लोगों ने अनेक प्रकार से चर्चा की। वातावरण कुछ अशान्त-सा हो गया, परन्तु अन्त में यही निर्णय हुआ कि जैनागम अनेकान्तदृष्टि से पदार्थ का निरूपण करता है, अत: कार्य की सिद्धि के लिये निमित्त और उपादान दोनों आवश्यक हैं। केवल उपादान से कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती और न केवल निमित्त से, किन्तु दोनों की अनुकूलता से कार्य की सिद्धि होती है। यह बात दूसरी है कि कहीं निमित्त प्रधान और कहीं उपादान प्रधान कथन हो, पर उसका यह तात्पर्य नहीं कि दूसरे की वहाँ सर्वथा उपेक्षा हो।

चरणानुयोग के विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले व्रतियों को महाराज ने शान्त भाव से उपदेश दिया कि जैनागम में व्रत न लेने को अपराध नहीं माना है, किन्तु लेकर उसमें दोष लगाना या उसे भङ्ग करना अपराध बताया है, अत: 'समीक्ष्य व्रतमादेयमात्तं पाल्यं प्रयत्नत:' अर्थात् पूर्वापर विचार कर व्रत ग्रहण करना चाहिये, और ग्रहण किये हुए व्रत को प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये। मनुष्य पर्याय का सबसे प्रमुख कार्य चारित्र-धारण करना ही है, इसीलिये यह दुर्लभ पर्याय पाकर अवश्य ही चारित्र-धारण करना चाहिये। उन्हीं ने कहा कि अन्तरङ्ग की बात तो प्रत्यक्षज्ञानगम्य है, पर बाह्य में हिंसादि पञ्च पापों से निवृत्ति होना सम्यक्चारित्र है, पापों की प्रवृत्ति से ही आज संसार दु:ख से पीड़ित हो रहा है। जहाँ देखो, वहाँ हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रहासक्ति के उदाहरण देखने में आ रहे हैं, आज का वातावरण ही पञ्च पापमय हो रहा है। इसलिये विवेकी मनुष्य को इस वातावरण से हट कर अपनी प्रवृत्ति को निर्मल बनाना चाहिये।

इस व्रती सम्मेलन में यह भी चर्चा आई कि आज त्यागी छोटी-मोटी प्रतिज्ञा लेकर घर छोड़ देते हैं और अपने आपको एकदम पराश्रित कर देते हैं। इस क्रिया से त्यागियों की प्रतिष्ठा समाज में कम होती जा रही है। इस विषय पर महाराज ने कहा कि समन्तभद्रस्वामी ने परिग्रह त्याग का जो क्रम रक्खा है, उसी क्रम से यदि परिग्रह का त्याग हो, तो त्यागी पुरुष को कभी व्यग्रता का अनुभव न करना पड़े। सातवीं प्रतिमा तक न्यायपूर्ण व्यापार करने की आगम में छूट है, फिर क्यों पहली, दूसरी प्रतिमाधारी त्यागी व्यापारादि छोड़, भोजन-वस्त्रादि के

लिये परमुखापेक्षी बन जाते हैं। यद्यपि आशाधरजी ने गृहविरत श्रावक का भी वर्णन किया है, पर वह अपने पास इतना परिग्रह रखता है, जितने में उसका निर्वाह हो सकता है। यथार्थ में परगृह भोजन १०वीं ११वीं प्रतिमा से शुरू होता है। उसके पहले जो व्रती परगृह भोजन सापेक्ष होते हैं, उन्हें संक्लेश का अनुभव करना पड़ता है। पास का पैसा छोड़ दिया, और यातायात की इच्छा घटी नहीं, ऐसी स्थिति में कितने ही त्यागी लोग तीर्थयात्रादि के बहाने गृहस्थों से पैसे की याचना करते हैं, यह मार्ग अच्छा नहीं है। यदि याचना ही करनी थी, तो त्याग का आडम्बर क्यों किया? त्याग का आडम्बर करने के बाद भी यदि अन्त:करण में नहीं आया तो यह आत्मवञ्चना कहलावेगी।

महाराज ने यह भी कहा कि त्यागी को किसी संस्थावाद में नहीं पड़ना चाहिये। यह कार्य गृहस्थों का है। त्यागी को इस दल-दल से दूर रहना चाहिये। घर छोड़ा, व्यापार छोड़ा, बाल-बच्चे छोड़े, इस भावना से कि हमारा कर्तृत्व का अहंभाव दूर हो, और समताभाव से आत्मकल्याण करें, पर त्यागी होने पर भी वह बना रहा, तो क्या किया? इस संस्थावाद के दलदल में फँसाने वाला तत्त्व लोकैषणा की चाह है। जिसके हृदय में यह विद्यमान रहती है, वह संस्थाओं के कार्य दिखा कर लोक में अपनी ख्याति बढ़ाना चाहता है, पर इस थोथी लोकेषणा से क्या होने जानेवाला है? जब तक लोगों का स्वार्थ किसी से सिद्ध होता है, तब तक वे उसके गीत गाते हैं, और जब स्वार्थ में कमी पड़ जाती है, तो फिर टके को भी नहीं पूछते। इसलिये आत्मपरिणामों पर दृष्टि रखते हुए, जितना उपदेश बन सके, उतना त्यागी हो, अधिक की व्यग्रता न करे।

एक बात यह भी कही कि त्यागी को ज्ञान का अभ्यास अच्छा करना चाहिये। आज कितने ही त्यागी ऐसे हैं, जो सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं जानते, आठ मूलगुणों के नाम नहीं गिना पाते। ऐसे त्यागी अपने जीवन का समय किस प्रकार यापन करते हैं, वे जानें। मेरी तो प्रेरणा है कि त्यागी को क्रमपूर्वक अध्ययन करने का अभ्यास करना चाहिए। समाज में त्यागियों की कमी नहीं, परन्तु जिन्हें आगम का अभ्यास है, ऐसे त्यागी कितने हैं? आगमज्ञान के बिना लोक में प्रतिष्ठा नहीं और प्रतिष्ठा की चाह घटी नहीं, इसलिए त्यागी ऊटपटाँग क्रियाएँ बताकर भोली भाली जनता में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखना चाहते हैं, पर इसे धर्म का रूप कैसे कहा जा सकता है? ज्ञान का अभ्यास जिसे है वह सदा अपने

परिणामों की गति समझे बिना ज्ञानी मानव कभी प्रवृत्ति नहीं करता, अतः मुनि हो, चाहे श्रावक, सबको अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास की दृष्टि से यदि दश-बीस त्यागी एकत्र रहकर किसी विद्वान् से अध्ययन करना चाहते हैं, तो गृहस्थ लोग उसकी व्यवस्था कर दे सकते हैं। पर ऐसी भावनावाले हों, तब न। व्रती-विद्यालय स्थापित होना चाहिये, ऐसी माँग देख श्री छदामीलालजी ने कहा कि यदि व्रती विद्यालय कहीं स्थपित हो, तो हम १५०रु० मासिक दो वर्ष तक देते रहेंगे। एक दो महाशयों ने और भी २०)-२०) ३०)-३०) रुपया मासिक देते रहने की घोषणा की।

महाराज ने यह भी कहा कि आज का व्रती वर्ग चाहे मुनि हो, चाहे श्रावक, स्वच्छन्द होकर विचरना चाहता है, यह उचित नहीं है। मुनियों में तो उस मुनि के लिए एकविहारी होने की आज्ञा है जो गुरु के सान्निध्य में रहकर अपने आचार-विचार में पूर्ण दक्ष हो तथा धर्मप्रचार की भावना से गुरु जिसे एकाकी विहार करने की आज्ञा दे दें। आज भी यह देखा जाता है कि जिस गुरु से दीक्षा लेते हैं, उसी गुरु की आज्ञापालन में अपने को असमर्थ देख नवदीक्षित मुनि स्वयं एकाकी विहार करने लगते हैं। गुरु के साथ अथवा अन्य साथियों के साथ विहार करने में इस बात की लज्जा या भय का अस्तित्त्व रहता है कि यदि हमारी प्रवृत्ति आगम के विरुद्ध होगी, तो लोग हमें बुरा कहेंगे, गुरु प्रायश्चित्त देंगे, पर एक-विहारी होने पर किसका भय रहा? जनता भोली है, इसलिए कुछ कहती नहीं, यदि कहती है, तो उसके धर्मनिन्दक आदि कहकर चुप करा दिया जाता है। इस तरह धीरे-धीरे शिथिलाचार फैलता जा रहा है। किसी मुनि को दक्षिण और उत्तर का विकल्प सता रहा है, तो किसी को बीसपंथ और तेरहपंथ का। किसी को दस्साबहिष्कार की धुन है, तो कोई शूद्रजल त्याग के पीछे पड़ा है। कोई स्त्री-प्रक्षाल के पक्ष में मस्त है, तो कोई जनेऊ पहिराने और कटी में धागा बँधवाने में व्यग्र है। कोई ग्रन्थमालाओं के संचालक बने हुए हैं, तो कई ग्रन्थ छपवाने की चिन्ता में गृहस्थों के घर-घर चन्दा माँगते फिरते हैं, किन्हीं के साथ मोटरें चलती हैं, तो किन्हीं के साथ गृहस्थजन, दुर्लभ कीमती चटाइयाँ और आसन के पाटे तथा छोलदारियाँ चलती हैं। त्यागी, ब्रह्मचारी लोग अपने लिए आश्रय या उनकी सेवा में लीन रहते हैं। 'बहती गङ्गा में हाथ धोने से क्यों चूकें' इस भावना से कितने ही विद्वान् उनके अनुयायी बन, आँख मीच चुप बैठ जाते हैं, या हाँ में हाँ मिला गुरभक्ति का प्रमाणपत्र प्राप्त करने में संलग्न रहते हैं।

ये अपने परिणामों की गति को देखते नहीं हैं। चारित्र और कषाय का सम्बन्ध प्रकाश और अन्धकार के समान है। जहाँ प्रकाश है, वहाँ अन्धकार नहीं और जहाँ अन्धकार है वहाँ प्रकाश नहीं। इसी प्रकार जहाँ चारित्र है वहाँ कषाय नहीं और जहाँ कषाय है वहाँ चारित्र नहीं। पर तुलना करने पर वाजे-वाजे व्रतियों की कषाय तो गृहस्थों से कहीं अधिक निकलती है। व्रती के लिए शास्त्र में निःशल्य बताया है। शल्यों में एक माया भी शल्य होती है। उसका तात्पर्य यही है कि भीतर कुछ रूप रखना और बाहर कुछ रूप दिखाना। व्रती में ऐसी बात नहीं होनी चाहिए। वह तो भीतर-बाहर मनसा-वाचा-कर्मणा एक हो। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस उद्देश्य से चारित्र ग्रहण किया है, उस ओर दृष्टिपात करो, और अपनी प्रवृत्ति को निर्मल बनाओ। उत्सूत्र प्रवृत्ति से व्रत की शोभा नहीं।

महाराज की उक्त देशना का हमारे हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा। इसी व्रती-सम्मेलन में एक विषय यह आया कि क्या क्षुल्लक वाहन पर बैठ सकता है? महाराज ने कहा कि जब क्षुल्लक पैसा को त्याग कर चुका है, तथा ईर्यासमिति से चलने का अभ्यास कर रहा है तब वह वाहन पर कैसे बैठ सकता है? पैसे के लिए उसे किसी से याचना करनी पड़ेगी तथा पैसों की प्रतिनिधि जो टिकट आदि है, वह अपने साथ रखनी पड़ेगी। आखिर विचार करो, मनुष्य क्षुल्लक हुआ क्यों? इसीलिए तो कि इच्छायें कम हों? यातायात कम हो, सीमित स्थान में विहार हो। फिर क्षुल्लक बनने पर भी इन सब बातों में कमी नहीं आई, तो क्षुल्लक पद किसलिए रखा? अमुक जगह जाकर धर्मोपदेश देंगे, अमुक जगह जाकर अमुक कार्य करेंगे? यह सब छल क्षुल्लक होकर भी क्यों नहीं छूट रहा है? तुम्हें यह कषाय क्यों सता रही है कि अमुक जगह उपदेश देंगे? अरे, जिन्हें तुम्हारा उपदेश सुनना अपेक्षित होगा, वे स्वयं तुम्हारे पास चले आवेंगे। तुम दूसरे के हितों को ब्याज बनाकर, स्वयं क्यों दौड़े जा रहे हो? यथार्थ में जौ कौतुक भाव क्षुल्लक होने के पहले था, वह अब भी गया नही। यदि नहीं गया, तो कौन कहने गया था, कि तुम क्षुल्लक हो जाओ? अपनी कषाय की मन्दता या तीव्रता देखकर ही कार्य करना था। यह कहना कि पञ्चम काल है, इसलिए यहाँ ऐसे होते हैं, यह मार्ग का अवर्णवाद है। अस्सी तोले का सेर होता है, पर इस पञ्चम काल में आप पौने अस्सी तोले के सेर से किसी वस्तु को ग्रहण कर लोगे? 'नहीं, यहाँ तो चाहते हो, अस्सी तोले से रत्ती दो रत्ती ज्यादा ही हो, पर धर्माचरण में पञ्चम काल का छलं ग्रहण करते हो। लोग कहते हैं, कि दक्षिण के क्षुल्लक

तो बैठते हैं? पर उनके बैठने से क्या वस्तु तत्त्व का निर्णय हो जावेगा? वस्तु का स्वरूप तो ज़ो है, वही रहेगा। दक्षिण और उत्तर का प्रश्न बीच में खड़ा कर देना हित की बात नहीं। अस्तु,

इसके बाद दूसरे दिन श्री भैयासाहब राजकुमारसिंह इन्दौरवालों की अध्यक्षता में जैन संघ मथुरा का वार्षिक अधिवेशन हुआ। यह प्रयत्न पं० राजेन्द्र कुमारजी का था। अपार भीड़ के बीच उत्सव प्रारम्भ हुआ। अध्यक्ष मोहदय का भाषण हुआ। शुभकामनायें आदि श्रवण कराई गईं। दूसरे दिन फिर खुला अधिवेशन हुआ। अनेक प्रस्ताव पास हुए। इसके बाद एक दिन श्री काका कालेलकर की अध्यक्षता में हीरक-जयन्ती-समारोह तथा अभिनन्दनग्रन्थ-समर्पण का समारोह हुआ। विद्वानों के बाद श्री कालेलकर ने हमारे हाथ में ग्रन्थ-समर्पण कर अपना भाषण दिया। उन्होंने जैनधर्म की प्रशंसा की। साथ ही हरिजन-समस्या पर बोलते हुए कहा कि यह स्पर्श का रोग जैनधर्म का नहीं, हिन्दू धर्म से आया है। यदि जैनियों की ऐसी ही प्रवृत्ति रही, तो मुझे कहना ही पड़ेगा कि आप लोग नाम से नहीं, किन्तु परिणाम से हिन्दू बन जावेंगे। जैनधर्म अत्यन्त विशाल है। उसकी विशालता यह है कि उसमें चारों गतियों में जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय प्राणी हैं, वे अनन्त संसार के दुःखों को हरनेवाला सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। धर्म किसी जाति विशेष का नहीं। धर्म तों अधर्म के अभाव में होता है। अधर्म आत्मा की विकृत अवस्था को कहते हैं। जब तक धर्म का विकास नहीं, तब तक सर्व आत्मायें अधर्म रूप रहती हैं। चाहे ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय हो, चाहे वैश्य हो, चाहे शूद्र हो, शूद्र में भी चाहे चाण्डाल हो, चाहे भंगी हो, सम्यग्दर्शन होते ही यह जीव पुण्यात्मा जीव कहलाता है, अतः किसी को हीन मानना सर्वथा अनुचित है।

समारोह समाप्त होने के बाद आप संन्ध्याकाल हमारे निवास-स्थान पर भी आये। मांसाहार आदि विषयों पर चर्चा होती रही। आपने स्वीकृत किया कि समय बड़ा खराब है। सरकार नवीन है। यदि जनता ने पूर्ण सहयोग दिया, तो देश की परिस्थिति को हमारी सरकार सम्भाल लेगी। अभिनन्दन-ग्रन्थ के तैयार करने, तथा इस विशाले रूप में उत्सव सम्पन्न कराने में श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य और पं० खुशालचन्द्रजी साहित्याचार्य को बड़ा श्रम करना पड़ा है। यहाँ का उत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ। श्री लाला छदामीलालजी ने स्याद्वाद विद्यालय के घाट का जीर्णोद्धार कराने के लिए १००००) दस हजार का दान घोषित किया।

फाल्गुन कृष्ण १ सं०२००७ को आपके यहाँ हमारा आहार हुआ। आप ३ भाई हैं। आपने अपने मझले भाई का बालक गोद लिया है। आपने २० लाख का दान किया हैं। एक दो लाख से ऊपर, मन्दिर बनाने का भी विचार है, जिसकी नींव गिर चुकी हैं। आप सुशील हैं। जो वादा करते हैं, उसे पूर्ण करते हैं। आपने जो मेला भराया, उसमें बहुत उदारता से काम लिया। ७५ व्रती महानुभावों का प्रतिदिन भोजन होता था। पं०कैलाशचन्द्रजी, पं०फूलचन्द्रजी, पं०पन्नालालजी, पं०खुशालचन्द्रजी, राजकृष्णजी, महेन्द्रकुमारजी आदि अनेक विद्वान् इस मेला में आये थे। श्रीमन्त वर्ग भी पुष्कल था। मेला का प्रबन्ध पं०राजेन्द्रकुमार जी द्वारा बहुत ही उत्तम रीति से हुआ। किसी को कोई कष्ट नहीं होने दिया।

द्वितीया के दिन श्री पं०माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य के घर भोजन किया। तदनन्तर श्री नसिया जी मन्दिर में आये। थोड़ी देर आराम कर सामायिक किया तत्पश्चात् १ बजे शिकोहाबाद के लिए प्रस्थान किया। प्रस्थान के पूर्व श्री आचार्य महाराज के पास गया, तो उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा कि तेरा अवश्य कल्याण होगा, तू भोला है, तुझसे प्रत्येक मनुष्य अनुचित लाभ उठाना चाहता है। तेरी अवस्था वृद्ध है, अतः अब एक स्थान पर रहकर धर्म-साधन कर इसी में तेरा कल्याण है, धर्म निःस्पृहता में है।

श्री पं०राजेन्द्रकुमारजी वा श्री छदामीलालजी आदि अनेक सज्जन पहुँचाने के लिए आये। अनेक प्रकार का संलाप हुआ। सबके मुख से श्री छदामीलाल की प्रशंसा का पोषक वाक्य निकले। मेला में जबलपुर से अनेक सज्जन तथा सागर से सेठ भगवानदासजी आदि अनेक महानुभाव पधारे थे, और सबने सागर चलने की प्रेरणा की थी, इसलिए मन में एकबार सागर पहुँचने का निश्चय कर लिया।

स्वर्णगिरि की ओर

फिरोजाबाद से ६ मील चलकर शिकोहाबाद में ठहर गये। अध्यापिका के यहाँ भोजन किया। यहाँ पर मन्दिर बहुत सुन्दर और स्वच्छ है। ५० घर पद्मावतीपुर वालों के है। परस्पर में मैत्री भाव है। रात्रि को शास्त्रसभा होती है। हम जहाँ पर ठहरे थे, वह जैनपुस्तकालय का स्थान था, परन्तु विशेष व्यवस्था नहीं। ज्ञान का आदर नहीं, जो कुछ द्रव्य लोग व्यय करते हैं, वह मन्दिर की शोभा में लगाते हैं। ज्ञानगुण आत्मा का है। उसके विकास में न द्रव्य लगाते हैं, और न समय

का सदुपयोग करते हैं। केवल बाह्य में संगमर्मर आदि का फर्स लगाकर तथा वेदी में सुवर्ण का चित्राम आदि बनवा नेत्रों के विषय को पुष्ट करते हैं। आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा है, उसको दूषित कर राग और द्वेष के द्वारा किसी को इष्ट और अनिष्ट मानकर निरन्तर पर को अपनाने और न अपनाने में ही दुःख के पात्र बनते हैं।

फाल्गुन कृष्णा ५ सं० २००७ को बटेश्वर आ गये। यहाँ पर भट्टारक जी के मन्दिर में ठहर गये। मन्दिर बहुत रम्य और विशाल है। नीचे के भाग में ठहरे। स्नान कर ऊपर आये तथा मूर्ति के दर्शन कर गद्‌गद हो गये। काले पाषाण की ४ फुट ऊँची श्री अजितनाथ भगवान् की मूर्ति अत्यन्त मनोज्ञ है। वीतराग भाव का उदय जिसके दर्शन से होता है, वह प्रतिमा मोक्षमार्ग में सहायक है। आचार्यों ने इसे सम्यग्दर्शन को उत्पत्ति का बाह्य कारण बताया है। यद्यपि वीतरागता वीतराग का धर्म है, और वीतराग आत्मा मोह के अभाव में होता है। किन्तु जिस आत्माा में वीतरागता का उदय होता है, उसकी मुद्रा भी बाह्य में शान्तरूप हो जाती है—शरीर के अवयव स्वभाव से ही सौम्य हो जाते हैं। यह असम्भव बात नहीं। जिस समय आत्मा क्रोध करता है, उस समय इसके नेत्र आरक्त और मुख भयंकर आकृतियों को धारण कर लेता है, शरीर में कम्प होनें लगता है, दूसरा मनुष्य देखकर भयवान् हो जाता है। इसी तरह जब इस प्राणी के शृङ्गाररस का उदय आता है, तब उसके शरीर का अवलोकन कर रागी जीवों को राग का उदय हो जाता है। जैसे काली की मूर्ति से भय और हिंसकता झलकती हैं, तथा वेश्या के अवलोकन से रागादि भावों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही वीतराग के दर्शन से जीवों के वीतराग भावों का उदय होता है। वीतरागता कुछ बाह्य से नहीं आती। जहाँ रागपरिणति का अभाव होता है। वहीं वीतरागता का उदय हो जाता है।

बटेश्वर से ५ मील चलकर वाह आ गये तथा मन्दिर की धर्मशाला में ठहर गये। थकान के कारण ज्वर हो गया। अब शारीरिक शक्ति दुर्बल हो गई, केवल कषाय से भ्रमण करते हैं। एक बार भोजन करनेवाले को मध्याह्न के बाद गमन करना अपथ्य है। वैसे तो नीति में कहा है, 'अध्वा जरा मनुष्याणामनध्वा वाजिनां जरा' अर्थात् मार्ग चलना मनुष्यों का बुढ़ापा लाता है और मार्ग न चलना घोड़ों का बुढ़ापा लाता है। यह व्यवस्था प्राचीन ऋषियों ने दी हैं, किन्तु इसका अमल नहीं करते, जिसका फल अच्छा नहीं। वह अच्छा ग्राम है। यहाँ के जैनी भी सम्पन्न

हैं। यदि लोगों में परस्पर सौमनस्य हो जावे तो एक अच्छा छात्रावास चल सकता है। लोगों से कहा गया तथा उन्होंने स्वीकार भी किया। दूसरे दिन प्रातःकाल प्रवचन हुआ। उपस्थिति ४० मनुष्य तथा स्त्रियों की थी। आगरा से श्रीयुत ख्याली राम जी तथा एक महाशय और आ गये। प्रवचन हुआ। इस बात पर बल दिया कि यदि इस प्रान्त में एक छात्रावास हो जावे तो छात्रों का महोपकार हो। इसके अर्थ २ बजे से एक सभा बुलाई गई। उपस्थिति ५० के लगभग होगी। अन्ततोगत्वा दो आदमियों ने दो कोठा बनवाने का वचन दिया। तथा १२००) के लगभग चन्दा हो गया। चन्दा विशेष न होने के कारण लोगों की स्थिति सामान्य थी। फिर भी यथाशक्ति सबने चन्दा दिया। श्री ख्यालीरामजी आगरावालों ने कहा कि यदि तुम लोग ७०००) इकट्ठा कर लो, तो शेष रुपया हम आगरा से आपको दे देवेंगे। किन्तु यहाँ की जनता अभी उसकी पूर्ति नहीं कर सकती। विश्वास होताा है कि यह छात्रावास पूर्ण हो जावेगा। जैनियों में दान की त्रुटि नहीं, परन्तु योग्य स्थानों में द्रव्य का सदुपयोग नहीं होता। इस प्रान्त में शिक्षा की त्रुटि बहुत है। ऐसे स्थानों में छात्रावास की महती आवश्यकता है। यहाँ पर ग्रामीण जनता बहुत है। देहात में शिक्षा के साधन नहीं। मनुष्य इतने वैभवशाली नहीं कि छात्रों को नगरों में भेज सकें। आजकल के समय में २०रु० मासिक तो सामान्य भोजन को चाहिए।

तीसरे दिन भी यहाँ प्रवचन हुआ। आज उपस्थिति पिछले दिनों से अधिक थी। तहसीलदार, नायब तहसीलदार तथा वकील आदि विशिष्ट लोग आये। बहुत से पण्डित महोदय भी उपस्थित थे। प्रवचन सुनकर सब प्रसन्न हुए। जैनधर्म तो प्राणीमात्र का कल्याण चाहता है। उसकी बात सुनंकर किसे प्रसन्नता का अनुभव न होगा? केवल आवश्यकता इस बात की है कि श्रोता सद्भाव से सुने और वक्ता सद्भाव से कहे। फाल्गुन कृष्णा ९ को २ बजे बाद जब यहाँ से सामरमऊ चलने लगे, तब यहाँ के उत्साही युवकों ने कहा कि यहाँ १ कन्याशाला हो जावे, तो उनका बड़ा उपकार हो। मैंने कहा कि करना तो तुमको है, चन्दा करो। १५ मिनट में ४३) मासिक का चन्दा हो गया। ६ मास का चन्दा पहले देने का पहले निर्णय हुआ। सब लोगों में उत्साह रहा। ३।। बजे यहाँ से चल दिये। १५ युवक सामरमऊ तक पहुँचाने आये। यहाँ पर १ बुढ़िया ने सबको सायंकाल का भोजन कराया। रात्रि को शास्त्रप्रवचन हुआ। यहाँ पर बुढ़िया की एक लड़की विधवा है। ३० वर्ष की आयु है। नाम जिनमती है, बुद्धिमती है। हमने कहा महावीर जी पढ़ने चली जा। उसने स्वीकार किया कि जाऊँगी, बुढ़िया ने १०)

मासिक देना स्वीकार किया। यद्यपि उसकी इतनी शक्ति न थी, तथापि उसने देना स्वीकृत किया। उसका कहना था कि मैं अपनी लड़की को अनाथ क्यों बनाऊँ? जब तक मेरे पास द्रव्य है, उसे दूँगी। लड़की भी सुशीला है। संसार में अनेक मनुष्य उपकार करने योग्य हैं, परन्तु जिसके पास धन है, उनके परिणाम यदि तदनुकूल हों, तो काम बने पर ऐसा हो सकना सम्भव नहीं है। यह कर्मभूमि है। इसमें सर्व मनुष्य सदृश नहीं हो सकते।

सामरमऊ से ५ मील चलकर नदगुवाँ आ गये। ग्राम अच्छा है, मन्दिर विशाल है, भट्टारक का बनाया है। इस प्रान्त में भट्टारकों ने प्रायः अनेक ग्रामों में मन्दिर बनवाये हैं, बड़े-बड़े विशाल मन्दिर हैं। एक समय था कि जब भट्टारकों द्वारा जैनधर्म की महती प्रभावना हुई, परन्तु जबसे उनके पास परिग्रह की प्रचुरता हुई, और वे यन्त्र-मन्त्र तथा औषध आदि का उपयोग करने लगे, तबसे इनका चारित्र भ्रष्ट होने लगा और तभी से इनका चमत्कार चला गया। अब इनकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई है। कई गद्दियाँ तो टूट गईं और जो हैं उनके भट्टारक समाज-मान्य नहीं रहे।

नदगुवाँ से ३ मील चलकर अटेर आ गये। बीच में २ मील पर चंबल नदी थी। २ फर्लाङ्ग का घाट था। प्रवचन हुआ, मनुष्य संख्या अच्छी थी। सायंकाल ४ बजे सार्वजनिक सभा हुई, जैन अजैन सभी आये। सबने यह स्वीकार किया कि शिक्षा के बिना उपदेश का कोई असर नहीं होता, अतः सर्वप्रथम हमें अपने बालकों को शिक्षा देना चाहिए। शिक्षा के बिना हम अविवेकी रहते हैं, चाहे जो हमें ठग ले जाता है, हमारा चरित्र निर्माण नहीं हो पाता है, हम अज्ञानावस्था के कारण पशु कहलाते हैं। यद्यपि हम चाहते हैं कि संसार में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करें, परन्तु बोध के अभाव में कुछ नहीं जानते और सदा पर के दास बने रहते हैं। ज्ञान आत्मा का गुण है, परन्तु कोई ऐसा आवरण है कि जिससे उसका विकास रुका रहता है, शिक्षा के द्वारा वह आवरण दूर हो जाता है।

दूसरे दिन प्रवचन हुआ। उपस्थिति अच्छी थी। पाठशाला के लिए जनता ने उत्साह से चन्दा दिया, परन्तु कुछ आदमी अन्तरङ्ग से देना नहीं चाहते, अतः चन्दा देने में बीसों तरह के रोड़े अटकाते हैं। इनकी चेष्टा से सत्कार्य में बहुत क्षति होती हैं। अटेर से ५ मील चलकर परतापुर आये यहाँ १ चैत्यालय है, ४ घर जैनी हैं, बड़े प्रेम से शास्त्रश्रवण किया, ३ घर शुद्ध भोजन बना, जिसके

यहाँ हमारा आहार हुआ उसने ५१) अटेर की पाठशाला को दिये। दूसरे घर श्रीसंभवसागरजी का आहार हुआ। उसने भी २१) दिये। यहाँ के मनुष्य बहुत सज्जन हैं। कई मनुष्यों ने अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका तथा दशलक्षण के दिनों में ब्रह्मचर्य का नियम लिया। परतापपुर से ५।। मील चल कर पुरा आये। यह ग्राम १ टीकरी पर बसा है। यहाँ पर १ जिन-मन्दिर है। मन्दिर की मरम्मत नहीं। ४ घर जैनी हैं। सबने अष्टमी, चतुर्दशी को ब्रह्मचर्य का नियम लिया। कई ब्राह्मणों ने भी रविवार तथा एकादशी को ब्रह्मचर्य रखने का प्रण किया। यहाँ से चलकर लावन आये। यहाँ पर २० घर जैनी हैं। १२ गोलालारे और ८ घर गोलसिंगारे हैं। २ जैनमन्दिर हैं। गोलसिंगारे सूरजपाल मन्दिर के प्रबन्धक हैं। आप भिण्ड में रहते हैं। मन्दिर की व्यवस्था अच्छी नहीं, पूजन का भी प्रबन्ध ठीक नहीं, परस्पर में सौमनस्य नहीं। जो मनुष्य मन्दिर के द्रव्य का स्वामी बन जाता है, वह शेष को तुच्छ समझने लगता है, और मन्दिर जो द्रव्य उसके हाथ में रहता है, उसे वह अपना समझने लगता है। समय पाकर वह दरिद्र हो जाता है, और अन्त में जनता की दृष्टि में उसकी प्रतिष्ठा नहीं रहती। अतः मनुष्यता की रक्षा करने वाले को उचित है कि मन्दिर का द्रव्य अपने उपयोग में न लावे। द्रव्य वह वस्तु है कि इसके वशीभूत हो मनुष्य न्याय मार्ग से च्युत होने की चेष्टा करने लगता है। न्याय मार्ग का अर्थ यही है कि आजीविका का इस रीति से अर्जन करे कि जिसमें अन्य के परिणाम पीड़ित न हों, आत्मपरिणाम से जहाँ संक्लेशता का सम्बन्ध हो जाता है, वहाँ पर विशुद्ध परिणामों का अभाव हो जाता है, और जहाँ विशुद्ध परिणामों का अभाव होता है, वहाँ शुद्धोपयोग को अवकाश नहीं मिलता।

लावन से चल कर वरासो आये। यहाँ पर २ मन्दिर हैं। एक मन्दिर बहुत प्राचीन है। दूसरा उसकी अपेक्षा बड़ा है। बहुत सुन्दर बना हुआ है। २० फुट की कुरसी होगी। उसके ऊपर धर्मशाला है, जिसमें २०० आदमी निवास कर सकते हैं। धर्मशाला से ६ फुट ऊँचाई पर मन्दिर है, मन्दिर के चौक में ५०० मनुष्य सानन्द शास्त्र-श्रवण कर सकते हैं। मन्दिर में ३ स्थानों पर दर्शन है। बिम्ब बहुत मनोहर हैं। १२४४ सम्वत् की प्रतिमा हैं। शिल्पकार बहुत ही निपुण था। बिम्ब की मुद्रा से मानों शांति टपक रही है। देखते-देखते चित्त गद्गद हो गया। कोई पद्मासन बिम्ब है, और कोई खड्गासन है। दोनों तरह के बिम्ब मनोज्ञ हैं। वर्तमान में वह कला नहीं। मन्दिर मनोज्ञ है, परन्तु वर्तमान में कोई जैनी विशेषज्ञ

नहीं। सामान्य रूप से पूजनादि कर लेते हैं। यहाँ पर आवश्यकता १ गुरुकुल की है, जिसमें १०० छात्र अध्ययन करें।

वारासौ से बीच में छैकुरी ठहरते हुए मौ आ गये। यहाँ पर ४० घर खरौआ गोलालारों के हैं, इनमें श्री सुक्कीलाल जी पुष्कल धनी हैं। आपके द्वारा १ मन्दिर सोनागिरि में निर्माण कराया गया है। १ धर्मशाला भी आपने वहाँ निर्माण कराई हैं। आप सज्जन हैं। यदि आपकी रुचि ज्ञान में हो जावे तो आप बहुत कुछ कर सकते हैं। परन्तु यही होना कठिन है, हो भी जावे असम्भव नहीं। मोह ऐसा प्रबल है कि अपनी उन्नति के अर्थ समर्थ होते हुए भी यह जीव कुछ नहीं कर सकता। ज्ञान अर्जन करना प्राणीमात्र के लिये आवश्यक है, और अवकाश भी प्रत्येक के पास है, परन्तु यह मोही उसमें प्रयत्न नहीं करता। इधर-उधर की कथाएँ करके निज समय को बिता देना ही, इसका कार्य है।

आज अष्टाह्निका का प्रथम दिवस अर्थात् अष्टमी थी। मन्दिर में प्रवचन हुआ, उपस्थिति अच्छी थी। लोगों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम हो रही है। जो है भी, वह व्यवस्थित नहीं, इसीलिए जीवन भर स्वाध्याय करने पर भी कितने ही लोगों को कुछ नहीं आता। स्वाध्याय और उसके फल का विवेचन करते हुए मैंने कहा— वाचना और पृच्छना यह स्वाध्याय के अङ्ग हैं। स्वाध्याय संज्ञा तपकी है। तप का लक्षण इच्छानिरोध है, अतएव तप निर्जरा का कारण है। वैसे देखा जाय, तो स्वाध्याय से तत्त्वबोध होता है तथा सुनने वाला भी इसके द्वारा बोध प्राप्त करता है। बोध का फल न्याय-ग्रन्थों में हानोपादानोपेक्षा तथा अज्ञान निवृत्ति बतलाया है। जैसा कि समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ।।

यहाँ केवलज्ञान का फल उपेक्षा और शेष चार ज्ञानों का फल हान और उपादान कहा है। अर्थात् हेय का त्याग और उपादेय का ग्रहण है। यहाँ पर आशंका होती है, कि ज्ञान चाहे पूर्ण हो, चाहे अपूर्ण हो, उसका फल एक तरह का ही होना चाहिये। तब जो फल केवलज्ञान का है, वही फल शेष चार ज्ञानों का होना चाहिये। इसी से श्री समन्तभद्राचार्य ने शेष चार ज्ञान का फल वही लिखा है 'पूर्वा वा।' यहाँ पर यह बात उठती है कि उपेक्षा तो मोह के अभाव में द्वादश गुणस्थान में हो जाती है, और केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान में होता है, अतः केवलज्ञान का फल

उपेक्षा उचित नहीं और शेष चार ज्ञान का फल आदान हान भी उचित नहीं, क्योंकि आदान और हान मोह के कार्य हैं, इससे ज्ञान का फल अज्ञान निवृत्ति ही है।

मौ से ४ मील चलकर असौना आये। यहाँ ३ घर जैनियों के हैं, १ छोटा-सा बरंडा है। उसी में जिनेन्द्रदेव के ३ छोटे बिम्ब हैं। ग्राम अच्छा है। यहाँ पर गेहूँ अच्छा उत्पन्न होता है। सब लोग सुखी हैं। हमारे साथ १० आदमी थे, ग्रामवासियों ने सबको भोजन कराया। ग्रामीण जन बहुत ही सरल व उदार होते हैं। इनमें पापाचार का प्रवेश नहीं होता। ये विषयों के लोलुपी भी नहीं होते। इसके अनुकूल कारण भी ग्रामवासियों को उपलब्ध नहीं होते, अतः उनके संस्कार अन्यथा नहीं होते। यहाँ १ बजे प्रवचन हुआ। ग्राम के बहुत मनुष्य आये। सुखपूर्वक शास्त्रश्रवण किया। मेरी बुद्धि में तो आता है कि इस आत्मा के अन्तर्गत अनेक सामर्थ्य हैं, परन्तु अपनी अज्ञानता से यह उन्हें व्यक्त नहीं कर पाता। यहाँ से चलकर मगरौल ठहर गये और मगरौल से प्रातः ६।। बजे सौड़ा ग्राम के लिये चल दिये। मार्ग में दोनों ओर गेहूँ की उत्तम कृषि थी। २ मील चलकर १ अटवी मिली। १ मील बराबर अटवी रही। यहाँ पर करदी लकड़ी का घना जंगल था, परन्तु दतिया सरकार ने बेच दिया, इससे लकड़ी काट दी गई। अब नाम मात्र अटवी रह गई है। यहाँ अटवी के नीचे बहुत कोयला बनता है। यहाँ से १ मील चलकर काली सिन्धु नदी मिली। बहुत वेग से पानी बहता है। १ स्थान पर ऊपर से जल प्रपात पड़ता है। नीचे एक बहुत भारी कुण्ड है। पत्थर की बहुलता होने से कुण्ड के चारों ओर दहलानें बनी हैं। कई मन्दिर हैं। एक मन्दिर महादेव जी का है। अनेक घाट बने हुए हैं। पानी अत्यन्त स्वच्छ तथा पीने में स्वादिष्ट है। शतशः स्त्री और मनुष्य स्नान करते हैं। स्थान अत्यन्त रम्य और चित्ताकर्षक है। ऐसे स्थान पर यदि कोई धर्मध्यान करे, तो बहुत ही उपयोग लगे। परन्तु वर्तमान में लोगों की इस तरह की विषम परिस्थिति है कि वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में ही अहर्निश निमग्न रहते हैं तथा व्यग्रता के कारण प्रसन्नता से वञ्चित रहते हैं।

सौड़ा में १० बजे पहुँच स्नानादि से निवृत्त हो, रामदयाल छोटेलालजी खरौआ के यहाँ भोजन किया। आगामी दिन मेघा का प्रकोप अधिक था, अतः प्रातःकाल का प्रयाण स्थगित कर सौड़ा में ही १ घण्टा स्वाध्याय किया। तदनन्तर भोजन कर सामायिक किया, और आकाश को निर्मल देख, आगे के लिये चल पड़े। बीच में वस्मी और नहला ग्राम में ठहरते हुए रामपुरा आ गये। यहाँ पर

१ घर जैसवाल जैन का है। इनके घर में १ चैत्यालय है। नीचे मकान है, ऊपर अटारी में चैत्यालय है। बहुत स्वच्छ है। श्रीजी का बिम्ब भी निर्मल है। हमारा भोजन इन्हीं के घर हुआ। मध्याह्न की सामायिक के बाद २ मील चलकर १ साधु के स्थान पर ठहर गये। साधु महन्त तो इन्द्रगढ़ गये थे। उनका शिष्य था, जो भद्र मनुष्य था। बड़े प्रेम से स्थान दिया। मुझे अनुभव हुआ कि अन्य साधुओं में शिष्टता होती है— आतिथ्य-सत्कार करने में पूर्ण सहयोग करते हैं। जैनधर्म विश्वधर्म है। प्राणीमात्र के कल्याण का कारण है, परन्तु उसे आजकल के मनुष्यों ने अपना धर्म समझ रक्खा है। किसी को उच्च दृष्टि से नहीं समझते। धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो आत्मा से बाह्य उसका अस्तित्त्व पाया जावे। वह तो कषाय के अभाव में आत्मा में ही व्यक्त होता है।

रामपुर से चल कर सेंतरी ठहरे और वहाँ से ५ मील चल कर इन्द्रगढ़ आ गये। ग्राम के चारों ओर प्राचीन कोट है। ग्राम के बाहर शीतला देवी का मन्दिर था, उसी में ठहर गये। इन्द्रगढ़ से भड़ौल, कैती तथा जुजारपुर ठहरते हुए, चैत्रकृष्ण १ सं० २००७ को सोनागिर आ गये। आने में विलम्ब हो जाने से आज पर्वत पर वन्दना के लिये नहीं जा सके। जनता बहुत एकत्रित थी। सायंकाल सामायिकादि क्रिया के अनन्तर जनता आ गई। पञ्चास्तिकाय का स्वाध्याय किया। बहुत ही अपूर्व ग्रन्थ है। इसका प्रमेय बहुत ही उपयोगी है। मूलकर्ता श्री कुन्दकुन्द महाराज हैं। इस ग्रन्थ की वृत्ति श्री अमृतचन्द्र सूरि द्वारा बनाई गई है, जिससे मानों अमृत ही टपकता है। चैत्र कृष्ण २ को श्री १०८ विमलसागरजी आये। आप बहुत ही उत्तम विचार के मनुष्य हैं। इनके गुरु बहुत ही सरल हैं, कुछ पढ़े नहीं हैं, परन्तु अपने आचरण में निष्णात हैं। मेरा तो यह ध्यान है कि सर्वथा आगम के जानने से ही आचरण होता हो, यह नियम नहीं। ऐसे भी मनुष्य देखे जाते हैं, जिन्हें आगम का अंशमात्र भी ज्ञान नहीं और अहिंसादि व्रतों का सम्यक् पालन करते हैं। **'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** इस सूत्र को बाँच नहीं सकते, परन्तु फिर भी इस हिंसा से अपनी आत्मा को रक्षित रखते हैं। इसी प्रकार **'असदभिधानमनृतम्'** इस सूत्र को पढ़ नहीं सकते, फिर भी मिथ्याभाषण कभी नहीं करते। **'अदत्तादानमस्तेयम्'** इस सूत्र की व्याख्या आदि कुछ नहीं जानते किन्तु स्वप्न में परायी वस्तु के ग्रहण के भाव नहीं होते। **'मैथुनब्रह्म'** इसके आकार को नहीं जानते, किन्तु स्वकीय परिणति में स्त्रीविषयक भोग का भाव नहीं होता। एवं **'मूर्च्छा परिग्रहः'** इसका अर्थ नहीं जानते, फिर

भी पर पदार्थों में मूर्च्छा नहीं करते। इससे सिद्ध हुआ कि आगम में जो लिखा गया है, वह आत्मा के विशिष्ट परिणामों का ही शब्दरचनारूप विन्यास है।

श्री ब्रह्मचारी छोटेलालजी तथा भगत सुमेरुचन्द्रजी भी यहाँ आ गये, जिससे मुझे परम हर्ष हुआ। इनके साथ चतुर्थी को सानन्द वन्दना की। यह क्षेत्र अत्यन्त रम्य और वैराग्य का उत्पादक है। श्री चन्द्रप्रभ के मन्दिर के सामने सङ्गमर्मर के फर्स से जड़ा हुआ एक बहुत रमणीय चबूतरा है। सामने सुन्दर मानस्तम्भ है। चबूतरा बड़ा है कि उस पर ५ सहस्र मनुष्य सानन्द धर्म श्रवण कर सकते हैं। यहाँ से दृष्टिपात करने पर पर्वत की अन्य काली-काली चट्टानें बहुत भली मालूम होती हैं। प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व जब लाल-लाल प्रभा सङ्गमर्मर के श्वेत फर्स पर पड़ती है, तब बहुत सुन्दर दृश्य दृष्टिगोचर होता है। मन्दिर के अन्दर पूजन आदि की सुन्दर व्यवस्था है, किन्तु यह सब होते हुए भी तीर्थक्षेत्रों पर ज्ञानार्जन का कोई साधन नहीं। केवल धनिकवर्ग, अपना रुपया बाह्य सामग्री की सजावट में व्यय करता है। इसी में वह अपना प्रभुत्व मानता है। प्रतिवर्ष मेला में हजारों व्यक्ति आते हैं, पर किसी के भी यह भाव नहीं हुए कि यहाँ पर १ पण्डित स्वाध्याय कराने के लिये रहे, हम इसका भार वहन करेंगे। केवल पत्थर आदि जड़वाकर ऊपरी चमक-दमक में प्राणियों के मन को मोहित करने में रुपये का उपयोग करते हैं। प्रथम तो इन बाह्य वस्तुओं के द्वारा आत्मा का कुछ भी कल्याण नहीं होता। द्वितीय कल्याण का मार्ग जो कषाय की कृशता है, सो इन बाह्य वस्तुओं से उसकी विपरीतता देखी जाती है। कृशता और पुष्टता में अन्तर है। विषयों के सम्बन्ध से कषाय पुष्ट होती है, और ज्ञान से विषयों में प्रेम नहीं होता, सो इन क्षेत्रों में ज्ञान साधन का एकरूप से अभाव है।

पञ्चमी के दिन पुनः पर्वत पर जाने का भाव हुआ, परन्तु शारीरिक शक्ति का शिथिलता से सब मन्दिरों के दर्शन नहीं कर सका। केवल चन्द्रप्रभ स्वामी के दर्शन कर सुख का अनुभव किया। पश्चात् आधा घण्टा वहीं प्रवचन किया। मैंने कहा— मैं तो कुछ जानता नहीं, परन्तु श्रद्धा अटल है कि कल्याण मार्ग केवल आत्मतत्त्व के यथार्थ भेदज्ञान में है। भेदज्ञान के फल से ही आत्मा स्वतन्त्र होती है, स्वतन्त्रता ही मोक्ष है। पारतन्त्र्यनिवृत्ति और स्वातन्त्र्योपलब्धि ही मोक्ष है। मोक्षमार्ग का मूल कारण परपदार्थ की सहायता न चाहना है। कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आया है, उसका छूटना परिश्रमसाध्य है। परिश्रम का अर्थ

मानसिक, कायिक, वाचनिक व्यापार नहीं किन्तु आत्मतत्त्व में जो अन्यथा कल्पना है, उसको त्यागना ही सच्चा परिश्रम है। त्याग बिना कुछ सिद्धि नहीं, अतः सबसे पहले अपना विश्वास करना ही मोक्षमार्ग की सीढ़ी है। विश्वास के साथ ज्ञान और चारित्र भी उदय होता है। क्योंकि ये दोनों गुण स्वतन्त्र हैं, अतः उसी काल में उनका भी परिणमन होता है। हमें आवश्यकता श्रद्धागुण की है, परन्तु श्रद्धा, सामान्य विशेष रूप से जब तक पदार्थों का परिचय न हो, तब तक नहीं होती।

सप्तमी के दिन नीचे लश्करवालों के मन्दिर में प्रवचन हुआ। उपस्थिति अल्प थी, परन्तु जितने महानुभाव थे, विवेकी थे। शान्ति से सब लोगों ने शास्त्रश्रवण किया। पश्चात् स्थान पर आये, व चर्या के लिये गये। एक स्थान पर चर्या की। लोग निरन्तर चर्या कराने की इच्छा करते हैं, परन्तु विधि का बोध नहीं। परमार्थ से चर्या तो उसके यहाँ हो सकती है, जो स्वयं शुद्ध भोजन करे। जिनके शुद्ध भोजन का नियम नहीं, उनके यहाँ भोजन करना आम्नाय के प्रतिकूल है। परन्तु हम लोगों ने तो केवल शास्त्र पढ़ना सीखा है, उसके अनुकूल प्रवृत्ति करना नहीं, अतः हम स्वयं अपराधी हैं। उचित तो यह था कि हम उनको प्रथम उपदेश करते, पश्चात् उनकी प्रवृत्ति देखते। यदि वह अनुकूल होती, तो उनके यहाँ भोजन करते, अन्यथा स्थानान्तर चले जाते। अथवा यह बात विदित हो जाती कि इस घर में भोजन हमारे उद्देश्य से बनाया गया है, तो अन्तराय कर चले जाते। केवल गल्पवाद से कुछ तत्त्व नहीं। हम गल्पवाद के भण्डार हैं— करने में नपुंसक हैं। जब हम स्वयें आगमानुकूल चलने में असमर्थ हैं, तब अन्य को उपदेश क्या देवेंगे? अथवा देवें भी तो उसका क्या प्रभाव जनता पर हो सकता है? जो जल स्वयं अग्नि सम्बन्ध से उष्णावस्था धारण किये है, क्या वह जल शीतलता उत्पन्न करेगा? कदापि नहीं.....सोनागिरि में आठ दिन रहा।

●

बरुआ सागर में ग्रीष्मकाल

चैत्रकृष्णा ९ संवत् २००७ को १ बजे श्रीसिद्धक्षेत्रस्वर्णगिरि से दतिया के लिये प्रस्थान कर दिया। ५ बजे डाकबंगला में ठहर गये। बंगला में जो चपरासी था वह जाति का ब्राह्मण था, बहुत निर्मल मनुष्य था, निर्लोभी था। उसने हमारे प्रति शिष्ट व्यवहार किया। वहाँ पर रात्रि भर सुखपूर्वक रहे। यह स्थान सोनागिरि से ७।। मील है। धूप का वेग बहुत था, अत: मार्ग में बहुत ही कष्ट उठाना पड़ा। शरीर की शक्ति हीन थी, किन्तु अन्तरङ्ग की बलवत्ता से यह शरीर इसके साथ चला आया। तत्त्वदृष्टि से वृद्धावस्था भ्रमण के योग्य नहीं। दौलतरामजी ने कहा है **'अर्धमृतक सम बूढ़ापनौ कैसे रूप लखे आपनौ'** पर विचार कर देखा, तो वृद्धावस्था कल्याणमार्ग में पूर्ण सहायक है। युवावस्था में प्रत्येक आदमी बाधक होता है। कहता है—भाई! अभी कुछ दिन तक संसार के कार्य करो। पश्चात् वीतराग का मार्ग ग्रहण करना। इन्द्रियाँ विषय-ग्रहण की ओर ले जाती हैं, मन निरन्तर अनाप-सनाप संकल्प-विकल्प के चक्र में फँसा रहता है। जब अवस्था वृद्ध हो जाती है, तब चित्त स्वयमेव विषयों से विरक्त हो जाता है।

दूसरे दिन प्रात: ६.१५ बजे डाकबंगला से ४।। मील चलकर एक नदी के पार महादेव जी के मन्दिर में ठहर गये। पास ही जलकूप था। मन्दिर की अवस्था कुछ जीर्ण है, परन्तु पास में ग्राम न होने से, इसका सुधार होना कठिन है। यहाँ पर चिरगाँव से २ आदमी आये और वहाँ चलने के लिये बहुत आग्रह करने लगे। हमने स्वीकार कर लिया और कहा कि यदि झाँसी आ जाओगे, तो आपके साथ अवश्य चलेंगे। सुन कर वे बहुत प्रसन्न हुए तथा घर चले गये। हम लोगों ने भोजन किया, तदनन्तर सामायिक से निवृत्त हो १ घण्टा बनारसी विलास का अध्ययन किया। बहुत ही सुगम रीति से पदार्थ का निरूपण किया है। पुण्य-पाप दोनों को दिखाया है। पुण्य के उदय में ऐंठ और पाप के उदय में दीनता होती है। दोनों ही आत्मा के कल्याण में बाधक हैं। अत: जिन्हें आत्मकल्याण करना है, वे दोनों से ममता भाव छोड़ें। काञ्चन-क़ालायस की बेड़ी के समान दोनों ही बन्धन के कारण हैं। मनुष्यजन्म की सार्थकता तो इसी में है कि दोनों बन्धन तोड़ दिये जावें। दूसरे दिन प्रात:काल ६ बजे चलकर ८ बजे कारारीगाँव के वन में सड़क के ऊपर निवास किया। यहाँ झाँसी से गुलाबचन्द्र जी आ गये। उन्होंने

भक्तिपूर्वक आहार दिया। यहाँ ३ बजे चल कर ४ मील पर झाँसी के बाहर नत्थू मंदारी का बंगला था, उसमें ठहर गये। सानन्द रात्रि व्यतीत की। प्रात: ६।। बजे चलकर ८ बजे झाँसी आ गये और स्नानादि कर श्रीमन्दिरजी में प्रवचन किया। पश्चात् श्री राजमल्लजी के यहाँ भोजन हुआ।

यहाँ राजमल्ल एक प्रतिभाशाली विद्वान हैं। धर्म में आपकी रुचि अच्छी है। आप मन्दिर में अच्छा काल लगाते हैं। स्वाध्याय कराने में आपकी रुचि है। आपके भाई चाँदमल्ल तो एक प्रकार से पण्डित ही हैं। आपका अधिक काल ज्ञानार्जन में ही जाता है। आप लोगों ने १ मारवाड़ी मन्दिर का, जो मारवाड़ी पंचायत के नाम से प्रसिद्ध है, निर्माण कराया है। यहाँ पर श्री मक्खनलालजी खण्डेलवाल भी हैं। आप १ धर्मशाला बनवा रहे हैं। उसमें १ कलाभवन भी खोल रहे हैं। आपका विचार विशेष दान करने का है। एक कोठी, जिसकी आमदनी २५०) मासिक है, दान में देना चाहते हैं। आपका विचार अति उत्तम है, परन्तु अभी कार्य में परिणत नहीं हुआ। अनेक मनुष्य इस कार्य में विघ्नकर्ता भी हैं, परन्तु मक्खनलालजी हृदय के स्वच्छ हैं। आपने जो प्रतिज्ञा की है, उसे पूर्ण करेंगे, ऐसी मेरी धारणा है। होगा वही जो वीरप्रभु ने देखा है।

चैत्र कृष्ण १२ सं०२००७ को सीपरी गये, वहीं प्रवचन हुआ, जनता अल्पसंख्या में थी। यहाँ पर श्री स्व०मूलचन्द्रजी का एक बड़ा बाड़ा है। जिसमें ५००) मासिक भाड़ा आता है, आप बहुत ही विवेकी थे। यहाँ आते ही पिछले दिन स्मरण में आ गये, जब हम महीनों उनके सम्पर्क में रहते थे। अस्तु, अब आपके २ नाती हैं। पुत्र श्रेयांसकुमार बहुत ही भद्र तथा योग्य था, परन्तु वह भी काल के गाल में चला गया। पुत्र की धर्मपत्नी बहुत कुशल है। उसने यहाँ धर्मसाधन के लिए एक चैत्यालय भी बनवा लिया। प्रतिदिन पूजा स्वयं करती है। २ बालक हैं, उन्हें पढ़ाती है— दोनों योग्य हैं। आशा है, थोड़े ही काल में घर की परिस्थिति सम्भाल लेंगे। सम्भव है, काल पाकर इनकी प्रभुता सर्राफ के सदृश हो जावे।

अगले दिन ७ बजे चलकर ८ बजे सदर बाजार आ गये। यहाँ पर आधा घण्टा स्वागत गीत गाया गया। कन्याओं द्वारा स्वागत गीत गाया गया, एक छात्रा ने बहुत ही सुन्दर तबला बजाया। उसका कण्ठ भी मधुर था। पश्चात् श्री जिनालय में जिनदेव के दर्शन कर चित्त में शान्ति रस का आस्वाद किया। मूर्ति बहुत ही सुन्दर और योग्य संस्थान विशिष्ट थी। तदनन्तर १ घण्टा प्रवचन हुआ। जनता

ने शान्त चित्त से श्रवण किया। अपनी-अपनी योग्यता से सब ने लाभ उठाया। हम स्वयं जो कहते हैं, उस पर अमल नहीं करते, फिर सुनने वालों को क्या कहें? जिस वृक्ष में छाया नहीं, वह इतर को छाया देने में असमर्थ है। आज तक वह शान्ति न आई, जिसको हमने आगम में पढ़ा है। वास्तविक बात यह है कि आगम में शान्ति नहीं है, और न अशान्ति ही है। आगम तो प्रतिपादन करनेवाला है। इसी प्रकार न तीर्थ में शान्ति-अशान्ति है, और न सत्समागम में शान्ति-अशान्ति है। वह तो आत्मा में है। वहाँ हम खोजते नहीं, उसके प्रतिबन्धक कारणों को हटातें नहीं, केवल निमित्त कारणों को पृथक् करने की चेष्टा करते हैं। उसके प्रतिबन्धक कारण क्रोधादिक कषाय हैं। हम उनको तो हटाते नहीं, किन्तु जिन निमित्तों से क्रोधादिक होते हैं, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं। एक दिन गुदरी के मन्दिर में भी प्रवचन हुआ।

चैत्र कृष्ण अमावस्या सं० २००७ के दिन प्रातः झाँसी से ३ मील चलकर श्री परशुरामजी के बाग में ठहर गये। स्थान रम्य था, परन्तु ठहरने के योग्य स्थान था। दहलान में भोजन हुआ, मक्खियाँ बहुत थीं। भोजन निरन्तराय हुआ। ४ आदमी उनके उड़ाने में संलग्न रहे। यहीं पर श्री फिरोजालालजी दिल्ली से आ गये। आप बहुत ही सरल और सज्जन प्रकृति के हैं। आप गरमी के मौसम का चद्दर लाये। प्रायः आप निरन्तर आया करते हैं। जबसे मैंने दिल्ली से प्रस्थान किया, तबसे १० स्थानों पर आये और हर स्थान पर आहार दान दिया। आपके कुटुम्ब का बहुत ही उदारभाव है। राजकृष्णजी से आपका घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजकृष्ण की धर्मपत्नी आपकी बुआ है। वह तो साक्षात् देवी है। आपके यहाँ जो पहुँच जाता है, उसका आप बहुत ही आतिथ्यसत्कार करते हैं। फिरोजीलाल जी झाँसी चले गये, और बाग से २ मील चलकर परशुराम के बँगला पर ठहर गये। स्थान रम्य था। १ छोटी कुईया व १ नाला है। चारों तरफ करोंदा का वन है। यहाँ पर धर्मध्यान की योग्यता है, परन्तु कोई रहना नहीं चाहता। आजकल धर्म का मर्म दम्भ में रह गया है, इसीलिये दम्भी पूजे जाते हैं।

चैत्र शुक्ल १ विक्रम सं० २००८ का प्रथम दिन था। आज प्रातः परशुराम के बंगला से ३ मील चलकर वेत्रवती नदी को छोटी नौका द्वारा पार किया। १ नाविक मेरा हाथ पकड़ शनैः शनैः मुझे स्थल पर पहुँचा आया। उसका हृदय दया से परिपूर्ण था। मैंने उसे उपकारी मान, अपने पास जो २ गज खादी का दुपट्टा

था, वह दे दिया। उसे लेकर वह बहुत प्रसन्न हुआ तथा धन्यवाद देता हुआ चला गया। वहाँ पर जो मानव समुदाय था, वह भी प्रसन्न हुआ। यद्यपि मेरी यह प्रवृत्ति विशेष प्रशंसा की पोषक नहीं, परन्तु मैं प्रकृति पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। संसार में वही मनुष्य इस संसार से मुक्त होने का पात्र है, जो परपदार्थ का सम्पर्क त्याग दे। परपदार्थ का न तो हम कुछ उपकार ही कर सकते हैं, और न अनुपकार ही। संसार के यावन्मात्र पदार्थ आत्मीय-आत्मीय गुण-पर्यायों से पूरित हैं, उनके परिणमन उनके स्वाधीन हैं। उस परिणमन में उपादान और सहकारी कारण का समूह ही उपकारी है, परन्तु कार्यरूप परिणमन उपादान का ही होता है।

यहाँ से १ मील चलकर श्री स्वर्गीय फूलचन्द्रजी के बाग में आ गये। बाग रम्य है, परन्तु अवस्था अवनति पर है। यहीं पर भोजन किया। भोजन के अनन्तर सामायिक से सम्पन्न हो बैठे ही थे कि बाबू रामस्वरूपजी आ गये। ३ बजे चलकर ५ बजे बरुआसागर आ गये। श्री मन्दिरजी के दर्शन के अनन्तर श्री बाबू रामस्वरूप जी द्वारा निर्मापित गणेशवाटिका नामक स्थान पर निवास किया। रात्रि सानन्द बीती। प्रातः मन्दिरजी गये। दर्शन कर चित्त प्रसन्न हुआ। आधा घण्टा प्रवचन के अनन्तर श्री बाबू रामस्वरूप जी के यहाँ भोजन हुआ। आप बहुत ही भद्र व्यक्ति हैं। मध्याह्न की सामायिक के बाद २ घण्टा स्वाध्याय किया। स्वाध्याय का फल केवल ज्ञानवृद्धि ही नहीं, किन्तु स्वात्मतत्त्व को स्वावलम्बन देकर शान्तिमार्ग में जाना ही उसका मुख्य फल है। आजकल हमारी प्रवृत्ति इस तरह से दूषित हो गई है कि ज्ञानार्जन से हम जगत् की प्रतिष्ठा चाहते हैं, अर्थात् संसार से मुक्त नहीं होना चाहते। अन्य को तुच्छ और अपने को महान् बनाने के लिए उस ज्ञान का उपयोग करते हैं, जिस ज्ञान से भेदज्ञान का लाभ था। आज उससे हम गर्व में पड़ना चाहते हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल मन्दिरजी में पुनः प्रवचन हुआ।

श्री कुन्दकुन्ददेव का कहना है कि शुभोपयोग से पुण्यबन्ध होता है, और उससे आत्मा को देवादि सम्यक् पद की प्राप्ति होती है, जो तृष्णा का आयतन है, अतः शुभोपयोग और अशुभोपयोग को भिन्न समझना शुद्धोपयोग की दृष्टि में कुछ विशेषता नहीं रखता। दोनों ही बन्ध के कारण हैं। लौकिक जन शुभ-कर्म को सुशील और अशुभ कर्म को कुशील मानते हैं, परन्तु कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं कि शुभकर्म सुशील कैसे हो सकता है, वह भी तो आत्मा को संसार में पात करता है। जिस प्रकार लोहे की बेड़ी पुरुष को बन्धन में डालती है, उसी प्रकार

सुवर्ण की बेड़ी भी पुरुष को बन्धन में डालती है, एतावता उन दोनों में कोई भिन्नता नहीं। लोक में कोई पुरुष जब किसी की प्रकृति को स्वविरोधिनी समझ लेता है, तो उसके सम्पर्क से यथाशीघ्र दूर हो जाता है। इसी तरह जब कर्मप्रकृति आत्मा को संसार बन्धन में डालती है, तब ज्ञानी वीतराग, उदयागत शुभाशुभ प्रकृति के साथ राग नहीं करता। सम्यग्दृष्टि मनुष्य के भी शुभाशुभ प्रशस्ताप्रशस्त मोहोदय में होते हैं। विषयों से अणुमात्र भी विरक्ति नहीं तथा मन्दकषाय में दानादि-कार्य भी शुभोपयोग में करता है, परन्तु उसे परिणाम में अनुराग नहीं। जिस प्रकार रोगी मनुष्य न चाहता हुआ भी औषध सेवन करता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी पुण्य-पापादि कार्यों को करता है, परमार्थ से दोनों को हेय समझता है। उपादेयता और हेयता यह दोनों मोही जीवों के होते हैं। परमार्थ से न कोई उपादेय हैं, और न हेय, है, किन्तु उपेक्षणीय हैं। उपेक्षणीय व्यवहार भी औपचारिक होता है। मोह के रहते हुए जिन पदार्थों में उपादेयता और हेयता का व्यवहार था, मोह जाने के बाद वे पदार्थ उपेक्षणीय सुतराँ हो जाते हैं। फिर यह विकल्प ही नहीं उठता कि वे पदार्थ अमुक रूप से हमारे ज्ञान में आते। मोह के बाद ज्ञान जिस पदार्थ को विषय करता है, वही उसका विषय रह जाता है। मोह का अभाव होते ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय के तीन कर्म रक्षक के अभाव में अनन्यशरण हो अन्तर्मुहूर्त में नष्ट हो जाते हैं। इनका नाश होते ही ज्ञानगुण का शुद्ध परिणमन हो जाता है। जो ज्ञान पहले पराश्रित था वही अब केवल ज्ञान पर्याय पाकर आदित्यप्रकाशवत् स्वयं प्रकाशमान होता हुआ समस्त पदार्थों का ज्ञाता हो जाता है, और कभी स्वरूप से च्युत नहीं होता। अतएव धनञ्जय कवि ने विषापहार-स्तोत्र के प्रारम्भ में लिखा है।

स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसङ्गः ।
प्रवृद्धकालोऽप्यजरो वरेण्यः पायादपायात्पुरुषः पुराणः ।।

उसकी महिमा वही जाने, हम संसारी पर के द्वारा अपनी उन्नति ज्ञातकर पर पदार्थों के संग्रह करने में अपनी परिणति को लगा देते हैं, और अनन्तसंसार के पात्र बनते रहते हैं। वैषयिक सुख के लिये स्त्री, पुत्र, मित्र, धनादि पदार्थों का संग्रह करने में जो-जो अन्याय करते हैं, वह किसी से गुप्त नहीं। यहाँ तक देखा जाता है कि इस तरह प्राणियों का जीवन भी आपत्ति में आता हो और हमारा निज का प्रयोजन सिद्ध होता हो, तो हम उस आपत्ति को मङ्गलरूप अनुभव करते हैं। अस्तु।

दूसरे दिन नगर में आहार के लिये गये। श्री जैनमन्दिर की वन्दना की। दर्शन कर चित्त प्रसन्न हुंआ। मन्दिर जाने का यह प्रयोजन है कि वीतरागदेव की स्थापना देखकर वीतरागभाव की प्राप्ति के लिये स्वयं द्रव्य निक्षेप बनो। वीतराग के नाम पाठ करने से, वीतराग न हो जावेंगे। उन्होंने जिस मार्ग का अवलम्बन कर वीतरागता की प्राप्ति की है, उस मार्ग पर चलकर स्वयं वीतराग होने का पुरुषार्थ करो। क्या पुरुषार्थ हमारे हाथ की बात है? अवश्य है। जो रागादिक भाव तुममें हों, उनका आदर न करो। आने दो, क्योंकि उन्हें तुमने अर्जित किया, अब उनसे तटस्थ रहो। दर्शन के पश्चात् १ घण्टा प्रवचन हुआ। उपस्थिति अच्छी थी, परन्तु उपयोग नहीं लगा। अनन्तर आहार को निकले। हृदय में अनायास कल्पना आई कि आज स्व०पं०देवकीनन्दनजी के घर आहार होना चाहिये। उनके गृहपर कपाट बन्द थे, वहाँ से अन्यत्र गये, वहाँ पर कोई न था, उसके बाद तीसरे घर गये, तब वहाँ स्वर्गीय पण्डितजी की धर्मपत्नी द्वारा आहार दिया गया। इससे सिद्ध होता है कि शुद्ध परिणाम में जो कल्पना की जाती है, उसकी सिद्धि अनायास हो जाती है।

चैत्र शुक्ला १० सं०२००८ को यहाँ की पाठशाला के छात्रों के यहाँ भोजन हुआ। बड़े भाव से भोजन कराया। भोजन क्या था? अमृत था। इसका मूल कारण उन छात्रों का भाव था। स्वच्छ और अस्वच्छ भाव ही शुभाशुभ कर्म का कारण होता है। इन दोनों से भिन्न, जो सर्वथा शुद्ध है, वह संसार-बन्धन के उच्छेद का कारण है। संसार सन्तति का मूल कारण वासना है। वासना आत्मा में ही होती है और उसका उत्पादक मोह है।

चैत्र शुक्ला १३ सं०२००८ को भगवान् महावीर स्वामी के जन्मदिवस का उत्सव था। अनेक व्याख्यान हुये। मैंने तो केवल यह कहा कि आत्मीय परिणति को कलुषित न होने दो। कलुषित परिणामों का अन्तरङ्ग कारण मोह-राग-द्वेष है, तथा बाह्य कारण पञ्चेन्द्रियों के विषय हैं। विषय निमित्त कारण हैं, परन्तु ऐसी व्याप्ति नहीं, जो परिणति को बलात् कलुषित बना ही देवें। विषय तो इन्द्रियों के द्वारा जाने जाते हैं, उनमें जो इष्टानिष्ट कल्पना होती है, वह कषाय से होती है। कषाय क्या है? जो आत्मा को कलुषित करता है। यह स्वयं होती है। अनादि से आत्मा में इसका परिणमन चला आ रहा है। हम निरन्तर इसका प्रयास करते हैं कि आत्मा में स्वच्छ परिणाम हों, परन्तु न जाने कौन सी ऐसी शक्ति आत्मा

में है कि जिससे जो भाव आत्मा को इष्ट नहीं, वे ही आते हैं। इससे यही निश्चय होता है कि आत्मा में अनादि से ऐसे संस्कार आ रहे हैं कि जिनसे उसे अनन्त वेदनाओं का पात्र बनना पड़ता है। यदि हमने आत्मा को पहिचान कर विकारों पर विजय प्राप्त कर ली, तो हमारा महावीर जयन्ती का उत्सव मानना सार्थक है।

सागर से श्री 'नीरज' आये। आप श्री लक्षमणप्रसाद जी रीठी के सुपुत्र हैं। आपके पिता का स्वर्गवास हो गया। आपके अच्छा व्यापार होता था, परन्तु आपने व्यापार त्याग दिया, अब आप प्रेस का काम करते हैं। कवि हैं, हँसमुख हैं, होनहार व्यक्ति हैं। मुझसे मिलने के लिए आये थे। एक दिन रहकर चले गये।

श्री नाथूरामजी बजाज मवईवाले आये। २ घण्टा रहे, पश्चात् चले गये। आपने अपने यहाँ सिद्धचक्र विधान का आयोजन किया है। उसी समय पपौरा विद्यालय के लिए २५०००) देने का वचन दिया है। मुझे आमन्त्रण देने आये थे। विद्यादान की बात सुन, मैंने गरमी की तीव्रता होने पर भी जाना स्वीकृत कर लिया, परन्तु अन्त में शारीरिक दुर्बलता के कारण, हम जा नही सके। नरेन्द्र कुमार आया था। वह ज्येष्ठ कृष्ण ७ को सागर गया। स्वाभिमानी है, जैनधर्म में दृढ़ श्रद्धा है, उद्योगी है, परोपकारी भी है, लालची नहीं, किसी से कुछ चाहता नहीं, स्कालर्शिपको आदर के साथ लेता है। प्रत्येक मनुष्य से मेल कर लेता है। अभी आयु विशेष नहीं, अतः स्वभाव में बालकता है। ऐसा बोध होता है कि काल पाकर यह बालक विशेष कार्य करेगा। आजकल विज्ञान का युग है। इसमें जो पुरुषार्थ करेगा, वह उन्नति करेगा। जो मनुष्य पुरुषार्थी हैं, वे आत्मीय-उन्नति के पात्र हो जाते हैं। जो आलसी हैं, वे दुःख के पात्र होते हैं। मनुष्य जन्म पाने का यही फल है। स्व पर का हित किया जाय। वैसे तो संसार में श्वान भी अपना पेट पालन करते हैं। मनुष्य की उत्कृष्टता इसी में है कि अपने को मनुष्य बनावें, मनुष्य का ज्ञान और विवेक इतर योनियों में जन्म लेने वाले जीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट है। तिर्यञ्चों में तो पर्यायसम्बन्धी ज्ञान होता है। यद्यपि देव, नारकी विशिष्टज्ञानी होते हैं, परन्तु उनका ज्ञान भी मर्यादित रहता है, तथा वे देव, नारकी संयम भी धारण नहीं कर सकते। तिर्यञ्च देश संयम का पात्र हो सकता है, परन्तु इतना ज्ञान उसका नहीं कि अन्य जीवों का कल्याण कर सके। मनुष्य का ज्ञान परोपकारी है, तथा उसका संयमगुण भी ऐसा निर्मल हो सकता है कि इतर मनुष्य उसका अनुकरण कर अपने को संयमी बनाने के पात्र हो जाते हैं।

ज्येष्ठ शुक्ला ३ सं० २००८ को ललितपुर से बहुत से प्रतिष्ठित सज्जन आये और आग्रहपूर्वक कहने लगे कि आपको क्षेत्रपाल-ललितपुर का चातुर्मास करना चाहिये। हमने उनके प्रस्ताव को स्वीकृत किया तथा निश्चय किया कि वर्षा में ललितपुर रहना ही उत्तम है। वहाँ रहने से प्रथम तो सागर सन्निहित है। यहाँ वाले विरोध करते हैं—यह स्वाभाविक बात है। जहाँ रहो, वहाँ समुदाय से स्नेह हो जाता है तथा व्यक्ति विशेष से भी घनिष्ठता बढ़ जाती है, परमार्थ से यह स्नेह ही संसार का कारण है। यद्यपि लोग इसे धार्मिक स्नेह कहते हैं। परन्तु पर्यावसान में इसका फल उत्तम नहीं। जहाँ श्री अर्हदनुराग को चंदननगसंगत अग्नि की तरह दाहोत्पादक कहा है, वहाँ अन्य स्नेह की गिनती ही क्या है? मेरा निश्चय पाकर ललितपुर के लोग प्रसन्न हो चले गये।

श्रुतपञ्चमी

ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी सं० २००८ को श्रुतपञ्चमी का उत्सव था। पं० मनोहर लालजी ने सम्यग्दर्शन की महिमा का दिग्दर्शन कराया। मैंने कहा कि आज का पर्व हमको यह शिक्षा देता है कि यदि कल्याण की इच्छा है, तो ज्ञानार्जन करो। ज्ञानार्जन के बिना मनुष्य-जन्म की सार्थकता नहीं। देव और नारकियों के यद्यपि तीन ज्ञान होते हैं, परन्तु उनके जो ज्ञान होते हैं, उन्हें वे विशेष वृद्धिगत नहीं कर सकते। जैसे देवों के देशावधि है, वे उन्हें परमावधि या सर्वावधिरूप नहीं कर सकते। हाँ, इतना अवश्य है कि मिथ्यादर्शन के उदय में जिनका ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता था, सम्यग्दर्शन होने पर उनका वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है। परन्तु देव-पयार्य में संयम का उदय नहीं, इसलिए आपर्याय वही अविरतावस्था रहती है। मनुष्य पर्याय की ही यह विलक्षण महिमा है कि वह सकलसंयम धारण कर संसार-बन्धन को समूल नष्ट कर सकता है। यदि संसार का नाश होगा, तो इसी पर्याय में होगा। इस पर्याय की महत्ता संयम से ही है, यह निरन्तर संसार को यह उपदेश देते हैं कि मनुष्य जन्म की सार्थकता इसी में है कि फिर संसार-बन्धन में न आना पड़े। इस उपदेश का तात्पर्य केवल सम्यग्दर्शन से नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन तो चारों गतियों से होता है। यदि इस ही को प्राप्त कर संतोष धारण किया, तो मनुष्य जन्म की क्या विशेषता हुई? अतः इससे उत्तम संयम धारण करना ही इस पर्याय की सफलता है।

आजकल बड़े-बड़े विद्वान् यह उपदेश देते हैं कि स्वाध्याय करो यही आत्मकल्याण का मार्ग है। उनसे प्रश्न करना चाहिए— हे महानुभाव! आपने आजन्म विद्याभ्यास किया, सहस्रों को उपदेश दिया, और स्वाध्याय तो आपका जीवन ही है, अतः हम जो चलेगें सो आपके उपदेश पर ही चलेंगे, परन्तु देखते हैं कि आप स्वयं स्वाध्याय के करने का कुछ लाभ नहीं लेते, अतः हमको तो यही श्रद्धा है— स्वाध्याय से यही लाभ होगा कि अन्य को उपदेश देने में पटु हो जावेंगे, सो प्रातः जितनी बातों का उपदेश करते हैं, हम भी कर देते हैं, प्रत्युत एक बात आप लोगों की अपेक्षा हममें विशेष है। वह यह कि हम अपने बालकों को यथाशक्ति जैनधर्म के जान पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, परन्तु आप में यह बात नहीं देखी जाती। आपके पास चाहे पचासों हजार रुपया हो जावें, परन्तु आप उसमें से दान न करेंगे। अन्य की कथा छोड़िये, आप जिन विद्यालयों के द्वारा विद्वान् हो गये, कभी उनके अर्थ १००) भी नहीं भेजे होंगे। अथवा जिन की बात छोड़ो, अन्य से यह न कहा होगा भाई! हम अमुक विद्यालय से विद्वान् हुए, उसकी सहायता करना चाहिए। तथा जगत् को धर्म जानने का उपदेश देंगे, अपने बालकों को एम०ए० बनाया होगा, परन्तु धर्मशिक्षा का मिडिल भी न कराया होगा। अन्य को मद्य, मांस, मधु के त्याग का उपदेश देते हैं, पर आपसे कोई पूछे—अष्टमूलगुण हैं? हँस देवेंगे। व्याख्यान देते-देते पानी का गिलास कई बार आ जावे, कोई बड़ी बात नहीं। हमारे श्रोतागण इसी में प्रसन्न है कि पण्डितजी ने सभा को प्रसन्न कर लिया।

त्यागियों की बात कौन कहे? वह तो त्यागी हैं, किसके त्यागी हैं, सो दृष्टि डालिये, पता चलेगा। यदि यह पण्डितवर्ग चाहे तो समाज का बहुत कुछ हित कर सकता है। जो पण्डित हैं, वे यह नियम कर लेवें कि जिस विद्यालय में हमने प्रारम्भ से विद्या अर्जित की है, और जिसमें अन्त स्नातक हुए, अपने के कृतज्ञ बनाने के लिये उन्हें २) प्रति मास देंगे। १) प्रारम्भ विद्यालय को और १) अन्तिम विद्यालय को प्रतिमास भिजवावेंगें। यदि २००) मासिक उपार्जन होगा, तो २।।)-२।।) प्रतिमास भिजवावेंगे तथा एक वर्ष में २० दिन दोनों विद्यालयों के अर्थ देवेंगे। अथवा यह न दे सकें, तो कम से कम जहाँ जावें, उन विद्यालयों का परिचय तो करा देवें। जिन्हें १००) से कम आय हो, वे प्रति वर्ष ५)-५) ही विद्याजननी को पहुँचा देवें तथा यह सब न बने तो एक वर्ष कम-से-कम जि ग्रम के हों, वहाँ रहकर लोगों में धर्म का प्रचार तो कर देवें।

त्यागीवर्ग को यह उचित है कि जहाँ जावें, वहाँ पर यदि विद्यालय होवे तो ज्ञानार्जन करें, केवल हल्दी, धनिया, जीरे के त्याग में ही अपना समय न बितावें। गृहस्थों के बालक जहाँ अध्ययन करते हैं, वहाँ अध्ययन करें तथा शास्त्रसभा में यदि अच्छा विद्वान् हो तो उसके द्वारा शास्त्रप्रवचन प्रणाली की शिक्षा लेवें। केवल शिक्षा-प्रणाली तक न रहें, किन्तु संसार के उपकार में अपने को लगा दें। यह तो व्यवहार है, अपने उपकार में इतने लीन हो जावें, कि अन्य बात ही उपयोग में न लावें। कल्याण का मार्ग पर पदार्थों से भिन्न, जो निज द्रव्य है, उसी में रत हो जावें। इसका अर्थ यह है कि पर में जो राग-द्वेष विकल्प होते हैं, उनका मूल कारण मोह है। यदि मोह न हो, तो यह वस्तु मेरी है, यह भाव भी न हो। तब उसमें राग हो, यह सर्वथा नहीं हो सकता। प्रेम तभी होता है, जब उसमें अपना अस्तित्व माना जावे। देखो, मनुष्य प्राय: कहते हैं कि हमारा विश्वास अमुक धर्म से है, हमारी तो प्रीति इसी धर्म में है। विचार कर देखो—प्रथम उस धर्म को निज माना, तभी तो उसमें प्रेम हुआ और यदि धर्म को निज न माने, तो उसमें अनुराग होना असम्भव है। यही कारण है, कि १ धर्मवाला अन्य धर्म से प्रेम नहीं करता, अत: जिनको आत्म-कल्याण करना है, वे संसार के कारणों से न राग करें, न द्वेष करें।

आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है, ज्ञान-दर्शनवाला है अथवा वाला क्यों? ज्ञान-दर्शनरूप है, क्योंकि निश्चय से गुण-गुणी में अभेद है। उसका बोध होने से यह जीव संसार से मुक्त हो जाता है—

आप रूप के बोध से मुक्त होत सब पाप ।
ज्यों चन्द्रोदय होत ही मिटत सकल संताप ।।

कहने का भाव यह है कि विवेक से कार्य करो, बिना विवेक के कोई भी मनुष्य श्रेयोमार्ग का पथिक नहीं बन सकता। प्रथम तो विवेक के बल से आत्मतत्त्व की दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिये, फिर जो भी कार्य करो, उसमें यह देखो कि इस कार्य के करने में हमको कितना लाभ है, कितना अलाभ है? जिस लाभ के अर्थ मैंने परिश्रम किया वह परिश्रम सुखपूर्वक हुआ या दुःखपूर्वक हुआ? यदि उस कार्य के करने में संक्लेश की प्रचुरता हो, तो उस कार्य के करने में कोई लाभ नहीं। जब प्रथमतः ही दुःख सहना पड़ा, तब उसके उत्तर में सुख होगा, कुछ ध्यान में नहीं आता। दो प्रकार के कार्य जगत् में देखे जाते हैं, एक लौकिक

और दूसरे अलौकिक, लौकिक कार्य किन्हें कहते हैं? जिनसे हमको लौकिक सुख का लाभ होता है, उसे हम पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा करते है। परन्तु परमार्थ से वह सुख नहीं, क्योंकि सुख तो वह वस्तु हैं, जहाँ आकुलता न हो। वहाँ तो आकुलता की बहुलता है। आकुलता की परिभाषा कुछ बना लो, परन्तु अनुभव से इसका परिचय सहज ही हो जाता है। जब हम किसी कार्य के करने का प्रयत्न करते हैं, तब हमें भीतर से जब तक वह कार्य न हो जावे, चैन नहीं पड़ती, यही आकुलता है। इसके दूर करने के अर्थ हम जो व्यापार करते हैं उसका उद्देश्य यही रहता है कि नाना प्रकार के उपायों द्वारा कार्य की सिद्धि हो। कहाँ तक लिखें? प्राण जावें, परन्तु कार्य-सिद्धि होना चाहिए।

श्रुतपञ्चमी के दिन हम लोग शास्त्रों की सम्भाल करते हैं, पर झाड़-पोंछकर या धूप दिखाकर अलमारी में रख देना ही उनकी सम्भाल नहीं है। शास्त्र के तत्त्व को अध्ययन-अध्यापन के द्वारा संसार के सामने लाना, यही शास्त्रों की सम्भाल है। आप जैन-मन्दिरों में लाखों की सम्पत्ति रुकी पड़ी है। जिसका कोई उपयोग नहीं। यदि उपयोग होता भी तो, सङ्गमर्मर के फर्श लगवाने तथा सोने-चाँदी के उपकरण बनवाने में होता है, पर वीतराग जिनेन्द्र की वाणी के प्रचार करने में उसका उपयोग करने में मन्दिरों के अधिकार सकुचाते हैं। यदि एक-एक मन्दिर एक-एक ग्रन्थ प्रकाशन का भार उठा ले, तो समस्त उपलब्ध शास्त्र एक वर्ष में प्रकाशित हो जावें। मन्दिरों में बहुमूल्य-उपकरण एकत्रित कर चोरों के लिये स्वयं आमन्त्रण देंगे, और फिर हाय-हाय करते फिरेंगे। यदि आपकी अरहन्तदेव में भक्ति है तो उनकी वाणीरूप जो शास्त्र हैं उनमें भी भक्ति होना चाहिये और उनकी भक्ति का रूप यही हो कि वे अच्छे से अच्छे रूप में प्रकाशित हो संसार के सामने लाये जावें। प्रसन्नता की बात है कि इस समय लोगों का धार्मिक-संघर्ष बहुत कम हो गया है। एक समय तो वह था, जब कोई किसी अन्य धर्म की बात को श्रवण ही नहीं करना चाहता था, पर आज के मानव में इतनी सहनशीलता आ गई है कि यदि उसे कोई अपनी बात प्रेम से सुनाना चाहता है, तो वह उसे सुनने के लिये तैयार है। अब आपके धर्म की बात को दुनियाँ सुनने के लिये तैयार है, जानने के लिये उत्सुक है, तब आप ज्ञान के साधन जो शास्त्र हैं, उन्हें सामने क्यों नहीं लाते? शास्त्रसंग्रह करने की प्रवृत्ति आप लोगों में क्यों नहीं जागृत होती? एक-एक महिला की पेटियों में बीस २ पच्चीस २ साड़ियाँ निकलेंगी, पर शास्त्र के नाम पर २/ रुपये का शास्त्र भी उसकी पेटी में नहीं होगा। हमारा

पुरुषवर्ग भी अपनी शान-शौकत या वैभव बताने के लिये नाना प्रकार की सामग्री इकट्ठी करता है, पर मैंने देखा कि अच्छे-अच्छे लखपतियों के घर दश-बीस रुपये के भी शास्त्र नहीं निकलते। क्या बात है? इस ओर रुचि नहीं। यदि रुचि हो जाय, तो जहाँ साल में हजारों खर्च करते हैं, वहाँ सौ-पचास रूपये खर्च करना कठिन नहीं। गृहस्थ लोग शास्त्र खरीद कर संग्रह करने लगें, तो छपाने वाले अपने-आप सामने आ जावें। अस्तु, भैया! बुराई न मानना मेरे मन में तो जो बात आती है, वह कह देता हूँ, पर मेरा अभिप्राय निर्मल है, मैं कभी किसी जीव का अहित नहीं चाहता।

बरुवासागर से प्रस्थान

ज्येष्ठशुक्ला ११ सं० २००८ के दिन श्री सिं० धन्यकुमारजी कटनीवाले आये। बहुत ही सहृदय मनुष्य हैं, ३ घण्टा रहे। आपके विचार प्रौढ़ और गम्भीर हैं। आपका कहना है कि कटनी आकर रहिये। जबलपुर की व्यवस्था भी आपने श्रवण कराई। मैंने कहा अभी कटनी तो बहुत दूर है। वह सुनकर चुप रह गये। मुझे अन्तरङ्ग से लगा कि यदि कल्याण की अभिलाषा है, तो इन संसर्गो को त्यागो। जितना संसर्ग बाह्य में अधिक होगा, उतना ही कल्याण मार्ग का विरोध होगा। कल्याण केवल आत्मपर्याय में है, जो पर के निमित्त से भाव होते हैं वे सब स्वतत्त्व परिणति की निर्मलता में बाधक हैं। निर्मलता वह वस्तु है, जहाँ पर की अपेक्षा नहीं रहती। यद्यपि ज्ञायक सामान्य की अपेक्षा सर्वदा आत्मा की स्वभाव में अवस्थिति है, परन्तु अनादिकाल से आत्मा और मिथ्यात्व का संसर्ग चला आ रहा है, इससे कर्मजन्य जो मिथ्यात्वादि भाव हैं उनको निज मानता है, उन्हीं का अनुभव करता है अर्थात् उन्हीं भावों का कर्ता बनता है। जिस काल में मिथ्यात्व-प्रकृति का अभाव हो जाता है उस काल में आपको आप मानता है, उस काल में ज्ञान में जो ज्ञेय आते हैं उन्हें जानता है, परन्तु ज्ञेय के निमित्त से ज्ञान में जो ज्ञेय आते हैं उन्हें जानता है, परन्तु ज्ञेय के निमित्त से ज्ञान में जो ज्ञेयाकार परिणमन होता है उसे ज्ञेय का न मान ज्ञान का ही परिणमन मानता है, यही विशेषता अज्ञानी की अपेक्षा ज्ञानी के हो जाती है।

ज्येष्ठशुक्ला १२ सं० २००८ के शास्त्र-प्रवचन के समय चित्त में कुछ क्षोभ हो गया। क्षोभ का कारण यही था कि आजकल मनुष्य जैनधर्म की प्रक्रिया को जानने का प्रयास नहीं करते। जैनधर्म की प्रक्रिया इतनी स्वाभाविक है कि इसका

अनुसरण कर जीव ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों से वञ्चित न हो। देखिये—जैनधर्म में यह कहा है कि संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब भिन्न-भिन्न सत्ता को लिए हुए हैं, अतः जब दूसरा पदार्थ हमारा है नहीं, तब उसमें हमारा ममत्व-परिणाम न होगा। ममता परिणाम ही बन्ध का जनक है। यदि परपदार्थ में निजत्व कल्पना न हो, तो हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह आदि भाव स्वयमेव विलय जावें। हम दूसरे पदार्थ को तुच्छ देखते हैं, उससे घृणा करते हैं। इसका मूल कारण यही है कि हमने अपने स्वरूप को नहीं जाना। परमार्थ से कोई पदार्थ न तो बुरा है और न अच्छा है, हम अपनी रुचि के अनुसार ही उनके विभाग करते हैं। जैसे देखो, जिस मल को धोकर हम मृत्तिका से हस्त-प्रक्षालन करते हैं। शूकर उसी मल को बड़े प्रेम से खा जाता है। क्या वह जीव नहीं है? है, परन्तु उस पर्याय में इतना विवेक नहीं कि वह उसे त्यागे। वही जीव, यदि चाहे तो उत्तम गति का भी पात्र हो सकता है। ऐसी कथा आई है कि एक सिंह मुनि को मारने के अर्थ चला और शूकर ने मुनि-रक्षा के लिए सिंह का सामना किया, दोनों मर गये, शूकर स्वर्ग और सिंह नरक गया। यथार्थ में शान्तिं का मार्ग कहीं नहीं, आप में ही है। आपसे तात्पर्य आत्मा से है। जो हम पर से शान्ति चाहते हैं, यही महती अज्ञानता है, क्योंकि यह सिद्धान्त है कि कोई द्रव्य किसी द्रव्य में नवीन गुण उत्पन्न नहीं कर सकता। पदार्थों की उत्पत्ति उपादान कारण और सहकारी कारणों से होती है। उपादान एक और सहकारी अनेक होते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति में उपादान कारण मृत्तिका और सहकारी कारण दण्ड-चक्र-चीवर-कुलालादि हैं। यद्यपि घट की उत्पत्ति मृत्तिका में होती है, अतः मृत्तिका ही उसका उपादान कारण है, फिर भी कुलालादि कारण कूट के अभाव में घटरूप पर्याय मृत्तिका में नहीं देखी जाती, अतः ये कुलालादि घटोत्पत्ति में सहकारी कारण माने जाते हैं। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने जहाँ कारण के स्वरूप का निर्वचन किया है, वहाँ **'सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणं'** अर्थात् सामग्री ही कार्य की जनक है, एक कारण नहीं, यही तो लिखा है। अतः इस विषय में कुतर्क करना विद्वानों को उचित नहीं। यहाँ पर मुख्य-गौण न्याय की आवश्यकता नहीं। वस्तु स्वरूप जानने की आवश्यता है, **'अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्यकारणभावः'** अर्थात् कार्यकारणभाव अन्वय और व्यतिरेक दोनों से जाना जाता है, अतः दोनों ही मुख्य हैं। जब उपादान की उपेक्षा कथन करते हैं तब घट का उपादान मिट्टी है और निमित्त की अपेक्षा निरूपण किया जावे तो कुलालादि कारण हैं। यदि इस प्रक्रिया को

स्वीकार न करोगे तो कदापि कार्य की सत्ता न बनेगी। इस विषय में वाद-विवाद कर मस्तिष्क को उन्मत्त बनाने की पद्धति है। इसी प्रकार जो भी कार्य हों उनके उपादान और निमित्त देखो, व्यर्थ के विवाद में न पड़ो। निमित्त में ही यह प्राणी न उलझ जाय, कुछ मूलतत्त्व की ओर भी दृष्टि करे, इस भावना से प्रेरित होकर कह दिया जाता है कि सिद्धि उपादान से होती है। जब तक उत्पादन की ओर दृष्टिपात न होगा, तब तक केवल निमित्तों में उलझे रहने से काम नहीं होता। और जब कोई उपादान को ही सब कुछ समझ प्राप्त निमित्त का उपयोग करने में अकर्मण्य हो जाता है, तब निमित्त की प्रधानता से कथन होता है और कहा जाता है कि बिना निमित्त जुटाएँ कार्य नहीं होता।

आकाश में काली-काली घनावली आच्छादित होने लगी तथा कभी-जलवृष्टि होने से ग्रीष्म की भंयकरता कम हो गई, इसलिए बरुआसागर से प्रस्थान करने का निश्चय किया। आषाढ़ शुक्ल १० सं० २००८ के दिन मध्याह्न की सामायिक के बाद ज्यों ही प्रस्थान करने को उद्यत हुआ कि बहुत से स्त्री-पुरुष आ गये और स्नेह के आधीन संसार में जो होता आया है, करने लगे। सबकी इच्छा थी कि यहाँ पर चातुर्मास्य हो, पर मैं एक बार ललितपुर का निश्चय कर चुका था, इसलिए मैंने रुकना उचित नहीं समझा। लोगों के अश्रुपात होने लगा तब मैंने कहा—

संसार एक विशाल कारागृह है। इसका संरक्षक कौन है? यह दृष्टिगोचर तो नहीं, फिर भी अन्तरङ्ग से सहज ही इसका पता चल जाता है। वास्तव में इसका संरक्षक मोह है। उसके दो मन्त्री हैं, एक राग और दूसरा द्वेष। इनके द्वारा आत्मा में क्रोध, मान, माया और लोभ का प्रकोप होता है। क्रोधादिकों के आवेग में यह जीव नाना-प्रकार के अनर्थ करता है। जब क्रोध का आवेग आता है, तब पर को नाना प्रकार के कष्ट देता है, स्वयं अनिष्ट करता है तथा पर से भी कराता है अथवा उसका स्वयं अनिष्ट होता हो तो हर्ष का अनुभव करता है। यद्यपि पर के अनिष्ट से इसका कुछ भी लाभ नहीं, पर क्या करे? लाचार है। यदि पर का पुण्योदय हो और इसके अभिप्राय के अनुकूल उसका कुछ भी बांका न हो, तो यह दाह में दुःखी होता रहता है। यहाँ तक देखा गया कि अभिप्राय के अनुकूल कार्य होने पर मरण, तक कर लेता है। मान के उदय में यह इच्छा होती है कि पर मेरी प्रतिष्ठा करे, मुझे उच्च माने। अपनी प्रतिष्ठा के लिए यह दूसरे के विद्यमान गुणों को आच्छादित करता है, और अपने अविद्यमान गुणों को प्रकट करता है। पर की

निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है। मान के लिए बहुत कष्ट से उपार्जन किए हुए, धन को व्यय करने में संकोच नहीं करता। यदि मान की रक्षा नहीं हुई, तो बहुत दुःखी होता है। अपघात तक कर लेने में संकोच नहीं करता। यदि कोई ने, जैसी आपने इच्छा की थी, वैसा ही मान लिया, तो फूलकर कुप्पा हो जाता है। कहता है, हमारा मान रह गया। पर मूर्ख यह विचार नहीं करता कि हमारा मान नष्ट हो गया। यदि नष्ट न होता तो वह भाव सर्वदा बना रहता। उसके जाने से ही तो आनन्द आया, परन्तु विपरीत श्रद्धा में यह मानता है कि मान की रक्षा से आनन्द आ गया।

एवं माया कषाय भी जीव को इतने प्रपञ्चों में फँसा देती है कि मन में तो और है, वचन से कुछ कहता है और काय के द्वारा अन्य ही करता है। मायाचारी आदमी के द्वारा महान् महान् अनर्थ होते हैं। मायावी आदमी ऊपर से सरल दीखता है, और भीतर अत्यन्त वक्र परिणामी होता है। जैसे बगुला ऊपर शनैः शनैः पैरों द्वारा गमन करता है, और भीतर से जहाँ मछली की आहट सुनी, वहीं उसे चोंच से पकड़ लेता है। मायाचार के वशीभूत होकर जो न करे, सो अल्प है। इसी तरह लोभ के वशीभूत होने से संसार में जो-जो अनर्थ होते हैं वे किसी से अविदित नहीं आज सहस्रावधि मनुष्यों का संहात तो रहा है, वह लोभ की ही बदौलत तो है। आज एक राज्य दूसरे को हड़पना चाहता है। वर्षों से शान्ति-परिषद् हो रही है, लाखों रुपया बर्बाद हो गये, परन्तु टस से मस नहीं हुआ। शतशः नीति के विद्वानों ने गम्भीर विचाार किये। अन्त में परिग्रही मनुष्यों ने एक भी विषय निर्णीत न होने दिया—लोभ कषाय की प्रबलता कुछ नहीं होने देती। सब ही मिल जावें, परन्तु जब तक अन्तरङ्ग में लोभ विद्यमान है, तब तक एक भी बात तक न होगी। राजाओं से प्रजा का पिण्ड छुड़ाया, परन्तु अधिकारी वर्ग ऐसा मिला कि उनसे बदतर दशा मनुष्यों की हो गई। यह सब लोभ की महिमा है, लोभ की महिमा अपरम्पार है, अतः जहाँ तक बने लोभ को कृश करो। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय ही आत्मा के सबसे प्रबल शत्रु हैं। इनसे पिण्ड छुड़ाने का प्रयत्न करो। हमें यहाँ रोककर क्या करोगे। ३ माह रोकने से तो यह दशा हो गई कि नेत्रों से अश्रुपात होने लगा, अब चार माह और रोकोगे, तो क्या होगा। स्नेह दुःख का कारण है, अतः उसे दूर करने का प्रयास करो। इतना कह कर हम चल पड़े, लोग बहुत दूर तक भेजने आये। आज बरुवासागर से चलकर नदी पर विश्राम किया।

●

ललितपुर की ओर

सूर्य की सायंकालीन सुनहली-किरणों से अनुरञ्जित हरी-भरी झाड़ियों से सुशोभित वेत्रवती का तट बड़ा रम्य मालूम होता था। सन्ध्याकालीन सामायिक के बाद रात्रि को यहीं विश्राम किया, यहाँ पर जो मुन्शी रहता है, वह योग्य हैं दूसरे दिन प्रात: ८ बजे बाद नौका चली, ९ के बाद नदी के उस पार पहुँच सके। मल्लाह बड़े परिश्रम से कार्य करते हैं, मिलता भी उन्हें अच्छा है, परन्तु मद्यपान में सब साफ कर देते हैं। कितने ही मल्लाह तो दो-दो रुपये तक की मदिरा पी जाते हैं, अत: इनके पास द्रव्य का संचय नहीं हो पाता। यद्यपि राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री आदि इनकी उन्नति में प्रयत्नशील हैं, परन्तु इनका वास्तविक उद्धार कैसे हो, इस पर दृष्टि नहीं। जो लोग वर्तमान में श्रेष्ठ हैं, उनसे कहते हैं कि इनके प्रति घृणा न करो, परन्तु जब तक इन लोगों में मद्य-मांस का प्रचार है, तब तक न तो लोग समानता का व्यवहार करेंगे और न इनका उत्कर्ष होगा। देश के नेता केवल पत्रों में लेख न लिख कर या बड़े-बड़े शहरों में भाषण न देकर, इन गरीबों की टोलियों में आकर बैठें, तथा इन्हें इनके हित का मार्ग दिखलावें, तो यह सहज ही सुपथ पर आ सकते हैं। स्वभाव के सरल हैं, परन्तु अज्ञान के कारण अपना उत्कर्ष नहीं कर सकते।

राज्य की ओर से मद्यबिक्री रोकी जावे, गांजा चरस आदि का विरोध किया जावे। राज्य सरकार भी तभी रोक सकती है, जब वह इनके कारण होनेवाली आय से अपनी इच्छा घटा ले। इनसे करोड़ों रुपयें की आय सरकार की होती है, परन्तु इनके सेवन से होने वाले रोगों को दूर करने के लिये अस्पतालों में भी करोड़ों रुपये व्यय करना पड़ते हैं। राज्य चाहे तो सब कर सकता है, क्योंकि उसके पास सत्ता का बल है अथवा सत्ता का बल ही सर्वोपरि बल नहीं है। आज राजकीय अनेक कानूनों का प्रतिबन्ध होने पर भी लोग अन्याय करते हैं। उसका करण यही है कि राजकीय कानूनों से लोगों का हृदय आतंकयुक्त तो होता है, पर उस पाप से घृणा नहीं होती। राज के जो अधिकारी वर्ग हैं, वे भी स्वयं इन पापों में प्रवृत्ति करते हैं। कीमती-से-कीमती मदिरा इन्हीं के उपयोग में आती है। सिगरेट पीना, तो आज की सभ्यता का नमूना हो गया है। ऐसे अधिकारियों से लोगों

के हृदय नहीं बदलते, बल्कि उस पाप के करने के लिये अनेक प्रकार की छल, क्षुद्रताएँ लोग करने लगते हैं। कहीं-कहीं तो यहाँ तक देखा गया है कि अध्यापक लोग कक्षाओं में बैठकर सुकुमारमति बालकों के समक्ष सिगरेट या बीड़ी का सेवन करते हैं। इसका क्या प्रभाव उन बालकों पर पड़ता होगा, यह वे जाने। अस्तु,

आषाढ़ कृष्णा १२ सं० २००८ को झाँसी पहुँच गये तथा सेठ मक्खनलाल जी के यहाँ ठहर गये। मन्दिर में प्रवचन हुआ। मनुष्य-संख्या पर्याप्त थी। धर्मश्रवण की इच्छा सबको रहती है—सब मनोयोगपूर्वक सुनते भी हैं, परन्तु उपदेश कर्तव्य-पथ में नहीं आता। इसका मूल कारण वक्ता में आभ्यन्तर आर्द्रता नहीं है।

गरजनेवाले मेघ और निरर्थक उपदेश देनेवाले वक्ता सर्वत्र सुलभ हैं। ये वृथा ही सामने आ जाते हैं, परन्तु जिसका अन्तरङ्ग आर्द्र है तथा जो जगत् का उद्धार करना चाहते हैं, ऐसे मेघ तथा उपदेशक नर दुर्लभ हैं। यदि वक्ता चाहता है कि हमारे वचनों का प्रभाव लोगों पर पड़े, तो उस कार्य को उसे स्वयं करना चाहिये। मुनिधर्म की दीक्षा मुनि ही दे सकते हैं, तथा जिस पद्धति से मुनि-धर्म का निरूपण मुनि करने में समर्थ होते हैं विद्वान् अविरत-सम्यग्दृष्टि से उस पद्धति से निरूपण नहीं कर सकते। आजकल सिद्धान्त के ज्ञाता तो बहुत हो गये हैं, परन्तु उस पर आचरण नहीं करते। इससे उनके उपदेश का कोई प्रभाव नहीं होता। पदार्थ का ज्ञान होना अन्य बात है, और उस पदार्थरूप हो जाना अन्य बात है। हम अपनी कथा कहते हैं—जितनी कथा कहते हैं, उसका शतांश भी पालन नहीं करते। यही कारण है कि शान्ति के स्वाद से वञ्चित हैं। शान्ति का आना कोई कठिन नहीं। आज शान्ति आ सकती है, परन्तु शान्ति के बाधक जो रागादि दोष हैं, उनको हम त्यागते नहीं। रागादिक जो उत्पादक निमित्त हैं, सिर्फ उन्हें त्यागते हैं, परन्तु उनके त्याग से रागादिक नहीं जाते। उनका अभाव तो उनकी उपेक्षा से ही हो सकता है।

त्रयोदशी को प्रातःकाल चलने का विचार था, परन्तु मूसलाधार वर्षा होने से चल नहीं सके। ११ बजे तक वर्षा शान्त नहीं हुई। ऐसा दिखने लगा कि अब ललितपुर पहुँचने में विघ्न आ रहा है, परन्तु मध्याह्न के बाद आकाश स्वच्छ हो गया। जिससे १ बजे झाँसी से निकल कर ४ बजे बिजौली पहुँच गये। स्थान रम्य था। एक स्कूल में ठहर गये। यह स्थान सदर (झांसी) से ६ मील दूर है। बीच में ४ मील पर एक डेयरी फार्म दिखा। महिषी और गायों की स्वच्छता देख

चित्त प्रसन्नता से भर गया। दूसरे दिन बिजौली से २ मील चलकर १ उपवन में निवास किया। शौचादि से निवृत हो पाठ किया। तदनन्तर सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ का प्रवचन किया। उपवन का शान्तिमय वातावरण देख चित्त में बहुत प्रसन्नता हुई, और हृदय में विहार के निम्नांकित लाभ अनुभव में आये।

विहार में अनेक गुण हैं। प्रथम तो एक स्थान पर रहने से प्राणियों के साथ जो स्नेह होता है, वह नहीं होता, तथा देशाटन करने से अनेक देशों के वन, उपवन, नदी, नाले आदि देखने का सुअवसर प्राप्त होता है, शरीर के अवयवों में संचालन होने से क्षुधा आदि की शक्ति क्षीण नहीं हो पाती, अन्न का परिपाक ठीक होता रहता है, आलस्यादि दुर्गुणों से आत्मा सुरक्षित रहती है, अनेक तीर्थक्षेत्रादि के दर्शन का अवसर मिलता है, किसी दिन अनुकूल स्थानादि न मिलने से परीषह सहन करने की शक्ति आ जाती है, कभी दुर्जन मनुष्यों के समागम से क्रोधादि कषाय के कारणों के सद्भाव में क्षमा का भी परिचय हो जाता है। इत्यादि अनेक लाभों की विहार में सम्भावना है। यह स्थान झाँसी के सुन्दरलाल सेठ का है। २०००) वार्षिक व्यय है। उपवन में आम्रादि के वृक्ष हैं। उनसे विशेष आय नहीं। वह रुपया आदि विद्या दान में खर्च किया जाता, तो ग्रामीण जनता को बहुत लाभ होता, परन्तु लोगों की दृष्टि इस ओर नहीं। आज भारतवर्ष अपनी पूर्व गुण-गरिमा से गिर गया है। जहाँ देखो, वहाँ पैसे की पकड़ है। पश्चिमी देश की सभ्यता को अपनाकर लोगों ने अपने व्यय के मार्ग बहुत विस्तृत कर लिये है, इसलिए रात-दिन व्यय की पूर्ति में ही संलग्न रहना पड़ता है। पश्चिमी सभ्यता के केवल विषयपोषक कार्यों को भारत ने अपनाया है। जहाँ प्रथमावस्था में मद्य, मांस, मधु का त्याग कराया जाता था, वहाँ अब तीनों अमृतरूप में माने जाने लगे हैं। इनके बिना गृहस्थों का निर्वाह नहीं होता। थोड़े दिन पहले कोई साबुन का स्पर्श नहीं करता था, पर आज उसके बिना किसी का निर्वाह नहीं। अंग्रेजों में जो गुण थे, उन्हें भारत ने नहीं अपनाया। वह समय का दुरुपयोग नहीं करते थे, उन्होंने भारतवर्ष की महिलाओं के साथ सम्बन्ध नहीं किया। प्राचीन वस्तुओं की रक्षा की, विद्या से प्रेम बढ़ाया, स्वच्छता को प्रधानता दी इत्यादि। मुसलमानों में भी बहुत से गुण हैं। जैसे एक बादशाह भी अपनी जाति के अदना आदमी के साथ भोजनादि करने में संकोच नहीं करता। यदि किसी के पास एक रोटी हो, और १० मुसलमान आवें तो वह एक-एक टुकड़ा खाकर सन्तोष कर लेंगे। नमाज के समय कहीं भी हों, वहीं पर नमाज पढ़ लेंगे, परस्पर में मैत्री

भावना रक्खेंगे, एक दूसरे को अपनाना जानते हैं इत्यादि। परन्तु हमारे देश के लोग, किसी से गुण ग्रहण न कर अधिकांश उसके दोष ही ग्रहण करते हैं।

बाग से चलकर ववीना ग्राम में आ गये। यहाँ पर २५ घ़र जैनियों के हैं। ५ स्थाानों पर दर्शन हैं। दूसरे दिन ३ बजे जब यहाँ से चलने लगे तब ५० मनुष्य और ५० महिलाएँ आ गईं। कुछ उपदेश हुआ। पाठशाला के लिए ४०) मासिक का चन्दा हो गया। यहाँ एक मनुष्य को पञ्चायत ने १२ मास से जाति च्युत कर दिया था। उसने जो अपराध किया था, उसकी क्षमा माँगी। लोगों ने क्षमा दी। यदि इतनी नम्रता पहले ही व्यवहार में लाता, तो इतना परेशान क्यों होता, परन्तु कषाय का वेग भी कुछ चीज है। ववीना से ४ मील चलकर घिसोली आये, यहाँ पर सड़क के किनारे एक जैन मन्दिर है। उसी की दहलान में ठहर गये। मन्दिर में भगवान् के दर्शन किये। यहाँ पर कोई जैनी नहीं रहता। इस ग्राम में ठाकुर (क्षत्रिय) लोग रहते हैं। उनका दबदबा है, अतः कोई रहना नहीं चाहता। फिर वैश्य जाति स्वभाव से भीरु है। यह द्रव्य उपार्जन करना जानते हैं, परन्तु अन्य गुणों से भयभीत रहते हैं। लोभ के वशीभूत हो, आत्मीय प्रतिष्ठा से च्युत रहते हैं। यह दान करने में शूर हैं, परन्तु सर्वोपयोगी कार्यों में व्यय नहीं करेगें। यही कारण है कि सामान्य जनता को आकर्षित नही कर पाते। व्यापार इनकी आय का साधारण निमित्त है, कृषि करने को हेय मानते हैं। यद्यपि वैश्य का कृषि कर्म आगम विहित है, परन्तु उसे हिंसा का कार्य बनाकर दया का पालन करते हैं, परन्तु ऐसे-ऐसे व्यापार करेंगे, जिनमें हजारों मन चर्बी का उपयोग होता है, उससे नहीं डरते। अस्तु, संसार स्वार्थी है। यहाँ से चलकर पुलिस चौकी के समीप एक कूप था, वहीं पर ठहर गये। ववीना से एक चौका आया था, उसी में निरन्तराय आहार हुआ। यहाँ दो फर्लांग पर वेत्रवती नदी है। घाट अकृत्रिम है। उस पार जाने को दो नौकायें रहती हैं, बिना किराये के पार उतार देते हैं। बीच में पत्थरों की चट्टाने हैं, नौका बड़ी सावधानी से ले जाते हैं, आधा घण्टा नदी पार करने में लगता है, पहाड़ी नदी है, पानी अत्यन्त निर्मल है, स्थान धर्मध्यान के अनुकूल है।

प्रातः ५।। नदी के घाट से चलकर ७।। बजे कडेसरा पहुँच गये। यहाँ १० घर गोलालारे जैनों के हैं। मन्दिर के पास हम लोग ठहर गये। यहाँ से पवाक्षेत्र २।। मील है। ग्रामीण जनता में धर्म का प्रचार हो सकता है, परन्तु प्रचारक

हों, तब बात बने। अगले दिन कडेसरा से चलकर पवाक्षेत्र में आये। यहाँ पर पृथिवी के १० फुट नीचे जिन मन्दिर है, जिसमें काले पत्थर की ४ मूर्तियाँ हैं। १ मूर्ति आदिनाथ स्वाामी, १ पार्श्वनाथभगवान् की तथा १ नेमिनाथभगवान् की है। सभी प्रतिमाएँ अतिमनोज्ञ चमकदार काले पत्थर की हैं। आदिनाथभगवान् की मूर्ति वि०सं० १३४५ में भट्टारक शुभकीर्तिदेव के द्वारा प्रतिष्ठापित है। यहाँ पर एक नया मन्दिर नये गाँव की सिंघेन ने बनवाया है। उसमें एक वेदिका संगमर्मर की है, तथा उस वेदिका पर सुवर्ण का चित्राम हो रहा है। मूर्ति अत्यन्त मनोज्ञ है। मन्दिर में संगमर्मर का पत्थर लग जाने से बहुत ही सुन्दरता आ गई हैं। मन्दिर के चारों तरफ एक प्राकार है। पूर्व दिशा में एक महान् द्वार है। उसके बगल में एक बंगला बना हुआ है। पूर्व दिशा में यात्रियों के निवास के लिए दरवाजे के दोनों ओर कोठा बने हुए हैं। पूर्व प्रवेशद्वार से थोड़ी दूर पर एक बड़ा कूप है, जिसका जल अतिशय मधुर है। मन्दिर के चारों ओर रमणीय अटवी है। उत्तर की ओर पवा ग्राम है, जहाँ ७ घर जैनियों के हैं। यह स्थान यदि श्रावक घर से उदासीन हो, परिग्रह की मूर्च्छा न हो और स्वतन्त्र भोजन बना सकता हो, तो रहकर धर्म साधन करने के योग्य है। विद्याध्ययन के उपयुक्त भी है, परन्तु वर्तमान जैन जनता की इस ओर दृष्टि नहीं। दृष्टि जाती भी है, तो लौकिक शिक्षा की ओर ही जाती है, उसका कारण लौकिक शिक्षा में अर्थ प्राप्ति का विशेष सम्बन्ध है, किन्तु जिस शिक्षा से पारमार्थिक हित होता है, उस ओर ध्यान नहीं, और न हो भी सकता है। प्रत्यक्ष सुख के साधन धन की प्राप्ति जिसमें हो, उसे छोड़ लोग अन्य साधनों में अपने को नहीं लगाना चाहते। इसका कारण अनादि काल से आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा के जाल में इतने उलझे हैं कि उससे निकलना कफ में उलझी मक्खी के सदृश कठिन है। जिसका महाभाग्य हो वही इस जाल से अपनी रक्षा कर सकता है। यह जाल अन्य द्वारा नहीं बनाया गया है, किन्तु हमने स्वयं इसका सृजन किया है।

प्रात:काल प्रवचन हुआ। २५ मनुष्य थे। इस पवाक्षेत्र पर उपयोग निर्मल रहता है। दूसरे दिन यहाँ से प्रात:काल ५।। बजे चलकर पुन: कड़ेसरा आ गये, और अपराह्ण समय यहाँ से ४ मील चलकर तालबेहट आ गये, तथा मन्दिर की धर्मशाला में ठहर गये। प्रात:काल मन्दिर जी में जिनदेव का दर्शन किया। स्वच्छ स्थान था। चित्त प्रसन्न हुआ। यहाँ पर खेतसिंहजी मिठया बहुत सज्जन हैं, धनी भी हैं, तथा पुत्रादि से सम्पन्न हैं। यहाँ एक रामस्वरूप योगी संस्कृत के अच्छे

विद्वान् हैं, साहित्य के आचार्य हैं। आप योगी हैं, अतः ब्राह्मण लोग इनसे वह प्रेम नहीं रखते, जो सजातीय ब्राह्मण से रखते हैं। आप हाईस्कूल में संस्कृत अध्यापक हैं। १२०) मासिक मिलता है। एक संस्कृत पाठशाला प्राइवेट चलाते हैं। उनमें कई हरिजनों को विशारद, मध्यमा तक परीक्षा उत्तीर्ण करा चुके हैं। आपका यह सब काम उच्च वर्ण वालों को अप्रिय प्रतीत होता है। न जाने लोगों ने इतनी संकीर्णता क्यों अपनाई है? विद्या किसी व्यक्ति विशेष की नहीं, फिर भी इतनी संकीर्णता क्यों? यह सब मोह का कार्य है, मोह में ही यह भाव होता है कि हम ही उच्च कहलावें, चाहे कितना ही नीच कार्य क्यों न करें? अन्य ऋषियों ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयेयाताम्' अर्थात् स्त्री और शूद्र को नहीं पढ़ाना चाहिए। यह अन्याय नहीं तो क्या? न जानें इन मनुष्यों ने कितने प्रतिबन्ध लगा रक्खे हैं? अन्य कथा छोड़ो, यहाँ तक आज्ञा दे डाली कि एकान्त में अपनी माँ से भी मत बोलो। माँ यह उपलक्षण है, अतः स्त्रीमात्र का ग्रहण है। वास्तविक बात यह है कि परिणामों की मलिनता जैसे-जैसे वृद्धि को प्राप्त होती गई, वैसे-वैसे यह सर्व नियम बनते गये। तालबेहट में तालाब बहुत सुन्दर है, तालाब के जल से एक प्रपात पड़ता है, जो बहुत ही मनोहर है, एक छोटी पहाड़ी भी पास में हैं।

आषाढ़ शुक्ला ९ सं०२००८ को यहाँ से चल कर बीच में जमालपुर ठहरते हुए बाँसी आ गये। यह बड़ा कसवा है। ३००० के करीब मनुष्य संख्या होगी। यहाँ २ घर गोलालारे जैनों के हैं, जिनमें १ घर सम्पन्न है। २ घर विनेकावाल जैनों के भी हैं। २ मन्दिर विशाल हैं। इस समय ऐसे मन्दिर बनवाने में लाख रुपये से कम नहीं लगेगा। एक मन्दिर की शिखर जीर्ण है। उसकी मरम्मत के लिए एक जैनी भाई ने १००) तथा ५ बोरी सीमेंट दी और भी कई लोगों ने यथाशक्य दिये। २१) सिं०कुन्दनलालजी सागरवालों ने दिये। यह ग्राम किसी समय सम्पन्न रहा होगा। यहाँ की जैनेतर जनता भी आई। उसके समक्ष मैंने सुझाव रक्खा कि यहाँ १ मिडिल स्कूल हो जावे तो अति उत्तम होगा। लोगों के मन में आ गई। श्री शिवप्रसाद भट्ट, गोकुलदास तमोली तथा केशवदास दुबे आदि ने प्रयत्न किया। हमने कहा—यदि यहाँ मिडिल स्कूल हो जावे, तो हम सागर से सिंघई कुन्दनलालजी द्वारा १०१) भिजवा देवेंगे। लोगों ने बताया कि सरकार ने आदेश दिया है, कि यदि ग्राम के लोग १७००) एकत्रित कर

लेवें, तो यहाँ सरकार मिडिल स्कूल स्थापित कर देवेगी। जनता प्रयत्नशील है, अतः आशा है १७००) कोई बड़ी बात नहीं।

यहाँ से बीच में देवराज ठहरते हुए ललितपुर के निकट एक ग्राम में पहुँच गये। यहाँ पर १ चैत्यालय तथा ३ घर जैनियों के हैं। ३ घर होते हुए भी इन्होंने आतिथ्यसत्कार अच्छा किया। यहाँ ललितपुर से करीब २०० पुरुष आ गये। आज यहाँ विश्राम करने की इच्छा थी, पर लोगों के आग्रह से विश्राम नहीं कर सका। ४ बजे यहाँ से चल दिया। यद्यपि घाम का पूर्ण प्रकोप था, परन्तु समुदाय में परस्पर वार्तालाप करते हुए १।। मील चलकर वृक्षों की सघन छाया गें बैठ गये। तदनन्तर वहाँ से चलकर ६ बजे ललितपुर पहुँच गये। ललितपुर में प्रवेश नहीं कर पाये थे, कि स्त्रियों और पुरुषों की बहुत भारी भीड़ एकत्रित हो गई। जाकर बड़े मन्दिर की धर्मशाला में ठहर गये। यहाँ पर धर्मशाला का विशाल चौक स्त्री और पुरुषों द्वारा पहले से ही भर गया था। पं० परमेष्ठीदासजी ने व्याख्यान देकर शिष्टाचारपूर्वक वर्णी को योगी बना दिया। इस प्रकार आषाढ़ शुक्ल १२ सं० २००८ को संध्या समय ललितपुर में आकर चार माह के लिए भ्रमण सम्बन्धी खेद से मुक्त हो गये।

●

क्षेत्रपाल में चातुर्मास

आषाढ़ शुक्ला १३ सं० २००८ को प्रात:काल ७।। बजे से ८।। बजे तक मन्दिर के चौक में प्रवचन हुआ। प्रथम श्री पं० लक्ष्मीचन्द्रजी का प्रवचन हुआ। फिर ध्वनिविस्तारक यन्त्र के आने से आधा घण्टा मेरा प्रवचन हुआ। जनता अच्छी थी। ५०० के ऊपर स्त्री-पुरुष थे। प्राय: सबने मनोयोग लगाकर प्रवचन सुना। ४ आदमियों ने ४ मास तक ब्रह्मचर्य का नियम लिया। अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका पर्व में तो प्राय: सबने नियम लिया। सन्तोष से सभा विसर्जित हुई। तदनन्तर श्री नये मन्दिरजी में दर्शनार्थ गये। यहाँ पर भी रम्य वेदिकाएँ हैं। उनमें विराजमान मनोज्ञ प्रतिमाओं के दर्शन किये। पश्चात् जहाँ शास्त्रप्रवचन होता है, वहाँ पर जनता बैठ गई। १५ मिनट तत्त्वचर्चा होती रही।

पश्चात् भोजन के लिए गये। टड़ैया के घर भोजन हुआ। दो भाई हैं, सुशील हैं, धर्म में रुचि है। यहाँ ४ बजे शाम को समारोह के साथ चलकर क्षेत्रपाल आ गये। १००० के लगभग आदमी थे। पं० श्यामलालजी और पं० परमेष्ठीदासजी का समयोचित भाषण हुआ। पश्चात् ५ मिनट मेरा भी भाषण हुआ। मेरा तो भाषणकर्ताओं से सर्वप्रथम यही कहना है कि जो अभिप्राय है, उसे ही व्यक्त करो। व्यक्ति प्रशंसा से कुछ लाभ नहीं, प्रत्युत हानि है। दूसरे दिन समयसार का स्वाध्याय किया। जनता प्रसन्न थी। सेठ अभिनन्दनकुमारजी टड़ैया के यहाँ भोजन हुआ। कुछ त्यागधर्म का विचार हुआ। मध्याह्न सामायिक के बाद परस्पर तत्त्वचर्चा करते रहे। ३ बजे प्रतिक्रमण किया तथा कार्तिक सुदी प्रतिपदा तक ललितपुर में रहने का नियम किया। साथ ही यह भी नियम किया कि प्रात:काल शास्त्रप्रवचन के बाद गल्पवाद में नहीं पड़ना, मध्याह्न की सामायिक के बाद अध्ययन में काल लगाना और रात्रि को प्राय: नहीं बोलना। प्राय: का अर्थ आवश्यकता पड़ने पर बोलने की छूट थी। यहाँ पर ५ बजे सब स्कूलों के छात्र आये। उन्हें यहाँ वाले भाइयों ने लाडू बाँटे। बालक प्रसन्न थे। १००० से ऊपर होंगे। यह अवसर सबके लिए मनोहर था— सब ही प्रसन्नचित्त थे। यदि ऐसे उत्सव, जिनमें निज और पर का भेद न हो, होते रहें, तो नागरिक जनता का पारस्परिक सौहार्द बना रहे।

क्षेत्रपाल ललितपुर का सर्वाधिक मनोरम स्थान है। एक अहाते के अन्दर भव्य मन्दिर है। श्री अभिनन्दनस्वामीजी की मनोज्ञ प्रतिमा के दर्शन करने से चित्त आल्हादित हो उठता है। यह प्रतिमा यहाँ महोबा से लाई गई थी, ऐसा सुना जाता है। मन्दिरों के साथ एक धर्मशाला तथा एक विशाल बाग भी संलग्न हैं। यहाँ पहले संस्कृत पाठशाला चलती थी, जो अब टूट चुकी है। यह स्थान शहर से १ मील स्टेशन के करीब है। सामने हरा-भरा पुष्कल मैदान पड़ा है। ललितपुर स्थान भी बुन्देलखण्ड प्रान्त का प्रमुख नगर है। जैनियों के सात सौ-आठ सौ घर हैं। प्राय: सम्पन्न हैं। श्री अतिशय क्षेत्र देवगढ़ तथा पपौराजी का रास्ता यहाँ से होने के कारण लोगों का प्राय: आवागमन जारी रहता है। व्यापार का अच्छा स्थान है। लोगों में धर्म-कर्म की रुचि भी अच्छी है। यही नहीं, इस प्रान्त के सभी लोग सरल तथा संसार से भीरु रहते हैं। श्री पं०श्यामलालजी न्यायकाव्यतीर्थ तथा पं०परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ अच्छे विद्वान् हैं। श्री हुकुमचन्द्रजी तन्मय बुखारिया और हरिप्रसादजी 'हरि' अच्छे कवि हैं। इनकी कविता में माधुर्य तथा ओज रहता है। केन्द्र स्थान होने से विचारक विद्वानों का समागम होता रहता है। जनता के आग्रहवश बनारस से यहाँ पं०फूलचन्द्रशास्त्रीजी आ गये। आप बहुत ही स्वच्छ तथा विद्वान् हैं। किसी काम को उठाते हैं, तो उसके सम्पन्न करने-कराने में अपने आपको तन्मय कर देते हैं। किसी प्रकार का दुर्भाव इनमें देखने में नहीं आया। प्रात:काल के प्रवचन में शहर से १ मील दूर होने पर भी अधिक संख्या में जनता दौड़ी आती थी। हमारा भी उद्देश्य रहा कि जनता के हाथ कुछ तो भी लगे। इसी उद्देश्य से सागारधर्मामृत का प्रवचन शुरू कराया। प्रवचन स्थानीय विद्वान् तथा अन्य आगन्तुक विद्वानों में से कोई विद्वान् करते थे, और उसके बाद हम भी कुछ थोड़ा कह देते थे। स्त्री-पुरुष दोनों ही श्रवण में उपयोग लगाते थे।

सभी स्त्री-पुरुष आत्महित चाहते हैं, परन्तु उस ओर लक्ष्य नहीं देते। केवल कथा कर या श्रवण कर आत्महित चाहते हैं। आत्महित क्या है, यह कुछ कठिन नहीं, परन्तु प्राप्त नहीं होता, इसलिये कठिन भी है। अनादि से यह जीव शरीर को निज मानता आता है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं में ही इस जीव का समग्र समय निकल जाता है। आत्महित की ओर इसका लक्ष्य ही नहीं जाता। संज्ञाओं की परिपाटी से निकल जाना किसी विरले निकट भव्य का कार्य है। संसार के यावन्मात्र प्राणी आहार की अभिलाषा से संत्रस्त है। आहार

के अर्थ ही उसके समस्त उपाय हैं। यदि आहार प्राप्ति की आकांक्षा मुनि के हृदय में न होती, तो वन छोड़कर शहर के दूषित वातावरण में क्यो आते? भय होने पर जीव भागने की इच्छा करते हैं। वृद्धावस्था से शरीर जर्जर है। अनेक रोगों की असह्य वेदना भी उठा रहा है, फिर भी इस जीव को भय लगा रहता है कि मर न जाऊँ, यह पर्याय छूट न जाय। मैथुन संज्ञा में विषयरमण की इच्छा होती है। विषयेच्छा से जो अनर्थ होते हैं, वे किसी से गुप्त नहीं। यह विषयलिप्सा इतनी भयंकर है कि यदि इसकी पूर्ति न हो तो यह प्राणी मृत्यु तक का पात्र हो जाता है। इसका लोभी मनुष्य निन्द्य से निन्द्य कार्य करने में भी संकोच नहीं करता। यहाँ तक देखा गया है कि पिता का सम्बन्ध साक्षात् पुत्री से हो गया। उत्तम से उत्तम राजपत्नी नीचों के साथ संसर्ग क़रने में संकोच नहीं करती। जिसने इस संज्ञा पर विजय प्राप्त कर ली, वही महापुरुष है। वैसे तो सभी उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। परिग्रह की संज्ञा भी इस जीव को उन्मत्त बना रही है। आजकल तो मनुष्य इसके पीछे पागल हो कर पड़ा है। त्यागी, व्रती, विद्वान्, अविद्वान् जो देखो, वही इसके पीछे चक्र लगा रहा है। सागारधर्मामृत के प्रारम्भ में ही पं०आशाधरजी ने सागार का लक्षण लिखते हुए कहा है कि जो उक्त चार संज्ञारूपी ज्वर से आतुर हैं, जिस प्रकार ज्वराक्रान्त मनुष्य दुःखी हो जाते हैं, उसी प्रकार इन संज्ञाओं के द्वारा जो दुःखी हो रहे हैं और इनसे दुःखी होने के कारण जो निरन्तर स्वज्ञान—आत्मज्ञान से विमुख रहते हैं, इन 'संज्ञाओं' की चपेट से जो यह विचार भी नहीं कर पाते कि मेरा स्व क्या है? उसका स्वरूप क्या है? और इसी कारण जो विषयों में उन्मुख रहते हैं, उन्हें ही सुख का कारण मान रात-दिन उनके एकत्रित करने में लीन रहते हैं, वे सागार कहलाते हैं। इन संज्ञाओं का कारण भी पं०आशाधरजी ने उसी श्लोक में बता दिया है, 'अनाद्यविद्यादोषोत्थ' अर्थात् अनादि कालीन मिथ्याज्ञानरूपी दोषों से उत्पन्न हैं। जिस प्रकार ज्वर वात-पित्त-कफ इन दोषों से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चार संज्ञारूपी ज्वर मिथ्याज्ञानरूपी दोष से उत्पन्न हुआ है। परमार्थ से पं०आशाधरजी ने सागार का जो लक्षण दिखाया है, वह गृहस्थों में पूर्ण रूप से घटित हो रहा है। उन्होंने प्रथम श्लोक में मोही—मिथ्यादृष्टि गृहस्थ का लक्षण बताया है, और उसके अनन्तर दूसरे श्लोक में सम्यग्दृष्टि गृहस्थ का लक्षण बतलाया है। सम्यग्दर्शन के होने से जिसे आत्मा का भान तो हो गया है, परन्तु चारित्रमोह के उदय से जो परिग्रह संज्ञा का परित्याग करने में समर्थ नहीं है और उसी कारण जो प्रायः

विषयों में मूर्च्छित रहते हैं मिथ्यादृष्टि गृहस्थ तो निरन्तर विषयोन्मुख रहते हैं, पर सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मिथ्यात्वरूपी तिमिर के दूर हो जाने से इतना समझने लगता है कि विषय-प्राप्ति हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं, परन्तु चारित्रमोह के उदय से उनका त्याग नहीं कर पाता, इस लिये प्राय: उनमें मूर्छित रहता है। देखो, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की महिमा। मिथ्यात्व के उदय में तो यह मनुष्य विषयों को ही सुख का कारण मान अहर्निश उन्हीं में उन्मुख रहता है, पर सम्यक्त्व के होने पर इसकी दृष्टि में यह बात आ जाती है कि विषय सुख के कारण नहीं, अत: उनमें उसकी मूर्छा पूर्ववत् नहीं रहती। पं०श्यामलालजी की प्रवचन करने की शैली उत्तम है। अधिकांश सागारधर्मामृत का प्रवचन वही करते थे।

लोगों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा है, परन्तु उन्होंने जो लीक पकड़ ली है, या जिन कार्यों को उन्होंने धर्म मान रक्खा है, उससे भिन्न कार्य में वे अपना योग नहीं देना चाहते। उससे भिन्न बात सामने आने पर उन्हें रुचिकर नहीं होती। वर्तमान में यथार्थ बात कहने की आवश्यकता है, क्योंकि लोग जिन कार्यों में धर्म मानते आ रहे हैं, उनसे भिन्न कार्यों में आवश्यकता होने पर भी, पैसा व्यय नहीं करना चाहते। देखा गया है कि मन्दिर में नवीन वेदिका की आवश्यकता नहीं, फिर भी उसमें वेदी जड़वा देंगे। उसमें १००००) तक व्यय कर देवेंगे। पड़ोस में जैनी आजीविका से रहित होगा, उसे १०) भी पूँजी को न देवेंगे। सिद्धचक्रविधान में हजारों रुपया व्यय कर देवेंगे, किन्तु १ छात्र को पढ़ाने में १००रु० भी न देवेंगे। कल्याणक की आवश्यकता न होने पर ५००००) व्यय करने में विलम्ब न करेंगे। परन्तु ग्राम में बालकों को धर्मशिक्षा देने के अर्थ १ अध्यापक को ५०) देने में इनका हृदय द्रवीभूत न होगा। देश में लाखों रुपया बारूद की तरह फूँक देने में संकोच न करेंगे, परन्तु अन्न-वस्त्र विहीनों की रक्षा में ध्यान न देवेंगे। देवदर्शनादि करने में समय नहीं मिलता, ऐसा बहाना कर देवेंगे, परन्तु सिनेमा आदि देखने में आँख भले ही खराब हो जावे, इसकी परवाह न करेंगे।

लोग शान्ति-शान्ति चिल्लाते हैं और मैं भी निरन्तर उसी की खोज में रहता हूँ, पर उसका पता नहीं चलता। परमार्थ से शान्ति तो तब आवे, जब कषाय का कुछ भी उपद्रव न रहे। कषायातुर प्राणी निरन्तर परनिन्दा के श्रवण में आनन्द मानता है। जिसे पर की निन्दा में प्रसन्नता होती है, उसे आत्मनिन्दा में स्वयमेव

विषाद होता है। जिसके निरन्तर हर्ष-विषाद रहते हों, वह सम्यग्ज्ञानी कैसा? यद्यपि आत्मा ज्ञान-दर्शन का पिण्ड है फिर भी न जाने क्यों उसमें राग-द्वेष होते हैं? वस्तुतः इनका मूल कारण हमारा संकल्प है, अर्थात् पर में निजत्व कल्पना है। यही कल्पना राग द्वेष का कारण है। जब पर को निज मानोगे तब अनुकूल में राग और प्रतिकूल में द्वेष करना स्वाभाविक ही है। अतः स्वरूप में लीन रहना उत्तम बात है। अपना उपयोग बाहर भ्रमाया तो फँसे। होली के दिन लोग घर में छिपे बैठे रहते हैं। कहते हैं, कि यदि बाहर निकलेंगे तो लोग कपड़े रंग देंगे। इसी प्रकार विवेकी मनुष्य सोचता रहता है कि मैं अपने घर में—अपने स्वरूप में लीन रहूँगा तो बचा रहूँगा। अन्यथा संसार के राग-रंग में फँस जाऊँगा।

जग में होरी हो रही बाहर निकले कूर ।
जो घर में बैठा रहे तो काहे लागे धूर ।।

विविध विद्वानों का समागम

ललितपुर की समाज का निमन्त्रण पाकर पं०फूलचन्द्रजी बनारस से यहाँ आ चुके थे, यह मैं पहले लिख आया हूँ। इनके सिवाय अन्यान्य विद्वानों का समागम भी यहाँ होता रहा। विद्वानों ने अपने प्रवचनों के द्वारा यहाँ की समाज को यथाशक्य लाभान्वित किया। श्रावण शुक्ल १ के दिन श्री पं०हीरालालजी शास्त्री ने प्रातःकाल प्रवचन करते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का विशद वर्णन किया। आपने सम्यग्ज्ञान को तराजू और सम्यग्दर्शन को सम्यक्चारित्र को तराजू के दो पलड़े बताकर मोक्ष मार्ग का अच्छा विवेचन किया। आपकी वाचना शैली उत्तम है। श्रोतागण प्रसन्न हुए। सम्यग्दर्शन का विवेचन करते हुए आपने खास बात यह बताई कि सम्यग्दृष्टि मूल कारण को पकड़ता है और मिथ्यादृष्टि बाह्य कारणों में उलझता है। सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति सिंह के समान है, अर्थात् जिस प्रकार सिंह बन्दूक की ओर न झपट कर मारनेवाले की ओर झपटता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि बाह्य कारणों में उलझकर, उनसे रागद्वेष नहीं करता, किन्तु अन्तरङ्ग कारण जो कर्मोदय है, उसकी ओर दृष्टि देता है। मिथ्यादृष्टि की प्रवृत्ति कुक्कुर के समान है। अर्थात् जिस प्रकार कुक्कुर को कोई लाठी से मारे, तो वह लाठी को चबाने लगता है। मारने वाले से कुछ नहीं

स्थापित करना चाहते हैं। मुझे इसमें हर्ष-विषाद नहीं। भाषा उन्नति का साधन है। यदि हृदय से पवित्रता को न छोड़ा जाय, तो किसी भाषा से मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। मुझे यह जान कर हर्ष हुआ कि पं० फूलचन्द्रजी की विशिष्ट प्रेरणा से नगर के लोगों में इण्टर कालेज खोलने की चर्चा धीरे-धीरे जोड़ पकड़ती जाती है। वे इस विषय में बहुत प्रयत्न कर रहे हैं। उनके प्रयत्न से श्री सर्राफ मुन्नालाल भगवानदासजी ने १०१०१) और श्री निहालचन्द्रजी टडैया ने ७०१०१) देना स्वीकृत किया है। अन्य महानुभावों ने भी रकमें लिखाई। भादों तक १०००००) का चन्दा हो जावेगा, और कालेज की स्थापना हो जावेगी। इसी प्रकरण को लेकर क्षेत्रपाल कमेटी के सदस्यों का यह विचार हुआ कि कमेटी के मकानों के किराये से जो आमदनी होती है, उसे मन्दिर सम्बन्धी कार्यों से बचने पर कालेज के लिए दे देंगे। ज्ञानप्रचार में सम्पत्ति का व्यय हो, इससे बढ़कर क्या उपयोग हो सकता है? संगमर्मर के पत्थर जड़वाने की अपेक्षा मन्दिरों की सम्पत्ति का उपयोग शास्त्र-प्रकाशन तथा ज्ञान-प्रचार में होने लगे, तो यह मनुष्यों की बुद्धि का परिचायक है। कमेटी के इस विचार से नवयुवकों को बहुत हर्ष हुआ और वे कालेज के लिये भरसक प्रयत्न करने लगे, जिससे बहुत कुछ संभावना हो गई कि यहाँ कालेज खुलकर ही रहेगा।

पर्यूषण पर्व आ गया। पं० फूलचन्द्रजी यहाँ थे ही। अतः सूत्रजी पर उनका सारगर्भित व्याख्यान होता था। उनके व्याख्यान के बाद मैं भी कुछ कह देता था। मेरे कहने का सार यह था कि यह आत्मा स्वभावतः शुद्ध-निरञ्जन होने पर भी मोह के द्वारा विडम्बना प्राप्त हो रहा है—

अहो निरञ्जनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः ।
एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडम्बितः ।।

कैसे आश्चर्य की बात है कि मैं निरञ्जन हूँ, रागादि उपद्रवों से रहित हूँ, शान्त हूँ, बोधस्वरूप हूँ, फिर भी इतना काल मैंने मोह के द्वारा व्यर्थ ही बिता दिया। अनादिकाल से जो पर्याय पाई, उसी में अपनत्व की कल्पना कर ली। यद्यपि यह मनुष्यपर्याय असमान जातीय पुद्गल और जीव के सम्बन्ध से उत्पन्न हो, तो भी मोहजन्य विडम्बना के कारण में अपने स्वरूप को न जान इस संयोगज पर्याय को अपनी मानता रहा। कभी अपने को ब्राह्मणादिक माना, कभी आश्रमवासी माना, कभी किसी रूप माना और कभी किसी रूप। परन्तु इन सबसे परे जो आत्मा

शुद्ध-विविक्त जात्यजाम्बूनदवत् उज्ज्वल स्वरूप हैं, उसकी ओर दृष्टि नहीं दी।

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असंगोऽसि निराकारी विश्वसाक्षी सुखी भव।।

वास्तव में विचार कर देखा जावे तो आत्मा न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न शूद्र है, और न किसी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी आश्रम का धारक है। यह सब तो शरीर के धर्म हैं—शरीर की अवस्थायें हैं। इन रूप आत्मा को मानना मोह का विलास है। 'यह मैं हूँ' इत्यादि अहंकार-ममकार के द्वारा ठगाया गया, चेतना के विलास से परिपूर्ण जो आत्मा उसके व्यवहार से च्युत होकर अन्य कार्यों में उलझ रहा हूँ।

शान्ति से पर्व के दिन व्यतीत हुए। पर्व के अनन्तर जयन्ती उत्सव का आयोजन हुआ, जिसमें बाहर से श्री पं०बंशीधरजी इन्दौर, पं०राजेन्द्रकुमारजी दिल्ली, पं०दयाचन्द्रजी सागर, पं०पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर आदि विद्वान् भी पधारे। सागर तथा अन्य अनेक स्थानों से महानुभाव आये। मुझे क्षेत्रपाल से जुलूस द्वारा नगर में ले जाया गया। वहाँ जयन्ती उत्सव हुआ। मैंने शिर झुकाकर श्रद्धाञ्जलि के शब्द सुने। अन्त में जब मेरे कहने का अवसर आया तब मैंने कहा कि संस्कृत में एक श्लोक है। जिसका भाव यह है—चन्द्रमा का उदय होने पर कमल बन्द हो जाता है। क्यों हो जाता है? इसकी कल्पना एक कवि ने की है। लोग कमल को लक्ष्मी का घर कहते हैं। इसी प्रसिद्धि से चन्द्रमा ने अपना कर अर्थात् हाथ कमल के पास प्रसारित किया कि इसके पास से कुछ लक्ष्मी मुझे भी मिल जायगी, पर कमल ने देखा कि मेरे पास लक्ष्मी तो है नहीं। लोग मुझे व्यर्थ ही लक्ष्मी का निवास कहते हैं। मैं द्विजराज—चन्द्रमा को क्या दे दूँ......इस संकोच के कारण ही मानों कमल चन्द्रोदय होने पर बन्द हो जाता है। सो यह तो कवियों की बात रही, पर जब मैं अपनी ओर देखता हूँ, तो यही अवस्था अपनी पाता हूँ। आप लोग बढ़ा-बढ़ा कर गुणगान करते हैं, पर मेरे में वह गुण अंशमात्र भी नहीं, अतः नीचा मुख कर बैठ जाता हूँ। संसार की बात क्या कहूँ? वहाँ तो लोग पत्थर को देवता बना कर उससे अपना कल्याण कर लेते हैं, फिर मैं तो सचेतन प्राणी हूँ। यह निश्चित है कि आपका कल्याण हमारे क्या साक्षात् जिनेन्द्रदेव के गुणगान करने से भी नहीं होगा। कल्याण का मार्ग तो आत्मा में से विकार-परिणति को दूर कर देना है। जब तक इस विकार परिणति को आप दूर न करेंगे, तब तक

से ही मनुष्य में मनुष्यता आती है। अतः उचित है कि ज्ञानादि गुणों से जो मनुष्य वृद्ध हैं, उनकी सेवा करें। आपने कुरल काव्य का हिन्दी तथा संस्कृत अनुवाद किया है। व्युत्पन्न विद्वान् है, परन्तु कर्मोदय की विपरीतता में नेत्रविहीन हो गये।

भाद्रपद कृष्ण १४ सं० २००८ को पण्डित शीतलप्रसादजी शाहपुर वालों का व्याख्यान हुआ। आपका प्रवचन बहुत ही मनोहर था। आपने जनता के हृदय में समीचीन रूप से धर्म की भावना भर दी। प्रत्येक मनुष्य के चित्त में धर्म का वास्तविक परिचय हो गया। आपने बताया की धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो कहीं से भिक्षा में मिल जाय। हम स्वयं इतने कातर हो गये हैं कि उसके होते हुए भी पर से याचना करते हुए लज्जित नहीं होते। धर्म का घातक अधर्म है। अधर्म के सद्भाव में धर्म का विकास नहीं हो सकता। जैसे अन्धकार के प्रभाव में प्रकाश नहीं, क्योंकि अन्धकार और प्रकाश ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। किन्तु जब रात्रि का अन्त आता है, तथा सूर्योदय होता है, तब अन्धकार पर्याय स्वयमेव विलय जाती है। इसी प्रकार हमारी प्रवृत्ति अनादिकाल से पर में निजत्व कल्पना कर मिथ्याज्ञान का पात्र बन रही है, और इसी के द्वारा अन्य पदार्थों को निज मान आत्मचरित्र को क्रोध, मान, माया, लोभरूप बना रही है। इनमें तन्मय होने से आत्मीय क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच का घात कर रही है। जब क्षमादिक पर्यायों का उदय नहीं, तब आप ही बताओ शान्तिरस का आस्वाद कैसे मिले।

भाद्रपदकृष्णा ३० सं० ३००८ को पं० मुन्नालालजी समगौरया सागर ने शास्त्र-प्रवचन किया। भक्ति पर सम्यक् विवेचन किया। परमार्थ से विचार किया जाय, तो भक्ति से ही आत्मा आत्मगुणों के विकास में कारण होती है। गुणों में अनुराग होना भक्ति का लक्षण है।

भाद्रपद शुक्ला १ को श्री पं० शीलचन्द्रजी साढूमल का प्रवचन हुआ। आप प्रकृत्या शान्त तथा सुबोध विद्वान् हैं। आपने सम्यक् प्रकार यह सिद्ध किया कि मनुष्य को भावना निर्मल बनाना चाहिए। भावना ही भवनाशिनी है। अनन्त संसार का कारण असद्भावना और अनन्त संसार का विध्वंस करने वाली सद्भावना है। जो आत्मा की यथार्थता से अनभिज्ञ हैं, वे आत्मस्वरूप से वञ्चित हैं। पर में निजत्व का व्यामोह कर निरन्तर दुःख के पात्र रहते हैं। दुःख का लक्षण आकुलता है। आकुलता जहाँ होती है, वहाँ अशान्ति अवश्य रहती है। आत्मा भीतर से शान्ति चाहता है, परन्तु शान्ति का अनुभव तभी हो सकता है, जब

किसी प्रकार की व्यग्रता न हो। इस जीव को सबसे महती व्यग्रता शारीरिक स्वास्थ्य की रहती है। यह शरीर पुद्गल समुदाय से निष्पन्न हुआ है, परन्तु हम इसे अपना मानते हैं। प्रथम तो यह मान्यता मिथ्या है, फिर जब इसे आत्मीय माना, तब इसके रक्षण की चिन्ता रहने लगी। रक्षण के लिए अनेक पदार्थों का संग्रह करना पड़ता है। उस संग्रह में अनेक प्रकार के अनर्थों का आश्रय लेना पड़ता है। इसके लिए ही जीवहिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार तथा परिग्रह इन पञ्च पापों से अपने को नहीं बचा सकता। शरीर के अर्थ बड़े-बड़े प्राणियों का घात करता देखा जाता है तथा अनेक प्राणियों का माँस खा जाता है। जिनके द्वारा अल्प भी भय हुआ, तो उन्हें शीघ्र ही नष्ट करने का उपाय करता है। इस तरह विचार किया जाय, तो संसार का मूल कारण शरीर में निजत्व की कल्पना है। इसे नष्ट करने का प्रयत्न सबसे पहले करना चाहिये। किसी वृक्ष को उखाड़ना है, तो उसकी जड़ पर प्रहार होना चाहिए। केवल पत्तों के लोंचने से वृक्ष नहीं उखाड़ा जा सकता।

इस चातुर्मास्य के समय सागर से सिंघई डालचन्द्रजी सर्राफ आये। आप एक धार्मिक पुरुष हैं। आपका तत्त्वज्ञान निर्मल है। आपकी धर्म में अधिक प्रवृत्ति रहती है। दिल्ली से लाला मक्खनलालजी ठेकेदार, जो कि वर्तमान में गृहवास से पूर्णरीत्या उदासीन हैं, आये। टीकमगढ़ से पं०ठाकुरदासजी बी०ए० आये। आप संस्कृत तथा अंग्रेजी के योग्य विद्वान् हैं। सहारनपुर से श्री नेमिचन्द्रजी वकील आये। आप बहुत ही विद्वान् हैं। करणानुयोग के अच्छे ज्ञाता हैं। अल्प अवस्था होने पर भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। श्री जैनेन्द्रकिशोरजी दिल्ली तथा राजकृष्णजी दिल्ली सकुटुम्ब आये। जानसर से श्री तहसीलदार साहब आये। इस प्रकार अनेक विद्वानों तथा अन्य विशिष्ट महानुभावों के समागम से वर्षा काल का समय सम्यक् रीत्या व्यतीत हुआ। जल-वायु उत्तम तथा शरीर के अनुकूल रहा।

इण्टर कालेज का उपक्रम

ललितपुर बुन्देलखण्ड प्रान्त का केन्द्र स्थान है, जैनियों की अच्छी बस्ती है, और व्यापार का अच्छा स्थान है। यहाँ पर शिक्षा का आयतन न होना, हृदय में चोट करता रहता था। एक पाठशाला पहले क्षेत्रपाल में थी, जिससे प्रान्त के छात्रों को लाभ होता था, परन्तु अब बन्द हो चुकी है। इच्छा थी कि यहाँ पर ज्ञान का एक अच्छा आयतन स्थिर हो तो प्रान्त के बालकों का बहुत कल्याण हो। आजकल लोगों की रुचि अंग्रेजी विद्या की ओर अधिक है, अतः उसी के आयतन

कहता, इसी प्रकार किसी के द्वारा इष्ट या अनिष्ट होने पर, मिथ्यादृष्टि उस पर राग-द्वेष करता है। उस इष्ट या अनिष्ट का मूल कारण जो कर्मोदय है, उस पर दृष्टि नहीं देता।

श्रावण शुक्ल ४ सं० २००८ को पं०फूलचन्द्रजी का प्रवचन बहुत मनोहर हुआ। आपने कहा कि आत्मा को संसार में रखनेवाली यदि कोई वस्तु है, तो पराधीनता है और संसार से पार करनेवाली कोई वस्तु है, तो स्वाधीनता है। हम स्वतन्त्र चैतन्यपुञ्ज आत्मद्रव्य हैं। हमारा आत्मद्रव्य अपने आपमें परिपूर्ण है। उसे पर की सहायता की उपेक्षा नहीं है। फिर भी यह जीव अपनी शक्ति को न समझ, पद-पद पर परद्रव्य के साहाय्य की अपेक्षा करता है, और सोचता है कि इसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। यही इसकी पराधीनता है। जिस समय पर की सहायता की अपेक्षा छूट जावेगी उस दिन मुक्ति होने में देर न लगेगी। अविवेकी मनुष्य, स्त्री-पुत्रादि को अपना हितकारी समझकर, उनमें राग करता है परन्तु विवेकी मनुष्य समझता है कि यह स्त्री-पुत्रादि का परिकर संसारचक्र में फँसानेवाला है, इसलिये उसमें तटस्थ रहता है। मनुष्य पुत्र को बहुत प्रेम की दृष्टि से देखते हैं, किन्तु यथार्थ बात इसके विपरीत है। मनुष्य सबसे अधिक प्रेम स्वस्त्री से रखता है। इसी से उसने स्त्री का नाम प्राणप्रिया रक्खा है। स्त्री भी इसकी आज्ञाकारिणी रहती है। वह प्रथम पति को भोजन कराती है, पश्चात् आप भोजन करती है। उसकी वैयावृत्त्य करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करती। यह सब है, परन्तु पुत्र के होने पर यह बात नहीं रहती। यदि भोजन में विलम्ब हो गया, तो पति कहता है— विलम्ब क्यों हुआ? स्त्री कहती है कि पुत्र का काम करूँ या आपका। पुत्र ज्यों-ज्यों वृद्धि को प्राप्त होता है, त्यों-त्यों पिता ह्रास को प्राप्त होता है। समर्थ होने पर तो पुत्र समस्त सम्पदा का स्वामी बन जाता है। अब आप स्वयं निर्णय कीजिये कि पुत्र ने उत्पन्न होते ही आपकी सर्वाधिक प्रेमपात्र स्त्री के मन में अन्तर कर दिया, पीछे आपकी समस्त सम्पत्ति पर स्वामित्व प्राप्त कर लिया तो वह पुत्र कहलाया या शत्रु? आपकी सम्पत्ति को कोई छीन ले, तो उसे आप मित्र मानेंगे या शत्रु? परन्तु मोह के नशा में यथार्थ बात की ओर दृष्टि नहीं जाती है। यह मोह, दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र इन तीनों गुणों को विकृत कर देता है, इसलिये हमारा प्रयत्न ऐसा होना चाहिये कि जिससे सर्व प्रथम मोह से पिण्ड छूट जावे।

श्रावण शुक्ला १३ सं० २००८ को ब्र०सुमेरुचन्द्र जी भगत का व्याख्यान हुआ। आपने पुद्गल से भिन्न आत्मा को दर्शाया। परमार्थ से सर्वद्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। कोई द्रव्य के साथ तन्मय नहीं होता। फिर भी जीव और पुद्‌गल ये दो द्रव्य पृथक्-पृथक् होने पर भी परस्पर इस प्रकार मिल रहे हैं कि जिनसे अखिल विश्व दृष्टिपथ हो रहा है। यह विश्व न तो केवल पुद्‌गल का कार्य है, और न केवल जीव का, किन्तु उभय द्रव्य मिल कर यह खेल दिखा रहे हैं। चूना अपने आपमें सफेद पदार्थ है और हल्दी अपने आपमें पीली है। परन्तु दोनों मिलकर तीसरा लाल रंग उत्पन्न कर देते हैं, इसी प्रकार जीव और पुद्गल से सम्बन्ध से यह दृश्यमान जगत् उत्पन्न हुआ है। आज जो मानवीय शरीर अपने को उपलब्ध है, इसकी तुलना देवों का शरीर भी नहीं कर सकता, फिर नारकी और तिर्यञ्च की तो बात ही क्या है? इस मानवशरीर में वह योग्यता है कि अन्तर्मुहूर्त में संसार से बेड़ा पार करा दे, पर देवों के शरीर में यह बात नहीं। अतः हमें उचित है कि इस मानव शरीर से ऐसा कार्य किया जाय कि जिससे आत्मा संसार के बन्धन से मुक्त हो जाय।

श्रावण शुक्ला १४ सं० २००८ को क्षेत्रपाल में रक्षाबन्धन का उत्सव हुआ। श्री पं०फूलचन्द्रजी का प्रवचन हुआ। अनन्तर पं०श्यामलालजी और श्री सुमेरुचन्द्रजी भगत के रक्षाबन्धन पर व्याख्यान हुये। सबका सार यही था कि अपराधी से अपराधी व्यक्ति की भी उपेक्षा न कर, उसके उद्धार का प्रयत्न करना चाहिए। श्री अकम्पनाचार्य ने बलि आदि मंत्रियों के द्वारा घोर कष्ट भोगकर भी उनकी आत्मा का उद्धार किया है। जैनधर्म की क्षमा वस्तुतः, अपनी उपमा नहीं रखती। पूर्णिमा के दिन शहर के बड़े मन्दिर में प्रवचन हुआ। पं०राजधरलाल जी ने रक्षाबन्धन की मनोहर गाथा सबको सुनाई। सबका चित्त प्रसन्न हुआ।

भाद्रपद कृष्णा ४ सं० २००८ को पं०बंशीधरजी व्याकरणार्य बीना का सम्यग्दर्शन पर सुन्दर विवेचन हुआ। आपने समयसार की व्याख्या सुन्दर की। समय शब्द का अर्थ आत्मा है। उसका जो सार है, वह समयसार है। इस तरह समयसार का अर्थ सिद्धपर्याय है। उसकी प्राप्ति हो जाय, इसी के लिए मनुष्य के प्रयत्न हैं। इसी तरह भाद्रपद कृष्ण ७ के दिन आपने बहुत बारीकी से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का वर्णन किया। वर्णन रोचक था।

भाद्रपद कृष्णा ८ सं० २००८ को महरौनी के पं०गोविन्ददासजी का व्याख्यान हुआ। आपने सत्समागम पर प्रभावशाली व्याख्यान दिया। सत्समागम

कल्याण की बात दूर है। स्वर्गादिक का वैभव भले ही न मिल जावे, पर इससे कल्याण नहीं। कल्याण तो जन्म-मरण के संकट से दूर हो जाने पर ही हो सकता है। जन्म-मरण का कारण मिथ्यादर्शन है, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। इनसे अपने आपकी रक्षा करो। जिस समय इनसे आत्मा निवृत्त हो जायगी उस समय अन्य के गुणगान करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। अस्तु,

अब तक कालेज खोलने का दृढ़ निश्चय हो गया था, और उसकी इस उत्सव में घोषणा कर दी गई। कालेज का नाम 'वर्णी इण्टर कालेज' रखा गया। उत्सव में आगत जनता ने भी यथायोग्य सहायता के वचन दिये। एक दिन रात्रि को कवियों के कविता-पाठ भी हुए। यहाँ कवि बहुत हैं। अच्छी कविता करते हैं। आश्विन शुक्ला ६ के दिन सागरवालों के यहाँ आहार हुआ। मैं सागर बहुत समय तक रहा हूँ। इसलिये यहाँ के लोग मेरे साथ आत्मीय के सदृश व्यवहार करते हैं। उत्सव में आगत विद्वान् यथास्थान चले गये। केवल पं० वंशीधरजी इन्दौर रह गये। आपके २-३ प्रवचन हुए। आप जैन वाङ्मय के उच्चकोटि के ज्ञाता हैं तथा पदार्थ का विवेचन बहुत सूक्ष्म रीति से करते हैं। विवेचन करते-करते आप इतने तन्मय हो जाते हैं कि अन्य सुध-बुध भूल जाते हैं। उस समय आपकी ध्वनि गद्गद हो जाती है तथा नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती है। सुनकर जनता भी द्रवीभूत हो जाती है।

दिल्ली से श्री जैनेन्द्रकिशोरजी सकुटुम्ब आये। आपका न जाने क्यों हमारे साथ इतना आत्मीय भाव हो गया है कि आप यथासमय हमारे पास आते रहते हैं। आश्विन कृष्णा अमावस्या के दिन आपके यहाँ आहार हुआ। अनेक प्रकार की सामग्री थी। इसमें उनका अपराध नहीं। अपराध हमारी लालसा का है। यदि मैं लालसा पर विजय प्राप्त कर सीधा-साधा भोजन ग्रहण करने लगूँ तो यह सब प्रपञ्च आज दूर हो जावे। रागादि निवृत्ति के अर्थ जो बात हम अन्य से कहते हैं, यदि उसका शतांश भी स्वयं पालन करें तो हमारा कल्याण हो जावे। दो तीन दिन रह कर आप चले गये। विजया दशमी के दिन आपका पत्र आया कि श्री क्षुल्लक निजानन्दजी (कर्मानन्दजी) देहली के वेदान्त आश्रम में चले गये हैं। इस घटना से बहुत से मनुष्यों को खेद हुआ, परन्तु इसमें खेद की बात नही। प्रत्येक जीव के अभिप्राय भिन्न-भिन्न होते हैं। आज तक उन्हें जैनधर्म से प्रेम था। अब उनका विश्वास वेदान्त पर हो गया। मोह की सत्ता तब तक आत्मा में विद्यमान

रहती है, जब तक इस आत्मा की परिणति नाना प्रकार की होती रहती है। यदि वह व्यक्ति भावावेश में आकर क्षुल्लकपद ग्रहण न करता और शक्ति के अनुसार चारित्र का पालन करता रहता तो यह अवसर न आता। मनुष्य वही है, जो किसी बात को श्रवण कर उस पर पूर्वापर विचार करे। संसार एक विचित्र जाल है। इस जाल में प्राय: सभी फँसे हैं। जो इससे निकल जावे, प्रशंसा उसी की है। जाल में फँसने का सबसे प्रबल कारण अहंबुद्धि और ममबुद्धि है। इस जीव को अनादिकाल से यह अहंकार लगा हुआ है कि मैं एक विशिष्ट व्यक्ति हूँ, मेरे समक्ष अन्य सब तुच्छ हैं। यह अहंकार ही मनुष्य की प्रगति में सर्वाधिक बाधक है।

कार्तिक कृष्ण ७ सं० २००८ से श्री नये मन्दिर में सिद्धचक्रविधान का पाठ हुआ। विधि कराने के लिए श्रीयुत पण्डित मुन्नालाल जी इन्दौर से आये, आप उत्तम विधि से कार्य कराते हैं। पहले व्याख्यान देते हैं, फिर क्रिया कराते हैं। आपका उच्चारण स्पष्ट और मधुर होता है। जनता प्रसन्न रहती है। मैं भी प्रारम्भ के दिन १।। घण्टा मन्दिर में रहा। पाठ सुनकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। यदि व्यवहार धर्म का प्रयोजन यथार्थ दर्शाया जावे, तो उसका श्रोतागणों पर उत्तम प्रभाव पड़ता है। जो वक्ता तत्त्व को यथार्थ नहीं दिखा सकते, वह श्रोताओं के भी समय को लेते हैं, और अपना भी समय प्राय: खो देते हैं। आजकल व्यवहार धर्म की प्रभुता है। अन्तरङ्ग की ओर अणुमात्र भी दृष्टि नहीं, अन्यथा उस ओर लक्ष्य अवश्य जाता। बाह्य द्रव्य से आजतक किसी का कल्याण न हुआ और न होगा। जब तक हमारी निर्बलता है, तब तक यह परद्रव्य हमारे लिए जो-जो अनर्थ न करे, अल्प है।

●

पपौरा और आहार क्षेत्र

कचरोंदा ललितपुर से ११ मील है। वहीं पर मड़ावरावाले राजधर सोंरया के पुत्र की स्त्री ने आहार दिया। यहाँ से ११ मील चलकर बानपुर आये। यहाँ पर एक मन्दिर महान् है। वर्तमान में तो कई लाख रुपया लगाकर भी नहीं बन सकता। यहाँ पर रात्रि बिताई। प्रात:काल एक मील महरोनी के मार्ग में क्षेत्रपाल हैं। वहाँ जिनेन्द्रदेव के दर्शन किये। स्थान बहुत प्राचीन है, परन्तु जैन जनता की विशेष दृष्टि नहीं, इससे जीर्ण अवस्था में है। यहाँ पर आहारक्षेत्र की मूर्ति के सदृश एक विशाल मूर्ति है, परन्तु जिस स्थान पर है, वह जीर्ण हो रहा है। यहाँ से चलकर ग्राम में मन्दिर के चबूतरे पर बैठ गये। कई सज्जन ग्रामवाले आये। विद्यादान की चर्चा की गई। कई जैन-बन्धुओं ने दान देने का विचार किया, और यहाँ तक साहस किया कि इतर समाज भी इनके सदृश दान देवे, तो यहाँ एक हाईस्कूल हो सकता है, परन्तु लोग इस ओर दृष्टि नहीं देते। यहाँ के मास्टर गहोई वैश्य हैं। बहुत ही निर्मल परिणाम वाले हैं।

यहाँ से टीकमगढ़ पहुँचे। मन्दिर में प्रवचन किया। संख्या अच्छी थी। भोजन किया। पश्चात् पं०ठाकुरदास जी के यहाँ गया। उनका स्वास्थ्य खराब-था। योग्य व्यक्ति हैं। धर्म की श्रद्धा अटल है। बीमारी का वेग थम गया है। आशा है जल्दी अच्छे हो जावेंगे। मार्गशीर्ष शुक्ला ५ सं०२००९ को पपौरा गये। स्नानादि से निवृत्त होकर पाठ किया। तदनन्तर श्रीक्षुल्लक क्षेमसागरजी के साथ समस्त जिनालयों की वन्दना की। मेला का उत्सव था, अत: बाहर से जनता बहुत आई थी। पण्डित जगन्मोहनलालजी कटनी और पं०फूलचन्द्रजी के पहुँच जाने से मेला की बहुगुणी उन्नति हुई। पपौरा का उत्सव हुआ। बीच में मन्दिरों के जीर्णोद्धार की चर्चा को अवसर मिल गया। सागर से समगौरयाजी भी पहुँच गये थे। आपने बहुत ही उत्तम व्याख्यान दिया। जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा। सभापति महोदय ने १००) जीर्णोद्धार में दिया। अन्य लोगों ने भी दिया, जिससे चन्दा अच्छा हो गया। इसके बाद समय की त्रुटि होने से विद्यालय का उत्सव नहीं हुआ। अगले दिन के लिये स्थगित कर दिया गया।

यह क्षेत्र अति उत्तम है, परन्तु यहाँ के मानवगण उत्साह से दान नहीं करते, अन्यथा जहाँ ७५ गगनचुम्बी मन्दिर हैं, वहाँ स्वर्गलोक की छटा दिखती। दूसरे दिन विद्यालय के उत्सव के समय बताया गया कि यहाँ स्वर्गीय मोतीलाल जी

वर्णी एक विद्यालय खोल गये। जिसके द्वारा बहुसंख्यक् विद्वान् समाज में कार्य कर रहें हैं, जिनमें साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य तथा न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ हैं। वर्तमान में विद्यालय का कोष बहुत अल्प है। इसका दिग्दर्शन कराया गया। जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा, जिससे १००००) दस हजार का चन्दा हो गया। अभी समाज में कर्मठ व्यक्ति नहीं तथा एक यह महान् दोष है कि एक ही साथ अनेक उत्सवों की संयोजना कर लेते हैं, जिससे एक भी कार्य पूर्ण रूप से नहीं हो पाता।

मार्गशीर्ष शुक्ला ८ सं० २००८ मेला का अन्तिम दिवस था। आज पण्डाल में परवार सभा का अन्तिम उत्सव था। अच्छा हुआ, ५००) के करीब परवार सभा को आय हुई। लोग बहुत ही प्रसन्न हुए। प्रचार बहुत ही उत्तम हुआ। यदि इन जातीय सभाओं के बदले प्रान्तीय सभाएँ होतीं और उनमें प्रान्त में बसने वाले सब जातियों के लोग सम्मिलित रहते तथा सौमनस्य भाव से काम करते, तो बहुत ही उत्तम होता। इस क्षेत्र की उन्नति तब हो सकती है, जब कोई दानी महाशय एक लक्ष १०००००) लगावे। आजकल नवीन मन्दिर निर्माण की लोग इच्छा करते हैं, पर प्राचीन मन्दिरों का उद्धार नहीं कराते। नवीन मन्दिर निर्माण में उनका निर्माता के रूप में गौरव होता है और प्राचीन मन्दिरों के उद्धार में नहीं। यही प्रतिष्ठा की आकांक्षा लोगों को इस कार्य की ओर प्रवृत्त नहीं होने देती। इस क्षेत्र पर एक ऐसा उच्चकोटि का औषधालय होना चाहिए, जिससे प्रान्त के मानवों को बिना मूल्य औषध मिले तथा एक् ऐसा विद्यालय हो, जिसमें १०० छात्र अध्ययन कर सकें। पठन क्रम नवीन पद्धति से होना चाहिए, जिसमें धर्मशिक्षण अनिवार्य रहे।

मेला समाप्त होने पर जनता चली गई। वातावरण शान्तिमय हो गया। प्रात:काल संवर का स्वरूप बांचा। वास्तव में मोक्षमार्ग संवर ही है। अनादिकाल से हमने मोह के वशीभूत होकर आस्रव को ही अपनाया है। आत्मतत्त्व की श्रद्धा नहीं की। इसी का यह फल हुआ कि निरन्तर परपदार्थों के अपनाने में ही समय गमाया। यद्यपि वह पदार्थ आत्मा के स्वरूप से भिन्न है, पर मोही जीव उसे निज मानकर अपनाने की चेष्टा करता है। आत्मा का स्वभाव देखना-जानना है, परन्तु क्रोधादि-कषाय उसके इस स्वभाव को कलुषित करते रहते हैं। इस कलुषता से यह आत्मा निरन्तर व्यग्र रहती है। ज्ञान का कार्य इतना है कि पदार्थ को प्रतिभासित

विकृत पदार्थ था, वह निकल गया, इसलिए शान्ति का अनुभव हुआ। आप्रेशन के समय पं०फूलचन्द्रजी पास में थे।

दीपावली के बाद मनोहरलालजी वर्णी भी आ गये थे। आपके आने से आनन्द रहा। लोगों का प्रवचन का काम चलता रहा। आपके ज्ञान और चारित्र की निरन्तर वृद्धि रहती है, किन्तु समागम जितना उत्तम चाहिए, उतना नहीं। प्राय: जितने आदमी मिलते हैं, सर्व प्रशंसा द्वारा साधु को उत्तम रूप देना चाहते हैं। मेरा यह अनुभव है कि प्रशंसा से आदमी की गुरुता लघुता में परिणत हो जाती है। जहाँ प्रशंसा हुई, वहाँ उसे सुन आदमी प्रसन्न हो जाता है, और जहाँ निन्दा हुई, वहाँ दु:खी हो उठता है। वस्तुत: प्रशंसा और निन्दा दोनों ही विकृत रूप है। इन्हें निज मानना ही भयंकर भ्रम है, इस भ्रम का फल संसार है, संसार ही दु:खमय है। संसार में प्राणीमात्र के स्निग्ध परिणाम होते हैं। जितने प्राणी हैं, प्राय: वे सब पर को निज मान अपनाने का प्रयत्न करते हैं। डाक्टर ताराचन्द्र जी बहुत ही सज्जन और योग्य पुरुष हैं। टीकमगढ़ से कम्पोटर के आने में विलम्ब देख, आपने उत्तम रीति से पट्टी बाँध दी। पट्टी बाँधने के बाद में मन्दिर गया। वहाँ से आकर स्वाध्याय किया, पश्चात् भोजन कर बैठा था कि इतने में टीकमगढ़ से कम्पोटर आ गया, और बलात्कार फिर पट्टी बाँध दी। बहुत गप्पें उड़ाई। प्रयोजन केवल इतना था कि द्रव्य हाथ आवे। संसार में द्रव्य के अर्थ जो-जो अनर्थ न हों, थोड़े हैं। इसके वशीभूत होकर मनुष्य आत्म स्वरूप को भूल जाता है। अथवा आत्मस्वरूप की कथा छोड़ो, आज जितने मनुष्य रणक्षेत्र में जाते या जाने की चेष्टा करते हैं, वे केवल एक अर्थार्जन के लिए ही प्रयास करते हैं, इस अर्थ के लिए आदमी अदालत में मिथ्या साक्षी दे आता है। इस अर्थ के लिए मनुष्य गरीबों की रोटी तक छीन लेता है, इस अर्थ के लिए आज हजारों स्थलों पर पण्डा लोग जलकी पूजा कराकर तृप्त नहीं होते, इस अर्थ के लिए हजारों स्थान तीर्थरूप में परिणत हो गये, इस अर्थ के लिए ही प्रचार किया जाता है कि अमुक स्थान पर धन देने से सीधा स्वर्ग मिल जाता है। अस्तु ।

फोड़ा में आराम तो आपरेशन के दिन से ही होने लगा था, परन्तु घाव के भरने में एक मास लगभग लग गया। इस बीच दिल्ली से राजकृष्ण, सागर से बालचन्द्र मलैया, पं०पन्नालाल, बरुवासागर से बाबू रामस्वरूप तथा पं०मनोहरलालजी आदि स्नेही लोग आये। न जाने संसार में स्नेह कितनी बला

है। इसके आधीन होकर यह प्राणी पर को प्रेमदृष्टि से अवलोकन करता है। केवल अवलोकन ही नहीं करता, पर को अपनाना चाहता है। जब कि यह अपनाने का अभिप्राय मिथ्या है। कोई पदार्थ किसी का नहीं होता। जितने पदार्थ जगत् में हैं, सब अपनी सत्ता लिए भिन्न-भिन्न हैं। धीरे-धीरे मार्गशीर्ष का मास आ गया। मनोहरलालजी वर्णी मेरठ चले गये। केवल क्षुल्लक सम्भवसागरजी हमारे साथ रह गये। फोड़ा अच्छा हो गया। चलने में कोई प्रकार की बाधा नहीं, हमने मार्गशीर्ष ३० को ललितपुर से जाने का निश्चय कर लिया।

इसके एक दिन पूर्व चौधरीजी के मन्दिर में प्रात:काल जनता का सम्मेलन हुआ। समूह अच्छा रहा, किन्तु सब प्रयोजन की बात कहते हैं, तात्त्विक बात नहीं। मन में और वचन में और यह लोगों की बात करने की आज परम्परा बन गई है, परन्तु हमारा तो यह विचार है कि मन में हो, सो वचन से कहिये और जो कहिये, उसे उपयोग में लाइये। केवल वचन में लाने से कल्याण का मार्ग विशद न होगा। जब तक अमल (चारित्र) में न आवेगा, तब तक कल्याण होने का नहीं। पं०फूलचन्द्रजी का भी व्याख्यान हुआ, और आपने इस बात का प्रयास किया कि सब सौमनस्य के साथ कालेज का काम आगे बढ़ावें।

जब ललितपुर से प्रस्थान करने का समय आया, तब लोग बहुत दु:खी हुए। ५।। माह के करीब एकत्र वास करने से लोगों का स्नेह बढ़ गया, इसलिए जाते समय दु:ख होने लगा। मैंने कहा—संसार में सब पदार्थों का परिणमन अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार होता है। हम चाहते हैं कि यहाँ से पपौरा जावें। आप चाहते हैं कि वर्णीजी यही रहें। आपका परिणमन आपके आधीन, हमारा परिणमन हमारे आधीन। दोनों का परिणमन सदा एकसा नहीं रहता। कदाचित् निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जुटने पर हो भी जाता है। जब यह प्राणी दूसरी पदार्थ के परिणमन को अपनी इच्छानुसार परिणत कराने का प्रयास करता है और अन्य पदार्थ का परिणमन उसकी इच्छा के अनुरूप होता नहीं, तब यह दु:खी होने लगता है—अशान्ति का अनुभव करने लगता है, इसलिए मोह की परिणति छोड़ो, और शान्ति से अपना समय-यापन करो। कालेज का आपने जो उपक्रम किया है, वह प्रशस्त कार्य है।यह आगे बढ़ता रहे, ऐसा प्रयास करें। ज्ञान आत्मा का धन है। आपके बालक उसे प्राप्त करते रहें, यह भावना आपकी होनी चाहिए।.... इतना कहकर मैं आगे बढ़ गया। बहुत जनता भेजने आयी, पर क्रम-क्रम से निवृत्त हो गई।

तीव्र वेदना

कार्तिक कृष्णा ११ सं०२००८ को शारीरिक अवस्था यथोचित नहीं रही— एक फोड़ा उठने के कारण कष्ट रहा। फिर भी स्वाध्याय किया। स्वाध्याय थोड़े ही समय हुआ। उसका सार यह था कि मनुष्य अपना हित चाहते हैं, परन्तु अनुकूल प्रवृत्ति नहीं करते। परपदार्थों के संग्रह करने में निरन्तर व्यग्र रहते हैं और इसी व्यग्रता के आवेग में पूर्ण आयु व्यय कर देते हैं। कल्याण की लालसा से मनुष्य पर का समागम करता है, परन्तु उससे कल्याण तो दूर रहा, अकल्याण ही होता है। प्रथम तो पर के समागम में अपना समय नष्ट होता है। द्वितीय जिसका समागम होता है, उसके अनुकूल प्रवृत्ति करनी पड़ती है। अनुकूल प्रवृत्ति न करने पर अन्य को कष्ट देने की सम्भावना हो जाती हैं, अत: पर का समागम सर्वथा हेय है। जिस समय आत्मा अपने को जानता है, उस समय निजस्वरूप—ज्ञान-दर्शन रूप ही तो रहता है। दर्शन-ज्ञान का काम देखना-जानना है। इससे अतिरिक्त मानना आत्मा को ठगना है। आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा है। उसे रागी, द्वेषी, मोही बनाया, यह कार्य आत्मा से सर्वथा स्वयमेव नहीं होता। यदि पर की निमित्तता इसमें न मानी जावे तो आत्मा ही उपादान हुआ और आत्मा ही निमित्त। इस दशा में यह सतत होते रहेंगे। कभी भी आत्मा इनसे अलिप्त न होगी, अत: किसी भी आत्मा में ये जो रागादि भाव हैं वे विकारी भाव हैं। जो विकारी भाव होता है वह निमित्त के दूर होने पर स्वयमेव पृथक् हो जाता है। जैसे अग्नि का सम्बन्ध पाकर जल में उष्णता आ जाती है वह उसका स्वाभाविक भाव नहीं, किन्तु औपाधिक भाव है, अत: अग्नि का सम्बन्ध दूर होने पर वह स्वयमेव विलीन हो जाती है, इसी प्रकार मोह दूर होने पर आत्मा से रागादि भाव स्वयमेव विलीन हो जाते हैं—दूर हो जाते हैं।

द्वादशी से पीड़ा अधिक बढ़ गई, अत: स्वाध्याय में समर्थ नहीं हो सका। शरीर यद्यपि पर है, और हम तथा अन्य वक्ता भी यही निरूपण करते हैं। श्रद्धा भी यही है कि पर है, परन्तु जब कोई आपत्ति आती है, तब ऊपर तो वही बात रहती है, किन्तु अन्तरङ्ग में वेदन कुछ और ही होने लगता है। श्रद्धा तथा ज्ञान मात्र से कल्याण नहीं। साथ में चारित्र गुण का भी विकास होना चाहिए। हम अन्तरङ्ग से चाहते हैं। हम भी क्या प्राय: अधिकतर प्राणी चाहते हैं कि रागादि दोषों की उत्पत्ति

न हो, क्योंकि ये समान आकुलता के उत्पादक हैं। आकुलता ही दुःख है। ऐसा कौन है, जो दुःख के कारण को इष्ट मानेगा? किन्तु लाचार है। जब रागादिक होते हैं, और तज्जन्य पीड़ा नहीं सहन कर सकता, तव चाहे किसी से प्रतिकूल हो, चाहे अनुकूल हो, उन्हें शान्त करने के लिये यह जीव चेष्टा करता है, जैसे पिता जब पुत्र के कपोलों का चुम्बन करता है, तब उसकी कड़ी मूछों का स्पर्श पुत्र को यद्यपि कष्टप्रद होता है तो भी वह कपोलों का चुम्बन कर प्रसन्न होता है।

इसी फोड़ा के रहते हुए ५ वर्ष बाद हमारे अत्यन्त प्राचीन मलेरिया मित्र ने दर्शन दिया। उसने कहा तुम भूल गये हमको। तुमने कितने वादे किये, पर एक का भी पालन नहीं किया। उसी का यह फल है कि आज मैंने तो तुम्हें दर्शन दिया, चार दिन पहले मैंने अपने लघुमित्र फोड़ा को भेजा और उसके हाथ आदेश दिया था कि चार मास का वर्षायोग पूर्ण होने के पहले कहीं नहीं जावो, परन्तु तुमने अवहेलना की और एकदम आज्ञा दे दी कि हम अपने वादा के अनुसार टीकमगढ़ जावेंगे। कितना निराधार साहस? यदि प्रतिज्ञा ही करना थी, तो यह करता कि यदि नीरोग रहा, तो आपके उत्सव में सम्मिलित होऊँगा। परन्तु तुमको पुरुषार्थ का इतना मद कि व्यर्थ की प्रतिज्ञा लेकर अपने आपकी वञ्चना की। मलेरिया की प्रबलता तथा फोड़ा की तीव्र वेदना से चित्त में बहुत खिन्नता हुई। उपचार के लिये फोड़ा पर मिट्टी की पट्टी बाँधी, पर उससे पीड़ा में रञ्चमात्र भी कमी नहीं हुई। हमारी वेदना देख सब लोग दुःखी थे।

टीकमगढ़ से डाक्टर सिद्दी साहब आये। फोड़ा देखकर उन्होंने कहा कि फोड़ा खतरनाक है। बिना आप्रेशन के अच्छा होना असम्भव है और जल्दी आप्रेशन न किया गया तो इसका विष शरीर में अन्यत्र फैल जाने की सम्भावना है। डाक्टर की बात सुनकर सब चिन्ता में पड़ गये। सब लोगों ने आप्रेशन कराने की प्रेरणा की, परन्तु मैंने दृढ़ता से कहा कि कुछ हो मांसभोजी से मैं आप्रेशन नहीं कराना चाहता। डाक्टर ने मेरी बात सुनी, तो उसने बड़ी प्रसन्नता से कहा कि मैं जीवन पर्यन्त के लिए मांस का त्याग करता हूँ। आप्रेशन की तैयारी हुई तो डाक्टर बोला की आप्रेशन में समय लगेगा? बिना कुछ सुँघाये आप्रेशन कैसे होगा? मैंने कहा कितना समय लगेगा? उसने कहा कि १५ मिनट। मैंने कहा— आप निश्चिन्तता से आप्रेशन कीजिए, सुँघाने की चिन्ता न करें। यह कह कर मैं निश्चल पड़ रहा। १५ मिनट में आप्रेशन हो गया। फोड़ा के भीतर का जो

कर दे। ज्ञान पदार्थरूप त्रिकाल में नहीं होता। जिस प्रकार दर्पण घट-पटादि पदार्थ को प्रतिभासित कर देता है, परन्तु घट-पटादिरूप नहीं होता। दर्पण में जो घट-पदादि प्रतिभासित हो रहे हैं, वह दर्पण का परिणमन है, दर्पण की स्वच्छता के कारण ऐसा जान पड़ता है, इसी प्रकार आत्मा के ज्ञानगुण में उसकी स्वच्छता के कारण घट-पदादि पदार्थ प्रतिभासित होते हैं परन्तु ज्ञान तद्रूप नहीं होता। मेला के बाद ४-५ दिन पपौरा में निवास किया। परिणाम अत्यन्त उज्ज्वल रहे।

मार्गशीर्ष शुक्ला १३ सं० २००८ को २ बजे यहाँ से चलकर ३ बजे टीकमगढ़ पहुँच गये। आज यहाँ के कालेज में प्रवचन था। कालेज बहुत ही भव्य स्थान पर बना हुआ है। सामने महेन्द्रसागर सरोवर है तथा उसके बाद अटवी। ३ मील पर ७५ जिन मन्दिरों से रम्य पपौरा क्षेत्र है। यह सब पूर्व दिशा में है। पश्चिम में महेन्द्र बाग है, उत्तर में टीकमगढ़ नगर है और दक्षिण में कुण्डेश्वर क्षेत्र है। विद्यालय कालेज का भव्य भवन ५ खण्डों से शोभित है। इसमें २०० छात्र अध्ययन कर सकते हैं। कालेज के प्रिंसपल महोदय बहुत ही भव्य और विद्वान् हैं। आप बंगाली हैं। एम०ए० हैं। आपकी आयु ४० वर्ष से ऊपर होगी, फिर भी ब्रह्मचारी हैं। बड़े दयालु और तत्त्ववेत्ता हैं। आपकी विचारधारा अति पवित्र हैं। व्यवहार निष्कपट है। मूर्ति सौम्य है। ऐसे मनुष्य चाहें, तो वे जगत् का उत्थान कर सकते हैं।

आजकल जो शिक्षापद्धति है, उसमें भौतिकवाद को खूब प्रोत्साहन मिलता है। साइंस का इतना प्रचार है कि बाल की खाल निकालते हैं। यहाँ तक आविष्कार विज्ञान (साइंस) ने किया है कि बिना चालक के वायुयान चला जाता है तथा ऐसा अणुबम बनाया है कि जिसके द्वारा लाखों मनुष्यों का युगपद् विध्वंस हो जाता है। ऐसी चीर-फाड़ करते हैं कि पेट का बालक निकालकर बाहर रखके पेट का विकार निकाल देते हैं, पश्चात् बालक को उसी स्थान पर रख देते हैं। यक्ष्मा रोगवाले की पसली बाहर निकाल देते हैं, किन्तु ऐसा आविष्कार किसी ने नहीं किया कि यह आत्मा शान्ति का पात्र हो जावे। अशान्ति का मूल कारण परिग्रह है और सबसे महान् परिग्रह मिथ्यादर्शन है, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय में यह जीव विपरीत अभिप्राय पोषण करता है। अजीव को जीव मानता है। शरीर में आत्मबुद्धि करता है। जैसे कामला रोग वाला शङ्ख को पीला मानने लगता हैं। एकबार मुझे श्रीकुण्डलपुर क्षेत्र पर चौमासा करने का सुअवसर आया था।

उस समय मुझे बड़े वेग से मलेरिया ज्वर आ गया और बिगड़ते-बिगड़ते पित्तज्वर हो गया। एक वैद्य ने कहा तुम गन्ना चूसो, ज्वर शान्त हो जायगा। मैंने चूसा, किन्तु चिरायता व नीम से भी अधिक कड़वा लगा। मैंने उसे फेंक दिया। बाईजी ने कहा— बेटा चूस लो। मैंने उत्तर दिया—कैसे चूसूँ। यह तो चूसा ही नहीं जाता। यद्यपि गन्ना का रस मीठा था, परन्तु मेरे रोग था, इसलिए वह कटुक लगता था। इसी प्रकार जिनके मिथ्यात्वरूपी रोग है, उन्हें मोक्षमार्ग का उपदेश देना हितकर नहीं होता। मोक्षमार्ग में तो प्रथम सम्यग्दर्शन है। उसमें पर को निज मानने का अभिप्राय मिट जाता है तथा पश्चात् सर्व को त्याग स्वात्मा में लीन हो जाता है, अत: जिनके यह हो गया उनका सर्वकार्य सम्पन्न हो गया। आत्मा का हित मोक्ष है। मोक्ष का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है अत: सर्व द्वन्द्व को छोड़ इसी में लगो।

टीकमगढ़ से चलकर पौष कृष्ण ६ सं० २००८ को आहार क्षेत्र पहुँच गये। यहाँ एक प्राचीन मन्दिर है। श्री शान्तिनाथ और कुन्थुनाथ भगवान् की मूर्ति है। अरहनाथ भगवान् की भी मूर्ति रही होगी, पर वह उपद्रवियों के द्वारा नष्ट कर दी गई। उसका स्थान रिक्त है। श्रीशान्तिनाथ भगवान् की मूर्ति बहुत ही सौम्य तथा शान्तिदायिनी है। इसके दर्शन से श्रवणवेलगोला के बाहुबली स्वामी का स्मरण हो आता है। यहाँ किसी समय अच्छी बस्ती रही होगी। प्राचीन मूर्तियाँ भी खण्डित दशा में बहुत उपलब्ध हैं। संग्रहालय बनवाकर उसमें सबका संग्रह किया गया है। मुख्य मन्दिर के सिवाय एक छोटा मन्दिर और भी है। पास ही मदनसागर नाम का विशाल तालाब है। एक पाठशाला भी है। पं० बारेलालजी पठावाले निरन्तर इस क्षेत्र तथा पाठशाला के लिये प्रयत्न करते रहते हैं। यदि साधन अनुकूल हों तो यहाँ शान्ति से धर्मसाधन किया जा सकता है।

पौष कृष्णा ८ सं० २००८ को प्रात:काल श्रीशान्तिनाथ स्वामी का अभिषेक हुआ। यथाशक्ति चन्दा किया गया। आजकल केवल द्रव्य प्राप्ति के लिये ही धर्मकार्य होते हैं। जिसने द्रव्य दिया उनकी प्रशंसा होने लगी। तीर्थस्थानों पर आय के अन्य साधन नहीं, अत: व्यवस्थापकों को इस रीति से विवश होकर द्रव्य एकत्र करना पड़ता है। यथार्थ में तीर्थस्थान धर्मस्थान के आयतन थे। यहाँ आकर मन्दकषाय होती थी। जो कोई स्वाध्याय में शंका होती थी, वह पण्डितों के द्वारा निर्णीत हो जाती थी तथा नवीन पदार्थ श्रवण में आते थे। कई त्यागी

महाशय मेला में आते थे। उन्हें पात्रदान देने का अवसर मिलता था। एक दूसरे को देखकर, जो कुछ अपने चारित्र में शिथिलता होती थी। वह दूर हो जाती थी। कई महानुभाव व्रतादिक ग्रहण करते थे, परस्पर के कई मनोमालिन्य मिट जाते थे। इसके सिवाय लौकिक कार्य भी बहुत से बन जाते थे, परन्तु अब आजकल मेला इस वास्ते होता है कि जनता से रुपया आवे। सभा में १५ मिनट भी धार्मिक व्याख्यान के लिए अवसर नहीं मिलता। रुपये की अपील होने लगती थी। यह भी होता, कोई हानि नहीं थी, किन्तु विद्यालय को छोड़ क्षेत्र की व्यवस्था का कुछ दिग्दर्शन कराके उसके अर्थ द्रव्य संचय करने की अपील होने लगती है। बीच में कई दुर्दशापात्र व्यक्ति आ जाते हैं, जो बीच में तंग करते रहते हैं।

मन्दिरों के पास ही आहार नाम का छोटा-सा गाँव है। २ घर जैनियों के हैं। एक दिन पं०गोविन्ददासजी के यहाँ आहार हुआ। मेला सानन्द हुआ। मथुरा से पं०दयाचन्दजी व भैयालालजी भजनसागर आये थे। ये लोग जहाँ जाते हैं, वहाँ व्याख्यानों द्वारा जनता को प्रसन्न कर लेते हैं। मेला में २००० हजार जनता आई होगी। प्रबन्ध अच्छा था। यहाँ पर पाठशाला में २० छात्र अध्ययन करते हैं। पं०प्रेमचन्द्रजी, पं०गोविन्ददासजी तथा पं०मौजीलालजी योग्य व्यक्ति हैं।

●

द्रोणगिरि और रेशन्दीगिरि

अहार से ५ मील चलकर लार आ गये। मार्ग में बहुत कण्टक हैं, किन्तु यहाँ के मनुष्य इसी स्थान में रहते हैं, अत: उन्हें आने-जाने में आपत्ति नहीं होती। लारमें १ मन्दिर है। यहाँ आते ही ग्रामीण जनता इकट्ठी हो गई। श्री नाथूरामजी वर्णी ने समयोपयोगी व्याख्यान दिया। आपने जनताको समीचीन पद्धतिसे समझाया कि संसारमें ज्ञान के बिना कोई कार्य नहीं चलता। यदि हमको ज्ञान न हो तो हम अपना हित नहीं जान सकते। हमारा क्या कर्त्तव्य है? क्या अकर्त्तव्य है? तथा यह भक्ष्य है, यह अभक्ष्य है, यह माँ है, यह बहिन हैं, यह भ्राता है, यह सुत है, यह पिता है, इत्यादि जितने व्यवहार हैं, सर्व लुप्त हो जावेंगे। अत: आवश्यकता ज्ञानार्जन की है। ज्ञान का अर्जन गुरु द्वारा होता है। इसीसे उनकी शुश्रूषा करना हमारा कर्त्तव्य है। बिना गुरु की कृपा के हमारा अज्ञानान्धकार नहीं मिट सकता। जैसे सूर्योदय के बिना रात्रि का अन्धकार नहीं जाता, वैसे ही गुरु के उपदेश बिना हमारा अज्ञान नहीं जाता। यही कारण है कि हम गुरु को माता-पिता से अधिक मानते हैं। माता-पिता तो जन्म देने के ही अधिकारी है, किन्तु गुरु हमको इस योग्य बना देते हैं कि हम संसार के सर्वकार्य करने में पटु बन जाते हैं। आज संसार में गुरु न होता, तो हम पशुतुल्य हो जाते।

यहाँ शान्तिनाथ भगवान् की संवत् १८७२ की प्रतिष्ठित प्रतिमा बहुत मनोहर है। मन्दिर भी बहुत विस्तार से है। २ मन्दिर हैं। २० घर जैनियों के हैं। प्राय: सम्पन्न हैं। १ धर्मशाला है। उसमें १ कूप भी है। लोगों में ज्ञानकी न्यूनता है क्योंकि उसके साधन नहीं। अब जबसे विन्ध्यप्रदेश हुआ है, तबसे एक प्रायमरी स्कूल हो गया है, अत: कुछ समय बाद पठन-पाठन होने लगेगा। कुछ मनुष्य स्वाध्याय करते हैं, परन्तु विशेष ज्ञान नहीं। यहाँ के कुछ बालक पपौरा में पढ़ते हैं। इन गाँवों में कोई त्यागी रहे तो बहुत उपकार हो सकता है, परन्तु इस प्रान्त में प्रथम तो त्यागी नहीं फिर जो हैं, वे विशेष पढ़े नहीं। इसका मूल कारण जैन जनता में विद्या का प्रचार नहीं। इस प्रान्त के जैनी प्राय: पूजा आदि में द्रव्य व्यय कर देते हैं। जो कुटुम्ब निर्धन हैं, उनकी कोई सहायता कराने-वाला नहीं। छात्रों को भी कोई सहायता नहीं देता। इनका उद्धार वही कर

सकता है, जो दृढ़प्रतिज्ञ हो, ज्ञानी हो, सद्वृत्त हो तथा कुछ कल्याण करने की भावना से युक्त हो।

लार से चलकर बड़ेगाँव में रहे। भोजन के पश्चात् सब महाशय एकत्र हुए। यहाँ एक औषधालय की स्थापना के अर्थ ३००) का चन्दा हो गया। यहाँ के आदमी भद्र हैं। यहाँ अमृतलाल गोलापूर्व तथा उनका भाई दोनों ही कर्मठ व्यक्ति हैं, राजनैतिक कार्य में संलग्न हैं। भाव देशकल्याण के हैं, किन्तु जितना बोलते हैं, उसका अंश भी कार्य यदि करें तो बहुत ही अच्छा हो। न जाने क्या कारण है कि वर्तमान युग में पर का कल्याण करने की भावना तो प्रायः सब में रहती है, परन्तु हमारा भी कल्याण हो, इसका ध्यान नहीं रहता। राजनैतिक कार्य करने वाले प्रायः धर्म की श्रद्धा से च्युत हो जाते हैं। धर्म को ढोंग बताने लगते हैं। ऐसे लोग यदि महात्मागाँधी से कुछ ग्रहण करते तो उत्तम होता।

बड़ेगाँव से चलकर घुबारा आ गये। यहाँ के लोग अच्छी स्थिति में हैं। १ पाठशाला है, जिसमें प्रथम परीक्षा उत्तीर्ण अध्यापक है। यथाशक्ति बालकों को अध्ययन कराता है। शिक्षक बहुत ही योग्य होना चाहिए, परन्तु वर्तमान में शिक्षा बहुत मँहगी हो गई है। १००) के बिना उत्तम अध्यापक नहीं मिलता। लोग यथाशक्ति चन्दा नहीं देते। जिनके पास पुष्कल द्रव्य है वे विवेक से व्यय नहीं करते और जिनके पास नहीं है वे बातों के सिवाय और कर ही क्या सकते हैं? ऐसे लोग प्रायः यह कहते देखे जाते हैं कि यदि हमारे पास पुष्कल धन होता तो हम ऐसा करते, वैसा करते, परन्तु धन पाने पर उनके परिणाम भी धनिकों के ही समान हो जाते हैं। इसी से किसी कवि ने बहुत ही समयोपयोगी दोहा कहा है—

कहा करूँ धन है नहीं होता तो किस काम।
जिनके है तिन सम कहा होते नहिं परिणाम ।।

पौष कृष्ण १४ सं० २००८ को दोपहर के बाद एक अत्यन्त प्राचीन खड्गासन प्रतिमा का, जो कि काले पत्थर की बहुत ही मनोज्ञ है, अभिषेक हुआ। जनता अच्छी एकत्रित हुई। कलशाभिषेक, फूलमाला तथा ज्ञानमाला में १००) के करीब आय हो गई। तदनन्तर व्याख्यान हुए। हमको भी व्याख्यान देने के लिए कहा गया। व्याख्यान देना कुछ कठिन नहीं, परन्तु तारतम्य से कहना कठिन है। परमार्थ से हमको व्याख्यान देना आता नहीं, और न उसके लिए हम परिश्रम ही करते हैं। इसका कारण प्रथम तो हमने किसी शास्त्र का साङ्गोपाङ्ग अभ्यास

किया नहीं, और न ही व्याख्यान-कला का अभ्यास किया, अत: यदि कोई महाशय हमको किसी विषय पर व्याख्यान देने का आग्रह करे, तो हम खड़े तो हो जावेंगे, परन्तु निर्वाह नहीं कर सकेंगे। 'कहीं की ईंट कहींका रोरा भानुमती ने कुरमा जोरा' वाली कहावत के अनुसार कुछ कहकर समय पूरा कर देंगे। अस्तु, इसका हमको कुछ भी हर्ष-विषाद नहीं, किन्तु अपने समय का हम दुरुपयोग करते हैं, इसका खेद रहता है। यह हमारी मोहनिमित्तक महती जड़ता है। यदि आज हम लोक प्रशंसा को त्याग देवें तो, अनायास सुखी हो सकते हैं, परन्तु लोकैषणा के प्रभाव से वञ्चित हैं, यही हमारे कल्याण में बाधक है। यहाँ ३ दिन रहे।

तदनन्तर घुवारासे ४ मील चलकर भोंहरे ग्राम आगये। यहाँ पर ८ घर जैनियों के हैं, व १ मन्दिर है। मन्दिर में अन्धकार था, अत: उसके सुधार के लिये ४००) का चन्दा हो गया। प्रवचन में ग्राम के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सभी लोग आये व सुन कर प्रसन्न हुए। जैनधर्म तो प्राणीमात्र का कल्याण चाहने वाला है। उसे सुनकर किसे हर्ष न होगा? भोजन के उपरांत यहाँ से चलकर गोरखपुर आगये। गाँव के सब लोगों ने स्वागत किया। श्री नाथूरामजी ब्रह्मचारी तथा श्री क्षुल्लक क्षेमसागरजी का व्याख्यान हुआ। आप लोगों ने यह बताया कि धर्म का मूल दया है, अत: सभी को उसका पालन करना चाहिए। यहाँ १ मन्दिर है। उसमें पार्श्वनाथ भगवान् की एक बहुत ही मनोज्ञ प्रतिमा है। शास्त्र-प्रवचन हुआ। एक छोटी-सी पाठशाला है, जिसमें पं०रामलालजी दरगुवाँवाले छात्र-छात्राओं को अध्ययन कराते हैं। बहुत सुशील मनुष्य हैं। परिश्रमी भी है। यहाँ से चलकर धनगुवाँ आये। ग्राम साधारण है, पर लोग उत्साही हैं। नरेन्द्रकुमार बी०ए०, जो निर्भीक वक्ता व लेखक है, यहीं के हैं। श्री लक्ष्मणप्रसादजी जो सागरविद्यालय में काम करते हैं, वे भी यहीं के हैं। शास्त्रप्रवचन हुआ, जिसमें ग्राम के सबलोग सम्मिलित हुए। देहात के लोगों में सौमनस्य अच्छा रहता है। यहाँ से चलकर श्री द्रोणगिरि क्षेत्र पर पहुँच गये। बहुत ही रमणीय व उज्ज्वल क्षेत्र हैं। यहाँ पहुँचने पर न जाने क्यों अपने आप हृदय में एक विशिष्ट प्रकार आह्लाद उत्पन्न होने लगता है। ग्रम के मन्दिर में श्री ऋषभनाथ भगवान् के दर्शन कर चित्त में अत्यन्त हर्ष हुआ।

पौषशुक्ला ५ संवत् २००८ को श्री द्रोणगिरि सिद्धक्षेत्र की वन्दना की। यद्यपि शारीरिक शक्ति दुर्बल थी, तो भी अन्तरङ्ग के उत्साह ने यात्रा निर्विघ्न

सम्पन्न करा दी। साथ में श्री १०५ क्षुल्लक क्षेमसागरजी व ब्रह्मचारी नाथूराम तथा बालचन्द्र थे। यात्रा के बाद गुफा के आगे प्राङ्गण में शान्तचित्त से बैठे। सामने गाँव का तथा युगल नदियों का संगम दिख रहा था। दूर-दूर तक फैली हुई खेतों की हरियाली दृष्टिको बलात् अपनी ओर आकर्षित कर रही थी। ब्र० नाथूराम ने प्रश्न किया कि शान्ति तो आत्मा से आती है, पर अशान्ति कहाँ से आती है? इसके उत्तर में मैंने कहा—शान्तिवत् अशान्ति भी बाहर से नहीं आती, केवल निमित्त का भेद है। उपादानकारण दोनों का आत्मा है। जिसतरह समुद्र में तरङ्ग और निस्तरङ्ग अवस्था होती है। उसमें समीर का संचरण और असंचरण निमित्त है। इसी तरह आत्मा में पुद्गल कर्म के विपाक का निमित्त पाकर अशान्ति और उसके अभाव में शान्ति का लाभ होता है। अत: जिनको शान्ति की अभिलाषा है, उन्हें परपदार्थों से सम्बन्ध त्याग देना चाहिये, क्योंकि सुख और शान्ति केवल अवस्था में ही होती है। पर के अधीन रहना सर्वथा दु:ख का बीज है।

द्रोणगिरि में पं०गोरेलालजी सज्जन व्यक्ति हैं। द्रोणगिरि से चलकर भगवाँ गये। यहाँ एक असाटी अच्छे सम्पन्न हैं। सामान्यरीति से इनका व्यवहार अच्छा है। यह जैनधर्म से प्रेम रखते हैं। जब चन्दा का समय होता है, तब कुछ न कुछ दे ही देते हैं। यहाँ से चलकर बरेठी पहुँचे। पद्मपुराण का स्वाध्याय किया। रोचक कथा है। यहाँ ६ घर जैनियों के हैं। सब ने यथाशक्ति द्रोणगिरि की पाठशाला को दान दिया। इनके पास विशेष विभूति नहीं, अन्यथा यह बहुत कुछ दे सकते हैं? यहाँ सतपारा से हीरालाल पुजारी तथा ४ आदमी और आ गये, जिससे भोजन के बाद वहाँ गये। दूसरे दिन प्रात:काल फिर पद्मपुराण का स्वाध्याय किया। राम-रावण के संग्राम की चर्चा थी। रावण ने अमोघ शक्ति का प्रयोग कर लक्ष्मण के उर:स्थल में आघात किया। श्रीराम ने बहुत ही शोक किया। बहुत ही मार्मिक उद्गार उनके हृदय से निकले। यह सब मोह का प्रताप है कि एक मोक्षगामी के हृदय से इस प्रकार के वाक्य निकले। मोह के उदय में आत्मा की यही दशा हो जाती है। ठीक है, परन्तु जिनके हृदय में विवेक है, वे बाह्य में कुछ अलाप करें, परन्तु अन्तस्तल में उनकी श्रद्धा में अणुमात्र भी अन्तर नहीं आता। द्रोणगिरि के अञ्चल में भ्रमणकर पुन: द्रोणगिरि आगये ।

पौष शुक्ला १२ सं० २००८ को पं० दुलीचन्द्रजी बाजना तथा मलहरा से कई सज्जन शास्त्रसभा में आ गये। धनगुवाँ से भी कई सज्जन आये। मलहरा

जाने का विचार था, परन्तु मेघवृष्टि के कारण जा नहीं सके। निश्चिन्तता से प्रवचन किया। प्रवचन का सार यह था कि यद्यपि संसार में प्रेम की बहुत प्रशंसा होती है, परन्तु संसार में चक्रवत् परिभ्रमण करानेवाला यही प्रेम है। सर्वबन्धनों में कठिन बन्धन प्रेम - स्नेह का हैं। इसपर विजय प्राप्त करना नरसिंह का काम है। श्यालप्रकृति के मनुष्य आप कायर होते हैं तथा अन्य को कायर बनाते हैं। अनादिकालीन प्रकृति का निवारण करना अतिदुर्लभ है। कहना सरल है, परन्तु कार्य में परिणत करना कठिन है, प्राय: उपदेश देने का प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्न करता है, किन्तु उस पर अमल करनेवाला ही शूर होता है। ऐसे मनुष्य की ही गणना उत्तम मनुष्यों में होती है। प्रथम तो सिद्धान्त यह है कि कोई किसी का उपकार नहीं कर सकता, क्योंकि सब द्रव्यों के परिणमन स्वीय-स्वीय इत्यादि चतुष्टय के अनुरूप होते हैं। इतर तो निमित्त मात्र होते हैं। जिसमें अचेतन पदार्थ तो उदासीन ही होकर कार्य करते हैं। उदासीन से तात्पर्य अभिप्रायशून्य से है। जिनके अभिप्राय है, वे चेतन हैं। वह चेतन जो कार्य करते हैं, वह भी कषाय के अनुरूप ही करते हैं। आत्मा नामक एक द्रव्य है। इसमें ही चेतना गुण है। इस चेतना गुण के द्वारा ही यह पदार्थों को देखता जानता है। परमार्थ से न देखता है, न जानता है। केवल अपने स्वरूप में मग्न रहता है, किन्तु आत्मा में अनादिकाल से मोह की संगति है जिससे आत्मा में विपरीताभिप्राय होता है। उस विपरीताभिप्राय के कारण यह परपदार्थों में निजत्व का अनुभव करता है। अथवा पर और निज यह कल्पना भी मोह के प्रभाव से ही होती है। जिस दिन यह कल्पना मिट जावेगी, उसी दिन शान्ति का साम्राज्य अनायास हो जावेगा।

पौष शुक्ला १४ सं० २००८ को प्रात:काल ४ मील चल कर मलहरा आ गये। गुरुकुल में ठहर गये। यहाँ सिंघई बृन्दावनलाल बहुत ही विवेकी, उदार तथा हृदय के स्वच्छ हैं। आपके प्रताप से यहाँ गुरुकुल बन गया। प्रान्त में अशिक्षा का प्रचार बहुत है। पहले देशी रजवाड़े थे, इसलिये प्रजा की उन्नति के विशेष साधन राज्य की ओर से नहीं थे। अब विन्ध्यप्रदेश में यह सब स्थान आ गये हैं तथा राज्य की ओर से शिक्षा के साधन भी जुटाये जा रहे हैं। आशा है, आगे चलकर यहाँ की प्रजा भी उन्नति करेगी। यहाँ १६ दिन रहे। प्रात:काल प्रवचन हुए। इसी के बीच एक दिन माघ कृष्णा १४ को गंज गये। वहाँ एक बाई के यहाँ पंक्ति भोजन था। २०० आदमी आये होंगे। श्रीजी का जल-विहार हुआ। प्रान्त में सरलता बहुत है।

मलहरा से ९ मील चलकर माघशुक्ला ४ को दरगुवाँ आ गये। यह ब्र० नाथूराम का ग्राम है। दूसरे दिन इन्हीं के यहाँ भोजन हुआ। यहाँ पर जो व्यय हो उस पर)। एक पैसा रुपया विद्यादान में देना लोगों ने स्वीकृत किया। यहाँ पर दिल्ली से लाला मक्खनलाल जी आगये। विरक्त मनुष्य हैं, गृह से उदासीन हैं, सर्वसम्पन्न होकर भी विरक्त होना ऐसे ही शूर का काम है। दरगुवाँ से चलकर हीरापुर आ गये। मन्दिर के सामने धर्मशाला है, उसी में ठहरे। सामने कूप है। उसके बाद चौक है। फिर मन्दिर है। मन्दिर स्वच्छ है। मूर्तियाँ स्वच्छ है। रात्रि को शास्त्र होता है। यहाँ पर तिगोड़ा से पण्डित पद्मकुमार जी आगये। आप त्यागी कमलापति सेठ वरायठा के पुत्र हैं, सुबोध हैं, अन्तर आर्द्र है। रात्रि को ब्र० नाथूराम ने सबको शास्त्र-श्रवण कराया।

हीरापुर से चलकर शाहगढ़ आये। बड़ा ग्राम है। जनसंख्या अच्छी है? लोगों में सौमनस्य भी है। मन्दिर में प्रवचन हुआ। जनता अच्छी उपस्थित थी। ज्ञानार्णव में अन्यत्व और एकत्व भावना का विषय था। एकत्व भावना का यह अर्थ है कि मनुष्य स्वकृत कर्म के अच्छे-बुरे फल को अकेला ही भोगता है। किसी के सुख-दु:ख में कोई शामिल नहीं होता, अत: पर के पीछे आत्मपरिणामों को विकृत नहीं होने देना, यही बुद्धिमत्ता है। अन्यत्व भावना का अर्थ यह है कि आत्मा शरीर से भिन्न है, अत: शरीर के विकार को आत्मा का विकार मान व्यर्थ ही रागी-द्वेषी मत बनो। यहाँ २ मन्दिर हैं। रात्रि को शास्त्र-प्रचन होता है। शाहगढ़ से बमौरी गये। यह श्री १०५ क्षुल्लक क्षेमसागरजी का ग्राम है। लोगों में धार्मिक रुचि है। एक मन्दिर है। प्रवचन हुआ। उपस्थिति अच्छी थी। प्रवचन का सार यह था कि भूल अज्ञान से होती है। यह आत्मा का मोह जन्य विकार है। जैसे भ्रमज्ञान मिथ्या है, वैसे ही अज्ञान मिथ्या है। इस भूल को त्यागने वाला ही मनुष्यता का पात्र है। अनादिकाल से हम जिस पर्याय में गये, उसे ही अपनाया। यद्यपि उसे अपनाना पर्यायापेक्षया सर्वथा मिथ्या नहीं, परन्तु उसे ही सर्वथा निजस्वरूप मान लिया, इसलिये शुद्धद्रव्य से विमुख हो अनादिकाल से पर्यायों में ही उलझते रहे।

बमौरी से १ मील चलकर बेरखेरी आये। यहाँ एक क्षत्रिय महाशय रहते हैं, जो बहुत ही सरल परिणामी हैं। मांस के त्यागी हैं। इनके वंश में शिकार का भी त्याग है। यहाँ से ५ मील चलकर सिद्धक्षेत्र नैनागिरि (रेशन्दीगिरि) आ गये। सुन्दर स्थान है। पाठशाला के छात्रों ने स्वागत किया। यहाँ पर्वत पर पार्श्वनाथ

समवसरण के नाम से एक विशाल मन्दिर का निर्माण हो रहा है। श्रीपार्श्वनाथ भगवान् की शुभ्रकाय विशाल मूर्ति की प्रतिष्ठा होनेवाली है। माघ शुक्ला १५ को श्री १०८ क्षीरसागरजी मुनि यहाँ आये।

रेशन्दीगिरि में पञ्चकल्याणक

फाल्गुन कृष्णा ३ सं० २००८ से पञ्चकल्याणक का मेला रेशन्दीगिरिजी में था। नाला पार करके मैदान में विशाल पण्डाल बनाया गया था। एक छोटा पण्डाल नीचे के मन्दिरों के पास भी बना था। धीरे-धीरे मेला भरना शुरू हो गया। विद्वत्परिषद् की कार्यकारिणी की बैठक थी, अतः विद्वत्मण्डली उपस्थित थी। खास कर पं०वंशीधरजी इन्दौर, पं०कैलाशचन्द्रजी, खुशालचन्द्रजी, जगन्मोहनलालजी, दयाचन्द्रजी आदि सभी प्रमुख विद्वान् थे। प्रतिष्ठा के कार्य के लिए श्री पं०बारेलाल जी पठा तथा समगौरयाजी आये हुए थे। डेरा-तम्बुओं का भी अच्छा प्रबन्ध था।

पञ्चकल्याणक उस महान् आत्मा का होता है, जो पूर्व जन्म में दर्शन विशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं का चिन्तवन करता है तथा अपायविचय नामक धर्मध्यान में बैठकर लोककल्याण की सातिशय भावना भाता है। ऐसे जीव भरतक्षेत्र में दस कोड़ा-कोड़ी सागर के एक युग में केवल २४ ही उत्पन्न हो पाते हैं। समग्र अढ़ाई द्वीप में एक साथ १७० से अधिक ऐसे व्यक्ति नहीं हो पाते। तीर्थंकर प्रकृति सातिशय पुण्यप्रकृति है। इसका जिसके बन्ध होता है, उसके जन्म लेते ही तीनों लोकों में क्षोभ मच जाता है। फाल्गुन कृष्णा ३ को भगवान् का गर्भकल्याणक हुआ, ४ को जन्मकल्याणक हुआ, इन्द्र-इन्द्राणी जब भगवान् को ऐरावत हाथी पर विराजमान कर टेकड़ी पर चढ़े, तब बड़ा सुन्दर दृश्य था। रात्रि को विद्वानों के सारगर्भित भाषण होते थे। प्रातःकाल नीचे के मन्दिरों के पास जो पण्डाल बना था, उसमें शास्त्रप्रवचन होता था। मुनि क्षीरसागरजी का भी व्याख्यान हुआ। सामयिक व्याख्यान था। परन्तु आपने एक तत्त्वार्थसूत्र प्रकाशित कराया, जिसके बीच-बीच में अनेक पाठ मिला दिये। उमास्वामी की रचना को प्रक्षिप्त कर दिया तथा यह आलोचना की कि आचार्य उमास्वामी इस आवश्यक बात को छोड़ गये। महाराज की यह कृति विद्वानों को पसन्द नहीं आई। उनका कहना था कि आपको यदि कोई बात की त्रुटि मालूम होती है, तो उसे अलग से दें। एक ऐसे आचार्य की रचना को, जिसे पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द,

श्रुतसागर आदि आचार्यों ने परिपूर्ण मान अपनी टीकाओं तथा भाष्यों से अलंकृत किया है, प्रक्षिप्तकर दूषित न करें। परन्तु महाराज दूसरे की बात या अभिप्राय को न सुनने का प्रयास करते हैं और न समझने का।

पञ्चमी को पण्डाल में राज्यगद्दी का उत्सव होने के बाद बट वृक्ष के नीचे दीक्षाकल्याणक का उत्सव हुआ। समारोह अच्छा था। व्रती-सम्मेलन होने से मेला में अनेक व्रती पधारे थे, अत: उन्होंने तथा अन्य अनेक लोगों ने व्रत ग्रहण किये। हमने कहा कि यह संसार है और हमारे ही प्रयत्न का फल है। इसका अन्त करने में हम ही कारण है। इसका बनानेवाला यदि कोई है, तो अन्त करनेवाला भी वही होगा। हम उभयथा निर्दोष हैं, ऐसा मानना न्यायसंगत नहीं। हम निर्दोष भी हो सकते हैं, और सदोष भी। अत: तत्त्वज्ञ बनो और आज तक जो पर में संसार तथा मोक्ष के मानने का अज्ञान है, उसे त्यागो। यथार्थ पथ पर आओ। संसार में वही महापुरुष वन्दनीय होते हैं, जिन्होंने ऐहिक और पारलौकिक कार्यों से तटस्थ होकर आत्मकल्याण के अर्थ स्वकीय परिणति को निर्मल बना दिया है। विषय का मार्ग ऊपर से मनोरम दिखता है, पर उसका अन्तस्तल बहुत ही कण्टकापूर्ण है। इससे जो बच निकले उनका बेड़ा पार हो गया। यदि विषय-सुख में आनन्द होता, तो भगवान् आदि जिनेन्द्र ही उसे क्यों त्यागते? जब तक चारित्रमोह का उदय था, तब तक वे भी अन्य संसारी प्राणियों के समान विषय के गर्त में पड़े रहे। तीर्थंकर प्रवर्तक पुरुष कहलाते हैं। इन्हें तीर्थकी प्रवृत्ति करनी होती है। फिर यदि यही संसार के अन्य प्राणियों के समान विषय में निमग्न रहें, तो तीर्थ की क्या प्रवृत्ति करेंगे? यह विचार कर सौधर्मेन्द्र इनके वैराग्य के निमित्त, जिसकी आयु अत्यल्प रह गई थी, ऐसी नीलाञ्जना को नृत्य करने के लिए खड़ा कर देता है। थोड़ी देर में उसकी आयु समाप्त हो जाती है, जिससे उसका शरीर विद्युत् के समान विलीन हो गया। रस में भंग न हो, इस भावना से इन्द्र ने झट से दूसरी देवी उसी के समान रूपवाली खड़ी कर दी, परन्तु भगवान् उसके अन्तर को समझ गये। इस घटना से भगवान् के ज्ञान में आ गया कि संसार क्षणभंगुर है। हमने अपनी आयु के ८३ लाख पूर्व व्यर्थ ही खो दिये। कहाँ तो हम पूर्व भव में यह चिन्तवन करते थे कि त्रिलोक के जीवों को अपाय से कैसे मुक्त करें, और कहाँ हम स्वयं ही अपाय में फँस गये। भगवान् के ऐसा चिन्तवन करते ही लौकान्तिक देव आ गये और उन्होंने बारह भावनाओं का पाठकर भगवान् की श्लाघा की। कैसा वह समय होता होगा कि जब जरा सा निमित्त मिलने पर

आदमी विरक्त हो जाते थे और ऐसे आदमी जिनके वैभव के साथ स्वर्ग का वैभव भी ईर्ष्या करता था। आज तो वैभव के नाम पर फटी लंगोटी लोगों के पास है, पर उसे भी त्यागने का भाव किसी का नहीं होता।

रात्रि को परवारसभा में एकीकारण बावत जो प्रस्ताव पपौरा में हुआ था, उसपर पं०जगन्मोहनलालजी ने प्रकाश डाला। चर्चा बहुत हुई, परन्तु लोगों का कहना था कि यदि वास्तव में एकीकरण चाहते हो तो इन जातीय-सभाओं को समाप्त करो। इन सभाओं ने जनता के हृदय में फूट डालने के सिवाय कुछ नहीं किया है। इन सभाओं के पहले जहाँ लोग आपस में एक दूसरे से मिल-जुलकर रहते थे, वहाँ अब अपने पराये का भेद हो गया। अन्त में कुछ हुआ नहीं। इतना उदारतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाने के लिए लोगों में क्षमता नहीं।

आगामी दिन मध्याह्न के बाद ज्ञानकल्याणक का उत्सव हुआ। कृत्रिम समवसरण के बीच भगवान् आदि जिनेन्द्र विराजमान थे। विद्वानों ने दिव्य-ध्वनि के रूप में जैनागम सम्मत तत्त्वों का वर्णन किया। जिसका जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा। रात्रि को यहाँ की पाठशाला का अधिवेशन था। पं०कैलाशचन्द्रजी ने पाठशाला की अपील की। क्षेत्र तथा प्रान्त की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला, जिससे लोगोंके परिणाम द्रवीभूत हो गये। कुछ चन्दा भी हो गया, परन्तु विद्या की ओर जैसी रुचि लोगों की होनी चाहिए, वह नहीं प्रकट हुई। इसका कारण विद्या का रस अभी इनके जीवन में आया नहीं। फाल्गुन शुक्ला ७ को निर्वाण-कल्याणक का दृश्य प्रातःकाल पण्डाल की वेदी पर दिखाया गया। कुछ समय पूर्व कैलाशपर्वत पर योग निरोध किये हुए भगवान् विराजमान थे, पर कुछ ही समय के अनन्तर उनका प्रतिबिम्ब वहाँ से उठा लिया गया और चन्दन की समिधाओं में कपूर द्वारा अग्नि प्रज्वलित कर यह दृश्य दिखाया गया कि भगवान् मोक्ष चले गये। यह दृश्य देखकर जनता मुख से तो जय-ध्वनि का उच्चारण करती थी, परन्तु नेत्रों से उसके अश्रुधार प्रवाहित हो रही थी। मेरा परिणाम भी गद्गद् हो गया, जिससे अधिक तो नहीं कह सका, पर इतना मैंने अवश्य कहा कि जन्मापाय ही मोक्ष है। जन्म के कारणों के अभाव में जीव स्वयं मुक्त हो जाता है। जन्म का कारण आयु है। जिस जीव का मोक्ष होना है, उसके आयु बन्ध नहीं होता। जो आयु है, उसका अन्त होने पर जीव का मोक्ष हो जाता है।

बात सरल है, परन्तु यह जीव मोहमद से इतना उन्मत्त हो रहा है कि आपको जानता ही नहीं। जो बात करेगा वह विपरीत अभिप्राय से रिक्त नहीं होती। पण्डाल की समस्त व्यवस्था पं० पन्नालालजी सागर सम्हाले हुये थे, जिससे समयानुकूल सब कार्य होने में रुकावट नहीं होती थी। मेला में लगभग १५-२० हजार जैन जनता आई होगी। किसी की कुछ हानि नहीं हुई, और न वर्षा आदि का किसी को कुछ कष्ट हुआ। सब सानन्द अपने-अपने घर गये। मैं भी यहाँ से चलकर दलपतपुर आ गया।

●

सागर

फाल्गुन कृष्णा १० सं० २००८ को दलपतपुर से ७ मील चलकर बण्डा आ गये। यहाँ पर ८५ घर जैनियों के हैं। प्राय: सर्व सम्पन्न हैं। थक गये, इसलिए रात्रि में प्रवचन नहीं किया। श्रीकुञ्जीलाल जी सर्राफ आदि सागर से कई महानुभाव आये, जिसने सागर के समाचार श्रवण कराये। दूसरे दिन प्रात:काल मन्दिर में शास्त्रप्रवचन हुआ। जनता की उपस्थिति अच्छी थी। पाठशाला के लिए अर्थ का प्रयास किया। ४०००) का चन्दा हुआ। यहाँ पर एक प्रभुदयाल दरोगा, जो कि वर्तमान में रिटायर्ड है, योग्य मनुष्य है। आप प्रत्येक कार्य में योगदान देते हैं। श्री १०५ क्षुल्लक क्षेमसागरजी ने चन्दा में हृदय से योग दिया। आप जहाँ भोजन को गये, वहाँ से प्रेरणा कर ५७०) पाठशाला को दिलाया। यहाँ से चलकर भड़राना आ गये, और वहाँ से ६ मील चलकर शाहपुर पहुँच गये।

यहाँ कलशारोहण का उत्सव हो रहा था। बाहर से करीब ५०० जनता आई होगी। रात्रि को पाठशाला का उत्सव हुआ। अपील होनेपर १००००) दस हजार का चन्दा हो गया। शाहपुर के मनुष्यों में देने का उत्साह बहुत था। सबके परिणाम उदार थे। सबने मर्यादा से अधिक द्रव्य दिया। इस कार्य में भैयालाल भजनसागर और दयाचन्द्रजी ने बहुत परिश्रम किया। द्वितीय दिन मध्याह्नोपरान्त पाठशाला का पुन: उत्सव हुआ। श्री हरिश्चन्द्रजी मोदी का उत्साह एकदम उमड़ा। उन्होंने ५०००) पाँच हजार पाठशाला को देना स्वीकृत किया, २०००) दो हजार उनके भाई टीकारामजी ने दिये और उनके बड़े भाई घप्पेरामजी ने २५१) दिये, समगौरया जी, भजनसागरजी तथा पं०दयाचन्द्रजी ने सबको मधुर शब्दों में धन्यवाद दिया और सिंघई लक्ष्मणप्रसादजी हरदीवालों ने सिंघईपद का तिलक किया तथा सब भाईयों ने भेंट की। बड़ा आनन्द रहा। अमावास्या के दिन पाण्डाल में श्रीमान् ब्रह्मचारी कस्तूरचन्द्रजी नायक जबलपुर वालों ने स्वरचित रामायण में से दशरथ-वैराग्य का प्रकरण जनता को श्रवण कराया। श्रवणकर जनता बहुत प्रसन्न हुई। मेरे चित्त में बहुत उदासीनता आई, परन्तु स्थायी शान्ति न आई। इसका मूलकारण भीतर की दुर्बलता है। अनादिकाल से पर में निजत्व की कल्पना चली आ रही है। उसका निकलना सहज नहीं। संसार स्थिति अल्प रह जाय,

तो यह कार्य अनायास हो सकता है। कलशारोहण का समारोह समाप्त हो गया। लोग अपने-अपने घर गये और हम शान्त-भाव से १६-१७ दिन यहाँ रहे। भगवानदास भायजी तत्त्वज्ञ तथा आसन्न भव्य पुरुष हैं। इनके साथ स्वाध्याय करते हुए शान्ति से समय-यापन किया।

चैत्र कृष्णा प्रतिपदा सं० २००८ के दिन सागर से सिंघईजी आदि आये और सागर चलने की प्रेरणा करने लगे। हमने मना किया, परन्तु अन्त में मोह की विजय हुई, हम पराजित हुए। सागर जाना स्वीकृत करना पड़ा। मुझे अनुभव हुआ कि संकोची मनुष्य सदा दु:खी रहता है। सबको खुश करना असम्भव बात है। प्रथम तो कोई ऐसा उपाय नहीं, जो सबको प्रसन्न कर सके। द्वितीय सबकी एक सदृश भावना करना कठिन है। अत: एक यही उपाय है कि सबको खुश करने की अभिलाषा त्याग दी जाय। अभिलाषा ही दु:खदायिनी है।

चैत्र कृष्णा ३ सं० २००८ को १ बजे शाहपुर से चले। धर्मशाला से चलकर श्री अनन्दीलाल की दुकानपर विश्राम किया। यहां सब जैन जनता आ गई। बालिकाओं ने मंगल-गान गाया। पश्चात् पं०अमरचन्द्रजी ने गान पढ़ा। उसके उपरान्त पं० श्रुतसागरजी ने ५ मिनट व्याख्यान दिया। सुनकर लोग गद्‌गद् कण्ठ हो गये। पश्चात् बहुत कठिनता से चल पाये। आधा मील तक जनता आई। यहाँ से ९ मील चलकर सानोधा आगये। यहाँ पर ८-१० घर जैनी हैं। एक मन्दिर है। अगले दिन भोजन कर सागर के लिए प्रस्थान कर दिया और शाम के ६ बजे तक गोपालगंज (सागर) पहुँच गये।

चैत्र कृष्णा ५ को गोपालगंज में आहार किया। ३ बजे प्रचुर जनता के साथ गोपालगंज से चले और ४ बजे कटरा बाजार पहुँच गये। यहाँ पर दो मन्दिर हैं। उनके दर्शन किये, मन्दिर स्वच्छता पूर्ण तथा निर्मल है, विस्तृत भी है।, परन्तु जनसंख्या बहुत होने से स्थान में कमी पड़ जाती है। एक मन्दिर प्राचीन है। दूसरा स्व० सि० अनन्तराम जी दलाल की धर्मपत्नी ने अपने मकान को मन्दिररूप में परिणतकर कुछ समय हुआ बनवाया है। मन्दिरों के दर्शन कर वेदान्ती पर श्री गुलाबचन्द्रजी जौहरी का जो बाग है उसमें निवास किया। आपने यह बाग उदासीनाश्रम के लिए प्रदान किया है। उदासीनाश्रम संस्था इसी में है। रात्रि को स्वागत समारोह के उद्देश्य से मोराजी भवन में सभा एकत्रित हुई।

सागर बड़ी बस्ती है। जैनियों के हजार से ऊपर घर हैं। बड़े-बड़े १६ मन्दिर हैं। संस्कृत विद्यालय है ही। महिलाश्रम भी खुल चुका है। लोगों में सरलता

है। यहाँ हमारा बहुत समय व्यतीत हुआ है। बाईजी का भी यहीं निवास था, अत: घूम फिर कर मैं यहीं आ जाता था। यहाँ का जलवायु हमारे शरीर के अनुकूल पड़ता है। लोगों में भद्रता भी अधिक है। यहाँ आकर कुछ समय के लिए भ्रमण-सम्बन्धी आकुलता से मुक्त हो गया।

यहाँ की समग्र जनता को लाभ मिल सके, इस उद्देश्य से आठ-आठ दिन समस्त मन्दिरों में प्रवचन का क्रम जारी किया। पहले कटरा के मन्दिर में प्रवचन हुआ। फिर चौधरनबाई के मन्दिर में फिर सिंघईजी के मन्दिर में। इसी क्रम से सब मन्दिरों में यह क्रम चलता रहा। यहाँ तारण समाज का भी चैत्यालय है। उस आम्नाय के लोगों में प्रमुख सेठ भगवानदासजी शोभालालजी बीड़ीवाले, मुन्नालालजी वैशाखिया तथा मथुराप्रसादजी आदि हैं। इन सबके आग्रह से चैत्यालय में भी प्रवचन हुये।

चैत्र शुक्ला १३ सं० २००९ को वर्णी भवन (मोराजी भवन) में महावीर-जयन्ती का उत्सव था। पं०दयाचन्द्रजी, माणिकचन्द्रजी, पन्नालालजी आदि के व्याख्यान हुये। कुछ इतर समाज के वक्ता भी बोले। जनता अधिक थी। समारोह अच्छा हुआ। दूसरे दिन सर्वधर्मसम्मेलन का आयोजन था, जिसमें जैन, हिन्दू, मुसलमान और ईसाई धर्मवालों के व्याख्यान हुये। अन्त में मैंने भी बताया कि धर्म तो आत्मा की निर्मल परिणति का नाम है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार आत्मा की उस निर्मल परिणति को मलिन किये हुये हैं। जिस दिन यह मलिनता दूर हो जायगी, उसी दिन आत्मा में धर्म प्रकट हुआ कहलावेगा। किसी कुल या जाति में उत्पन्न होने से कोई उस धर्म का धारक नहीं हो जाता। कुल में तो शरीर उत्पन्न होता है, सो इसे जितने परलोकवादी हैं, सब आत्मा से जुदा मानते हैं। शरीर पुद्गल है। उसका धर्म तो रूप, रस, गन्ध स्पर्श है। वह आत्मा में कहाँ पाया जाता है? आत्मा का धर्म ज्ञान, दर्शन, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि गुण हैं। ये सदा आत्मा में पाये जाते हैं। आत्मा को छोड़कर अन्यत्र इनका सद्भाव नहीं होता।

इतना तो सब मानते हैं कि इस समय संसार में कोई विशिष्ट ज्ञानी नहीं। विशिष्ट ज्ञानी के अभाव में लोग अपने-अपने ज्ञान के अनुसार पदार्थ को समझने का प्रयास करते हैं। जिस प्रकार सूर्य के अभाव में घर-घर दीपक जल जाते हैं, कोई बिजली का बड़ा बल्व जलाता है, तो कोई मिट्टीका छोटा-सा टिमटिमाता

हुआ दीपक ही जलाता है। जिसकी जितनी सामर्थ्य है, वह उतना साधन जुटाता है। इसी प्रकार सर्वज्ञ विशिष्ट ज्ञानी के अभाव में लोग अपने-अपने ज्ञान के दीपक जलाते हैं। फिर भी एक सूर्य संसार का जितना अंधकार नष्ट कर देता है, उसको पृथ्वी के छोटे बड़े सब दीपक भी मिलकर नष्ट नहीं कर सकते। ज्ञान थोड़ा हो, इसमें हानि नहीं, परन्तु मोहमिश्रित ज्ञान हो तो वह पक्ष खड़ाकर देता है। यही कारण है कि इस समय उपलब्ध पृथिवी पर नाना धर्म, नाना मत-मतान्तर प्रचलित हैं। यह कलिकाल की महिमा है। इस काल का यही स्वभाव है। आज लोगों में इतनी तो समझ आई है कि विभिन्न धर्मवाले एक स्थान पर बैठकर दूसरे के धर्म की बात सुनते हैं, सुनाते हैं। जैनधर्म का अनेकान्तवाद तो इसीलिए अवतीर्ण हुआ है कि वह सब धर्मों का सामञ्जस्य बैठाकर उनके पारस्परिक संघर्ष को कम कर सके। आयोजक समिति ने सब वक्ताओं के लिए एक-एक वर्णी अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया।

समय-यापन

पं० फूलचन्द्र जी बनारस वाले आये हुए थे। वैशाख कृष्णा २-४ और ५ को आपका शास्त्र प्रवचन हुआ। इन तिथियों में प्रवचन की व्यवस्था तालाब के मन्दिर में थी। मन्दिर छोटा है, परन्तु व्यवस्थित है। पण्डितजी के प्रवचन मार्मिक होते हैं। आपका कहना था कि मनुष्य का कल्याण निज ज्ञान से होता है, पुस्तकज्ञान से नहीं। खाली पुस्तकीय ज्ञान तो बैल पर लदी शक्कर के समान है। अर्थात् जिस प्रकार पीठपर लदी हुई शक्कर का स्वाद बैल को नहीं मिलता, उसी प्रकार केवल पुस्तकीय ज्ञान का स्वाद निज ज्ञान से शून्य मनुष्यों को नहीं मिलता। आत्मज्ञान के साथ पुस्तकीय ज्ञान अधिक न हो तो भी काम चल जाता है, परन्तु आत्मज्ञान के बिना अनेक शास्त्रों का ज्ञान भी बेकार है। प्रत्येक मानव को यदि शरीरादि परपदार्थों से भिन्न आत्मा का ज्ञान हुआ है तो उसे उसका सदुपयोग करना चाहिये। ज्ञान का सदुपयोग यही है कि उसमें मोह तथा राग-द्वेष का सम्मिश्रण न होने दे। ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा का स्वभाव है। जब तक यह जीव ज्ञाता-दृष्टा रहता है, तब तक स्वस्थ कहलाता है, और जब ज्ञाता-द्रष्टा के साथ-साथ रागी, द्वेषी तथा मोही भी हो जाता है, तब अस्वस्थ कहलाने लगता है। संसार में अस्वस्थ रहना किसी को पसन्द नहीं, अतः ऐसा प्रयत्न करो कि सतत स्वस्थ अवस्था ही बनी रहे। कल्याण का मार्ग उपेक्षा में है। उपेक्षा का

अर्थ राग-द्वेष का अप्रणिधान है। अर्थात् उस ओर उपयोग नहीं जाने देना। रागादि कारणों के द्वारा कल्याणमार्ग की आकांक्षा करना सर्प को दुग्ध पिलाने के समान है। संसार का आदि कारण आत्मा ही तो है। वही उसके अन्त का कारण भी है। छोटे-छोटे बच्चे मिट्टी के घरोंदे बनाकर खेलते हैं, और खेलते-खेलते अपने ही पदाघात से उन घरोंदों को नष्ट कर देते हैं। इसी तरह मोही जीव मोहवश नानाप्रकार के घरोंदे बनाता हैं, परपदार्थ को अपना मान अनेक मंसूबे बनाता है, परन्तु मोह निकल जानेपर उन सबको नष्ट कर देता है।

श्री १०८ मुनि आनन्दसागरजी भी विहार करते हुए सागर पधारे। निःस्पृह व्यक्ति हैं, तत्त्वज्ञान की अभिलाषा रखते हैं, संस्कृत जानते हैं, निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखते हैं। आपके दर्शन कर मेरे मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि इस कलिकाल में दिगम्बरत्व की रक्षा करना सामान्य मनुष्य का काम नहीं। धन्य है, आपके पुरुषार्थ को जो इस विषमकाल में साक्षात् मोक्षमार्ग की जननी दिगम्बर मुद्रा का निरतिचार निर्वाह कर रहे हैं। आपकी शान्तिमुद्रा देखकर अन्य जन्तु भी शान्तभाव को धारण कर मोक्षमार्ग के पात्र हो सकते हैं।

सागर में बालचन्द्र मलैया श्रद्धालु जीव है। सम्पन्न होने पर भी कोई प्रकार का व्यसन आपको नहीं। श्रावक के षट्कर्म में निरन्तर आपकी प्रवृत्ति रहती है। आपने सागर से २ मील दूर दक्षिण में तिलीग्राम में एक विस्तृत तथा सुन्दर भवन बनवाया है। पूजा के लिये चैत्यालय भी निर्माण कराया है। एकान्तप्रिय होने से अधिकांश आप वहीं पर रहते हैं। आपका आग्रह कुछ दिन के लिये अपने बाग में ले जाने का हुआ। मैंने स्वीकृत कर लिया, अतः वैशाख शुक्ला १३ को श्रीक्षुल्लक क्षेमसागरजी के साथ वहाँ गया। बहुत ही रम्य स्थान है। सर्व तरह के सुभीते हैं। यदि कोई यहाँ तत्त्व-विचार करना चाहे, तो कोई उपद्रव नहीं। ३ दिन यहाँ रहा। पण्डित पन्नालालजी साथ रहते थे। शान्ति से समय व्यतीत हुआ। वहाँ से आकर दिन में गरमी अधिक पड़ती थी, अतः भोजनोपरान्त ५ बजे तक श्री भगवानदासजी की हवेली के नीचे भाग में रहता था। यहाँ सूर्य का आताप नहीं पहुँच पाता था, इसलिये शान्ति रहती थी। ५ बजे शान्ति-निकेतन-उदासीनाश्रम में चला जाता।

सागर में अनेक मन्दिर हैं तथा विद्यालय और महिलाश्रम इस प्रकार २ संस्थाएँ हैं। सबकी व्यवस्थापक समितियाँ जुदी-जुदी हैं, इसलिये अपनी-अपनी

ओर लोगों का खिंचाव रहा करता है। हमने सुझाव रक्खा कि समस्त सागर समाज की एक प्रतिनिधि-सभा का निर्माण होना चाहिये। वही सब मन्दिरों तथा संस्थाओं की व्यवस्था करे। अलग-अलग खिचड़ी पकाने में शोभा नहीं। जनता को सुझाव पसन्द आ गया और ८४ प्रतिनिधियों की एक प्रतिनिधि सभा बन गई। परन्तु देखने में यह आया कि कार्यकर्ताओं के हृदय स्वच्छ नहीं, अत: विश्वास नहीं बैठा कि ये लोग आगे चलकर सम्मिलित रूप से व्यवस्था बनाये रखेंगे। सबसे जटिल प्रश्न मन्दिरों सम्बन्धी द्रव्य के सदुपयोग तथा उसकी सुव्यवस्था का है। परिग्रह एक ऐसा मद्य है कि वह जहाँ जाता है, वहीं लोगों के हृदय में मद उत्पन्न कर देता है। परिग्रह चाहे घर का हो, चाहे मन्दिर का, विकारभाव उत्पन्न करता ही है। जब तक मनुष्य परिग्रह को अपने से भिन्न अनुभव करता रहता है, तब तक इसका बन्धन नहीं होता, परन्तु जिस क्षण वह उसे अपना मानने लगता है, उसी क्षण बन्धन में पड़ जाता है। सरकारी खजाने में कार्य करनेवाला व्यक्ति ड्यूटी के अवसर पर खजाने का स्वामी है, पर वह उसे अपना नहीं मानता। यदि कदाचित् सौ पचास रूपये में उसका मन ललचा जावे और उन्हें वह निकाल कर जेब में रख ले— उनके साथ ममत्वभाव करने लगे, तो तत्काल उसके हाथ में बेड़ी (हथकड़ी) पड़ जाती है।

कण्डया वंश में श्री ताराचन्द्रजी का एक विस्तृत मकान, जो कि इतवारा बाजार में था, बिकनेवाला था। लोगों ने सुझाव रक्खा कि यह मकान महिलाश्रम के लिये खरीद लिया जाय, क्योंकि महिलाश्रम अभी तलाब के मन्दिर के पीछे किराये के मकान में है, जहाँ संकीर्णता बहुत है, तथा मच्छरों की अधिकता है। मकान की कीमत २२०००) बाईस हजार के लगभग थी। महिलाश्रम के पास इतना फण्ड नहीं कि जिससे वह स्वयं खरीद सके। मकान निज का होने से संस्था में स्थायित्व आ जाता है, अत: मंत्री चाहता था कि मकान महिलाश्रम का हो जाता तो उत्तम था। परन्तु कहा किससे जावे? कुछ लोग फुटकर चन्दा करने के लिये निकले, तो दो चार हजार से अधिक के वचन न मिले। सागर में सिंघई कुन्दनलाल जी एक सहृदय तथा आवश्यकता का अनुभव करनेवाले व्यक्ति हैं। उन्होंने पिछले समय में महिलाश्रम को ११०००) ग्यारह हजार नकद दान दिये थे। उन्होंने कहा कि यदि महिलाश्रम की कमेटी ग्यारह हजार रूपये हमारे पहले के मिला दे, तो मै ग्यारह हजार और देता हूँ। इन बाईस हजार से उक्त मकान खरीद लिया जावे। 'भूखे को क्या चाहिये? दो रोटियाँ' वाली कहावत के अनुसार

महिलाश्रम की कमेटी ने उक्त बात स्वीकार कर ली, जिससे २२०००) हजार में उक्त मकान खरीद कर सिंघेन दुर्गाबाई के नाम से महिलाश्रम को सौंप दिया गया। ग्रीष्मावकाश के बाद जब आश्रम खुला, तब वह अपने निज के मकान में पहुंच गया। इस मकान में इतनी पुष्कल जगह है कि यदि व्यवस्थित रीति से बनाई जावे तो ५०० छात्राएं सानन्द अध्ययन कर सकती हैं।

ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी को गौराबाई जैन मन्दिर कटरा में श्रुतपञ्चमी का उत्सव था। भीड़ बहुत थी। पं० पन्नालाल जी ने शास्त्रप्रवचन द्वारा पर्व का पूर्ण परिचय जनता को करा दिया और इस बात पर बल दिया कि मन्दिरों में जो चांदी आदि के व्यर्थ उपकरण हैं, उन्हें गलाकर शास्त्रभण्डारों की पूर्णता होनी चाहिये तथा जो शास्त्र अद्यावधि प्रकाश में नहीं आये, उनका जनता के समक्ष आना बहुत आवश्यक है।... बात मार्मिक थी, परन्तु यह तब हो सकता है जब जनता के नेत्र खुलें। आजकल तो मन्दिरों का द्रव्य संगमर्मर पत्थर या चूना ईटों के जड़वाने में जाता है। लोगों के हृदय में अज्ञान समाया हुआ है। शास्त्रज्ञान की ओर उनकी रुचि नहीं।

कटरा में एक मन्दिर कारे भायजी का था, जो जीर्ण हो जाने के कारण गिरा दिया गया था तथा उस स्थानपर नवीन मन्दिर निर्माण कराने का विचार था। मन्दिर के नीचे का भाग बड़ा मन्दिर के आधीन और ऊपर अटारी पर मन्दिर था। बड़ा मन्दिर के प्रबन्धकों ने मन्दिर के बनाने में आपत्ति की, जिससे मन्दिर गिरा हुआ बहुत दिनों से पड़ा रहा। कारे भायजी के मन्दिर में जो रुपया था, उन्होंने वह रुपया बड़ा मन्दिर के व्यवस्थपक श्री लक्ष्मीचन्द्रजी मोदी को दे दिया और कहा कि आप ही बनवा दो। बहुत समय से काम रुका था और लोग प्रेरणा भी बहुत करते थे, इसलिये ज्येष्ठ शुक्ला ६ को नवीन मन्दिर बनवाने का मुहूर्त किया गया। मुझे भी लोग ले गये। जन-समुदाय बहुत था। लोगों को प्रसन्नता थी कि अब मन्दिर बन जावेगा, परन्तु लोगों की परिणति निर्मल नहीं, अतः मुझे विश्वास नहीं हुआ कि यह मन्दिर शीघ्र बन जावेगा। धर्मायतनों के विषय में जो छल-क्षुद्रता का व्यवहार करते हैं, वे आत्मवञ्चना करते हैं, और उसका कटुक परिपाक उन्हें भोगना पड़ता है। इस पाप के करनेवाले कभी फलते-फूलते नहीं देखे गये।

श्री १०५ क्षुल्लक क्षेमसागरजी चातुर्मास करने के लिए जबलपुर चले गये। हमारा भी विचार था, परन्तु हम लोगों का संकोच नहीं तोड़ सके और सागर में ही रह गये। आषाढ़ शुक्ला १४ के दिन हमने सागर में चातुर्मासका नियम

ग्रहण किया तथा कार्तिक सुदी २ तक दुग्ध, घृत, नमक तथा बादाम का रोगन मात्र इतने रस लेने का नियम किया।

आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा सं० २००९ को विद्यालय में गुरुपूर्णिमा का उत्सव था। समस्त छात्रवृन्द तथा अध्यापकगण एकत्रित थे। मुझे भी बुलाया गया। छात्रों के कवितापाठ तथा व्याख्यान आदि हुए। अध्यापकों के भी भाषण हुए। मुझे यह दृष्य देख बहुत प्रसन्नता हुई। मैंने कहा कि गुरु का अर्थ तो दिगम्बर मुद्रा के धारी तपोधन मुनि है। श्रावण कृष्णा १ से चातुर्मास प्रारम्भ हो जाता है, अत: पूर्णिमा तक जहाँ जिनका चातुर्मास सम्भव होता, वहाँ सब गुरु पहुंच जाते थे और गृहस्थ लोग उनके आगमन का समारोह मनाते थे। परन्तु आज दिगम्बर मुद्राधारी लोगों की कमी हो गई, इसलिए गुरु का अर्थ विद्यागुरु रह गया। यह भी बुरा नहीं, क्योंकि एक अक्षर के देनेवाले के प्रति भी मनुष्य को कृतज्ञ होना चाहिये। 'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति'— किये हुये उपकार को साधुजन भूलते नहीं। माता-पिता की अपेक्षा विचार करो, तो गुरु का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि उसके द्वारा इस लोक और परलोक सम्बन्धी हित की प्राप्ति होती है।

छात्र का हृदय जितना अधिक निर्मल होगा, वह उतना ही अधिक व्युत्पन्न बनेगा। छात्र को निर्द्वन्द्व होकर अध्ययन करना चाहिये। आज का छात्र पढ़ना अधिक चाहता है, पर पढ़ता बिल्कुल नहीं है। अनेक शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद भी आज छात्र उस योग्यता को नहीं प्राप्त कर पाते, जिस योग्यता को पहले छात्र एक दो पुस्तकों को पढ़कर प्राप्त कर लेते थे। कितने ही छात्रों में बुद्धि स्वभावत: प्रबल होती है, पर उन्हें अनुकूल साधन नहीं मिल पाते, इसलिये वे आगे बढ़ने से रह जाते हैं। जिन्हें साधन अनुकूल प्राप्त हो जाते हैं, वे आगे बढ़ जाते हैं। इस समय उन्हें चिन्ता ही किस बात की है, आराम से बना बनाया भोजन प्राप्त होता है और गुरुजन तुम्हारे स्थानपर आकर पढ़ा जाते हैं। एक समय वह था कि जब हम विद्याध्ययन करने के लिए मीलों दूर गुरुओं के स्थानपर जाया करते थे, हाथ से रोटी बनाकर खाते थे, गुरुओं की शुश्रूषा करते थे, तब कहीं कुछ हाथ लगता था, पर आज तो सब सुविधाएँ हैं, फिर भी अध्ययन न हो तो दुर्भाग्य ही समझना चाहिए।

'ज्ञानं सुखस्य कारणम्'— ज्ञान सुख का कारण है, परन्तु परिपक्व ज्ञान से ही सुख होता है, यह निश्चय रखना चाहिए। जिसका ज्ञान अपरिपक्व है, वह

'न इधर का न उधर का' कहीं का नहीं रहता। उसे पद-पदपर त्रास उठाना पड़ता है। अत: जिस विषय को पढ़ो, मनोयोग से पढ़ो और खूब पढ़ो। अनेक विषयों की अपेक्षा एक ही विषय का परिपक्व ज्ञान हो जावे, तो उत्तम है।

श्रावणकृष्णा १० सं०२००९ को समाचार मिला कि डालमियाँ नगर में श्रावण कृष्णा ८ सोमवार की रात्रि को १२ बजकर १५ मिनट पर श्री सूर्यसागर जी महाराज का समाधिपूर्वक देहावसान हो गया। समाचार सुनते ही हृदयपर एक आघात-सा लगा। आप एक विशिष्ट आचार्य थे, फिरोजाबाद के साक्षात्कार के अनन्तर तो आपमें हमारी अत्यन्त भक्ति हो गई थी। इसके पहले जब आपकी रुग्णावस्था के समाचार श्रवण किये थे तब मन में आया था कि एक बार उनके चरणों में पहुँचकर उनकी वैयावृत्त्य करें, परन्तु बाह्यत्याग के संकोच में पड़ गये। हमारा मनोरथ मन का मन में रह गया। श्री १०८ मुनि आनन्दसागरजी के नेत्रों से तो अश्रुधारा बहने लगी, क्योंकि आपने उन्हीं से दीक्षा ली थी। मुनि महाराज तथा हमने आज उपवास रक्खा। कटरा में मन्दिर के सामने शोकसभा हुई, जिसमें बहुत भारी जनता आई। विद्वानों ने समाज को उनका परिचय कराया तथा उनका गुणगान कर उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

दिल्ली से श्रीराजकृष्णजी, जैनेन्द्रकिशोरजी तथा लाला मुन्शीलालजी आदि और कलकत्ता से छोटेलालजी आये। सब वर्णीभवन के हाल में ठहरे। रक्षाबन्धन पर्व की आज चर्या श्रीराजकृष्ण तथा जैनेन्द्रकिशोर के यहाँ हुई, किन्तु भाग्यवश कटोरी भर भी दुग्धपान न कर पाया कि कटोरी में मृत मक्षिका निकल गई। भोजन में अन्तराय हो गया। इसके पूर्व चतुर्दशीका उपवास किया था। लोगों को बहुत दु:ख हुआ। द्वितीय दिन श्रीराजकृष्णजी के यहाँ भोजन हुआ। श्रीजैनेन्द्रकिशोरजी ने अनार का रस दिया। २ दिन के बाद आज पारणा हुई। लोगों को अत्यन्त आनन्द हुआ। इसी समय श्रीछोटेलालजी कलकत्ता ने १०००) विद्यादान में अर्पित किये, जिनमें मैंने विद्यालय को ६००), विधवाश्रम को ३००) और उदासीनाश्रम को १००) दिला दिये। श्रीमुन्शीलालजी देहलीवालों ने एक लाख रूपया समन्तभद्र विद्यालय को दिया। यह विद्यालय दिल्ली में अनाथाश्रम के पास सामने जो भूमि है, उसी पर बनेगा। चौधरन बाई के मन्दिर में उनके १ लाख के दान की घोषणा हुई। उन्हें समाज की ओर से पगड़ी बँधायी गई। श्रीसिंघई कुन्दनलालजी के द्वारा पगड़ी का कार्य सम्पन्न हुआ। सेठ भगवानदासजी ने

पुष्पमाल पहिनाई। श्रीछोटेलालजी ने अच्छा व्याख्यान दिया। आप १ पुरातनवेत्ता हैं। आपने पुराने तीर्थक्षेत्रों तथा प्रतिमाओं की फिल्म ली है। एक दिन रात्रि को उनका प्रदर्शन किया। सिं० डालचन्द्रजी ने सब आगन्तुकों को भोजन कराया। प्रसन्नता से सब लोग अपने-अपने स्थान गये। हम शान्ति से समययापन करते रहे।

पर्यूषण पर्व आनेवाला था, इसलिये समग्र समाज में उत्साह भर रहा था।

●

पर्वप्रवचनावली

यहाँ श्री चौधरनबाई के मन्दिर में पुष्कल स्थान है, इसलिये प्रातःकाल के प्रवचन की व्यवस्था इसी मन्दिर में रहती थी। प्रातः ८।। बजे से श्री मुनि आनन्दसागरजी का प्रवचन उसके बाद पं० द्वारा तत्त्वार्थसूत्रका मूल पाठ और उसके बाद धर्मपर हमारा प्रवचन होता था। प्रवचनों की कापी पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने की थी। जन-कल्याण की दृष्टि से उन प्रवचनों को यहाँ दे देना उपयुक्त समझता हूँ।

आज पर्व का प्रथम दिन है, ३५० दिन बाद यह पर्व आया है। क्षमा सबसे उत्तम धर्म है। जिसके क्षमा धर्म प्रकट हो गया उसके मार्दव, आर्जव और शौच धर्म भी अवश्यमेव प्रकट हो जावेंगे। क्रोध के अभाव से आत्मा में शान्ति गुण प्रकट होता है। वैसे तो आत्मा में शान्ति सदा विद्यमान रहती है, क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है- गुण है। गुण गुणी से दूर कैसे हो सकता है? परन्तु निमित्त मिलने पर वह कुछ समय के लिए तिरोहित हो जाता है। स्फटिक स्वभावतः स्वच्छ होता है, पर उपाधि के संसर्ग से अन्य रूप हो जाता है। हो जाओ, पर क्या वह उसका स्वभाव कहलाने लगेगा? नहीं, अग्नि का संसर्ग पाकर जल उष्ण हो जाता है। पर वह उसका स्वभाव तो नहीं कहलाता। स्वभाव तो शीतलता ही है। जहां अग्नि सम्बन्ध दूर हुआ कि फिर शीतल का शीतल। क्या बतलावें? पदार्थ का स्वरूप इतना स्पष्ट और सरल है, परन्तु अनादिकालीन मोह के कारण वह दुरूह हो रहा है।

क्रोध के निमित्त से आदमी पागल हो जाता है और इतना पागल कि अपने स्वरूप तक को भूल जाता है। वस्तु की यथार्थता उसकी दृष्टि से लुप्त हो जाती है। एक ने एक को घूँसा मार दिया। वह उसका घूँसा काटने को तैयार हो गया, पर इससे क्या? घूँसा मारने का जो निमित्त था उसे दूर करना था। वह मनुष्य कुक्कुरवृत्ति पर उतारू हुआ है। कोई कुत्ते को लाठी मारता है, तो वह लाठी को दाँतों से चबाने लगता है, पर सिंह बन्दूक की ओर न झपट कर बन्दूक मारने वाले की ओर झपटता है। विवेकी मनुष्य की दृष्टि सिंह की तरह होती है। वह मूल कारण को दूर करने का प्रयत्न करता है। आज हम क्रोध का फल प्रत्यक्ष देख रहे हैं। लाखों निरपराध प्राणी मारे गये और मारे जा रहे हैं। क्रोध चारित्र-मोह

की प्रकृति है। उससे आत्मा के संयम-गुण का घात होता है। क्रोध के अभाव में प्रकट होनेवाला क्षमा-गुण संयम है, चारित्र है। राग-द्वेष के अभाव को ही तो चारित्र कहते हैं।

ज्ञानसूर्योदय नाटक की प्रारम्भिक भूमिका में सूत्रधार नटी से कहता है कि आज की यह सभा अत्यन्त शान्त है, इसलिये कोई अपूर्व कार्य इसे दिखलाना चाहिये। वास्तव में शान्ति के समय कौन-सा अपूर्व कार्य नहीं होता? मोक्षमार्ग में प्रवेश होना ही अपूर्व कार्य है। शान्ति के समय उसकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। आप लोग प्रयत्न कीजिये कि मोक्षमार्ग में प्रवेश हो और संसार के अनादि बन्धन खुल जायँ। आज के दिन जिसने क्षमा धारण नहीं की, वह अन्तिम दिन क्षमावणी क्या करेगा? मैं तो आज क्षमा चाहता हूँ, इस वाचनिक क्षमा की आवश्यकता नहीं है। हार्दिक क्षमा से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। क्षमा के अभाव में अच्छे से अच्छे आदमी बरबाद हो जाते हैं।

मैं नदिया (नवद्वीप) में दुलार झा के पास न्याय पढ़ता था। वे न्यायशास्त्र के बड़े भारी विद्वान् थे। उन्होंने अपने जीवन में २५ वर्ष न्याय ही न्याय पढ़ा था। वे व्याकरण प्राय: नहीं जानते थे। एक दिन उन्होंने किसी प्रकरण में अपने गुरुजी से कहा कि जैसा 'वक्ति' होता है, वैसा 'ब्रोति' क्यो नहीं होता? उनके गुरुजी उनकी मूर्खता पर बहुत क्रुद्ध हुए, और बोले, कि तू बैल है, भाग जा यहाँ से। दुलार झा को बहुत बुरा लगा। उनका एक साथी जो व्याकरण अच्छा जानता था, और न्याय पढ़ता था। दुलार झा ने कहा कि यहाँ क्या पढ़ते हो? चलो, हम तुम्हे घर पर न्याय बढ़िया पढ़ा देंगे। साथी इनके गाँव को चला गया। वहाँ उन्होनें उससे एक साल में तमाम व्याकरण पढ़ डाला और एक साल बाद अपने गुरु के पास आकर क्रोध से कहा कि तुम्हारे बाप को धूल दी, पूँछ ले व्याकरण कहाँ पूछना है? गुरु ने हँसकर कहा— आओ बेटा मैं यही तो चाहता था कि तुम इसी तरह निर्भीक बनों। मैं तुम्हारी निर्भीकता से बहुत सन्तुष्ट हुआ, पर मेरी एक बात याद रक्खो—

अपराधिनि चेत्क्रोधः क्रोधे क्रोधः कथं न हि।
धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां परिपन्थिनि ।।

दुलार झा अपने गुरु की क्षमा को देखकर नतमस्तक रह गये। क्षमा से क्या नहीं होता? अच्छे-अच्छे मनुष्यों का मान नष्ट हो जाता है। दरभंगा में दो

भाई थे। दोनों इतिहास के विद्वान् थे। एक बोला कि आला पहले हुआ है, और दूसरा बोला कि ऊदल पहले हुआ है। इसीपर दोनों में लड़ाई हो गई। आखिर मुकदमा चला और जागीरदार से किसान की हालत में आ गये। क्षमा सर्व गुणों की भूमि है। इसमें सब गुण सरलता से विकसित हो जाते हैं। क्षमा से भूमि की शुद्धि होती है। जिसने भूमि को शुद्ध कर लिया, उसने सब कुछ कर लिया। एक गाँव में दो आदमी थे— एक चित्रकार और दूसरा अचित्रकार। अचित्रकार चित्र बनाना तो नहीं जानता था, पर था प्रतिभाशाली। चित्रकार बोला कि मेरे समान कोई चित्र नहीं बना सकता। दूसरे को उसकी गर्वोक्ति सह्य नहीं हुई, अतः उसने झट से कह दिया कि मैं तुमसे अच्छा चित्र बना सकता हूँ। विवाद चल पड़ा। अपना-अपना कौशल दिखाने के लिये दोनों तुल पड़े। तय हुआ कि दोनों चित्र बनावें, फिर अन्य परीक्षकों से परीक्षा कराई जावे। एक कमरे की आमने सामने की दीवालों पर दोनों चित्र बनाने को तैयार हुए। कोई किसी का देख न ले, इसलिए बीच में परदा डाल दिया गया। चित्रकार ने कहा कि मैं १५ दिन में चित्र तैयार कर लूँगा। इतने ही समय में तुझे भी करना पड़ेगा उसने कहा— मैं पौने पन्द्रह दिन में कर दूँगा, घबड़ाते क्यों हो? चित्रकार चित्र बनाने में लग गया और दूसरा दीवाल साफ करने में । उसने १५ दिन में दीवाल इतनी साफ कर दी कि कांच के समान स्वच्छ हो गई। १५ दिन बाद लोगों के सामने बीच का परदा हटाया गया। चित्रकार का पूरा चित्र उस स्वच्छ दीवाल में प्रतिबिम्बित हो गया, और इस तरह कि उसे स्वयं अपने मुँह से कहना पड़ा कि तेरा चित्र अच्छा है। क्या उसने चित्र बनाया था? नहीं, केवल जमीन ही स्वच्छ की थी, पर उसका चित्र बन गया, और प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा अच्छा रहा। आप लोग क्षमा धारण करें, चाहे उपवास, एकाशन आदि न करें। क्षमा ही धर्म है और धर्म ही चारित्र है। कुन्दकुन्द स्वामी का वचन है—

चारित्तं खलु धम्मो-धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।

यह जीव अनादिकाल से परपदार्थ को अपना समझ कर व्यर्थ ही सुखी दुःखी होता है। जिसे यह सुख समझता है, वह सुख नहीं है। वह ऊंचाई नहीं, जहाँ से फिर पतन हो। वह सुख नहीं, जहाँ फिर दुःख की प्राप्ति हो। यह वैषयिक सुख पराधीन है। बाधा सहित है, उतने पर भी नष्ट हो जानेवाला है, और आगामी

दुःख का कारण है। कौन समझदार इसे सुख कहेगा? इस शरीर से आप स्नेह करते हैं, पर इस शरीर में क्या है? आप ही बताओ। माता-पिता के रज-वीर्य से इसकी उत्पत्ति हुई। यह हड्डी, मांस, रुधिर आदि का स्थान है। उसी की फुलवारी है। यह मनुष्य पर्याय सांटे के समान है। सांटे की जड़ तो सड़ी होने से फेंक दी जाती है, बॉड़ भी बेकाम होता है, और मध्य में कीड़ा लग जाने से बेस्वाद हो जाता है। इसी प्रकार इस मनुष्य की वृद्ध अवस्था शरीर शिथिल हो जाने से बेकार है। बाल अवस्था अज्ञानी की अवस्था है, और मध्यदशा अनेक रोग संकटों से भरी हुई है। उसमें कितने भोग भोगे जा सकेंगे? पर यह जीव अपनी हीरा-सी पर्याय व्यर्थ ही खो देता है। जिस प्रकार बात की व्याधि से मनुष्य के अङ्ग-अङ्ग दुःखने लगते हैं। काषाय से विषयेच्छा से इसकी आत्मा का प्रत्येक प्रदेश दुःखी हो रहा है। यह दूसरे पदार्थ को जब तक अपना समझता है, तभी तक उसे अपनाये रहता है। उसकी रक्षा आदि में व्यग्र रहता है, पर ज्यों ही उसे पर में परकीय बुद्धि हो जाती है, उसका त्याग करने में उसे देर नहीं लगती। एक बार धोबी के यहाँ दो मनुष्यों ने कपड़े धुलाने को दिये। दोनों के कपड़े एक समान थे, धोबी भूल गया, वह बदल कर दूसरे का कपड़ा दूसरे को दे आया। एक खास परीक्षा किये बिना दुपट्टा को अपना समझ ओढ़ कर सो गया, पर दूसरे ने परीक्षा की तो उसे अपना दुपट्टा बदला हुआ मालुम हुआ। उसने धोबी से कहा। धोबी ने गलती स्वीकार कर उसका कारण बतलाया और झट से उस सोते हुए मनुष्य के दुपट्टे का अंचल खींचकर कहा जरा जागिये, आपका कपड़ा बदल गया है। आपका यह है वह मुझे दीजिये। धोबी के कहने पर ज्यों ही उसने लक्षण मिलाये, त्यों ही उसे उसकी बात ठीक जँची। अब उसे उस दुपट्टे से, जिसे वह अपना समझ मुंह पर डाले हुए था, घृणा होने लगी, और तत्काल उसने धोबी को वापिस कर दिया। आपके शुद्ध चैतन्य भाव को छोड़कर सभी तो आप में परपदार्थ है, परन्तु आप नींद में मस्त हो, उन्हें अपना समझ रहे हैं। स्वपरस्वरूपोपादानापोहन के द्वारा अपने को अपना समझो और पर को पर। फिर कल्याण तुम्हारा निश्चित है।

आप लोग कल्याण के अर्थ सही प्रयाण तो करना नहीं चाहते और कल्याण की इच्छा करते हैं, सो कैसे हो सकता है? जैनधर्म यह तो मानता नहीं है कि किसी के वरदान से किसी का कल्याण हो जाता है। यहाँ तो कल्याण के इच्छुकजन को प्रयत्न स्वयं करना होगा। कल्याण कल्याण के ही मार्ग से होगा। मुझे एक

कहानी याद आती है। वह यह कि एक बार महादेव जी ने अपने भक्त पर प्रसन्न होकर कहा— बोल, तूँ क्या चाहता है? उसके लड़का नहीं था, अतः उसने लड़का ही माँगा। महादेव जी ने 'तथास्तु' कह दिया। घर आनेपर उसने स्त्री से कहा— आज सब काम बन गया, साक्षात् महादेवजी ने वरदान दिया कि तेरे लड़का हो जायगा। भगवान् के वचन तो झूठ होते नहीं। अब कोई पाप क्यों किया जाय? हम दोनों ब्रह्मचर्य से रहें। स्त्री ने पति की बात मान ली। पर ब्रह्मचारी के सन्तान कहाँ? वर्षों पर वर्षें व्यतीत हो गईं, परन्तु सन्तान नहीं। स्त्री ने कहा— भगवान् ने तुम्हें धोखा दिया। पुरुष बेचारा लाचार था। वह फिर महादेव जी के पास पहुँचा और बोला— भगवन् ! दुनिया झूठ बोले सो तो ठीक है, पर आप भी झूठ बोलने लगे। आपको वरदान दिये १२ वर्ष हो गये, पर आज तक लड़का नहीं हुआ, ठगने के लिये मैं ही मिला। महादेवजी ने कहा— तुमने लड़का पाने के लिए क्या किया? पुरुष ने कहा— हम लोग तो आपके वरदान का भरोसा कर ब्रह्मचर्य से रहे। महादेव जी ने हँसकर कहा— भाई, मैंने वरदान दिया था, सो सच दिया था, पर लड़का लड़के के रास्ते होगा। ब्रह्मचारी के संतान कैसे होगी? तू ही बता, मैं आकाश से तो गिरा नहीं देता। ऐसा ही हाल हम लोगों का है, कल्याण कल्याण के मार्ग से ही होगा।

यह मोह दुःखदायी है- शास्त्रों में लिखा है, आचार्यों ने कहा है, हम भी कहते हैं, पर वह झूठा तो है ही नहीं। प्रयत्न जो हमारे अधूरे होते हैं। पूज्यपाद स्वामी समाधितन्त्र में कहते हैं कि—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
यज्जानाति न तद् दृश्यं केन साकं ब्रवीम्यहम्।।

जो दिखता है वह जानता नहीं है, और जो जानता है वह दिखता नहीं, फिर मैं किसके साथ बातचीत करूँ ? अर्थात् किसी के साथ बोलना नहीं चाहिये, यह आत्मा का कर्तव्य है। वे ऐसा लिखते हैं, पर स्वयं बोलते हैं, स्वयं दूसरों को ऐसा करने का उपदेश देते हैं। तत्त्वार्थसूत्र का प्रवचन आपने सुना। उसकी भूमिका में उसके बनने के दो तीन कारण बतलाये हैं, पर राजवार्त्तिक में अकलंकदेव ने जो लिखा है, वह बहुत ही ग्राह्य है। वे लिखते हैं कि इस सूत्र की रचना में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध अपेक्षित नहीं है किन्तु अनन्त संसार में निमज्ज जीवों का अभ्युद्धार करने की इच्छा से प्रेरित हो आचार्य ने स्वयं वैसा प्रयास

किया है। कहने का तत्पर्य है कि मोह चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा, किसी को नहीं छोड़ता। भगवान् ऋषभदेव तो युग के महान् पुरुष थे, पर उन्होंने भी मोह के उदय में अपनी आयु ८३ लाख पूर्व बिता दिये। आखिर, इन्द्र का इस ओर ध्यान गया कि १८ कोड़ा-कोड़ी सागर के बाद इस महापुरुष का जन्म हुआ और यह सामान्य जीवों की तरह संसार में फँस रहा है, स्त्रियों और पुत्रों के स्नेह में डूब रहा है, संसार के प्राणियों का कल्याण कैसे होगा? उसने यह सोचकर नीलाञ्जना के नृत्य का आयोजन किया और उस निमित्त से भगवान् का मोह दूर हुआ। जब मोह दूर हुआ तब ही उनका और उनके द्वारा अनन्त संसारी प्राणियों का कल्याण हुआ। रामचन्द्रजी सीता के स्नेह में कितने भटके, लड़ाई लड़ी, अनेकों का संहार किया, पर जब स्नेह दूर हो गया तब सीता के जीव प्रतीन्द्र ने कितना प्रयत्न किया उन्हें तप से विचलित क़रने का। पर क्या वह विचलित हुए? मोह ही संसार का कारण है, मेरा यही अटल श्रद्धान है।

हम मोह के कारण ही अपने आपको दुनियाँ का कर्ता-धर्ता मानते हैं। पर यथार्थ में पूँछो तो कौन कहाँ का? कहाँ की स्त्री? कहाँ का पुत्र? कौन किसको अपनी इच्छानुसार परिणमा सकता है। 'कहीं की ईट कहीं का रोरा भानमती ने कुरमा जोड़ा' ठीक हम लोग भी भानमती के समान ही कुरमा जोड़ रहे हैं। नहीं तो कहाँ का मनुष्य, कहाँ का क्या? इसलिए जो संसार के बन्धन से छूटना चाहते हैं, उन्हें मोह कों दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। आप लोग बिना कुछ किये कल्याण चाहते हो, पर वह इस तरह होने का नहीं। आपका हाल ऐसा है कि 'अम्मा मैं तैरना सीखूँगा, पर पानी का स्पर्श नहीं करूँगा।'

●

: २ :

मार्दव का अर्थ कोमलता है। कोमलता में अनेक गुण वृद्धि पाते हैं। यदि कठोर जमीन में बीज डाला जाय, तो व्यर्थ चला जायगा। पानी की वारिस में जो जमीन कोमल हो जाती है, उसी में बीज जमता है। बच्चों को प्रारम्भ में पढ़ाया जाता है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ।।

विद्या निनय को देती है, विनय से पात्रता आती है, पात्रता से धन मिलता है, धन से धर्म और धर्म से सुख प्राप्त होता है। जिसने अपने हृदय में विनय धारण नहीं किया, वह धर्म का अधिकारी कैसे हो सकता है? विनयी छात्र पर गुरु का इतना आकर्षण रहता है कि वह उसे एक साथ सब कुछ बतलाने को तैयार रहता है।

एक स्थान पर एक पण्डितजी रहते थे। पहले गुरुओं के घर पर ही छात्र रहा करते थे तथा गुरु उनपर पुत्रवत् स्नेह रखते थे। पण्डितजी का एक छात्र पर विशेष स्नेह था, पण्डितानी उनको बार-बार कहा करती कि सभी लड़के तो आपकी विनय करते हैं, आपको मानते हैं, फिर आप इसी एक की क्यों प्रशंसा करते हैं। पण्डितजी ने कहा कि इस जैसा कोई मुझे नहीं चाहता। यदि तुम इसकी परीक्षा ही करना चाहती हो, तो मेरे पास बैठ जाओ। आम का सीजन था, गुरु ने अपने हाथ पर एक पट्टी के भीतर आम बाँध लिया और दुःखी जैसी सूरत बनाकर कराहने लगे। समस्त छात्र गुरुजी के पास दौड़े आये। गुरु ने कहा दुर्भाग्यवश भारी फोड़ा हो गया है। छात्रों ने कहा मैं अभी वैद्य लाता हूँ, ठीक हो जावेगा। गुरु ने कहा बेटो! यह वैद्य से अच्छा नहीं होता—एक बार पहले भी मुझे हुआ था। तब मेरे पिता ने इसे चूसकर अच्छा किया था, यह चूसने से ही अच्छा हो सकता है। मवाद से भरा फोड़ा कौन चूसे? सब ठिठक कर रह गये। इतने में वह छात्र आ गया, जिसकी गुरु बहुत प्रशंसा किया करते थे। आकर बोला— गुरुजी क्या कष्ट है? बेटा फोड़ा है, चूसने से ही अच्छा होगा..... गुरु ने कहा। गुरुजी के कहने की देर थी कि उस छात्र ने उसे अपने मुँह में

ले लिया। फोड़ा तो था ही नहीं, आम था। पण्डितानी को अपने पति के वचनों पर विश्वास हुआ। आज का छात्र तो गुरु को नौकर समझ उसका बहुत ही अनादर करता है। यही कारण है कि उसके हृदय में विद्या का वास्तविक प्रवेश नहीं हो रहा है। क्या कहें आज की बात? आज तो विनय रह ही नहीं गया। सभी अपने आपको बड़े से बड़ा अनुभव करते हैं। मेरा मान नहीं चला जाय, इसकी फिकर में सब पड़े हैं, पर इस तरह किसका मान रहा है? आप किसी को हाथ जोड़कर या शिर झुकाकर उसका उपकार नहीं करते, बल्कि अपने हृदय से मानरूपी शत्रु को हराकर अपने आपका उपकार करते हैं। किसी ने किसी की बात मान ली, उसे हाथ जोड़ लिये, शिर झुका दिया, उतने से ही वह खुश हो जाता है और कहता है कि इसने हमारा मान रख लिया। अरे मान रख क्या लिया? अपितु खो दिया। आपके हृदय में जो अहंकार था उसने उसे अपनी शारीरिक क्रिया से दूर कर दिया?

दिल्ली में पञ्चकल्याणक हुआ था। पञ्चकल्याणक के बाद लाडू बाँटने की प्रथा वहाँ थी। लाला हरसुखरायजी ने नौकर के हाथ सब के घर लाडू भेजा, लोगों ने सानन्द लाडू ले लिया, पर एक गरीब आदमी ने जो चना गुड़ आदि की दूकान किये था, यह विचार कर लाडू लेना अस्वीकृत कर दिया कि मैं कभी लाला जी को पानी नहीं पिला सकता, तब उनके लाडू का व्यवहार कैसे पूर्ण कर सकूँगा? शाम के समय जब लालाजी को पता चला तो दूसरे दिन वे स्वयं लाडू लेकर नौकर के साथ गाड़ी पर सवार हो उसकी दूकान पर पहुंचे और बड़ी विनय से दूकान पर बैठकर उसकी डाली में से कुछ चने और गुड़ उठाकर खाने लगे। खाने के बाद बोले— लाओ पानी पिलाओ। पानी पिया, तदनन्तर बोले कि भाई अब तो मैं तुम्हारा पानी पी चुका, अब तो तुम्हें हमारा लाडू लेना अस्वीकृत नहीं करना चाहिये। दूकानदार अपने व्यवहार और लालाजी की सौजन्यपूर्ण प्रवृत्ति से दङ्ग रह गया। लाडू लिया और आँखों से आँसू गिराने लगा कि इनकी महत्ता तो देखो कि मुझ जैसे तुच्छ व्यक्ति को भी ये नहीं भुला सके। आज का बड़ा आदमी क्या कभी किसी गरीब का इस प्रकार ध्यान रख सकता है?

ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर की सुन्दरता इन आठ बातों को लेकर मनुष्य गर्व करता है, पर जिनका वह गर्व करता है, क्या वे इसकी हैं? सदा इसके पास रहने वाली हैं? क्षायोपशमिक ज्ञान आज है, कल

इन्द्रियों में विकार आ जाने से नष्ट हो जाता है। जहाँ चक्रवर्ती की भी पूजा स्थिर नहीं रह सकी, वहाँ अन्य लोगों की पूजा स्थिर रह सकेगी, यह सम्भव नहीं है। कुल और जाति का अहङ्कार क्या है? सब की खान निगोदराशि है। आज कोई कितना ही बड़ा क्यों न बना हो, पर निश्चित है कि वह किसी न किसी समय निगोद से ही निकला है। उसका मूल निवास निगोद में ही था। बल का अहंकार क्या? आज शरीर तगड़ा है पर जोर का मलेरिया आ जाय तथा चार छह लँघनें हो जावें, तो सूरत बदल जाय, उठते न बने। धन-सम्पदा का अभिमान थोता अभिमान है, मनुष्य की सम्पत्ति जाते देर नहीं लगती। इसी प्रकार तप और शरीर के सौन्दर्य का अभिमान करना व्यर्थ है।

कल के दिन प्रथमाध्याय में आपने सम्यग्दर्शन का वर्णन सुना था। जिस प्रकार अन्य लोगों के यहाँ ईश्वर या खुदा का माहात्म्य है, वैसा ही जैनधर्म में सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है। सम्यग्दर्शन का अर्थ आत्मलब्धि है। आत्मीक स्वरूप का ठीक-ठीक बोध हो जाना आत्मलब्धि कहलाती है। आत्मलब्धिके सामने सब सुख धूल हैं। सम्यग्दर्शन से आत्मा का महान् गुण जागृत होता है, विवेकशक्ति जागृत होती है। आजकल लोग हर एक बात में 'क्यों? क्यों? करने लगते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि उनमें श्रद्धा नहीं है। श्रद्धा के न होने से ही हर एक बात में कुतर्क उठा करते हैं। एक आदमी को 'क्यों' का रोग हो गया। उससे बेचारा बड़ा परेशान हुआ। पूछने पर किसी भले आदमी ने सलाह दी कि तू इसे किसी को बेच डाल, भले ही सौ पचास लग जायँ। बीमार आदमी इस विचार में पड़ा कि यह रोग किसे बेचा जाय? किसी ने सलाह दी कि स्कूल के लड़के बड़े चालाक होते हैं, ५०) देकर किसी लड़के को बेच दे। उसने ऐसा ही किया। एक ने ५०) लेकर उसका वह रोग ले लिया। सब लड़को ने मिलकर ५० की मिठाई खाई। जब लड़का मास्टर के सामने गया, और मास्टर ने पूछा कि कल का सबक सुनाओ, तब लड़का बोला-क्यों? मास्टर ने कान पकड़ कर लड़के को बाहर निकाल दिया। लड़का समझा कि 'क्यों' का रोग तो बड़ा खराब है, वह उसको वापिस कर आया। अब की बार उसने सोचा कि चलो अस्पताल के किसी मरीज को बेच दिया जाय तो अच्छा है। ये लोग तो पलंग पर पड़े-पड़े आनन्द करते ही हैं। ऐसा ही किया, एक मरीज को बेच आया। दूसरे दिन डाक्टर आये। पूछा-तुम्हारा क्या हाल है? मरीज़ ने कहा-क्यों? डाक्टर ने उसे अस्पताल से बाहर कर दिया। उसने भी समझा कि दर असल यह रोग तो बड़ा खराब है।

वह भी वापिस कर आया। अब की बार उसने सोचा कि अदालती आदमी बड़े टँच होते हैं, उन्हीं को बेचा जाय। निदान, एक आदमी को बेच दिया। वह मजिस्ट्रेट के सामने गया। मजिस्ट्रेट ने कहा कि तुम्हारी नालिश का ठीक-ठीक मतलब क्या है? आदमी ने कहा क्यों? मजिस्ट्रेट ने मुकदमा खारिज कर कहा कि घर की राह लो।.... यह तो कहानी है, पर विचार कर देखा जाय, तो हर एक बात में कुतर्क से काम नहीं चलता। युक्ति के बल से सभी बातों का निर्णय नहीं किया जा सकता। कितनी ही बातें ऐसी हैं, जिनका युक्ति से निर्णय होता है। यदि आपको धर्म में श्रद्धा न होती तो हजारों की संख्या में क्यों आते?

आचार्यों ने सबसे पहले यही कहा कि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:' अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्ष का मार्ग है। आचार्य की करुणाबुद्धि तो देखो। अरे, मोक्ष तो तब हो जब पहले बन्ध हो। यहाँ पहले बन्ध का मार्ग बतलाना था, फिर मोक्ष का, परन्तु उन्होंने मोक्षमार्ग का पहले वर्णन किया है। उसका कारण यही है कि ये प्राणी अनादिकाल से बन्ध जनित दु:ख का अनुभव करते-करते घबड़ा गये हैं, अत: पहले इन्हें मोक्ष का मार्ग बतलाना चाहिए। जैसे जो कारागार में पड़कर दु:खी होता है, वह यह नहीं जानना चाहता है कि मैं कारागार में क्यों पड़ा? वह तो यह जानना चाहता है कि मैं इस कारागार से छूटूँ कैसे? यही सोच कर आचार्य ने पहले मोक्ष का मार्ग बतलाया है। सम्यग्दर्शन के रहने से विवेकशक्ति सदा जागृत रहती है। वह विपत्ति में पड़ने पर भी कभी अन्याय को न्याय नहीं समझता। रामचन्द्रजी सीता को छुड़ाने के लिये लङ्का गये थे। लङ्का के चारों ओर उनका कटक पड़ा था। हनुमान आदि ने रामचन्द्रजी को खबर दी कि रावण जिनमन्दिर में बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है। यदि उसे यह विद्या सिद्ध हो गई, तो फिर वह अजेय हो जायगा। आज्ञा दीजिये कि जिससे हम लोग उसकी विद्यासिद्धि में विध्न करें। रामचन्द्रजी ने कहा कि हम क्षत्रिय हैं, कोई धर्म करे और हम उसमें विध्न डालें। यह हमारा कर्त्तव्य नहीं है। सीता फिर दुर्लभ हो जायगी.... यह हनुमान ने कहा। रामचन्द्रजी ने जोरदार शब्दों में उत्तर दिया- हो जाय, एक सीता नहीं दशों सीताएँ दुर्लभ हो जाँय, पर मैं अन्याय करने की आज्ञा नहीं दे सकता। रामचन्द्रजी को इतना विवेक था, उसका कारण क्या था? कारण था उनका सम्यग्दर्शन—विशुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन।

सीता को तीर्थयात्रा के बहाने कृतान्तवक्र सेनापति जंगल में छोड़ने गया। क्या उसका हृदय वैसा करना चाहता था? नहीं, वह तो स्वामी की परतन्त्रता से गया था। उस वक्त कृत्तान्तवक्र को अपनी पराधीनता काफी खली। जब वह निर्दोष सीता को जंगल में छोड़ अपने अपराध की क्षमा माँग वापिस आने लगा, तब सीता उससे कहती है— सेनापति! मेरा एक सन्देश उनसे कह देना। वह यह कि जिस प्रकार लोकापवाद के भय से आपने मुझे त्यागा है, इस प्रकार लोकापवाद के भय से जैनधर्म को नहीं छोड़ देना। उस निराश्रित अपमानित स्त्री को इतना विवेक बना रहा। इसका कारण क्या था? उसका सम्यग्दर्शन। आजकल की स्त्री होती तो पचास गालियाँ सुनातीं और अपने समानता के अधिकार बताती। इतना ही नहीं, सीता जब नारदजी के आयोजन द्वारा लवणांकुश के साथ अयोध्या आती है। एक वीरतापूर्ण युद्ध के बाद पिता-पुत्र का मिलाप होता है, सीता लज्जा से भरी हुई राजदरबार में पहुँचती है। उसे देखकर रामचन्द्र जी कह उठते हैं कि दुष्टे? तू बिना शपथ दिये- बिना परीक्षा दिये यहाँ कहाँ? तुझे लज्जा नहीं आई? सीता ने विवेक और धैर्य के साथ उत्तर दिया कि मैं समझी थी कि आपका हृदय कोमल है पर क्या कहूँ? आप मेरी जिस प्रकार चाहें, शपथ ले लें। रामचन्द्रजी ने उत्तेजना में आकर कह दिया कि अच्छा अग्नि में कूद कर अपनी सच्चाई की परीक्षा दो। बड़े भारी जलते हुए अग्निकुण्ड में कूदने के लिये सीता तैयार हुई। रामचन्द्रजी लक्ष्मण से कहते हैं कि सीता जल न जाय। लक्ष्मण ने कुछ रोषपूर्ण शब्दों में उत्तर दिया कि यह आज्ञा देते समय न सोचा? यह सती है, निर्दोष है। आज आप इसके अखण्ड शील की महिमा देखिये। इसी समय दो देव केवली की वन्दना से लौट रहे थे। उनका ध्यान सीता का उपसर्ग दूर करने की ओर गया, सीता अग्निकुण्ड में कूद पड़ी और कूदते ही साथ जो अतिशय हुआ, सो सब जानते हो। सीता के चित्त में रामचन्द्रजी के कठोर शब्द सुनकर संसार से वैराग्य हो चुका था, पर 'नि:शल्यो व्रती' व्रती को नि:शल्य होना चाहिये। यदि बिना परीक्षा दिये मैं व्रत लेती हूँ, तो यह शल्य निरन्तर बनी रहेगी। इसलिये उसने दीक्षा लेने से पहले परीक्षा देना आवश्यक समझा था। परीक्षा में वह पास हो गई, रामचन्द्रजी उससे कहते हैं- देवि! घर चलो। अब तक हमारा स्नेह हृदय में था, पर अब आँखों में आ गया है। सीता ने नीरस स्वर में कहा—

कहि सीता सुन रामचन्द्र संसार महादुःख वृक्षकंद।
तुम जानत पर कुछ करत नांहि..................।।

रामचन्द्रजी! यह घर दुःखरूपी वृक्ष की जड़ है। अब मैं इसमें न रहूँगी। सच्चा सुख इसके त्याग में ही है। रामचन्द्रजी ने बहुत कुछ कहा-यदि मैं अपराधी हूँ तो लक्ष्मण की ओर देखो, यदि यह भी अपराधी है, तो अपने बच्चों लवणांकुश की ओर देखो और एक बार पुनः घर में प्रवेश करो। परन्तु सीता अपनी दृढता से च्युत नहीं हुई। उसने उसी वक्त केश उखाड़ कर रामचन्द्रजी के सामने फेंक दिये और जङ्गल में जाकर आर्या हो गई। यह सब काम सम्यग्दर्शन का है। यदि उसे अपने कर्मपर, भाग्यपर विश्वास न होता, तो वह क्या यह सब कार्य कर सकती?

अब रामचन्द्रजी का विवेक देखिये। जो रामचन्द्र सीता के पीछे पागल हो रहे थे, वृक्षों से पूछते थे- क्या तूमने मेरी सीता देखी है? वही जब तपश्चर्या में लीन थे, तब सीता के जीव प्रतीन्द्र ने कितने उपसर्ग किये, पर वह अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। शुक्ल ध्यान धारण कर केवली अवस्था को प्राप्त हुए।

सम्यग्दर्शन से आत्मा में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट होते हैं जो सम्यग्दर्शन के अविनाभावी हैं। यदि आप में ये गुण प्रकट हुए हैं, तो समझ लो हम समयग्दृष्टि हैं। कोई क्या बतलायगा कि तुम सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि? अप्रत्याख्यानावरणी कषाय का संस्कार छह माह से ज्यादा नहीं चलता। यदि आपकी किसी से लड़ाई होने पर छह माह से अधिक काल तक बदला लेने की भावना रहती है तो समझ लो कि अभी हम मिथ्यादृष्टि हैं। कषाय के असंख्यात लोकप्रमाण स्थान हैं। उनमें मन का स्वरूप से ही शिथिल हो जाना प्रशम गुण है। मिथ्यादृष्टि अवस्था में इस जीव की विषय-कषाय में जैसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति होती है, वैसी सम्यग्दर्शन होने पर नहीं होती। यह दूसरी बात है कि चारित्रमोह के उदय से यह उसे छोड़ नहीं सकता हो, पर प्रवृत्ति में शैथिल्य अवश्य आ जाता है। प्रशम का अर्थ यह भी है, जो पूर्व की अपेक्षा अधिक ग्राह्य है। वह यह कि सद्यःकृतापराध जीवों पर भी रोष उत्पन्न नहीं होना प्रशम कहलाता है। बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करते समय रामचन्द्रजी ने रावण पर जो रोष नहीं किया था, वह इसका उत्तम उदाहरण है। प्रशम गुण तब तक नहीं हो सकता जब तक अनन्तानुबन्धी क्रोध विद्यमान रहता है। उसके छूटते ही प्रशम गुण प्रकट हो जाता है। क्रोध ही क्यों अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी मान, माया, लोभ सभी कषाय प्रशमगुण के घातक हैं। संसार से भय उत्पन्न होना संवेग है। विवेकी मनुष्य जब चतुर्गतिरूप संसार के दुःखों का चिन्तन करता है, तब उसकी आत्मा

भयभीत हो जाती है, तथा दु:ख के कारणों से निवृत्त हो जाती है। दु:खी मनुष्य को देखकर हृदय में कम्पन उत्पन्न हो जाना अनुकम्पा है। मिथ्यादृष्टि की अनुकम्पा और सम्यग्दृष्टि की अनुकम्पा में अन्तर होता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य जब किसी आत्मा को क्रोधादि कषायों से अभिभूत तथा भोगासक्त देखता है, तब उसके मन में करुणाभाव उत्पन्न होता है कि देखो, बेचारा कषाय के भार से कितना दब रहा है? इसका कल्याण किस प्रकार हो सकेगा? आप्त, व्रत, श्रुत तत्त्व पर तथा लोक आदि पर श्रद्धापूर्ण भाव का होना आस्तिक्य भाव है। ये गुण सम्यग्दर्शन के अविनाभावी हैं। यद्यपि मिथ्यात्व की मन्दता में भी ये हो जाते हैं तथापि वे यथार्थ गुण नहीं, किन्तु गुणाभास कहलाते हैं।

: ३ :

आज आर्जव धर्म है। आर्जव का अर्थ सरलता है और सरलता के मायने मन-वचन-काय की एकता है। मन में जो विचार आया हो, उसे वचन से कहा जाय और जो वचन से कहा जाय, उसी के अनुसार काय से प्रवृत्ति की जाय। जब इन तीनों योगों की प्रवृत्ति में विषमता आ जाती है, तब माया कहलाने लगती है। यह माया शल्य की तरह हृदय में सदा चुभती रहती है। इसके रहते हुए मनुष्य के हृदय में स्थिरता नहीं रहती और स्थिरताके अभाव में उसका कोई भी कार्य यथार्थरूप में सिद्ध नहीं हो पाता।

मान और लोभ के बीच में माया का पाठ आया है, सो उसका कारण यह है कि माया मान और लोभ-दोनों के साथ सम्पर्क रखती है। दोनों से उसकी उत्पत्ति होती है। मान के निमित्त से मनुष्य को यह इच्छा उत्पन्न होती है कि मेरे बड़प्पन में कोई प्रकार की कमी न आ जाय, परन्तु शक्ति की न्यूनता से बड़प्पन का कार्य करने में असमर्थ रहता है, इसलिए मायाचाररूपी प्रवृत्ति कर अपनी हार्दिक कमजोरी को छिपाये रखता है। मनुष्य जिस रूप में वस्तुत: है उसी रूप में उसे अपने आपको प्रगट करना चाहिये। इसके विपरीत जब वह अपनी दुर्बलता को छिपाकर बड़ा बनने का प्रयत्न करता है, तब माया की परिणति उसके सामने आती है। यही दम्भ है, माया है। जिनागम तो यह कहता है कि जितनी शक्ति हो उतना कार्य करो और अपने असली रूप में प्रकट होओ। लोभ के वशीभूत होकर जीव नानाप्रकार के कष्ट भोगता है तथा इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए निरन्तर अध्यवसाय करता है। वह तरह-तरह की छलक्षुद्रताओं को करता है।

मोह की महिमा विचित्र है। आपने पद्मपुराण में त्रिलोकमण्डन हाथी के पूर्व भव श्रवण किये होंगे। एक मुनि ने एक स्थान पर मासोपवास किये। व्रत पूर्ण होने पर वे तो कहीं अन्यत्र बिहार कर गये, पर उनके स्थान पर अन्यत्र से विहार करते हुए दूसरे मुनि आ गये। नगर के लोग उन्हें ही मासोपवासी मुनि समझ उनकी प्रभावना करने लगे, पर उन आगन्तुक मुनि को यह भाव नहीं हुआ कि कह दें—मैं मासोपवासी नहीं हूँ। महान् न होनेपर भी महान् बनने की आकांक्षा ने उनकी आत्मा को मायाचार से भर दिया और उसका परिणाम क्या हुआ सो आप जानते हैं। मनुष्य अपने पाप को छिपाने का प्रयत्न करता है, पर वह रूई में लपेटी आग के समान स्वयमेव प्रकट हो जाता है। किसी का जल्दी प्रकट हो जाता हैं, और किसी का विलम्ब से, पर यह निश्चित है कि प्रकट अवश्य होता है। पाप के प्रकट होने पर मनुष्य का सारा बड़प्पन समाप्त हो जाता है और छिपाने के कारण संक्लेशरूप परिणामों से जो खोटे कर्मों का आस्रव करता रहा उसका फल व्यर्थ ही भोगना पड़ता है। बाँस की जड़, मेढ़े के सींग, गोमूत्र तथा खुरपी के समान माया चार प्रकार की होती है। यह चारों प्रकार की माया दुःखदायी है। मायाचारी मनुष्य का कोई विश्वास नहीं रखता और विश्वास के न होने से उसे जीवन भर कष्ट उठाने पड़ते हैं। जब कि सरल मनुष्य इसके विरुद्ध अनेक सम्पत्तियों का स्वामी होता है। आपने पूजा में पढ़ा होगा—

कपट न कीजे कोय चोरन के पुर ना बसै ।
सरल स्वभावी होय ताके घर बहु सम्पदा ।।

अर्थात् किसी को कपट नहीं करना चाहिये, क्योंकि चोरों के कभी गाँव बसे नहीं देखे गये। जीवन भर चोर चोरी करते हैं, पर अन्त में उन्हें कफन के लिए परमुखापेक्षी होना पड़ता है। इसके विपरीत सरल मनुष्य अधिक सम्पत्तिशाली होता है। माया से मनुष्य की सब सुजनता नष्ट हो जाती है। मायावी मनुष्य ऐसी मुद्रा बनाता है कि देखने में बड़ा भद्र मालूम होता है, पर उसका अन्तःकरण अत्यन्त कलुषित रहता है। वनवास के समय जब रामचन्द्रजी पम्पा सरोवर के किनारे पहुंचे, तब एक बगुला बड़ी शान्त मुद्रा में बैठा था। उसे देख रामचन्द्र जी लक्ष्मण से कहते हैं कि लक्ष्मण! देखो कैसा शान्त तपस्वी बैठा है? उसी समय एक मच्छ की आवाज आती है कि महाराज! इसकी शान्त वृत्ति का हाल तो मुझसे पूछिये। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य येनकेन प्रकारेण अपना

ऐहिक प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं, पर पारलौकिक प्रयोजन की ओर उनकी दृष्टि नहीं है। साँप लहराता हुआ चलता है, पर वह जब अपने बिल में घुसने लगता है, तब उसे सीधा ही चलना पड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य जब स्वरूप में लीन होना चाहता है, तब उसे सरल व्यवहार ही करना पड़ता है। सरल व्यवहार के बिना स्वस्वभाव में स्थिरता कहाँ हो सकती है?

जहाँ पर स्व-स्वभाव रूप परिणमन है, वहाँ पर कपटमय व्यवहार नहीं और जहाँ कपट व्यवहार है, वहाँ स्व-स्वभावपरिणमन में विकार है। इसी से इसको विभाव कहते हैं। विभाव ही संसार का कारण है। प्राय: संसार में प्रत्येक मनुष्य की यह अभिलाषा रहती है कि मैं लोगों के द्वारा प्रशंसा पाऊँ—लोग मुझे अच्छा समझें, यही भाव जीवके दु:ख के कारण हैं। ये भाव जिनके नहीं होते, वे ही सुजन हैं। उनके जो भाव होते हैं, वे ही सुस्वभाव कहलाते हैं। जिन जीवों के अपने कषाय पोषण के परिणाम नहीं, वही सुजन हैं। उनकी जो परिणति है, वही सुजनता है। यहाँ तक उनकी निर्मल परिणति हो जाती है कि वे परोपकारादि करके भी अपनी प्रशंसा नहीं चाहते—किसी कार्य के कर्ता नहीं बनते। मेरा तो विश्वास है कि ऐसे महान् पुरुष पुण्य को बन्ध का कारण समझते हैं। यदि उसे बन्ध का कारण न समझते, तो उसके कर्तृत्व को क्यों न अपनाते? वे कर्मोदय में विषयादि कार्य भी बलात् करते हैं, परन्तु उसमें विरक्त रहते हैं। जो पुण्य कार्य करने में भी उपेक्षा करते हैं, वे पाप कार्य करने में अपेक्षा करें, यह बुद्धि में नहीं आता। सुजन मनुष्य की चेष्टा अगम्य है। उनका जो भी कार्य है, वह कर्तृत्व से शून्य है। इसी से वे लौकिक सुखों और दु:ख के होने पर हर्ष और विषाद भाव के पात्र नहीं होते। वे उन कार्यों को कर्मकृत जान उनसे उपेक्षित रहते हैं। वे जो दानादि करते हैं, उनमें भी उनके प्रशंसादि के भाव नहीं होते। यही कारण है कि वे अल्प काल में संसार के दु:खों से बच जाते हैं।

सुजनता की गन्ध भी मनुष्य के लग जावे, तो वह अधर्म कार्यों से बच जावे। वर्तमान युग में मनुष्य प्राय: विषयलम्पटी हो गये हैं। इससे सम्पूर्ण संसार दु:खमय हो रहा है। पहले मनुष्य विद्यार्जन इसलिये करते थे कि हम संसार के कष्टों से बचें तथा पर को भी बचावें। हमारे संचय में जो वस्तु हो, उससे पर को भी लाभ पहुँचे। पहले के लोग ज्ञानदान द्वारा अज्ञानी को सुज्ञानी बनाने का प्रयत्न करते थे, परन्तु अब तो विद्याध्ययन का लक्ष्य परिग्रहपिशाच के अर्जन

का रह गया है। यह बात पहले ही लक्ष्य में रखते हैं कि इस विद्याध्ययन के बाद हमको कितना मासिक मिलेगा? पारलौकिक लाभ का लक्ष्य नहीं। पाश्चात्य विद्या का लक्ष्य ही यह है कि विज्ञान के द्वारा ऐसे-ऐसे आविष्कार करना, जो किसी तरह द्रव्य का अर्जन हो, प्राणियों का संहार हो, सहस्त्रों जीवों का जीवन खतरे में पड़ जावे। ऐसे आविष्कार किये जावें कि एक अणुबम के द्वारा लाखों मनुष्यों का स्वाहा हो जावे। अथवा ऐसे-ऐसे सिनेमा दिखाये जावें, यद्यपि कोई-कोई सिनेमा भलाई के हैं, तो भी वे विषमिश्रित भोजन के समान हैं। अस्तु, यह सब इस निकृष्ट काल की महिमा है। इस युग में भी कई ऐसे सुजन हैं, जो इन उपद्रवों से सुरक्षित हैं और उन्हीं के प्रताप से आज कुछ शान्ति देखी जाती है। जिस दिन उन महात्माओं का अभाव हो जायगा, उस दिन सर्वत्र ही अराजकता का साम्राज्य हो जावेगा। आज-कल प्राचीन आर्यपद्धति के परम्परागत नियमों की अवहेलना की जाती है और नये-नये नियमों का निर्माण किया जा रहा है। प्राचीन नियम यदि दोषपूर्ण हों तो उन्हें त्याग दो। इसमें कोई भी आपत्ति नहीं, परन्तु अब तो प्राचीन महात्माओं की बात सुनने से मनुष्य उबल उठते है। मेरा तो विश्वास है कि परिग्रह के पिशाच से पीड़ित आत्मा कितने ही ज्ञानी क्यों न हों, उनके द्वारा जो भी कार्य किया जावेगा, उससे कदापि साधारण मनुष्यों को लाभ नहीं पहुँच सकता, क्योंकि वे स्वयं परिग्रह से पीड़ित हैं। प्राचीन समय में वीतराग साधुओं के द्वारा संसारमात्र की भलाई के नियम बनाये जाते थे, अतः जिन्हें संसार के कल्याण करने की अभिलाषा है वे पहले स्वयं सुजन बनें। सुजन मायने भले मानुष। भले मानुष का अर्थ हैं, जिनका आचार निर्मल हो। निर्मल आचार के द्वारा वे आत्मकल्याण भी कर सकते हैं और उनके आचार को देखकर संसारी मनुष्य स्वयं कल्याण कर सकता है। यदि पिता सदाचारी है, तो उसकी संतान स्वयं सदाचारी बन जाती है। यदि पिता बीड़ी पीता है, तो बेटा सिगरेट पीवेगा और पिता भंग पीता है, तो बेटा मदिरा पान करेगा, इसलिए निर्मल आचार के धारक सुजन बनों तथा निश्छल प्रवृत्ति करो।

आपने तृतीयाध्याय में नरक लोक का वर्णन सुना, वहाँ के स्वाभाविक तथा परकृत दुःखों का जब ध्यान आता है, तब शरीर में रोमाञ्च उठ आते हैं। हृदय में विचार करो कि इन दुःखों का मूल कारण क्या है? इन दुःखों का मूल कारण मिथ्यात्व की प्रबलता है। मिथ्यात्व की प्रबलता से यह जीव अपने स्वभाव से च्युत हो, पर पदार्थों को सुख का कारण मानने लगता है, इसीलिये परिग्रह में

तथा उसके उपार्जन में इसकी आसक्ति बढ जाती है और यह परिग्रह तथा आरम्भ सम्बन्धी आसक्ति ही इस जीव को नरक के दुःखों का पात्र बना देती है। नरकगति में यह जीव दश हजार वर्ष से लेकर तेंतीस सागर तक विद्यमान रहता है। वहाँ से असमय में निकलना भी नहीं होता, अर्थात् जो जीव जितनी आयु लेकर नरक में जहाँ पहुँचता है, उसे वहाँ उतनी आयु तक रहना ही पड़ता है। नरक दुःख का कारण है, परन्तु वहाँ भी यदि किन्हीं जीवों की काललब्धि आ जाती है, तो वे सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं। सम्यग्दृष्टि बनते ही उनकी अन्तरात्मा आत्मसुख का स्वाद लेने लगती है।

चिन्मूरति दृग्धारी की मोहि रीति लगत है अटापटी।
बाहर नारक कृत दुःख भोगे अन्तर सुख रस गटागटी।।

सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी नारकी बाह्य में यद्यपि पूर्व की भाँति ही दुःख भोगता है, तथापि अन्तरङ्ग में उसे मोहाभाव जन्य सुख का अनुभव होने लगता है। वह समझता है कि नारकियों के द्वारा दिया हुआ दुःख हमारे पुराकृत कर्मों का फल है, जिसे भोगना अनिवार्य है, परन्तु यह दुःख हमारा निज स्वभाव नहीं है। मेरा निज स्वभाव तो चैतन्यमूर्ति तथा अनन्त सुख का भण्डार है। मोह के कारण मेरा यह स्वभाव वर्तमान में अन्यथा परिणमन कर रहा है, पर जब मोह का विकार आत्मा से निकल जायगा, तब आत्मा निजस्वभाव में लीन हो जायगा।

मध्यम लोक के वर्णन से यह चिन्तवन करना चाहिये कि इस लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं बचा, जिसमें मैं अनन्त बार उपजा मरा न होऊँ। धर्म रूढ़ि नहीं है, प्रत्युत आत्मा की निर्मल परिणति है। उसे जीवन में उतारने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है।

: ४ :

आज शौचधर्म है। शौच का अर्थ पवित्रता है। यह पवित्रता लोभ कषाय के अभाव में प्रकट होती है। लोभ के कारण ही संसार के यावन्मात्र प्राणी दुःखी हो रहे हैं। आचार्य गुणभद्र ने आत्मानुशासन में लिखा है—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा विषयैषिता।।

अर्थात् यह आशारूपी गर्त प्रत्येक प्राणी के सामने खुदा है। ऐसा गर्त कि जिसमें समस्त संसार का वैभव परमाणु के समान है। फिर किसके भाग में कितना आवे, अत: विषयों की वाञ्छा करना व्यर्थ है। इस आशारूपी गर्त को जैसे-जैसे भरा जाता है, वैसे-वैसे ही यह गहरा होता जाता है। पृथिवी के अन्य गर्त तो भर देने से भर जाते हैं, पर यह आशागर्त भरने से और भी गहरा हो जाता है। किसी आदमी को हजार की आशा थी, हजार उसे मिल भी गये, पर अब आशा दश हजार की हो गई। अर्थात् आशारूपी गर्त पहले से दशगुना गहरा हो गया। भाग्यवश दश हजार भी मिल गये, पर अब एक लाख की आशा हो गई। अर्थात् आशागर्त पहले से सौ गुना गहरा हो गया। यह केवल कहने की बात नहीं है। इसे आप लोग रात-दिन अपने जीवन में उतार रहे हैं। तृष्णा के वशीभूत हुआ प्राणी क्या-क्या नहीं करता है? वह इष्ट से इष्ट व्यक्ति का प्राणान्त करने में भी पीछे नहीं हटता। आज का मानव निरन्तर 'और-और' चिल्लाता रहता है! उसके मुख से कभी 'बस' नहीं निकलता। बिना सन्तोष के बस कैसे निकले? एक समय था कि जब लड़का कार्य सम्भालने योग्य हो जाता था, तब वृद्ध पिता सम्पत्ति से मोह छोड़ दीक्षा ले लेता था, पर आज वृद्ध पिता और उनके भी पिता हों, तो वह भी सम्पत्ति से मोह नहीं छोड़ना चाहता, फिर लड़का तो लड़का ही है। वह सम्पत्ति से मोह नहीं छोड़ रहा है, इसमें आश्चर्य ही क्या है? कपड़ा बुननेवाला कुविन्द कपड़ा बुनते अन्तिम छीरा छोड़ देता है, पर हम उस अन्तिम छीरे तक बुनना चाहते हैं। इस तृष्णा का भी कभी अन्त होगा?

लोभ मीठा शत्रु है। यह दशम गुणस्थान तक मनुष्य का पिण्ड नहीं छोड़ता। अन्य कषाय यद्यपि उसके पहले ही नष्ट हो जाती हैं, पर लोभ कषाय सबसे अन्त तक चलती जाती है। लोभ के निमित्त से आत्मा में अपवित्रता आती है। लोभ से ही समस्त पापों में इस प्राणी की प्रवृत्ति होती है। आचार्यों ने लोभ को ही पाप का बाप बतलाया है। एकबार एक आदमी काशी पढ़ने गया। उस समय छोटी अवस्था में विवाह हो जाता था, इसलिये उसका भी विवाह हो गया था। वह स्त्री को घर छोड़ गया। ५-६ वर्ष काशी में पढ़ने के बाद जब घर लौटा, तब गाँव के लोगों ने उसका बड़ा सत्कार किया। जब वह अपनी स्त्री के पास पहुँचा, तब स्त्री ने कहा कि आप मुझे अकेली छोड़ काशी गये थे। अब आप मेरे एक प्रश्न का उत्तर यदि दे सकें, तो मैं अपने घर के भीतर पैर रखने दूँगी, अन्यथा नहीं। उसने कहा कि अपना प्रश्न कहो। स्त्री ने कहा कि बताओ 'पाप

का बाप क्या है?' अद्भुत प्रश्न सुनकर, वह बहुत घबड़ाया। रामायण, महाभारत, भागवत आदि सब ग्रन्थ देख डाले, पर कहीं पाप का बाप नहीं मिला। उसे चुप देख स्त्री ने कहा कि अब पुन: काशी जाइये और यह पढ़कर आइये। काशी बहुत दूर थी, इसलिये उसने सोचा कि यदि कोई यहीं पाप का बाप बता दे, तो काशी न जाना पड़े। अन्त में वह पागल की भाँति नगर की सड़कों पर पाप का बाप क्या है? पाप का बाप क्या है? यह चिल्लाता हुआ भ्रमण करने लगा। एक दिन एक वेश्या ने अपने घर की छपरी से उसे ऊपर बुलाया और कहा कि यहाँ आओ, पाप का बाप मैं बताती हूँ। वह आदमी सीढ़ियों से जब ऊपर पहुँचा, तो वह वेश्या जान बड़ा दु:खी हुआ और झट से नीचे उतरने लगा। वेश्या ने कहा— महाराज ठहरिये तो सही; आप जिस सड़क पर चल रहे थे उस सड़क पर तो वेश्या आदि सभी अधम प्राणी चलते हैं, फिर हमारा यह मकान उस सड़क से तो अच्छा है। आप इतनी घृणा क्यों करते हैं? आपने हमारा घर अपनी चरणरज से पवित्र किया, इसलिए एक मुहर आपको देती हूँ..... यह कहकर वेश्या ने एक मुहर उसे दे दी। मुहर देख उसने सोचा कि यह ठीक तो कह रही है। आखिर यह मकान सड़क से तो अच्छा है। कुछ देर ठहरने के बाद वह जाने लगा, तब वेश्या ने कहा— महाराज! दो मुहरें देती हूँ। यह सामने पंसारी की दूकान है, इससे सीधा बुलाकर भोजन बना लीजिये, फिर जाइये। दो मुहरों का लाभ देख, उसने सोचा कि मैं भी तो इसी पंसारी की दूकान से खाद्य सामग्री लेता हूँ, इसलिए वेश्या का इसके साथ क्या सम्बन्ध है? २ मुहरें लेकर उसने भोजन बनाना शुरू किया। जब भोजन बन चुका, तब वेश्या ने कहा— महाराज! मैंने जीवन भर पाप किये हैं। यदि आज आपके लिये अपने हाथ से भोजन परोस सकूँ, तो मैं पाप से निर्मुक्त हो जाऊँ। इस कार्य के लिये मैं पाँच मुहरें आपके चरणों में चढ़ाती हूँ। मुहरों का नाम सुनते ही उसके मुँह में पानी आ गया। उसने सोचा कि भोजन तो मेरे हाथ का बनाया है। यदि वेश्या छूकर इसे मेरी थाली में रख देती है, तो इससे कौन-सा अधर्म हुआ जाता है। यह विचार कर उसने वेश्या को परोसने की आज्ञा दे दी। वेश्या ने उत्तम थाली में भोजन परोस दिया। पश्चात् वेश्या बोली— महाराज! एक भावना बाकी और रह गई है। मैं चाहती हूँ कि मैं एक ग्रास थाली से उठाकर आपके मुख में दे दूँ, तो मेरे जन्म-जन्म के पाप कट जावें। इस कार्य के लिये मैं दस मुहरें चढ़ाती हूँ। दस मुहरों का लाभ देख, उसने वेश्या के हाथ से भोजन करना स्वीकृत कर लिया। वेश्या ने जो ग्रास मुख में देने के लिये

उठाया था, उसे मुखतक ले जाने के बाद छोड़ दिया और उसके गाल में जोर की थप्पड़ मारते हुए कहा कि समझे पाप का बाप क्या है? पाप का बाप लोभ है। कहाँ तो आप वेश्या के घर आने पर ग्लानि से नीचे उतरने लगे थे और कहाँ उसके हाथ का ग्रास खाने के लिये तैयार हो गये? यह सब महिमा लोभ की है। मुहरों के लोभ ने आपको धर्म-कर्म से भ्रष्ट कर दिया है।

शौच पवित्रता को कहते हैं और यह पवित्रता बाह्य आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार की है। अपने-अपने पद के अनुसार लौकिक शुद्धि का विचार रखना बाह्य शुद्धि है और अन्तरङ्ग में लोभादि कषायों का कम करना आभ्यन्तर शुद्धि है। 'गङ्गास्नानान्मुक्तिः' गङ्गास्नान से मुक्ति होती है, इसे जिन-शासन नहीं मानता। उससे शरीर का मल छूट जाने के कारण लौकिक शुद्धि हो, पर वास्तविक शुद्धि तो आत्मा में लोभादि कषायों के कृश करने से ही होती है। अर्जुन के प्रति उपदेश है—

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था
सत्योदका शीलतटा नयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ।।

संयम ही जिसका पवित्र घाट है, सत्य ही जिसमें पानी भरा है, शील ही जिसके तट हैं और दयारूप भवरें जिसमें उठ रही हैं, ऐसी आत्मारूपी नदी में हे अर्जुन! अभिषेक करो, क्योंकि पानीमात्र से अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होती? आत्मा को निर्मल बनाने का जिसने अभ्यास कर लिया उसने सब कुछ कर लिया। 'आतम के अहित विषय कषाय' आत्मा के सबसे बड़े शत्रु विषय और कषाय हैं। इनसे जिसने आपकी रक्षा कर ली, उसने जग जीत लिया अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लिया।

लोभ केवल रुपया पैसा का ही हो, सो बात नहीं। मान, प्रतिष्ठा आदि की आकांक्षा रखना भी लोभ का ही रूप है। जब राम का रावण के साथ लङ्का में युद्ध हो रहा था, तब राम रावण को मारते थे, तो वह बहुरूपिणी विद्या से दूसरा रूप बना कर सामने आ जाता था। इसी प्रकार हम लोभ को छोड़ने का प्रयत्न करते हैं। घर-गृहस्थी, बाल-बच्चे छोड़कर जंगल में जाते हैं, पर वहाँ शिष्य-संग्रह, धर्म-प्रचार आदि का लोभ सामने आ जाता है। पहले घर के कुछ लोगों के भरण-पोषण का ही लोभ था, अब अनेकों शिष्यों के भरण-पोषण तथा

शिक्षा-दीक्षा आदि का लोभ सामने आ गया। लोभ नष्ट कहाँ हुआ? वह तो वेष बदल कर आपके सामने आ गया है। यदि वास्तव में लोभ नष्ट हो जाता, तो इस परिकर की क्या आवश्यकता थी? इसका कल्याण करूँ, उसका कल्याण करूँ, यह विकल्पजाल निरन्तर आत्मा में क्यों उठते? अतः प्रयत्न ऐसा करो कि जिससे यह लोभ समूल नष्ट हो जाय। एक रोग छूटने के बाद, यदि दूसरा रोग दवाई से होता है, तो वह दवाई दवाई नहीं। दवाई तो वह है, जिससे वर्तमान रोग नष्ट हो जाय और उसके बदले कोई दूसरा रोग उत्पन्न न हो। विषय-कषाय का सेवन करते-करते अनन्त काल बीत गया, पर आत्मा में संतोष उत्पन्न नहीं हुआ। इससे जान पड़ता है कि यह सब संतोष के मार्ग नहीं है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा- ।
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।।

अर्थात् तृष्णारूपी ज्वालाएँ इस जीवको निरन्तर जला रही हैं। यह जीव इन्द्रियों के इष्ट विषय एकत्रित कर उनसे इन तृष्णारूपी ज्वालाओं को शान्त करने का प्रयत्न करता है। पर उनसे इसकी शान्ति नहीं होती, प्रत्युत वृद्धि ही होती है। जिस प्रकार घृत की आहुति से अग्नि-ज्वाला शान्त होने के बदले प्रज्वलित ही होती है, उसी प्रकार विषय-सामग्री से तृष्णारूप ज्वाला शान्त होने के बदले प्रज्वलित ही अधिक होती है।

चतुर्थ अध्याय में देवलोक का वर्णन आपने सुना। देवपर्याय के दीर्घ काल तक स्थिर रहनेवाले सुखों से भी इस जीव को तृप्ति नहीं हुई, फिर मनुष्यलोक के अल्पकालीन सुखों से इसे तृप्ति हो जायगी, यह संभव नहीं। सागरों पर्यन्त स्वर्ग के सुख यह जीव भोगता है, पर अन्त में जब माला मुरझा जाती है, तो दुःखी होता है कि हाय अब यह सामग्री अन्यत्र कहाँ मिलेगी? इसी आर्तध्यान से मर कर कितने ही देव एकेन्द्रिय तक हो जाते हैं। नरक से निकलकर एकेन्द्रिय पर्याय नहीं मिलती, पर देव से निकल कर यह जीव एकेन्द्रिय तक हो जाता है। परिणामों की विचित्रता है। देवों के वर्णन में आपने सुना है कि उनमें **'स्थिति-प्रभावसुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः'** और **'गति-शरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः'** अर्थात् स्थिति, प्रभाव, सुख, कान्ति, लेश्याकी विशुद्धता, इन्द्रिय और अवधिज्ञान के विषय की अपेक्षा अधिकता है, तथा गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा हीनता है। ऊपर-ऊपर के देवों

में सुख की मात्रा तो अधिक है, परन्तु परिग्रह की अल्पता है, इससे सिद्ध होता है कि परिग्रह सुख का कारण नहीं है, किन्तु परिग्रह की आकांक्षा न होना ही सुख का कारण है। यह प्राणी मोहोदय के कारण परिग्रह को सुख का कारण मान रहा है, इसलिये रात-दिन उसी के संचय में तन्मय हो रहा है। पास का परिग्रह नष्ट न हो जाय, यह लोभ है और नवीन परिग्रह प्राप्त हो जाय, यह तृष्णा है। इस प्रकार आज का मनुष्य इन लोभ और तृष्णा दोनों के चक्र में फँस कर दुःखी हो रहा है।

: ५ :

जो पदार्थ जैसा है उसका उसी रूप कथन करना सत्य है। भगवान् उमास्वामी ने असत्य पाप का लक्षण लिखा है— **'असदभिधानमनृतम्'** अर्थात् प्रमाद के योग से जो कुछ असत् का कथन कियाा जाता है, उसको अनृत या असत्य कहते हैं। इसके चार भेद हैं—जो वस्तु अपने द्रव्यादि चतुष्टय-कर है, उसका अपलाप करना, यह प्रथम असत्य है। जैसे देवदत्त के रहने पर भी कहना कि यहाँ पर देवदत्त नहीं है। जो वस्तु अपने चतुष्टय-कर नहीं है, वहाँ उसका सद्भाव स्थापना द्वितीय असत्य है। जैसे जहाँ पर घट नहीं, वहाँ पर कहना कि घट है। जो वस्तु अपने स्वरूप से है, उसे पररूप से कहना यह तृतीय असत्य है, जैसे गौ को अश्व कहना। तथा पैशुन्य, हास्य, कर्कश, असमंजस, प्रलाप तथा उत्सूत्ररूप जो वचन है, वह चतुर्थ असत्य है। इन चार भेदों में ही सब प्रकार के असत्य आ जाते हैं। इन चार भोदों के विपरीत जो वचन हैं, वे चार प्रकार के सत्य हैं। असत्य भाषण के प्रमुख कारण दो हैं एक अज्ञान और दूसरा कषाय। अज्ञान के कारण मनुष्य असत्य बोलता है और कषाय के वशीभूत होकर कुछ का कुछ बोलता है। यदि अज्ञानजन्य असत्य के साथ कषाय की पुट नहीं है, तो उससे आत्मा का अहित नहीं होता, क्योंकि वहाँ वक्ता अज्ञान से विवश है। ऐसा अज्ञानजन्य असत्यवचनयोग तो आगम में बारहवें गुणस्थान तक बतलाया है, परन्तु जहाँ कषाय की पुट रहती है, वह असत्य आत्मा के लिये अहितकर है। संसार में राजा वसु का नाम असत्यवादियों में प्रसिद्ध हो गया। उसका खास कारण यही था कि वह कषायजन्य था । पर्वत की माता के चक्र में पड़ कर उसने 'अजैर्यष्टव्यम्' वाक्य का मिथ्या अर्थ किया था, इसलिए उसका तत्काल पतन हो गया और वह दुर्गति का पात्र हुआ। कषायवान् मनुष्य अपने स्वार्थ के कारण पदार्थ का स्वरूप उस रीति से करने का प्रयत्न करते हैं, जिससे उनके स्वार्थ में बाधा न

पड़ जाय। महाभारत में एक गृद्ध और गोमायु का संवाद आया है कि किसी का पुत्र मर गया, उस मृतक पुत्र को लेकर उसके परिवार के लोग श्मशान में गये। जब श्मशान में गये तब सूर्यास्त होने में कुछ विलम्ब था। उसी श्मशान में एक गृध्र तथा एक गोमायु श्रृगाल विद्यमान थे। गृध्र रात में नहीं खाताा, इसलिए वह चाहता था कि ये लोग मृत बालक को छोड़कर जल्दी ही यहाँ से चले जावें, तो मैं इसे खा लूँ और गोमायु यह चाहता था कि ये लोग यहाँ सूर्यास्त होने तक विद्यमान रहें, जिससे सूर्यास्त होने के बाद इसे गृध्र खा नहीं सकेगा तब केवल मेरा ही यह भोज्य हो जावेगा। अपने अभिप्रााय के अनुसार गृध्र कहता है—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसंकुले ।
कङ्कालबहले घोरे सर्वप्राणिभयंकरे ।।
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ।।

अर्थात् गृध्र तथा श्रृगालों से भरे और समस्त प्राणियों को भय उत्पन्न करने वाले श्मशान में ठहरना व्यर्थ है। मृत्यु को प्राप्त हुआ कोई भी प्राणी यहाँ आकर जीवित नहीं हुआ। चाहे प्रिय हो, चाहे अप्रिय हो, प्राणियों की रीति ही ऐसी है।

गृध्र के वचनों का प्रभाव सुन बालक के बन्धुजनों पर न पड़ जाय, इस भावना से गोमायु कहता है—

आदित्योऽयं स्थितो मूढ़ाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविध्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ।।
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ।।

अर्थात् अरे मूर्खो! अभी यह सूर्य विद्यमान है। तुम लोग बालक से स्नेह करो। यह मुहूर्त अपने विध्नों से भरा है कदाचित् तुम्हारा बालक जीवित हो जाय। जो स्वर्ण के समान कान्तिमान है तथा जिसका यौवन नहीं आ पाया, ऐसे बालक को गृध्र के कहने से आप लोग निःशङ्क हो, क्यों छोड़ रहे हो?

प्रकरण लम्बा है, पर उसका अभिप्राय देखिये कि मनुष्य अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कैसा छिन्न-भिन्न करते हैं। इस छिन्न-भिन्न करने का कारण मनुष्य के हृदय में विद्यमान प्रमाद योग या

कषायपरिणति ही है। उस पर विजय हो जाय, तो फिर मुख से एक भी असत्य शब्द न निकले। मनुष्य की शोभा या प्रामाणिकता उसके वचनों से है। वचनों की प्रामाणिकता नष्ट हुई कि सब कुछ नष्ट हो गया। असत्यवादी के वचन रथ्यापुरुष के वचन के समान अप्रामाणिक होते हैं। उनपर कोई ध्यान नहीं देता, पर सत्यवादी मनुष्य के वचन सुनने के लिए लोग घण्टों पहले से उत्सुक रहते हैं। वचनों में बल सत्यभाषण से ही आता है, असत्य भाषण से नहीं। एक सत्यभाषण ही मनुष्य की अन्य पापों से रक्षा कर देता है।

एक राजपुत्र को चोरी की आदत पड़ गई। जब राजा को उसका व्यवहार सह्य नहीं हुआ, तब उसने घर से निकाल दिया। अब वह खुले रूप में चोरी करने लगा। एक दिन उसने किन्हीं मुनिराज के उपदेश से प्रभावित होकर असत्य बोलने का त्याग कर दिया। अब वह एक राजा के यहाँ चोरी करने के लिए गया। पहरे पर खड़े लोगों ने पूछा कि कहाँ जाते हो? उसने कहा चोरी करने के लिए जाता हूँ। राजपुत्र था, इसलिए शरीर का सुन्दर था। पहरे पर खड़े लोगों ने सोचा कि यह कोई महापुरुष राजा का स्नेही व्यक्ति है। कहीं चोर यह कहते नहीं देखे गये कि मैं चोरी के लिए जाता हूँ। यह तो हम लोगों से हँसी कर रहा है। ऐसा विचार कर उन्होंने उसे रोका नहीं। चोरी करने के बाद वह वहीं एक स्थान पर सो गया। प्रातःकाल जब लोगों की दृष्टि पड़ी, तब उससे पूछा गया, तो उसने यही कहा कि मैं चोर हूँ, चोरी करने के लिए आया हूँ। फिर भी लोगों को विश्वास नहीं हुआ। राजपुत्र सोचता है कि देखो सत्य वचन में कितना गुण है कि चोर होने पर भी किसी को विश्वास ही नहीं होता कि मैं चोर हूँ। जब एक पाप के छोड़ने में इतना गुण है, तब समस्त पापों के छोड़ने में कितना गुण न होगा? यह विचार कर उसने मुनिराज के पास जाकर समस्त पापों का परित्याग कर दीक्षा धारण कर ली। अस्तु,

मैं आजतक नहीं समझा कि असत्य भी कुछ है, क्योंकि जिसे आप असत्य कहते हैं, वह वस्तु भी तो आत्मीय स्वरूप से सत् है। तब मेरी बुद्धि में तो यह आता है कि जो पदार्थ आत्मा को दुःखकर हो, उसको त्यागना ही सत्य है। जैसे शरीर को आत्मा मानना असत्य है। शरीर असत्य नहीं है, किन्तु जिस रूप से वह है, उससे अन्यरूप मानना असत्य है। शरीर पुद्गल द्रव्य का विकार है। उसे आत्मद्रव्य मानना मिथ्या है। यह विपरीत मान्यता मिथ्यात्व के कारण उत्पन्न होती है, इसलिए सर्वप्रथम इसे ही त्यागना चाहिए।

पञ्चमाध्याय में षड्द्रव्यों का वर्णन आपने सुना है। उसमें प्रमुख जीवद्रव्य है। उसी का सब खेल है, वैभव है—

अहंप्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात् ।
'एको दरिद्र एकः श्रीमानिति च कर्मणः ।।

'मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, इत्यादि प्रत्यय से जीव के अस्तित्व का साक्षात्कार होता है तथा अन्वय से भी इसका प्रत्यय होता है। यह वही देवदत्त है, जिसे मैंने मथुरा में देखा था, अब यहाँ देख रहा हूँ। इस प्रत्यय से भी आत्मा के अस्तित्वका निर्णय होता है तथा कोई तो श्रीमान् देखा जाता है और कोई दरिद्र देखा जाता है, इस विभिन्नता में भी कोई कारण होना चाहिए। यह विभिन्नता विषमता निर्हेतुक नहीं। जो हेतु हैं, उसी को कर्म नाम से कहा जाता है। नाम में विवाद नहीं—चाहे कर्म कहो, अदृष्ट कहो, ईश्वर कहो, खुदा कहो, विधाता कहो, जो आपको रुचिकर हो, परन्तु यह अवश्य मानना कि यह विभिन्नता निर्मूल नहीं। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि जो यह दृश्यमान जगत् है, वह केवल एक जीव का परिणाम नहीं । केवल एक पदार्थ हो, तो उसमें नानात्व कहाँ से आया? नानात्व का नियामक द्रव्यान्तर होना चाहिए। केवल पुद्गल में शब्दबन्धादि पर्यायें नहीं होतीं। जब पुद्गल परमाणुओं की बन्धावस्था हो जाती है, तभी यह पर्यायें होती हैं। उस अवस्था में पुद्गल परमाणुओं की सत्ता द्रव्यरूप से अबाधित रहती है। एतावता शब्दादि पर्यायें केवल परमाणुओं को नहीं, किन्तु स्कन्ध पर्यायापन्न परमाणुओं की हैं। इसी तरह जो रागादि पर्याय हैं, वह उदयावस्थापन्न कर्मों के सद्भाव में ही जीव के होती हैं। यदि ऐसा न माना जावे, तो रागादि परिणाम जीव का पारिणामिक भाव हो जावेगा और ऐसा होने से संसार का अभाव हो जावेगा, जो कि किसी को इष्ट नहीं। रागादिक भावों का प्रत्यक्ष में सद्भाव देखा जाता है। इससे यही तत्त्व निर्गत होता है कि रागादि भाव औपाधिक हैं। जैसे स्फटिकमणि स्वच्छ है, किन्तु जब स्फटिकमणि के साथ जपापुष्पका सम्बन्ध होता है, तब उसमें लालिमा प्रतीत होती हैं। यद्यपि स्फटिकमणि स्वयं रक्त नहीं, किन्तु निमित्त.को पाकर रक्तिमामय प्रत्यय का विषय होता है। इससे यह समझ में आता है कि स्फटिकमणि निमित्त को पाकर लाल जान पड़ती है। यह लालिमा सर्वथा असत्य नहीं। ऐसा सिद्धान्त है कि जो द्रव्य जिस काल में जिस रूप परिणमती है, वह उस काल में तन्मय हो जाती है। श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने स्वयं प्रवचनसार में लिखा है——

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ।।

इस सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा जिस समय रागादि रूप परिणमेगा, उस समय नियम से उसी रूप होगा तथा पर्यायदृष्टि से उन्हीं रागादिक का उस काल में अस्तित्व रहेगा। जो भाव करेगा, उसी का वर्तमान में अनुभव होगा। जल शीत है, परन्तु अग्नि के सम्बन्ध से उष्ण पर्याय को प्राप्त करता है।

यद्यपि उसमें शक्ति अपेक्षा शीत होने की योग्यता है, तथापि वर्तमान में शीत नहीं। यदि कोई उसे शीत मानकर पान करे, तो दग्ध ही होगा। इसी प्रकार आत्मा यदि वर्तमान में रागरूप है, तो रागी ही है। इस अवस्था में वीतराग का अनुभव होना असम्भव है इस काल में आत्मा को रागादि रहित मानना मिथ्या है। यद्यपि रागादि परिणाम परनिमित्तक हैं, अतएव औपाधिक हैं- नशनशील हैं, तथापि वर्तमान में तो औष्ण्य परिणत अय:पिण्डवत् आत्मा तन्मय हो रहा है, अर्थात् उन परिणामों के साथ आत्मा का तादात्म्य हो रहा है। इसी का नाम अनित्य तादात्म्य है। यह अलीक कथन नहीं। एक मनुष्य ने मद्यपान किया और उसके नशा से वह उन्मत्त हो गया। हम पूछते हैं कि क्या वह वर्तमान में उन्मत्त नहीं है? अवश्य उन्मत्त है, किन्तु किसी से आप प्रश्न करें कि मनुष्य का क्या लक्षण है? इसके उत्तर में उत्तर देनेवाला क्या यह कह सकता है कि उन्मत्तता मनुष्य का लक्षण है? नहीं, यह उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि मनुष्य की सर्व-अवस्थाओं में उन्मत्तता की व्याप्ति नहीं। इसी तरह आत्मा में रागादिभाव होने पर भी आत्मा का लक्षण रागादि नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा की अनेक अवस्थाओं में रागादिभाव व्यापकरूप से नहीं रहता, अत: यह आत्मा का लक्षण नहीं हो सकता। लक्षण वह होता है, जो सर्व-अवस्थाओं में पाया जावे। ऐसा लक्षण चेतना ही है। यद्यपि रागादि परिणाम तथा केवलज्ञानादि भी आत्मा में ही होते हैं, तथापि उन्हें लक्षण नहीं माना जाता, क्योंकि वे जीव की पर्यायविशेष हैं, व्यापकरूप से नहीं रहतीं। अन्ततोगत्वा चेतना ही आत्मा का एक ऐसा गुण है, जो आत्मा की सर्वदशाओं में व्यापकरूप से रहता है। आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं— संसारी और मुक्त। इन दोनों में चेतना रहती हैं उसी से अमृतचन्द्र स्वामी ने लिखा है कि—

अनाद्यमनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिह स्फुटम् ।
जीव: स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ।।

जीव नामक जो पदार्थ है, वह स्वयं सिद्ध है, तथा परनिरपेक्ष अपने आप अतिशय कर चकचकायमान हो रहा है। कैसा है? अनादि है। कोई इसका उत्पादक नहीं, अतएव अनादि है, अतएव अकारण है। जो वस्तु अनादि अकारण है, वह अनन्त भी है, तथा अचल है, ऐसे अनादि अनन्त तथा अचल अजीव द्रव्य भी है, इससे इसका लक्षण स्वसंवेद्य भी है, यह स्पष्ट है। जीव नामक पदार्थ में अन्य अजीवों की अपेक्षा चेतनागुण ही भेद करनेवाला है। वही गुण इसमें ऐसा विशद है कि सर्वपदार्थों की तथा निज की व्यवस्था कर रहा है।

इस गुण को सब मानते हैं, परन्तु कोई उस गुण को जीव से सर्वथा भिन्न मानते हैं। कोई गुण से अतिरिक्त अन्य द्रव्य नहीं—गुण-गुणी सर्वथा एक हैं, ऐसा मानते हैं। कोई चेतना तो जीव में मानते हैं, परन्तु वह ज्ञेयाकार परिच्छेद से पराङ्मुख रहता है, ऐसा अङ्गीकार करते हैं। प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध से जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसमें चेतना के संसर्ग में जानपना आता है। कोई का कहना है कि पदार्थ नाना नहीं एक ही अद्वैत तत्त्व है। वह जब मायावच्छिन्न होता है, तब यह संसार होता है। किसी का कहना है कि जीव नामक स्वतन्त्र पदार्थ की सत्ता नहीं, किन्तु पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इनकी जिस समय विलक्षण अवस्था होती है, उसी समय यह जीवरूप अवस्था हो जाती है। ये जितने मत हैं, वे सर्वथा मिथ्या नहीं। जैनदर्शन में अनन्त गुणों का जो अविष्वग्भाव सम्बन्ध है वही तो द्रव्य है। वह आत्मीय स्वरूप की अपेक्षा भिन्न-भिन्न है, परन्तु कोई ऐसा उपाय नहीं कि उनमें से एक भी गुण पृथक हो सके। जैसे पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों से पृथक्-पृथक् ज्ञान में आते हैं, परन्तु उनमें से कोई पृथक् करना चाहे, तो नहीं कर सकता। वे सब अखण्डरूप से विद्यमान हैं। उन सर्वगुणों की जो अभिन्न प्रदेशता है, उसी का नाम द्रव्य है। अतएव प्रवचनसार में श्री कुन्दकुन्ददेव ने लिखा है—

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिप्पण्णो ।।

परिणाम के बिना अर्थ की सत्ता नहीं तथा अर्थ के बिना परिणाम नहीं। जैसे दुग्ध, दधि, घी, छांछ इनके बिना गोरस कुछ भी सत्ता नहीं रखता। इसी तरह गोरस न हो, तो इन दुग्धादि की भी सत्ता नहीं। एवं यदि आत्मा के ज्ञानादि गुण न हों, तो आत्मा के अस्तित्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती तथा आत्मा के

बिना ज्ञानादि गुणों का कोई अस्तित्व नहीं। बिना परिणामी के परिणमन का नियामक कोई नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि ये गुण सदा परिणमनशील हैं, किन्तु अनादि से आत्मा कर्मों से सम्बद्ध है, इससे इसके ज्ञानादि-गुणों का विकास निमित्त-कारणों के सहकार से होता है। होता उसी में है, परन्तु जैसे घटोत्पत्ति की योग्यता मृत्तिका में ही होती है, किन्तु कुम्भकार के बिना घट नहीं बनता। यद्यपि घट की उत्पत्ति के योग्य व्यापार कुम्भकार में ही होगा, फिर भी मृत्तिका अपने व्यापार से घटरूप होगी, कुम्भकार घटरूप न होगा। उपादान को मुख्य माननेवालों का कहना है कि जब मृत्तिका में घटपर्याय की उत्पत्ति होती है, तब वहाँ कुम्भकार की उपस्थिति स्वयमेव हो जाती है। यहाँ पर यह कहना है कि घटोत्पत्ति स्वयमेव मृत्तिका में होती है, इसका क्या अर्थ है? जिस काल में मृत्तिका में घट होता है, उस काल में क्या कुम्भकारादि निरपेक्ष घट होता है, या सापेक्ष? यदि निरपेक्ष घटोत्पत्ति होती है, तो एक भी उदाहरण ऐसा बताओं कि मृत्तिका में कुम्भकार के बिना घट हुआ हो, सो तो देखा नहीं जाता। यदि सापेक्ष पक्ष को अङ्गीकार करोगे, तो स्वयमेव आ गया कि कुम्भकार के व्यापार बिना घट की उत्पत्ति नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि कुम्भकार घटोत्पत्ति में सहकारी निमित्त है। जैसे आत्मा में रागादि परिणाम होते हैं। यद्यपि आत्मा ही उनका उपादानकर्ता है, परन्तु चारित्रमोह के उदय बिना रागादि नहीं होते। होते आत्मा में ही हैं, परन्तु बिना कर्मोदय के यह भाव नहीं होते। यदि निमित्त के बिना यह हों, तब तो आत्मा का त्रिकाल अबाधित स्वभाव हो जावे, सो ऐसा यह भाव नहीं। इसका विनाश हो जाता है, अतः यह मानना पड़ेगा कि यह आत्मा का निज भाव नहीं, इसका यह अर्थ नहीं कि यह भाव आत्मा में होता ही नहीं। होता तो है, परन्तु निमित्त कारण की अपेक्षा से होता है। यदि निमित्त कारण की अपेक्षा से नहीं है, ऐसा कहोगे, तो आत्मा में मतिज्ञानादि जो चार ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे भी तो नैमित्तिक हैं, उनको भी आत्मा के मत मानो। यह भी हमें इष्ट है, हम तो यहाँ तक मानने को प्रस्तुत हैं कि क्षायोपशमिक, औदयिक, औपशमिक जितने भी भाव हैं, वे आत्मा के अस्तित्व में सर्वदा नहीं होते। उनकी कथा छोड़ो, क्षायिक भाव भी तो क्षय से होते हैं, वे भी अबाधित रूप से त्रिकाल में नहीं रहते, अतः वे भी आत्मा के लक्षण नहीं। केवल चेतना ही आत्मा का लक्षण है, यही अबाधित त्रिकाल में रहता है। इसी भाव को पुष्ट करनेवाला श्लोक अष्टावक्र-गीता में अष्टावक्र ऋषि ने लिखा है—

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित् ।
अयमेव हि मे बन्धो या स्याज्जीविते स्पृहा ।।

अर्थात् मैं देह नहीं हूँ और न मेरा देह है, न मैं जीव हूँ, मैं तो चित् हूँ, चैतन्यगुणवाला हूँ। यदि ऐसा वस्तु का निज स्वरूप है, तो आत्मा को बन्ध क्यों होता है? इसका कारण हमारी इस जीव में स्पृहा है। यह जो इन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास तथा आयुप्राणवाले पुतले में हमारी स्पृहा है, यही तो बन्ध का मूल कारण है। हम जिस पर्याय में जाते हैं, उसी को निज मान बैठते हैं। उसके अस्तित्व से अपना अस्तित्व मान कर पर्यायबुद्धि हो, पर्याय के अनुरूप ही समस्त व्यवहार कर पर्यायान्तर को प्राप्त होते है। इससे यही तो निकला कि हम पर्यायबुद्धि से ही अपनी जीवनलीला पूर्ण करते हैं। अस्तु, विषय लम्बा हो गया है।

: ६ :

स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों तथा मनके विषयों और षट्कायिक जीवों की हिंसा से विरत होना संयम कहलाता है। इन्द्रिय-विषयों के आधीन हुआ प्राणी उत्तर काल में प्राप्त होनेवाले दुःखों को अपनी दृष्टि से ओझल कर देता है। यही कारण है कि वह तदात्व सुख में निमग्न हो, आत्महित से वञ्चित हो जाता है। इन्द्रिय-विषयों के आधीन हुआ वन का हाथी अपनी सारी स्वतन्त्रता नष्ट कर देता है। रसनेन्द्रिय के वश में पड़ा मीन धीवर की वंशी में अपना कण्ठ छिदा देता है। नासिका के आधीन रहने वाला भ्रमर सन्ध्या के समय यह सोचकर कमल में बन्द हो जाता है कि रात्रि व्यतीत होगी, प्रातःकाल होगा, कमल फूलेगा तब मैं निकल जाऊँगा। अभी रात भर तो मकरन्द का रसास्वादन करूँ, पर प्रातःकाल होने के पहले ही एक हाथी आकर उस कमलिनी को उखाड़ कर चला जाता है। भ्रमर के विचार उसके जीवन के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। कहा है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं विचारयत्यब्जगते द्विरेफे,
हा हन्त-हन्त नलिनीं गज उज्जहार ।।

नेत्रेन्द्रिय के वशीभूत हुए पतंग दीपकों पर अपने प्राण न्योछावर कर देते हैं और कर्णेन्द्रिय के आधीन हो हरिण बहेलियों के द्वारा मारे जाते हैं। ये तो

पञ्चेन्द्रियों में एक-एक इन्द्रिय के आधीन रहनेवाले जीवों की बात कहीं, पर जो पाँचों ही इन्द्रियों के वशीभूत हैं, उनकी तो कथा ही क्या है। पञ्चेन्द्रियों में स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ अधिक प्रबल है। वट्टकेर स्वामी ने मूलाचार में कहा है कि चतुरङ्गुल प्रमाण स्पर्शन और रसना इन्द्रिय ने संसार को पटरा कर दिया— नष्ट कर दिया। इन इन्द्रियों की विषयदाह को सहन करने के लिए जब प्राणी असमर्थ हो जाता है, तब वह इनमें प्रवृत्ति करता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार में यहाँ तक लिखा है कि संसार के साधारण मनुष्यों की तो कथा ही क्या है? हरि, हर, हलधर तथा देवेन्द्र आदिक भी इन्द्रियों की विषयदाह को न सहकर उनमें झम्पापात करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि बड़े-बड़े पुरुष इनमें झम्पापात करते हैं, अत: ये त्याज्य नहीं है। विष तो विष ही है, चाहे उसे छोटे पुरुष पान करें, चाहे बड़े पुरुष। हरि-हरादिक की विषयों में प्रवृत्ति हुई सही, परन्तु जब उनके चारित्रमोह का उदय दूर हुआ तब उन्होंने उस विषयमार्ग को हेय समझ कर त्याग दिया। भगवान् ऋषभदेव अपने राज्यपाट, भोगविलास में निमग्न थे, परन्तु नीलाञ्जना का विलय देख विषयों से विरक्त हो गये। जब तक चारित्रमोह का उदय उनकी आत्मा में विद्यमान रहा, तब तक उनका भाव विषयों से विरक्त नहीं हुआ। उन्होंने समस्त राज्य-वैभव छोड़ कर दिगम्बर दीक्षा धारण की। इससे यही तो अर्थ निकला कि यह विषय का मार्ग श्रेयस्कर नहीं। यदि श्रेयस्कर होता तो तीर्थकर आदि इसे क्यों छोड़ते। अत: अन्तरङ्ग से विषयेच्छा को दूर कर आत्महित का प्रयत्न करना चाहिये।

वज्रदन्त चक्रवर्ती सभा में विराजमान थे। माली ने एक सहस्रदल कमल उनकी सेवा में भेट किया। सूँघने के बाद, जब उन्होंने कमल के अन्दर मृत भ्रमर को देखा तो उनके हृदय के नेत्र खुल गये। वे विचार करने लगे कि देखो, नासा इन्द्रिय के वशीभूत हो इस भ्रमर ने अपने प्राण गँवाये हैं। यह विषयासक्ति ही जन्म-मरण का कारण है। ऐसा विचार कर उन्होंने दीक्षा लेने का विचार कर लिया। चक्रवर्ती थे, इसलिये राज्य का भार बड़े पुत्र को देने लगे। पुत्र के भी परिणाम देखो, उसने कहा, पिता जी यह राज्य-वैभव अच्छा है या बुरा? यदि अच्छा है तो आप ही इन्हें क्यों छोड़ रहे हैं? यदि बुरा है तो फिर मैं तो आपका प्रीतिपात्र हूँ- स्नेहभाजन हूँ। यह बुरी चीज मुझे ही क्यों दे रहे हैं। किसी शत्रु को दीजिये। चक्रवर्ती निरूत्तर हो गये। दूसरे पुत्र को राज्य देना चाहा, उसने भी लेने से इन्कार कर दिया। तब पुण्डरीक नाम का छोटा-सा बालक जो कि बड़े पुत्र का लड़का

था, उसका राज्याभिषेक कर वन को चले गये। उनके मन में यह भी विकल्प न उठा कि षट्खण्ड के राज्य को छोटा-सा बालक कैसे सँभालेगा? सँभाले या न सँभाले, इसका विकल्प ही उन्हें नहीं उठा। यही सच्चा वैराग्य कहलाता है। हम लोग तो **'आलसी बानिया अपशकुन को बाट जोहै'** वाली कहावत चरितार्थ कर रहे हैं। जरा-जरा से काम के लिये बहाना खोजा करते हैं, पर यह निश्चित समझो, ये बहाना एक भी काम न आवेंगे। मनुष्य-जीवन का भरोसा क्या है? अभी आराम से बैठे हो, पर हार्ट फेल हो जाय, तो पर्याय समाप्त होते देर न लगे, इसलिये समय रहते सावधान हो जाना विवेक का कार्य है। **'सुरग-नरक-पशुगति में नाहीं'** यह संयम देव, नरक तथा पशुगति में प्राप्त नहीं होता। यद्यपि पशुगति में संयमासंयमरूप थोड़ा सा संयम प्रकट हो जाता है, पर वह उत्कृष्ट संयम के समक्ष नगण्य ही है। यह संयम कर्मभूमि के मनुष्य के ही हो सकता है, अत: मनुष्य पर्याय पाकर इसे अवश्य धारण करना चाहिये। अपनी शक्ति को भूलकर लोग दीन-हीन हो रहे हैं। कहते हैं कि हमसे अमुक काम नहीं बनता, अमुक विषय नहीं छोड़ा जाता। यदि राजाज्ञा होने पर बलात्कार यह काम करना पड़े तो फिर शक्ति कहाँ से आवेगी। आत्मा में अचिन्त्य शक्ति है। यह प्राणी उसे भूल परपदार्थ का आलम्बन ग्रहण करता फिरता है, परन्तु यह निश्चित है कि जब तक यह पर का आलम्बन छोड़ अपनी स्वतन्त्र शक्ति की ओर दृष्टिपात न करेगा, तब तक इसका कल्याण न होगा।

आज का मनुष्य इच्छाओं का कितना दास हो गया है? न उसके रहन-सहन में विवेक रह गया है, न खान-पान में भक्ष्याभक्ष्य का विचार शेष रहा है। स्त्री-पुरुषों की वेष-भूषा ऐसी हो गई है कि जिससे कुलीन और अकुलीन का अन्तर ही नहीं मालूम होता है। पुरुष स्वयं विषयों का दास हो गया है, जिससे वह स्त्रियों को नाना प्रकार के उत्तेजक वस्त्राभूषणें से सुसज्जित देख प्रसन्नता का अनुभव करता है। यदि पुरुष के अन्दर थोड़ा विवेक रहे तो वह अपने घर के वातावरण को सँभाल सकता है। आज के प्राणी जिह्वा इन्द्रिय के इतने दास हो गये हैं कि उन्हें भक्ष्य-अभक्ष्य का कुछ भी विचार नहीं रह गया है। जिन चीजों में प्रत्यक्ष त्रसघात अथवा बहुस्थावरघात होता है, उन्हें खाते हुये वे सुख का अनुभव करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि हमारे अल्प स्वाद के पीछे अनन्त जीवों की जीवन-लीला समाप्त हो रही है। आज खाते समय लोग दिन-रात का विकल्प छोड़ बैठे हैं। उन्हें जब मिलता है, तभी खाने लगते हैं। आशाधरजी ने कहा

है कि उत्तम मनुष्य दिन में एक बार, मध्यम मनुष्य दो बार और अधम मनुष्य पशु के समान चाहे जब भोजन करते हैं। जैसे पशु के सामने जब भी घास का पूला डाला जाता है, वह तभी उसे खाने लगता है, वैसे ही आज का मनुष्य जब भी भोजन सामने आता है, तभी खाने लगता है।

छठवें अध्याय में आपने आस्रवतत्त्व का वर्णन सुना है। मेरी दृष्टि में यह अध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हम कर्मबन्ध से बचना तो चाहते हैं, पर कर्म किन कारणों से बँधते हैं, यह न जानें, तो कैसे बच सकते हैं? बुद्धिपूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक ऐसे बहुत से कार्य हम लोगों से होते रहते हैं, जिनसे कर्म का बन्ध जारी रहता है। जो वैद्य रोग के निदान को ठीक-ठीक समझ लेता है उसकी दवा तत्काल लाभ पहुँचा देती है, पर जो निदान को समझे बिना उपचार करता है उसकी दवा महीनों सेवन करने पर भी लाभ नहीं पहुँचाती ।

_'आव चोर चोरी कर ले गव मेरी मूँदत मुगध फिरे'_

सीधा-साधा पद है। किसी के घर चोर आया और चोरी कर ले गया, पर उस मूर्ख को यह पता नहीं चला कि चोर किस रास्ते से आया था, अत: वह मुहरी—पानी आने-जाने के मार्ग को चोर का मार्ग समझकर मूँदता फिरता है। दूसरी रात फिर चोर आते हैं। यही दशा संसारी प्राणी की है कि जिन भावों से कर्मों का आस्रव होता है—कर्मरूपी चोर आत्मा में घुसते हैं, उन भावों का इसे पता नहीं रहता, इसलिये अन्य प्रयत्न कर्मों का आस्रव रोकने के लिये करता है। पर कर्मों का आस्रव रुकता नहीं है। यही कारण है कि यह अनन्तबार मुनिलिङ्ग धारण कर नवम ग्रैवेयक तक उत्पन्न हुआ, परन्तु संसार-बन्धन से मुक्त नहीं हो सका। जान पड़ता है कि उसे कर्मों के आस्रव का बोध ही नहीं हुआ। आत्मा की विकृत परिणति से होनेवाले आस्रव को उसने केवल शरीराश्रित क्रियाकाण्ड से रोकना चाहा, सो कैसे रुक सकता था? आगम में लिखा है कि अज्ञानी जीव करोड़ों जन्म की तपस्या के द्वारा भी जिस कर्म को नहीं खिपा सकता, ज्ञानी जीव उसे क्षणमात्र में खिपा देता है। ताले की जो कुंजी है, उसी से तो वह खुलेगा। दूसरी कुंजी से दूसरा ताला घण्टों परिश्रम करने पर भी नहीं खुल सकता और कुंजी का ठीक-ठीक बोध हो जाने पर जरा-सी देर में खुल जाता है। यही बात यहाँ पर है। जो कर्म जिस भाव से आता है, उस भाव के विरुद्ध भाव जब आत्मा में उत्पन्न हो तब उस कर्म का आना रुक सकता है। आपने सुना है

'सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः' अर्थात् योग सकषाय जीवों के साम्परायिक तथा कषायरहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव का कारण है। जिस आस्रव का प्रयोजन संसार है उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं और जिसमें स्थिति तथा अनुभागबन्ध नहीं पड़ता उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। साम्परायिक आस्रव आत्मा का अत्यन्त अहित करनेवाला है। यह क़षायसहित जीव के ही होता है। जिस प्रकार शरीर में तेल लगाकर मिट्टी में खेलनेवाले पुरुष के मिट्टी का सम्बन्ध सातिशय होता है और तेलरहित मनुष्य के नाममात्र का होता है, उसी प्रकार कषायसहित जीव का आस्रव सातिशय होता है— स्थिति और अनुभाग से सहित होता है, परन्तु कषायरहित जीव के नाममात्र का होता है। अर्थात् समयमात्र स्थित रहकर निर्जीर्ण हो जानेवाले कर्मप्रदेशों का आस्रव उसके होता है। इस तरह आत्मा की सकषाय अवस्था ही आस्रव है बन्ध का कारण है, अत: उससे बचना चाहिये। जिस प्रकार फिटकरी आदि के संसर्ग से जो वस्त्र सकषाय हो गया है, उसपर रंग का सम्बन्ध अच्छा होता है, परन्तु जो वस्त्र फिटकरी आदि के संसर्ग से रहित होने के कारण अकषाय है, उसपर रङ्ग का सम्बन्ध स्थायी नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये।

नामकर्म की ९३ प्रकृतियों में तीर्थकरप्रकृति सातिशय पुण्यप्रकृति है इसलिये उसके आस्रव आचार्य ने अलग से बतलाये हैं। दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं के चिन्तन से उसका आस्रव होता है। इन सभी में दर्शनविशुद्धि प्रमुख हैं। यदि यह नहीं है और बाकी सब हैं तब भी तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव नहीं हो सकता और यह है तथा बाकी की नहीं हैं, तब भी उसका आस्रव हो सकता है। दर्शनविशुद्धि का अर्थ है अपायविचय धर्मध्यान में बैठकर करुणापूर्ण हृदय से यह विचार करना कि ये संसार के प्राणी मोह के वशीभूत हो, मार्ग से भ्रष्ट हो कितना दु:ख उठा रहे हैं। इनका दु:ख किस प्रकार दूर कर सकूँ। इस लोककल्याण की भावना के समय जो शुभ राग होता है, उसी से तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव होता है। सम्यग्दर्शन की विशुद्धता तो मोक्ष का कारण है। उसके द्वारा कर्मबन्ध किस प्रकार हो सकता है?

●

: ७ :

'तपसा निर्जरा च' आचार्य उमास्वामी ने लिखा है कि तप के द्वारा संवर तथा निर्जरा दोनों ही होते हैं। मोक्ष उपादेय तत्त्व है और संवर तथा निर्जरा उसके साधक तत्त्व हैं। इनके बिना मोक्ष होना सम्भव नहीं। तप चारित्र का ही विशेष रूप है। चरित्रमोह का अभाव होने पर मनुष्य की विरक्तिरूप अवस्था होती है और उस विरक्ति अवस्था में जो कार्य होता है वह तप कहलाता है। विरक्तिरूप अवस्था में इच्छाओं का निरोध सुतरां हो जाता है, इसलिए **'इच्छानिरोधस्तपः'** इच्छा को रोकना तप है, यह तप का लक्षण प्रसिद्ध हो गया है। राग के उदय में यह जीव बाह्य वैभव को पकड़े रहता है, पर जब अन्तरङ्ग से राग छूट जाता है, तब उस वैभव को छोड़ते इसे देर नहीं लगती। बड़े-बड़े पुरुष संसार से विरक्त न हो सकें, पर छोटे पुरुष विरक्त होकर आत्मकल्याण कर जाते हैं। प्रद्युम्न को वैराग्य आया— दीक्षा लेने का भाव उसका हुआ, अतः राज्यसभा में बलदेव तथा श्रीकृष्ण से आज्ञा लेने गया। वहाँ जाकर जब उसने अपना अभिप्राय प्रकट किया तब बलदेव तथा श्रीकृष्ण कहते है कि बेटा अभी तेरी अवस्था ही क्या है? तूने संसार का सार जाना ही क्या है? जो दीक्षा लेना चाहता है, अभी हम तुझसे बड़े-बड़े विद्यमान हैं। हम लोगों के रहते तू यह क्या विचार कर रहा है? सुनकर प्रद्युम्न ने उत्तर दिया कि आप लोग संसार के स्तम्भ हो, अतः राज्य करो। मेरी तो इच्छा दीक्षा धारण करने की है। इस संसार में सार है ही क्या, जिसे जाना जाय। इस प्रकार राज्यसभा से विदा लेकर अपने अन्तःपुर में पहुँचा और स्त्री से कहता है— प्रिये! मेरा दीक्षा लेने का भाव है। स्त्री पहले से ही विरक्त बैठी थी। वह कहती है जब दीक्षा लेने का भाव है, तब प्रिये सम्बोधन की क्या आवश्यकता है? क्या स्त्री से पूछ-पूछकर दीक्षा ली जाती है। आप दीक्षा ले या न लें मैं तो जाकर अभी लेती हूँ। यह कहकर वह प्रद्युम्न से पहले निकल गई। दोनों ने दीक्षा धारण कर आत्मकल्याण किया और श्रीकृष्ण तथा बलदेव संसार के चक्र में फँसे रहे। एक समय था कि जब लोग थोड़ा सा निमित्त पाकर संसार से विरक्त हो जाते थे। सिर में एक सफेद बाल देखा कि वैराग्य आ गया, पर आज एक-दो नहीं समस्त बाल सफेद हो जाते हैं, पर वैराग्य का नाम नहीं आता है। उसका कारण यही है कि मोह का संस्कार बड़ा प्रबल है, जिस प्रकार

चिकने घड़े पर पानी की बूँद नहीं ठहरती, उसी प्रकार मोही जीवों पर वैराग्यवर्धक उपदेशों का प्रभाव नहीं ठहरता। थोड़ा-बहुत वैराग्य जब कभी आता भी है तो श्मशान-वैराग्य के समान थोड़ी ही देर में साफ हो जाता है।

बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप दो प्रकार के हैं। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं। इन्हें बाह्य पुरुष भी कर सकते हैं तथा इनका प्रवृत्त्यंश बाह्य में दृष्टिगोचर होता है, इसलिये इन्हें बाह्य तप कहते हैं। और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं। इनका सीधा सम्बन्ध आभ्यन्तर—अन्तरात्मा से है तथा इन्हें बाह्य पुरुष नहीं कर सकते, इसलिये ये आभ्यन्तर तप कहलाते हैं। इन सभी तपों में इच्छा का न्यूनाधिक रूप से नियन्त्रण किया जाता है, इसीलिये इनसे नवीन कर्मों का बन्ध रुकता है और पूर्व के बँधे कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं। **'कर्मशैल को वज्रसमाना'** यह तप कर्मरूपी पर्वत को गिराने के लिये वज्र के समान है। जिस प्रकार वज्रपात से पर्वत के शिखर चूर-चूर हो जाते हैं उसी प्रकार तपश्चरण से कर्म चूर-चूर हो जाते हैं। जिन कर्मों के फल देने का समय नहीं आया ऐसे कर्म भी तप के प्रभाव से असमय में ही गिर जाते हैं। अविपाक निर्जरा का मूल कारण तप ही है। तपके द्वारा किसी सांसारिक फल की आकांक्षा नहीं करना चाहिये। जैन सिद्धान्त सम्मत तप तथा अन्य लोगों के तप में अन्तर बताते हुए श्री समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान् पुनर्जन्म-जराजिहासया
त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरनारूणत् ।।

हे भगवन्! कितने ही लोग संतान प्राप्त करने के लिये, कितने ही धन प्राप्त करने के लिये तथा कितने ही मरणोत्तर काल में प्राप्त होने वाले स्वर्गादि की तृष्णा से तपश्चरण करते हैं, परन्तु आप जन्म और जरा की बाधा का परित्याग करने की इच्छा से इष्टानिष्ट पदार्थों में मध्यस्थ हो मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को रोकते हैं। अन्यत्र तप का प्रयोजन संसार है, तो यहाँ तप का प्रयोजन मोक्ष है। परमार्थ से तप मोक्ष का ही साधन है। उसमें यदि कोई न्यूनता रह जाती है, तो सांसारिक सुख का भी कारण हो जाता है। जैसे खेती का उद्देश्य अनाज प्राप्त

करना है। यदि पाला आदि पड़ने से अनाज प्राप्त न हो तो भूसा प्राप्त होगा ही। इसी प्रकार तपश्चरण से मोक्ष मिलता है। यदि कदाचित् उसकी प्राप्ति न हो सकी तो स्वर्ग का वैभव कौन छीन लेगा? वह तो प्राप्त होगा ही ।

पद्मपुराण में विशल्या की महिमा आपने सुनी होगी। उसके पास आते ही लक्ष्मण के वक्ष:स्थल से देवोपनीत शक्ति निकलकर दूर हो गई। इसमें विशल्या का पूर्व जन्म में किया हुआ तपश्चरण ही कारण था। निर्जन वन में उसने तीन हजार वर्ष तक कठिन तपश्चरण किया था। तपश्चर्या के प्रभाव से मुनियों के शरीर में नाना प्रकार की ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, पर वे उनकी ओर से निर्भान ही रहते हैं। विष्णुकुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न थी, पर उन्हें इसका पता ही नहीं था। क्षुल्लक के कहने से उनका उस ओर ध्यान गया। सनत्कुमार चक्रवर्ती तपश्चरण करते थे। दुष्कर्म के उदय से उनके शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो गये, फिर भी उस ओर उनका ध्यान नहीं गया। एक बार इन्द्र की सभा में इसकी चर्चा हुई, तो एक देव इनकी परीक्षा करने के लिए आया। जहाँ वे तप करते थे, वहाँ वह देव एक वैद्य का रूप धरकर चक्कर लगाने लगा तथा उनके शरीर पर जो रोग दिख रहे थे, उन सबकी औषधि अपने पास होने की टेर लगाने लगा। एक दो दिन हो गये। मुनि विचार करते हैं कि यदि यह वैद्य है, तो नगर में क्यों नहीं जाता? यहाँ क्या झाड़-झंखाड़ों की औषधि करने आया है? उन्होंने उसे बुलाया और पूछा कि तुम्हारे पास क्या-क्या औषधियाँ हैं? उसने जो रोग उनके शरीर पर दिख रहे थे, उन सबकी औषधियाँ बता दीं। मुनिराज ने कहा कि भाई ये रोग तो मुझे हैं नहीं। ये सब शरीर में अवश्य हैं, पर उसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? मैं तो आत्मद्रव्य हूँ जो कि इससे सर्वथा भिन्न है। उसे इन रोगों में से एक भी रोग नहीं है। हाँ, उसे जन्म-मरण का रोग है। यदि तुम्हारे झोला में उसकी औषधि हो तो देओ। वैद्य असली रूप में प्रकट हो, चरणों में गिर कर कहता है कि भगवन्! इस रोग की औषधि तो आपके ही पास है। हम देव लोग तो इसकी औषधि जो तप है, उससे वञ्चित ही रहते हैं। चाहते है कि तप करें, पर हमारा यह वैक्रियिक शरीर उसमें बाधक है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी तरह गृहस्थी के जाल से छुटकारा मिला है, तो दूसरे जाल में नहीं फँसना चाहिए और निर्द्वन्द्व होकर आत्मा का कल्याण करना चाहिए।

अन्तरङ्ग तपों में स्वाध्याय को भी तप बताया है। स्वाध्याय से आत्मा और अनात्मा का बोध होता है, इसलिए प्रमाद छोड़कर स्वाध्याय में प्रवृत्ति करना चाहिए। आचार्यों की बुद्धि तो देखो, उन्होंने शास्त्र पढ़ने के लिए 'स्वाध्याय' यह कितना सुन्दर शब्द चुना है। अरे, शास्त्र पढ़ते हो तो उसके लिए 'शास्त्राध्याय' शब्द चुनते, पर उन्होंने स्वाध्याय शब्द चुना है। इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्र पढ़कर स्वको पढ़ो— अपने आपको पहिचानों। यदि ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्व को पढ़ने के बाद भी स्वको नहीं पढ़ सके, तो उस भारभूत ज्ञान से कौन-सा लाभ होनेवाला है? इतना ज्ञान तो इस जीव ने अनन्तबार प्राप्त किया, परन्तु संसार सागर से पार नहीं हो सका। जैन सिद्धान्त में अनेक शास्त्रों को जानने की प्रतिष्ठा नहीं है, किन्तु सम्यग्ज्ञान की प्रतिष्ठा है। यहाँ तो मात्र तुषमात्र को भिन्न-भिन्न जाननेवाले मुनि को केवलज्ञान की प्राप्ति बताकर मोक्ष पहुँचने की बात लिखी है, अत: ज्ञान थोड़ा भी हो, तो हानि नहीं, परन्तु मिथ्या न हो, इस बात का ध्यान रक्खो।

सप्तम अध्याय में आपने शुभास्रव का वर्णन सुनते समय अहिंसादि पाँच व्रतों का वर्णन सुना है। उसमें उन्होंने उन व्रतों की स्थिरता के लिए पाँच-पाँच भावनाओं का वर्णन किया है। उसपर ध्यान दीजिए। जिन कामों से व्रत में बाधा होती दिखी, उन्हीं-उन्हीं कामों पर आचार्य ने पहरा बैठा दिया है। जैसे मनुष्य हिंसा करता है, तो किन-किन कार्यों से करता है? १. वचन से कुछ बोलकर, २. मनसे कुछ विचारकर, ३. शरीर से चलकर, ४. किन्हीं वस्तुओं को रख तथा उठाकर और ५. भोजन ग्रहणकर, इन पाँच कार्यों से ही करना है। आचार्य ने इन पाँचों कार्योंपर पहरा बैठाते हुए लिखा है—

'वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च' अर्थात् वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन इन पाँच कार्यों से अहिंसाव्रत की रक्षा होती है। इसी प्रकार सत्यव्रत, अचौर्यव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत और परिग्रहत्यागव्रत की बात समझना चाहिए।

उन्होनें एक बात और लिखी है **'नि:शल्यो व्रती'** अर्थात् व्रती को नि:शल्य होना चाहिये। माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन शल्य हैं। ये काँटेकी तरह सदा चुभती रहती हैं, इसलिये व्रती को इनसे दूर रहना चाहिये। माया का अर्थ है भीतर कुछ और बाहर कुछ और। व्रती को ऐसा कभी नहीं होना चाहिये। कितने

ही व्रती अन्तरङ्ग में कुछ हैं और लोकव्यवहार में कुछ और ही प्रवृत्ति करते हैं। जिसकी ऐसी प्रपञ्च से भरी वृत्ति है वह व्रती कैसे हो सकता है? हृदय यदि दुर्बल है तो कठिन व्रत कभी धारण नहीं करो तथा हृदय की दुर्बलता छिपाकर बाह्य प्रवृत्ति के द्वारा उन्नत बनने की भावना निन्द्य भावना है। इससे व्रती को सदा यह भय बना रहता है कि कहीं मेरी हृदय की दुर्बलता कोई जान न जावे। इसी तरह जिस व्रत को धारण किया है उसमें पूर्ण श्रद्धा होना चाहिये। उसके बिना मिथ्यात्व अवस्था रहेगी तथा श्रद्धा की दृढ़ता न होने से आचार भी निर्मल नहीं रह सकेगा, इसलिये जितना आचरण किया जाय उतना विवेक और श्रद्धा के साथ किया जाय। यदि व्रती के विवेक नहीं होगा तो वह उत्सूत्र प्रवृत्ति करेगा और अपनी उस प्रवृत्ति से जनता पर आतंक जमाने की चेष्टा करेगा। यदि भाग्यवश जनता विवेकवती हुई और उसने उसकी उत्सूत्र प्रवृत्ति की आलोचना शुरू कर दी तो इससे हृदय में क्षोभ उत्पन्न हो जायगा, जो निरन्तर अशान्ति का कारण होगा। इसके सिवाय व्रती को व्रत धारण कर उसके फलस्वरूप किसी भोगोपभोग की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करने के कारण उसकी आत्मा में निर्मलता नहीं आ सकेगी। जहाँ स्वार्थ की गन्ध है वहाँ निर्मलता कैसी? व्रती को तो केवल यह भावना रखना चाहिये कि पाप का परित्याग करना हमारा कर्तव्य है, जिसे मैं कर रहा हूँ। इससे क्या फल की प्राप्ति होगी? इस प्रपञ्च में पड़ने की आवश्यकता नहीं। एक बार सही मार्ग पर चलना शुरू कर दिया तो लक्ष्य स्थान की प्राप्ति अवश्य होगी, उसमें सन्देह की बात नहीं है।

●

: ८ :

त्याग का अर्थ छोड़ना है, पर जब ग्रहण हो तभी न छोड़ना बने। संसार के समस्त पदार्थ अपना चतुष्टय लिये स्वतन्त्र स्वतन्त्र विद्यमान हैं। किसी को ग्रहण करने की किसी में सामर्थ्य नहीं। हमारा कमण्डलु वहाँ रक्खा और मैं यहाँ बैठा, मैंने कमण्डलु को ग्रहण कर लिया? आपकी सम्पत्ति आपके घर है। आप यहाँ बैठे हैं। आपने सम्पत्ति को क्या ग्रहण कर लिया? जब ग्रहण ही नहीं किया तब त्यागना कैसा? बाह्य में तो ऐसा ही है परन्तु मोह के कारण यह जीव उन पदार्थों में 'ये मेरे हैं' मैं इनका स्वामी हूँ' इस प्रकार का मूर्छाभाव लिये बैठा है, यही मूर्छाभाव छोड़ने का नाम त्याग है। जिसका यह मूर्छाभाव छूट गया उसकी आत्मा निःशल्य हो गई। यह मनुष्य परपदार्थ को अपना मान उसके इष्ट-अनिष्ट परिणमन से व्यर्थ ही हर्ष-विषाद का अनुभव करता है। यदि पर में परत्व और निज में निजत्व बुद्धि हो जावे तो त्याग का आनन्द उपलब्ध हो जावे। इस तरह निश्चय से ममताभाव को छोड़ना त्याग कहलाता है। बहिरङ्ग में आहार, औषधि, ज्ञान तथा अभय ये त्याग के चार भेद हैं। जब यहाँ भोगभूमि थी तब सबकी इच्छाएँ पूर्ण होती थीं, इसलिये किसी से किसी को कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं थी। मुनिमार्ग का भी अभाव था, इसलिये आहारादि देना अनावश्यक था। परन्तु जब से कर्मभूमि प्रचलित हुई और विषमता को लिए हुए मनुष्य यहाँ उत्पन्न होने लगे तबसे पारस्पारिक सहयोग की आवश्यकता हुई। मुनिमार्ग का भी प्रचलन हुआ, इसलिये आहारादि देना आवश्यक हो गया। फलस्वरूप उसी समय से त्याग धर्म का आविर्भाव हुआ। दाता को हृदय से जब तक लोभकषाय की निवृत्ति नहीं होती तब तक वह किसी के लिये एक कपर्दिका भी देने के लिये तैयार नहीं होता। पर जब अन्तरङ्ग से लोभ निकल जाता है तब छह खण्ड का वैभव भी दूसरे के लिये सौंपने में देर नहीं लगती। मुनि ने श्रावक से आहार लिया, श्रावक ने भक्तिपूर्वक दिया, इसमें दोनों का कल्याण हुआ। दाता को तो इसलिये हुआ कि उसकी आत्मा से लोभकषाय की निवृत्ति हुई और मुनि का इसलिये हुआ कि आहार पाकर उसके औदारिक शरीर में स्थिरता आई, जिससे वह रत्नत्रय की वृद्धि करने में समर्थ हुआ। मुनि अपने उपदेश से अनेक जीवों को सुमार्ग पर लगावेंगे इस दृष्टि से अनेक जीवों का कल्याण हुआ। इस तरह विचार करने पर त्यागधर्म अत्यधिक स्वपरकल्याणकारी जान पड़ता है। मुनि अपने पद के

अनुकूल निश्चय त्यागधर्म का पालन करते हैं और गृहस्थ बाह्य त्यागधर्म का पालन करते हैं। इतना निश्चित हैं कि संसार का समस्त व्यवहार त्याग से ही चल रहा है। अन्यथा जिसके पास जो है वह किसी के लिए कुछ न दे, तो क्या संसार का व्यवहार चल जावेगा?

एक बार एक साधु नदी के किनारे पहुँचा। दूसरी पार जाने के लिए नाव लगती थी। नाव का किराया दो पैसा था। साधु के पास पैसा का अभाव था, इसलिए वह नदी के इस पार ही ठहरने का उद्यम करने लगा। इतने में एक सेठ आया, बोला— बाबाजी रात्रि को यहाँ कहाँ ठहरेंगे। उस ओर चलिये, वहाँ ठहरने का अच्छा स्थान है। साधु ने कहा— बेटा, नाव में बैठने के लिए दो पैसा चाहिये। मेरे पास हैं नहीं, अत: यहीं रात्रि बिताने का विचार किया है। सेठ ने कहा पैसों की कोई बात नहीं, आप नाव पर बैठिये। सेठ और साधु दोनों नावों पर बैठ गये। सेठ ने चार पैसे नाववाले को दिये। जब नाव से उतर कर दूसरी ओर दोनों पहुँच गये, तब सेठ ने साधु से कहा— बाबाजी आप बहुत त्याग का उपदेश देते हो। यदि आपके समान मैंने भी पैसे त्याग दिये होते तो आज क्या दशा होती? अत: त्याग की बात छोड़ो। साधु ने हँसकर कहा— बेटा! यदि नदी पार हुई है तो चार पैसों के त्याग से ही हुई है। यदि तूँ ये पैसे अपनी अंटी में रखे रहता तो यह नाववाला तुझे कभी भी नदी से पार नहीं उतारता। सेठ चुप रह गया।

कहने का तात्पर्य यही है कि त्याग से ही संसार के सब काम चलते हैं।

पानी बाढ़े नाव में घर में बाढ़े दाम ।
दोनों हाथ उलीचिये यही सयाना काम ।।

यदि नाव में पानी बढ़ रहा है तो दोनों हाथों से उलीचकर उसे बाहर करना ही बुद्धिमता है। इसी प्रकार यदि घर में सम्पत्ति बढ़ रही है तो उसे दान के द्वारा उत्तम कार्य में खर्च़ करना ही उसकी रक्षा का उपाय है। दान सन्मान के साथ देना चाहिये और उसके बदले किसी प्रकार का अभिमान हृदय में उत्पन्न नहीं होना चाहिये, अन्यथा पैसा का पैसा जाता है और उससे आत्मा को लाभ भी कुछ नहीं होता। दान में लोभकषाय से निवृत्ति होने के कारण दाता की आत्मा को लाभ होता है। यदि लाभ के बदले उसके दादा मान का उदय आत्मा में हो गया तो इससे क्या लाभ कहलाया। उत्तम पात्र के लिये दिया हुआ दान कभी व्यर्थ नहीं जाता। धन्यकुमार की कथा आप लोग जानते हैं। घर से निकलनेपर

उसे जो स्थान-स्थान पर अनायास ही लाभ हुआ था वह उसके पूर्व पर्याय में दिये दान का ही फल था। समन्तभद्र स्वामीने लिखा है—

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ।।

अर्थात् जिस प्रकार योग्य भूमि में पड़ा हुआ वटका छोटा-सा बीज कालान्तर में बड़ा वृक्ष बनकर छाया के विभव को प्रदान करता है, उसी प्रकार योग्य पात्र के लिये दिया हुआ छोटा-सा दान भी समय पाकर अपरिमित वैभव को प्रदान करता है।

जब वसन्त याचक भये दीने तरु मिल पात ।
इससे नव पल्लव भये दिया व्यर्थ नहिं जात ।।

एक कवि के सामने पूर्ति के लिये समस्या रखी गई— 'दिया व्यर्थ नहिं जात', जिसकी उसने उक्त प्रकार पूर्ति की। कितना सुन्दर भाव इसके अन्दर भर दिया है। वसन्त ऋतु में प्रथम पतझड़ होती है, जिससे समस्त वृक्षों के पुराने पत्ते झड़ जाते हैं और उसके बाद उन वृक्षों में नये लहलहाते पल्लव उत्पन्न होते हैं। कवि ने यही भाव इसमें अंकित किया है, कि जब वसन्त ऋतु याचक हुआ अर्थात् उसने वृक्षों से पत्तों की याचना की, तब सब वृक्षों ने उसे अपने-अपने पत्ते दे दिये। उसी के फलस्वरूप उन्हें नये-नये पल्लवों की प्राप्ति होती है, क्योंकि दिया दान कभी व्यर्थ नहीं जाता है। मान-बड़ाई के लिए जो दान दिया जाता है, वह व्यर्थ जाता है। इसके लिए महाभारत में एक उपकथा आती है—

युद्ध में विजयोपरान्त युधिष्ठिर महाराज ने एक बड़ा भारी यज्ञ किया। उसमें हजारों ब्राह्मणों को भोजन कराया गया। जिस स्थान पर ब्राह्मणों को भोजन कराया गया, उस स्थान पर युधिष्ठिर महाराज खड़े हुए कुछ लोगों से वार्ता कर रहे थे। वही एक नेवला जूठन में बार-बार लोट रहा था। महाराज ने नेवला से कहा— यह क्या कर रहा है? तब नेवला ने कहा— महाराज! एक गाँव में एक वृद्ध ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री थी, एक लड़का था और लड़के की स्त्री थी। इस तरह चार आदमियों की उसकी गृहस्थी थी। बेचारे बहुत गरीब थे। खेतों पर से शिला बीनकर लाते और उससे अपनी गुजर करते थे। एक बार ३ दिन के अन्तर से उन्हें भोजन प्राप्त हुआ। शिला बीनकर जो अनाज उन्हें मिला, उससे वे आठ

रोटियाँ बनाकर तथा दो-दो रोटियाँ अपने हिस्से की लेकर खाने बैठे। बैठे ही थे कि इतने में एक गरीब आदमी चिल्लाता हुआ आया कि सात दिन से मुख में अनाज का दाना भी नहीं गया, भूख के मारे प्राण निकले जा रहे हैं। उसकी दीन वाणी सुन ब्राह्मण को दया आ गई जिससे उसने यह विचार कर कि अभी मुझे तो दो तीन ही दिन हुए हैं, पर इस बेचारे को सात दिन हो गये हैं, अपनी रोटियाँ उसे दे दी। वह आदमी तृप्त नहीं हुआ। तब ब्राह्मण अपनी स्त्री की ओर देखने लगा। ब्राह्मणी ने कहा कि आप भूखे रहें और मैं भोजन करूँ, यह कैसे हो सकता है? यह कह उसने भी अपनी रोटियाँ उसे दे दीं। वह फिर भी तृप्त नहीं हुआ। तब दोनों लड़के की ओर देखने लगे। लड़के ने कहा कि हमारे वृद्ध माता-पिता भूखे रहें और मैं भोजन करूँ, यह कैसे हो सकता है? यह कह उसने भी अपनी रोटियाँ उसे खिला दीं। वह फिर भी तृप्त नहीं हुआ, तब तीनों लड़के की स्त्री की ओर देखने लगे। उसने भी कहा कि यद्यपि मैं आपके घर उत्पन्न नहीं हुई हूँ, तथापि आप लोगों के सहवास से मुझमें भी कुछ-कुछ उदारता और दयालुता आई है, यह कहकर उसने भी अपनी रोटियाँ उसे खिला दीं। वह भूखा आदमी तृप्त होकर आशीर्वाद देता हुआ चला गया। चारों के चारों भूखे रह गये। महाराज! जिस स्थान पर उस गरीब ने बैठकर भोजन किया था, मैं वहाँ से निकला तो मेरा नीचे का भाग स्वर्णमय हो गया। अब आधा स्वर्णमय और आधा चर्ममय होने से मुझे अपना रूप अच्छा नहीं लगा। इसी बीच मैंने सुना कि महाराज के यहाँ यज्ञ में हजारों ब्राह्मणों का भोजन हुआ है। वहाँ जाकर लोटूँगा तो पूरा स्वर्णमय हो जाऊँगा। यही सुनकर मैं यहाँ आया और बड़ी देर से जूँठन में लोट रहा हूँ, परन्तु मेरा शेष शरीर स्वर्णमय नहीं हो रहा है। महाराज! जान पड़ता है आपने यह ब्राह्मण-भोजन करुणाबुद्धि से नहीं कराया, केवल मान-बड़ाई के लिये लोकव्यवहार देख कराया है।.... कथा तो कथा ही है, पर इससे सार यही निकलता है कि मान-बड़ाई के उद्देश्य से दिया दान निष्फल जाता है। दान देते समय पात्र की योग्यता और आवश्यकता पर भी दृष्टि डालना चाहिये। एक स्थान पर कहा है—

दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ।।

अर्थात् हे युधिष्ठिर! दरिद्रों का भरण-पोषण करो, सम्पन्न व्यक्तियों को धन नहीं दो। रुग्ण मनुष्य के लिए औषधि हितकारी है, नीरोग मनुष्य को उससे क्या प्रयोजन?

प्रसन्नता की बात है कि जैन समाज में दान देने का प्रचार अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक है। प्रतिवर्ष लाखों रुपयों का दान समाज में होता है और उससे समाज के उत्कर्ष के अनेक कार्य हो रहे हैं। पिछले पचास वर्षों से आपकी समाज में जो प्रगति हुई है वह आपके दान का ही फल है।

अष्टम अध्याय में आपने बन्धतत्त्व का वर्णन सुना है। बन्ध का प्रमुख कारण मोहजन्य विकार है। **'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः'** इस सूत्र में जो बन्ध के कारण बतलाये हैं, उनमें योग को छोड़कर शेष सब मोहजन्य विकार ही तो हैं। अन्य कर्मों के उदय से जो भाव आत्मा में उत्पन्न होते हैं, उनसे नवीन कर्मबन्ध नहीं होता। परन्तु मोह कर्म के उदय से जो भाव होता है वह नवीन कर्मबन्ध का कारण है। कुन्द-कुन्द स्वामी ने भी समयसार में कहा है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ।।

अर्थात् रागी-प्राणी कर्मों को बाँधता है और राग रहित प्राणी कर्मों को छोड़ता है। बन्ध के विषय में जिनेन्द्र भगवान् का यही उपदेश है, अतः कर्मों में राग नहीं करो। इस राग से बचने का प्रयत्न करो। **'यह राग आग देह सदा तातें समामृत सेइये'** यह रागरूपी आग सदा जलाती रहती है, इसलिये इससे बचने के लिए सदा समताभावरूपी अमृत का सेवन करना चाहिये। यह संसारचक्र अनादि-काल से चला आ रहा है और सामान्य की अपेक्षा अनन्त काल तक चलता रहेगा। पञ्चास्तिकाय में श्री कुन्दकुन्ददेव ने लिखा है—

गदिमधिगदस्स देहो देहादिंदियाणि जायंते ।
जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।।
परिणामादो कम्मं कम्मादो गदिसु होदि गदी ।
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।।
तेहिं दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो वा ।
जायदि जोवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।।
इदि जिणवरेहि भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ।

जो संसार-में रहने वाले जीव हैं उनके स्निग्ध परिणाम होता है, परिणामों से कर्म का बन्ध होता है, कर्म से जीव एक गति से अन्य गति में जाता है, जहाँ जाता है वहाँ देह ग्रहण करता है, देह से इन्द्रियों का उत्पाद होता है, इन्द्रियों के

द्वारा विषय-ग्रहण करता है, विषय-ग्रहण से रागादिपरिणामों की उत्पत्ति होती है, फिर रागादि से कर्म और कर्म से गत्यन्तर गमन फिर गत्यन्तरगमन से देह, देह से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से विषय-ग्रहण, विषयों से स्निग्ध परिणाम, स्निग्धपरिणामों से कर्म और कर्म से वही प्रक्रिया, इस तरह यह संसार-चक्र बराबर चला जाता है। यदि इसको मिटाना है, तो उक्त प्रक्रिया का अन्त करना पड़ेगा। इस प्रक्रिया का मूल कारण स्निग्ध परिणाम है। उसका अन्त करना ही इस भवचक्र के विध्वंस का मूल हेतु है। इसको दूर करने के उपाय बड़े-बड़े महात्माओं ने बतलाए हैं। आज संसार में धर्म के जितने आयतन दृष्टिपथ हैं, वे इसी चक्र से बचने के साधन हैं। किन्तु अन्तरङ्ग दृष्टि डालो, तो ये सर्व उपाय पराश्रित हैं। केवल स्वाश्रित उपाय ही स्वद्वारा अर्जित संसार के विध्वंस का कारण हो सकता है। जैसे शरीर में यदि अन्न खाकर अजीर्ण हो गया है, तो उसको दूर करने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि उदर से पर द्रव्य का सम्बन्ध पृथक् कर दिया जावे। उसकी प्रक्रिया यह है कि प्रथम तो नवीन भोजन त्यागो तथा उदर में जो विकार है, वह या तो काल पाकर स्वयमेव निर्गत हो जावेगा या शीघ्र ही पृथक् करना है, तो वमन-विरेचन द्वारा निकाल दिया जावे। ऐसा करने से निरोगता का लाभ अनायास हो सकता है। मोक्षमार्ग में भी यही प्रक्रिया है। बल्कि जितने कार्य हैं, उन सर्व की यही पद्धति है। यदि हमें संसार-बन्धन से मुक्त होने की अभिलाषा है, तो सबसे प्रथम हम कौन है? क्या हमारा स्वरूप है? वर्तमान क्या है? तथा संसार क्यों अनिष्ट है? इन सब बातों का निर्णय करना आवश्यक है। जब तक उक्त बातों का निर्णय न हो जावे, तब तक उसके अभाव का प्रयत्न हो ही नहीं सकता। आत्मा अहम्प्रत्ययवेद्य है। उसकी जो अवस्था हमें संसारी बना रही है, उससे मुक्त होने की हमारी इच्छा है, तब केवल इच्छा करने से मुक्ति के पात्र हम नहीं हो सकते। जैसे जल अग्नि के निमित्त से उष्ण हो गया है। अब हम माला लेकर जपने लगें कि 'शीतस्पर्शवज्जलाय नमः' तो क्या इससे अनल्प काल में भी जल शीत हो जायगा? नहीं, वह तो उष्ण स्पर्श के दूर करने से ही शीत होगा। इसी तरह हमारी आत्मा में जो रागादि विभाव परिणाम है, उनके दूर करने के अर्थ 'श्रीवीतरागाय नमः' यह जाप असंख्य कल्प भी जपा जावे, तो भी आत्मा में वीतरागता न आवेगी, किन्तु रागादि निवृत्ति से अनायास वीतरागता आ जावेगी। वीतरागता नवीन पदार्थ नहीं, आत्मा की निर्मोह अवस्था ही वीतरागता है, जो कि शक्ति की अपेक्षा सदा विद्यमान रहती है। जिसके उदय से पर में निजत्व बुद्धि होती है, वही मोह है।

पर को निज मानना, यह अज्ञानभाव है, अर्थात् मिथ्याज्ञान है। इसका मूलकारण मोह का उदय है। ज्ञानावरण के क्षयोपशम से ज्ञान तो होता है, परन्तु विपर्यय होता है। जैसे शुक्तिका में रजत का विभ्रम होता है। यद्यपि शुक्ति रजत नहीं हो गई तथापि दूरत्व एवं चाकचिक्यादि कारणों से भ्रान्ति हो जाती है। यहाँ भ्रान्ति का कारण दूरत्वादि दोष है। जैसे कामला रोगी जब शङ्ख देखता है, तब 'पीतः शङ्खः' ऐसी प्रतीति करता है। यद्यपि शङ्ख में पीतता नहीं, यह तो नेत्र में कामला रोग होने से शङ्ख में पीतत्व भासमान है। यह पीतता कहाँ से आई तब यही कहना पड़ेगा कि नेत्र में जो कामला रोग है वहीं इस पीतत्व का कारण है। इसी प्रकार आत्मा में जो रागादि होते हैं उनका मूल कारण मोहनीय कर्म है। उसके दो भेद हैं- १. दर्शनमोह और २. चारित्रमोह। उनमें दर्शनमोह के उदय से मिथ्यात्व और चारित्रमोह के उदय से रागद्वेष होते हैं। उपयोग आत्मा का ऐसा है कि उसके सामने जो आता है, उसी का उसमें प्रतिभास होने लगता है। जैसे नेत्र के समक्ष जो पदार्थ आता है वह उसका ज्ञान करा देता है। यहाँ तक तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु जो पदार्थ ज्ञान में आवे उसे आत्मीय मान लेना आपत्तिजनक है, क्योंकि वह मिथ्या अभिप्राय है। जो पर वस्तु को निज मानता है, संसार में लोग उसे ठग कहते हैं, परन्तु यह चोट्टापन छूटना सहज नहीं। अच्छे-अच्छे जीव पर को निज मानते हैं, और उन पदार्थों की रक्षा भी करते हैं, किन्तु अभिप्राय में यह है कि ये हमारे नहीं। इसीलिये उन्हें सम्यग्ज्ञानी कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें निज मान अनन्त संसार के पात्र होते हैं, अतः सिद्ध होता है कि यह मोहपरिणति ही बन्ध का कारण है। इससे छुटकारा चाहते हो, तो प्रथम मोहपरिणति को दूर कर आत्मस्वरूप में स्थित होने का प्रयास करो। इसी से आत्मशान्ति प्राप्त होगी। परमार्थ से आत्मशान्ति का उपाय यही है कि पर से सम्बन्ध छोड़ा जाय और आत्मपरिणति का विचार किया जाय। विचार का मूल कारण सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति आप्तश्रुति से होती है, आप्तश्रुति आप्ताधीन है, आप्त रागादि दोषरहित है, अतः रागादि दोषों को जानो, उनकी पारमार्थिक दशा से परिचय करो। रागादि दोषों का त्याग ही संसारबन्धन से मुक्ति का उपाय है। रागादिकों का यथार्थ स्वरूप जान लेना ही उनसे विरक्त होने का मूल उपाय है।

: ९ :

त्याग करते-करते अन्त में आपके पास क्या बचेगा? कुछ नहीं। जिसके

पास कुछ नहीं बचा, वह अकिञ्चन कहलाता है और अकिञ्चन का जो भाव है वही आकिञ्चन्य कहलाता है। परिग्रह का त्याग हो जाने पर ही पूर्ण आकिञ्चन्य धर्म प्रकट होता है। सुख आत्मा का गुण है। भले ही वह वर्तमान में विपरीतरूप परिणमन कर रहा हो, पर यह निश्चित है कि जब भी वह प्रकट होगा, तब आत्मा में ही प्रकट होगा, यह ध्रुव सत्य है, परन्तु मोह के कारण यह जीव परिग्रह को सुख का कारण जान, उसके संचय में रात-दिन एक कर रहा है। 'परितो गृह्णाति आत्मानमिति परिग्रहः' जो आत्मा को सब ओर से पकड़ कर जकड़ रक्खे वह परिग्रह है। परमार्थ से विचार किया जाय तो यह परिग्रह ही इस जीव को समन्तात् सब ओर से जकड़े हुए है। **'मूर्च्छा परिग्रहः।'** आचार्य उमास्वामी महाराज ने परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा रक्खा है। मैं इसका स्वामी हूँ, ये मेरे स्व हैं, इस प्रकार का भाव ही मूर्च्छा है। इस मूर्च्छा के रहते हुए पास में कुछ भी न हो, तब भी यह जीव परिग्रही कहलाता है और मूर्च्छा के अभाव में समवसरणरूप विभूति के रहते हुए भी अपरिग्रह—परिग्रह रहित कहलाता है। परिग्रह सबसे बड़ा पाप है, जो दशम गुणस्थान तक इस जीव का पिण्ड नहीं छोड़ता। आज परिग्रह के कारण संसार में त्राहि-त्राहि मच रही है, जहाँ देखो वहीं परिग्रह की पुकार है। जिनके पास है वे उसे अपने पास से अन्यत्र नहीं देना चाहते और जिनके पास नहीं है वे उसे प्राप्त करना चाहते हैं, इसीलिये संसार में संघर्ष मचा हुआ है। यदि लोगों की दृष्टि में इतनी बात आ जाय कि परिग्रह निर्वाह का साधन है। जिस प्रकार हमें भोजन, वस्त्र और निवास के लिए परिग्रह की आवश्यकता है, उसी प्रकार दूसरे के लिए भी इसकी आवश्यकता है, अतः हमें आवश्यकता से अधिक अपने पास नहीं रोकना चाहिये, तो संसार का कल्याण हो जाय। यदि परिग्रह का कुछ भाग एक जगह अनावश्यक रुक जाता है, तो दूसरी जगह उसके बिना कमी होने से संकट उत्पन्न हो जाता है। शरीर के अन्दर जब तक रक्त का संचार होता रहता है, तब तक शरीर के प्रत्येक अंग अपने कार्य में दक्ष रहते हैं, पर जहाँ कहीं रक्त का संचार रुक जाता है, वहाँ वह अङ्ग बेकार हो जाता है और जहाँ रक्त रुक जाता है, वहाँ मवाद पैदा हो जाता है। यही हाल परिग्रह का है। जहाँ यह नहीं पहुँचेगा वहाँ उसके बिना संकटापन्न स्थिति हो जायगी और जहाँ रुक जायगा वहाँ मद-मोह विभ्रम आदि दुर्गुण उत्पन्न कर देगा। इसलिये जैनागम में यह कहा गया है कि गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं के अनुसार परिग्रह का परिमाण करे और मुनि सर्वथा ही उसका परित्याग करे।

आज के युग में मनुष्य की प्रतिष्ठा पैसे से आँकी जाने लगी है, इसलिये मनुष्य न्याय से अन्याय से जैसे बनता है वैसे पैसे का संचय कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहता है। प्रतिष्ठा किसे बुरी लगती है? इस परिग्रह की छीना-झपटी में मनुष्य भाई-भाई का, पुत्र पिता का और पिता पुत्र तक का घात करता सुना गया है। इसके दुर्गुणों की ओर जब दृष्टि जाती है तब शरीर में रोमाञ्च उठ आते हैं। चक्रवर्ती भरत ने अपने भाई बाहुबलि के ऊपर चक्र चला दिया। किसलिए? पैसे के लिये। क्या वे यह नहीं सोच सकते थे कि आखिर यह भी तो उसी पिता की सन्तान है, जिसकी मैं हूँ। यह एक न वश में हुआ न सही, षट्खण्ड के समस्त मानव तो वश में आ गये- आज्ञाकारी हो गये, पर वहाँ तो भूत मोह का सवार था, इसलिए सन्तोष कैसे हो सकता था? वे मन्त्रियों द्वारा निर्णीत दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध में पराजित होने पर भी उबल पड़े— रोष में आ गये और भाई पर चक्ररत्न चलाकर शान्त हुए। उस समय के मन्त्रियों की बुद्धिमानी देखो। वे समझते थे कि ये दोनों भाई चरमशरीरी—मोक्षगामी हैं। इनमें से एक का भी विघात होने का नहीं। यदि सेना का युद्ध होता है, तो हजारों निरपराध व्यक्ति मारे जावेंगे, इसलिए अपनी बलवत्ता का निर्णय ये दोनों अपने ही युद्धों से करें और युद्ध भी कैसे, जिनमें घातक शस्त्रों का नाम भी नहीं? यह उस समय के मन्त्री थे और आज के मन्त्रियों की बात देखो। आप घर में से बाहर नहीं निकलेंगे, पर निरपराध प्रजा के लाखों मानवों का विध्वंस करा देंगे। कौरव और पाण्डवों का युद्ध किंनिमित्तक था? इसी परिग्रह निमित्तक तो था। कौरव अधिक थे, इसलिए सम्पत्ति का अधिक भाग चाहते थे। पाण्डव यदि यह सोच लेते कि हम थोड़े हैं, अतः हमारा काम थोड़े से ही चल सकता है। अर्ध भाग की हमें आवश्यकता नहीं है, तो क्या महाभारत होता? नहीं, पर उन्हें तो आधा भाग चाहिए था। कितने निरपराध सैनिकों का विनाश हुआ, इस ओर दृष्टि नहीं गई। जावे कैसे, परिग्रह का आवरण नेत्र के ऊपर ऐसी पट्टी बाँध देता है कि वह पदार्थ का सही रूप देख ही नहीं पाता। संसार में परिग्रह पाप की जड़ है। वह जहाँ जावेगा वहीं पर अनेक उपद्रव करावेगा। करावे, किन्तु जिन्हें आत्महित करना है, वे इसे त्याग करें। त्याग परिग्रह का नहीं, मूर्च्छा का होना चाहिये।

कितने ही लोग ऐसा सोचते हैं कि अभी परिग्रह का अर्जन करो, पीछे दान आदि कार्यों में व्यय कर पुण्य का संचय कर लेंगे, परन्तु आचार्य कहते

है कि **'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्'** अर्थात् कीचड़ धोने की अपेक्षा दूर से हीं उसका स्पर्श न करना अच्छा है। लक्ष्मी को अंगीकार कर उसका त्याग करना कहाँ की बुद्धिमानी है। कार्तिकेय मुनि ने लिखा है कि वैसे तो सभी तीर्थङ्कर समान हैं,परन्तु वासुपूज्य, मल्लि, नेमि, पार्श्व और वर्धमान इन पाँच तीर्थङ्करों में हमारी भक्ति विशेष है,क्योंकि इन्होंने सम्पत्ति को अङ्गीकृत ही नहीं किया, जबकि अन्य तीर्थङ्करों ने सामान्य मनुष्यों की तरह सम्पत्ति ग्रहण कर पीछे त्याग किया। परिग्रहवालों से पूछो कि उन्हें परिग्रह से कितना सुख है? जिसके पास कुछ नहीं है वह सुख की नींद तो सोता है, पर परिग्रहवालों को यह नसीब नहीं।

एक गरीब आदमी था, महादेवजी का भक्त था। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर एक दिन महादेवजी ने कहा— बोल क्या चाहता है? महादेवजी को सामने खड़ा देख बेचारा घबड़ा गया। बोला— महाराज कल सवेंरे माँग लूँगा। महादेवजी ने कहा— अच्छा। वह आदमी सायं काल से ही विचार करने बैठा कि महादेवजी से क्या माँगा जाय। हमारे पास रहने के लिये घर नहीं, इसलिए यही माँगा जाय। फिर सोचता है जब महादेवजी मुंह मागा वरदान देने को तैयार हैं, तब घर ही क्यों माँगा जाय? देखो, ये जमींदार हैं, गाँव के समस्त लोगों पर रौब गाँठते हैं, इसलिए हम भी जमींदार हो जावें, तो अच्छा है। यह विचार कर उसने जमींदारी माँगने का निर्णय किया। फिर सोचता है आखिर जब लगान भरने का समय आता है, तब ये तहसीलदार की आरजू मिन्नत करते हैं, इसलिए इनसे बड़ा तो तहसीलदार है, वही क्यों न बन जाऊँ? इस तरह विचार कर वह तहसीलदार बनने की आकांक्षा करने लगा। कुछ देर बाद उसे जिलाधीश का स्मरण आया, तो उसके सामने तहसीलदार का पद फीका दिखने लगा। इस प्रकार एक के बाद एक इच्छाएँ बढ़ती गईं और वह निर्णय नहीं कर पाया कि क्या माँगा जाय। सारी रात्रि विचार करते करते निकल गई। सवेरा हुआ, महादेवजी ने पूछा— बोल क्या चाहता है? वह उत्तर देता है— महाराज! कुछ नहीं चाहिए। क्यो? क्यों क्या, जब पास में सम्पत्ति आई नहीं, आने की आशामात्र दिखी, तब तो रात्रिभर नींद नहीं। यदि कदाचित् आ गई, तो फिर नींद तो एकदम विदा हो जायगी, इसलिए महाराज मैं जैसा हूँ वैसा ही अच्छा हूँ। उदाहरण है, अतः इससे सार ग्रहण कीजिए। सार इतना ही है कि परिग्रह जञ्जाल का कारण है, अतः इससे निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिये।

नवम अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन आपने सुना है। वास्तव में विचार करो, तो मोक्ष के साधक ये दो ही तत्त्व हैं। नवीन कर्मों का आस्रव रूक जाय, यही संवर है और पूर्वबद्ध कर्मों का क्रम-क्रम से खिर जाना निर्जरा है। संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र के द्वारा होता है। इन कारणों में आचार्य महाराज ने सर्व से प्रथम गुप्ति का उल्लेख किया है। समस्त आस्रवों का मूल कारण योग है। यदि योगों पर नियन्त्रण हो गया, तो आस्रव अपने आप रुक जावेंगे। इस तरह गुप्ति ही महासंवर है, परन्तु गुप्ति का प्राप्त होना सहज नहीं। गुप्तिरूप अवस्था सतत नहीं हो सकती, अतः उसके अभाव में प्रवृत्ति करनी पड़ती है, तब आचार्य ने आदेश दिया कि भाई यदि प्रवृत्ति ही करनी है, तो प्रमाद रहित प्रवृत्ति करो। प्रमाद रहित प्रवृत्ति का नाम समिति है। मनुष्य चलता है, बोलता है, खाता है, किसी वस्तु को उठाता धरता है और मलमूत्रादि का त्याग करता है। इनके सिवाय यदि अन्य कर्म करता हो, तो बताओ? उसके समस्त कार्य इन्हीं पांच कर्मों में अन्तर्गत हो जाते हैं। आचार्य महाराज ने पांच समितियों के द्वारा इन पांचों कार्यों पर पहरा बैठा दिया, फिर अनीति में प्रवृत्ति हो तो कैसे हो?

: १० :

आत्मा का उपयोग आत्मा में स्थिर नहीं रहता, इसका कारण परिग्रह है। परिग्रह के कारण ही उपयोग में सदा चञ्चलता आती रहती है। आकिञ्चन्य धर्म में परिग्रह का त्याग होने से आत्मा का उपयोग अन्यत्र न जाकर ब्रह्म अर्थात् आत्मा में ही लीन होने लगता है। यथार्थ में यही ब्रह्मचर्य है। बाह्य ज्ञेय से उपयोग हटकर आत्मस्वरूप में ही लीन हो जाय, तो इससे बढ़कर धर्म क्या होगा? इसीलिये ब्रह्मचर्य को सबसे बड़ा धर्म माना है। ब्रह्मचर्य की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। आगम में वहाँ ही शील के अठारह हजार भेदों की पूर्णता बतलाई है। यद्यपि निश्चयनय से ब्रह्मचर्य का यही स्वरूप है, तथापि व्यवहार से स्त्रीत्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं। स्वकीय तथा परकीय दोनों प्रकार की स्त्रियों का त्याग हो जाना पूर्ण ब्रह्मचर्य है और परकीय स्त्री का त्यागकर स्वकीय स्त्री में संतोष रखना अथवा स्त्री की अपेक्षा स्वपुरुष में संतोष रखना एकदेश ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य से ही मनुष्य की शोभा तथा प्रतिष्ठा है। चिरकाल से मनुष्यों में जो कौटुम्बिक व्यवस्था चली आ रही है, उसका कारण मनुष्य का ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य का सबसे बड़ा

बाधक कारण कुसङ्गति है। कुसंगति के चक्र में पड़कर ही मनुष्य बुरी आदतों में पड़ता है, इसलिये ब्रह्मचर्य की रक्षा चाहनेवाले मनुष्य को सर्व प्रथम कुसंगति से बचना चाहिये। शुभचन्द्राचार्य ने वृद्धसेवा को ब्रह्मचर्य का साधक मानकर ज्ञानार्णव में इसका विशद वर्णन किया है। यहाँ जो उत्तम गुणों से सहित है उन्हें वृद्ध कहा है। केवल अवस्था से वृद्ध मनुष्यों की यहाँ विवक्षा नहीं है। मनुष्य के हृदय में जब दुर्विचार उत्पन्न होते हैं, तब उन्हें रोकने के लिए लज्जा गुण बहुत कुछ प्रयत्न करता है। उत्तम मनुष्यों की संगति से लज्जागुण को बल मिलता है और वह मनुष्यों के दुर्विचारों को परास्त कर देता है, परन्तु जब नीच मनुष्यों की संगति रहती है, तब लज्जागुण असहाय जैसा होकर स्वयं परास्त हो जाता है। 'हृदय से लज्जा गई' फिर दुर्विचारों को रोकने वाला कौन है?

आदर्श गृहस्थ वही हो सकता है, जो अपनी स्त्री में संतोष रखता है। इस एकदेश ब्रह्मचर्य का भी कम माहात्म्य नहीं है। सुदर्शन सेठ की रक्षा के लिए देव दौड़े आते हैं। सीताजी के अग्निकुण्ड को जलकुण्ड बनाने के लिए देवों का ध्यान आकर्षित होता है। यह क्या है? एक शीलव्रत का ही अद्भुत माहात्म्य है। इसके विरुद्ध जो कुशील पाप में प्रवृत्ति करते हैं, वे देर सबेर नष्ट हो जाते हैं, इसमें संदेह की बात नहीं है। जिन घरों में यह पाप आया वे घर बरबाद ही हो गये और पाप करनेवालों को अपने ही जीवन में ऐसी दशा देखनी पड़ी कि जिसकी उन्हें स्वप्न में भी संभावना नहीं थी। जिस पाप के कारण रावण के भवन में एक बच्चा भी नहीं बचा, उसी पाप को आज लोगों ने खिलौना बना रक्खा है।

जाहि पाप रावण के छीना रह्यौ न भौना माहि।
ताहि पाप लोगन ने खिलौना कर राख्यौ है ।।

पाप-पाप ही है। इसे जो भी करेगा, वह दुःख उठावेगा। ब्रह्मचारी मनुष्यों को अपने रहन-सहन, वेषभूषा आदि सब पर दृष्टि रखनी पड़ती है। बाह्य परिकर भी उज्ज्वल बनाना पड़ता है, क्योंकि इन सबका असर उसके ब्रह्मचर्य पर अच्छा नहीं पड़ता। आप भगवान् महावीर स्वामी के संबोधे हुए शिष्य हैं। भगवान् महावीर कौन थे? बाल ब्रह्मचारी ही तो थे। अच्छा जाने दो, उनकी बात, उनके पहले भगवान् पार्श्वनाथ कैसे थे? वे भी बालब्रह्मचारी थे और उनके पहले कौन थे? नेमिनाथ, वे भी ब्रह्मचारी थे। उनका ब्रह्मचर्य तो और भी आश्चर्यकारी है। बीच विवाह से विरक्त हो, दीक्षा उन्होंने धारण की थी। इस तरह एक नहीं तीन-तीन

तीर्थकरों ने आप के सामने ब्रह्मचर्य का माहात्म्य प्रकट किया है। हम अपने आपको उनका शिष्य बतलाते हैं। पर ब्रह्मचर्य की ओर दृष्टि नहीं देते। जीवन विलासमय हो रहा है और उसके कारण सूरत पर बारह बज रहे हैं, फिर भी इस कमी को दूर करने की ओर लक्ष्य नहीं जाता। कीड़े-मकोड़े की तरह मनुष्य-संख्या में वृद्धि होती जा रही है। बल-वीर्य का अभाव शरीर में होता जा रहा है, फिर भी ध्यान इस ओर नहीं जाता। एक बच्चा माँ के पेट में और एक अञ्चल के नीचे है, फिर भी मनुष्य विषय से तृप्त नहीं होता। पशु में तो कम से कम इतना विवेक होता है कि वह गर्भवती स्त्री से दूर रहता है, पर हाय रे मनुष्य। तूं तो पशु से भी अधम दशा को पहुँच रहा है। तुझे गर्भवती स्त्री से भी समागम करने में संकोच नहीं रहा। इस स्थिति में जो तेरे सन्तान उत्पन्न होती है, उसकी अवस्था पर भी थोड़ा विचार करो। किसी के लीवर बढ़ रहा है, तो किसी के पक्षाघात हो रहा है, किसी की आँख कमजोर है, तो किसी के दाँत दुर्बल हैं। यह सर्व क्यों है? एक ब्रह्मचर्य के महत्त्व को नहीं समझने से है। जब तक एक बच्चा माँ का दुग्धपान करता है, तब तक दूसरा बच्चा उत्पन्न न किया जाय, तो बच्चे भी पुष्ट हों तथा माता-पिता भी स्वस्थ रहें। आज तो स्त्री के दो-तीन बच्चे हुए नहीं कि उसके शरीर में बुढ़ापा के चिह्न प्रकट हो जाते हैं। पुरुष के नेत्रों पर चश्मा आ जाता है और मुँह में पत्थर के दाँत लगवाने पड़ते हैं। जिस भारतवर्ष में पहले टी.बी. का नाम नहीं था, वहाँ आज लाखों की संख्या में इस रोग से ग्रसित हैं। विवाहित स्त्री-पुरुषों की बात छोड़िये, अब तो अविवाहित बालक-बालिकायें भी इस रोग की शिकार हो रही है। इस स्थिति में भगवान् ही देश की रक्षा करें। एक राजा ज्योतिष विद्या का बड़ा प्रेमी था। वह मुहूर्त दिखाकर ही स्त्री-समागम करता था। राजा का ज्योतिषी तीन साल में एक बार मुहूर्त निकाल कर देता था। इससे राजा की स्त्री बहुत कुढ़ती रहती थी। एक दिन उसने राजा से कहा कि ज्योतिषीजी आपको तो तीन साल बाद मुहूर्त शोध कर देते हैं और स्वयं निज के लिए चाहे जब मुहूर्त निकाल लेते हैं। उनका पोथी-पत्रा क्या जुदा है? देखो न, उनके प्रति वर्ष बच्चे उत्पन्न हो रहे हैं। स्त्री की बात पर राजा ने ध्यान दिया और ज्योतिषी को बुलाकर पूछा कि महाराज क्या आपका पोथी-पत्रा जुदा है? ज्योतिषी ने कहा—महाराज इसका उत्तर कल राजसभा में दूँगा। दूसरे दिन राजसभा लगी हुई थी। सिंहासन पर राजा आसीन थे। उनके दोनों ओर तीन-तीन वर्ष के अन्तर से हुए दोनों बच्चे सुन्दर वेष-भूषा में बैठे थे। राजसभा में ज्योतिषीजी पहुँचे।

प्रति वर्ष उत्पन्न होनेवाले बच्चों में से वे एक को कन्धे पर रखे थे, एक को बगल में दाबे थे और एक को हाथ से पकड़े थे। पहुँचने पर राजा ने उत्तर पूछा। ज्योतिषी ने कहा—महाराज मुहूर्त का बहाना तो मेरा छल था। यथार्थ बात यह है कि आप राजा हैं। आपकी संतान राज्य की उत्तराधिकारी है। यदि आपके प्रतिवर्ष संतान पैदा होती, तो वह हमारे इन बच्चों के समान होती। एक के नाक बह रही है, एक की आँखों में कीचड़ लग रहा है, कोई चीं कर रहा है, कोई पीं कर रहा है। ऐसी सन्तान से क्या राज्य की रक्षा हो सकती है? हम तो जाति के ब्राह्मण है। हमारे इन बच्चों को राज्य तो करना नहीं है, सिर्फ अपना पेट पालना है, सो येन-केन प्रकारेण पाल ही लेंगे। आपके ये दोनों बच्चे तीन-तीन साल के अन्तर से हुए हैं। दोनों की सूरत मिलान कर लीजिये। राजा ज्योतिषी के उत्तर से निरुत्तर हो गया तथा उसकी दूरदर्शिता पर बहुत प्रसन्न हुआ। यह तो कथा रही, पर मैं आपको एक प्रत्यक्ष घटना सुनाता हूँ। मैं पं०ठाकुरदासजी के पास पढ़ता था। वह बहुत भारी विद्वान् थे। उनकी स्त्री दूसरे विवाह की थी, पर उसकी परिणति की बात हम आपको क्या सुनावें? एक बार पण्डित जी उसके लिए १००) सौ रुपये की साड़ी ले आये। साड़ी हाथ में लेकर वह पण्डितजी से कहती है— पण्डितजी यह साड़ी किसके लिये लाये हैं? पण्डितजी ने कहा कि तुम्हारे लिये लाया हूँ। उसने कहा कि अभी जो साड़ी मैं रोज़ पहिनती हूँ वह क्या बुरी है? बुरी तो नहीं है, पर यह अच्छी लगेगी पण्डितजी ने कहा। यह सुन उसने उत्तर दिया कि मैं अच्छी लगने के लिए वस्त्र नहीं पहनना चाहती। वस्त्र का उद्देश्य शरीर की रक्षा है, सौन्दर्यवृद्धि नहीं और सौन्दर्य वृद्धि कर मैं किसे आकर्षित करूँ ? आपका प्रेम मुझपर है, यही मेरे लिये बहुत है। उसने वह साड़ी अपनी नौकरानी को दे दी और कह दिया कि इसे पहिन कर खराब नहीं करना। कुछ बट्टे से वापिस होगी, सो वापिस कर आ और रुपये अपने पास रख, समय पर काम आवेंगे। जब पण्डितजी के २ सन्तान हो चुकी, तब एक दिन उसने पण्डितजी से कहा कि देखो अपने दो सन्तान एक पुत्र और एक पुत्री हो चुकीं। अब पाप का कार्य बन्द कर देना चाहिये। पण्डितजी उसकी बात सुनकर कुछ हीला-हवाला करने लगे, तो वह स्वयं उठकर उनकी गोद में जा बैठी और बोली कि अब तो आप मेरे पिता तुल्य हैं और मैं आप की बेटी हूँ। पण्डित जी गद्-गद् स्वर से बोले— बेटी! तूने तो आज वह काम कर दिया, जिसे मैं जीवन भर अनेक शास्त्र पढ़कर भी नहीं कर पाया। उस समय से दोनों

ब्रह्मचर्य से रहने लगे। यदि किसी की लड़की या वधू विधवा हो जाती है, तो लोग यह कह कर उसे रुलाते हैं कि हाय तेरी जिन्दगी कैसे कटेगी? पर यह नहीं कहते कि बेटी! तू अनन्त पाप से बच गई, तेरा जीवन बन्धन मुक्त हो गया। अब तू आत्महित स्वतन्त्रता से कर सकती है।

प्रथमानुयोग में एक कथा आती है— किसी आदमी से पानी छानने के बाद जो जीवानी होती है, वह लुढ़क गई। उसने मुनिराज से इसका प्रायश्चित्त पूछा, तो उन्होंने कहा कि,असिधारा व्रत धारण करने वाले स्त्री-पुरुष को भोजन कराओ। महाराज! इसकी परीक्षा कैसे होगी?..... ऐसा उसने पूछा— तो मुनिराज ने कहा कि जब तेरे घर में ऐसे स्त्री-पुरुष भोजन कर जावेंगे, तब तेरे घर का मलिन चंदोवा सफेद हो जावेगा। मुनिराज के कहे अनुसार वह स्त्री-पुरुषों को भोजन कराने लगा। एक दिन उसने एक स्त्री तथा पुरुष को भोजन कराया और देखा कि उनके भोजन करते-करते मैला चंदोवा सफेद हो गया है। आदमी को विश्वास हो गया कि ये ही असिधारा व्रत के धारक हैं। भोजन के बाद उसने उनसे पूछा तो उन्होंने परिचय दिया कि जब हम दोनों का विवाह नहीं हुआ था, उसके पहले हमने शुक्ल पक्ष में और इसने कृष्ण पक्ष में ब्रह्मचर्य रखने का नियम ले रक्खा था। अनजान में हम दोनों का विवाह हो गया। शुक्लपक्ष के बाद कृष्णपक्ष में जब हमने इसके प्रति कामेच्छा प्रकट की, तो इसने उत्तर दिया कि मेरे तो कृष्णपक्ष में ब्रह्मचर्य से रहने-का जीवनपर्यन्त के लिए नियम है। मैं उत्तर सुनकर शान्त हो गया। तदनन्तर जब कृष्णपक्ष के बाद शुक्लपक्ष आया और इसने अपना अनुराग प्रकट किया, तब मैंने कहा कि मैंने शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्य से रहने का नियम जीवनपर्यन्त के लिये विवाह के पूर्व लिया है। स्त्री शान्त हो गई। इस प्रकार स्त्री-पुरुष दोनों साथ-साथ रहते हुए भी ब्रह्मचर्य से अपना जीवन बिता रहे हैं। देखो, उनके संतोष की बात कि सामग्री पास में रहते हुए भी उनके मन में विकार उत्पन्न नहीं हुआ तथा जीवन भर उन्होंने अपना-अपना व्रत निभाया। अस्तु,

दशम अध्याय में आपने मोक्षतत्त्व का वर्णन सुना है। इसमें आचार्य ने मोक्ष का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि **'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः'** अर्थात् बन्ध के कारणों का अभाव और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होने से जो समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है वह मोक्ष कहलाता है। निश्चय से तो सब द्रव्य स्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। जीव स्वतन्त्र है और

कर्मरूप पुद्गल द्रव्य भी स्वतन्त्र है। इनका बन्ध नहीं, जब बन्ध नहीं, तब मोक्ष किसका? इस तरह निश्चय की दृष्टि से तो बन्ध और मोक्ष का व्यवहार बनता नहीं है, परन्तु व्यवहार की दृष्टि से जीव और कर्मरूप पुद्गल द्रव्य का एकक्षेत्रावगाह हो रहा है, इसलिये दोनों का बन्ध कहा जाता है और जब दोनों का एक क्षेत्रावगाह मिट जाता है, तब मोक्ष कहलाने लगता है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू
बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ! तवैव युक्तं
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ।।

अर्थात् बन्ध, मोक्ष, इनके कारण, जीव की बद्ध और मुक्त दशा तथा मुक्ति का प्रयोजन यह सब हे नाथ! आपके ही संघटित होता है, क्योंकि आप स्याद्वाद से पदार्थ का निरूपण करते हैं, एकान्त दृष्टि से आप पदार्थ का उपदेश नहीं देते ।

इस तरह परपदार्थ से भिन्न आत्मा की जो परिणति है वही मोक्ष है। इस परिणति के प्रकट होने में सर्व से अधिक बाधक मोह-कर्म का उदय है, इसलिये आचार्य महाराज ने आज्ञा की है कि सर्वप्रथम मोहकर्म का क्षय कर तथा उसके बाद शेष तीन घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करो। उसके बाद ही अन्य अघातिया-कर्मों का क्षय होने से मोक्ष प्राप्त हो सकेगा। मोह के निकल जाने तथा केवल ज्ञान के हो जाने पर भी यद्यपि पचासी प्रकृतियों का सद्भाव आगम में बताया है तथापि वह जली हुई रस्सी के समान निर्बल है-

ध्यान कृपाण पाणि गहि नाशी त्रेसठ प्रकृति अरी ।
शेष पचासी लाग रही हैं ज्यों जेवरी जरी ।।

परन्तु इतना निर्बल नहीं समझ लेना कि कुछ कर ही नहीं सकती हैं। निर्बल होने पर भी उनमें इतनी शक्ति है कि वे देशोन कोटि पूर्व तक इस आत्मा को केवल ज्ञान हो जानेपर भी मनुष्य शरीर में रोके रहती हैं। फिर निर्बल कहने का तात्पर्य यही है कि वे इस जीव को आगे के लिये बन्धन युक्त नहीं कर सकतीं। परम् यथाख्यातचारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। अतः वहीं शुक्लध्यान के चतुर्थ पाये के प्रभाव से उपान्त्य तथा अन्तिम समय में बहत्तर और तेरह प्रकृतियों का क्षय कर यह जीव सदा के लिये मुक्त हो जाता है तथा

ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एक समय में सिद्धालय में पहुँच कर विराजमान हो जाता है। यही जैनागम में मोक्ष की व्याख्या है।

त्रयोदशी और चतुर्दशी के दिन नगर के मन्दिरों के दर्शनार्थ जुलूस निकले। क्षमावणी के दिन विद्यालय के प्राङ्गण में श्रीजिनेन्द्रदेव का कलशाभिषेक हुआ। क्षमाधर्म पर विद्वानों के भाषण हुए। असौज वदी ४ को जयन्ती उत्सव हुआ। बाहर से भी अनेक महानुभाव पधारे। दिल्ली से राजकृष्ण तथा फिरोजाबाद से श्री लाला छदामीलालजी भी आये। आपने फिरोजाबाद के मेला की फिल्म दिखलाई तथा राजकृष्ण जी ने उसका परिचय दिया। जिसे देख-सुनकर जनता प्रसन्न हुई।

विचार-कण

दीपावली के पूर्व धन्वन्तरि त्रयोदशी (धनतेरस) का दिन था। मन में विचार आया कि आज के दिन सब लोग नया बर्तन खरीदते हैं, अत: हम भी आज से प्रतिदिन एक एक नया बर्तन खरीदें। वर्तन नाम विचार का है। उस दिन से हमने कुछ दिन तक प्रतिदिन जो वर्तन खरीदे, उनका संचय इस प्रकार है—

'संसार में वही मनुष्य वन्दनीय होते हैं, जिन्होंने ऐहिक और पारलौकिक कार्यों से तटस्थ रहकर आत्मकल्याण के अर्थ स्वकीय परिणति को निर्मल बना लिया है।'

'जो अवस्था आवे, उसे अपनाने का प्रयत्न मत करो। पुण्य-पाप दोनों ही विकार परिणाम है, इनकी उपेक्षा करो।'

'प्रभु कोई अन्य नहीं, आत्मा ही प्रभु है और वही अपनी रक्षा करनेवाला है। अन्य को रक्षक मानना ही महती अज्ञानता है।'

'किसी को तुच्छ मत बना, अपनी प्रशंसा की लिप्सा ही दूसरे को तुच्छ बतलाती है।'

'स्वतन्त्रता ही संसार-बल्लरी की सत्ता को समूल नाश करनेवाली असिधारा है और पराधीनता ही संसार की जननी है।'

'ईश्वर अन्य कोई नहीं। आत्मा ही सर्व शक्तिमान् है। यही संसार में अपने पुरुषार्थ के द्वारा रङ्क से इतना समर्थ हो जाता है कि संसार को इसके अनुकूल बनते देर नहीं लगती।'

'यदि आत्मकल्याण की अभिलाषा है, तो पर की अभिलाषा त्यागो।'

'कल्याण का मार्ग निश्चिन्त दशा में है। जब आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, तब उसे परतन्त्र बनाना ही बन्धन का कारण है।'

'कल्याण का मार्ग अति सुलभ है परन्तु हृदय में कठोरता नहीं होनी चाहिये।'

'इस संसार में जो शांति से जीवन बिताना चाहते हैं, उन्हें पर की चिंता त्यागना चाहिये तथा स्वयं का इतना स्वच्छ आचरण करना चाहिए कि जिससे पर को कष्ट न हो।

'किसी को वह उपदेश नहीं देना चाहिये, जिसे तुम स्वयं करने में असमर्थ हो।'

'मन को काबू करना कठिन नहीं, क्योंकि वह स्वयं पराधीन है। वह तो अश्व के सदृश हैं। सवार उसे चाहे, जहाँ ले जा सकता है।'

'समय का सदुपयोग करो। पुस्तकों के ऊपर ही विश्वास मत करो। अन्तःकरण से भी तत्त्व को देखो।'

'पर की आशा त्यागो। परावलम्बन से कभी किसी का कल्याण नहीं हुआ।'

'निरन्तर यही भावना रक्खो कि स्वप्न में भी मोह के अधीन न होना पड़े। जो आत्मा मोह के अधीन रहता है, वह कदापि सुख का पात्र नहीं हो सकता।'

'मोह क्या है? यह यदि ज्ञान में आ जावे, तो निर्मोह होना कुछ कठिन नहीं।'

'आहारत्याग का नाम उपवास नहीं, किन्तु आहारसम्बन्धी आशा का त्याग ही उपवास है।'

'जो कार्य करना चाहते हो, प्रथम उसके करने का दृढ़ संकल्प करो, अनन्तर उसके कारणों का संग्रह करो। जो बाधक कारण हों, उनका परित्याग करो।'

'बहुत मत बोलो। बोलना ही फँसने का कारण है। पक्षी बोलने से जाल में फँसता है।'

'उपयोग की स्वच्छता ही अहिंसा है-रागादि परिणामों की अनुत्पत्ति ही अहिंसा है।'

'शान्ति के पाठ से शान्ति नहीं, किन्तु अशान्ति के कारण दूर करने से शान्ति प्राप्त होती है।'

'बाह्य वेष से पर की वञ्चना करनेवाला स्वयं आत्मा को दु:ख के सागर में डालता है। जो ईधन पर को दग्ध करने के अभिप्राय से अग्नि का समागम करता है, वह स्वयं भस्म हो जाता है।'

'आत्मा का परिचय होना उतना कठिन नहीं, जितना आत्मा को जानकर आत्मनिष्ठ होना कठिन है।'

'यदि अशान्ति का साक्षात् अनुभव करना है, तो समाज के कार्यों में अग्रेसर बन जाओ।'

'यदि हम चाहें, तो प्रत्येक अवस्था में सुख का अनुभव कर सकते हैं। सुख कोई बाह्य वस्तु नहीं। आत्मा की वह परिणति है, जहाँ पर आत्मा आकुलता के कारणों से अपने को रक्षित रखती है।'

'स्वाधीनता कहो या यह कहो पर के अवलम्बन का त्याग। जो मानव इस संकल्प-विकल्प से जायमान विविध प्रकार की वेदनाओं का अभाव करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि परपदार्थों का अपनाना त्यागें।'

'प्रशंसा की इच्छा से कार्य आरम्भ करना आत्मा को पतित बनाने की कला है।'

'अपनी सुध भूलकर यह आत्मा दु:ख का पात्र बना। गृहस्थों के जाल में आकर जैसे चुग के लोभ से चिड़ियाँ फँस जाती हैं, वैसे ही त्यागी वर्ग मोह-जाल में फँस जाता है।'

'आत्माराम अकेला आया और अकेला ही जावेगा। कोई भी इसका साथी नहीं, अन्य की क्या कथा, शरीर भी सुख-दु:ख भोगने में साथी नहीं।'

'शुद्ध हृदय की भावना नियम से फलीभूत होती है। निर्माय (मायारहित) ही कार्य सफल होता है।'

'पर का भय मत करो। पर को अपनाना छोड़ो। पर को अपनाना ही राग-द्वेष में निमित्त है।'

'भय से व्यवहार करना, आत्मा की वञ्चना है। मोक्षमार्ग का सुगमोपाय अपनी अहम्बुद्धि त्यागो। मैं कौन हूँ? इसे जानो। इसे जानना कुछ कठिन नहीं। जिसमें यह प्रश्न हो रहा है, वही तो तुम हो।'

'आत्मज्ञान होना कठिन नहीं, किन्तु पर से ममता-भाव त्यागना अति कठिन है।'

'सुख-शान्ति का लाभ परमेश्वर की देन नहीं, उपेक्षा की देन है।'

'शान्त मनुष्य वह हो सकता है, जो अपनी प्रशंसा को नहीं चाहता।'

'पर की समालोचना न करो और न सुनो।'

'धन अधिक संग्रह करना चोरी है, इसलिये कि तुमने अन्य का स्वत्व हरण कर लिया।'

'राग द्वेष घटाने से घटता है, किन्तु उसके प्राक्-मोह का नाश करो। मोह के नशा में आत्मा उन्मत्त हो जाता है।'

'यदि शान्ति चाहते हो, तो स्थिर चित्त रहो। व्यग्रता ही संसार की दादी है। यदि संसार में रुलने की इच्छा है, तो इस दादी के पुत्र से स्नेह करो।'

'यदि परोपकार करने की भावना है, तो उसके पहले आत्मा को पवित्र बनाने का प्रयत्न करो।'

'परोपकार की भावना उन्हीं की होती है, जो मोही हैं। जिनकी सत्ता से मोह चला गया, वे पर को पर समझते हैं तथा आत्मीय वस्तु में जो राग है, उसे दूर करने का प्रयास करते हैं।'

'ज्ञानार्जन करना उत्तम है, किन्तु ज्ञानार्जन के बाद यदि आत्महित में दृष्टि न गई, तब जैसा धनार्जन वैसा ज्ञानार्जन।'

'मनुष्य वही है, जिसने मानवता पर विश्वास किया।'

लोभ पाप का बाप है। इसके वशीभूत होकर मनुष्य जो-जो अनर्थ करते हैं वह किसी से गुप्त नहीं।'

'अपने लक्ष्य से च्युत होनेवाले मनुष्य के कार्य प्रायः निष्फल रहते हैं।'

जितना अधिक संग्रह करोगे, उतना ही अधिक व्यग्र होगे।'

जो सुख चाहत आतमा तज दो अपनी भूल ।
परके तजने से कहीं मिटे न निजकी शूल ।।
जो आनन्द स्वभावमय ज्ञानपूर्ण अविकार ।
मोहराज के जाल में सहता दुःख अपार ।।
जो सुख है निज भाव में कहीं न इस जग बीच ।
परमें निज की कल्पना करत जीव सो नीच ।।
जो नाही दुःख चाहता तज दे परकी ओट ।
अग्नी संगत लोह की सहती घन की चोट ।।
परकी संगति के लिये होता मन में रङ्ग ।
लोह अगनि संगति पिटे होत तप्त सब अङ्ग ।।
गल्पवाद में दिन गया सोवत बीती रात ।
तोय विलोलत होत नाहिं कभी चीकने हात ।।
जो चाहत दुःख से बचें करो न पर की चाह ।
पर पदार्थ की चाह से मिटे न मनकी दाह ।।
बहु सुनवो कम बोलवो यो है चतुर विवेक ।
तब ही तो विधिने रच्यो दोय कान जिभ एक ।।
जो चाहत निज रूप तजहु परिग्रह कामना ।
तिन सम नाहीं भूप अर्थ, चाह जिनके नहीं ।।

स्वराज्य मिला पर सुराज्य नहीं

लिखना सरल है—स्वराज्य मिल गया, परन्तु मानवों को शान्ति नहीं। अन्नादि खाद्य-सामग्री की न्यूनता हो रही है, अनेक मनुष्य बेकार हैं, यन्त्रविद्या की प्रचुरता होने से अनेक कार्य करनेवाले बेकार हो गये, लोगों के हृदय में स्वकीय कार्य के प्रति निष्ठा नहीं, नौकरी की टोह में प्रायः सब घूमते हैं, दैवी विपत्ति निरन्तर आती रहती है, पशु-धन की हानि हो रही है, राज्य ने पशुओं के लिये चारे तक का स्थान नहीं रहने दिया, सब पर अपना अधिकार कर लिया. इसलिये पशुधन को चारा तक नहीं मिलता, शुद्ध घी, दूध भक्षण में नहीं आता, मनुष्यों का नैतिक बल उत्तरोत्तर घटता जा रहा है, डाकेजनी का प्रचार बढ़ गया है, ग्रामीण लोग नगरों को सब सामग्री तैयार कर देते हैं, परन्तु इस समय वे असुरक्षा का अनुभव कर रहे हैं, घूसखोरी का जोर बढ़ रहा है, प्रायः अधिकांश लोग पदलिप्सा की दौड़ में एक दूसरे को पीछे छोड़ स्वयं आगे बढ़ जाना चाहते हैं, आज यदि

कुछ मूल्य रह गया मनुष्य का, तो मनुष्य के स्वार्थ के लिये अन्य समस्त वध्य हो रहे हैं, जैसे मानों उनमें जीव ही न हो, चरखा का स्थान चक्र ने ले लिया है, गाय, भैंस, बकरा, बकरियों की परवाह नहीं रही, बन्दरों पर भी बारी आ गई, तालाबों की मछलियाँ भी अब सुरक्षित नहीं रहीं, न्यायालयों का न्याय समय-साध्य तथा द्रव्य-सापेक्ष हो गया, जनता के हृदय में स्वराज्य के लिये जो उत्साह था, वह निराशा में परिणत हो रहा है, देश की जनता करों के भार से त्रस्त है और ऋण के भार से दब रही है। इन सब कारणों को देखते हुए हृदय से निकलने लगता है कि स्वराज्य तो मिला पर सुराज्य नहीं। स्वराज्य तो अँग्रेजों ने दे दिया, पर सुराज्य देनेवाला कोई नहीं। यह तो स्वयं अपने आप से लेना है। देश की जनता देश के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ हो, अपने स्वार्थ में कमी करे, बढ़ती हुई तृष्णाओं को नियन्त्रित करे, गाँधीजी के सिद्धान्तानुसार यान्त्रिक विद्या की प्रचुरता को कमकर हस्तोद्योग को बढ़ावा दे, परिश्रम की प्रतिष्ठा करे और अहिंसा को केवल वाचनिक रूप न दे, प्रयोग में लावे, तो सुराज्य प्राप्त हो सकता है।

गिरिराज के लिए प्रस्थान

पौष कृष्णा अमावस्या सं० २००९ की रात्रि थी। आकाश में माघवृष्टि के मेघ छाये थे। रात्रि के समय अचानक वर्षा शुरू होने से निद्रा भङ्ग हो गई। मन में नानाप्रकार के विकल्प उठने लगे। विचार आया कि तेरी आयु ७९ वर्ष की हो गई, फिर भी इस चक्र में पड़ा है। कभी ललितपुर, कभी सागर, कभी जबलपुर, कभी सागर विद्यालय और कभी बनारस विद्यालय। शरीर की शक्ति दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जाती है। भाग्यवश एक बार श्रीपार्श्वप्रभु के पादमूल में पहुँच गया था, परन्तु मोह के जाल में पड़, वहाँ से वापिस आ गया। पक्वपानवत् शरीर की अवस्था है। न जाने कब डाल से नीचे झड़ जाय, इसलिये जब तक चलने की सामर्थ्य है, तब तक पुनः श्रीपार्श्वनाथ भगवान् के पादमूल में पहुँचने का विचार कर। जहाँ से अनन्तानन्त तीर्थकरों ने तथा वर्तमान में बीस तीर्थकरों ने निर्वाण प्राप्त किया, उस स्थान से बढ़कर समाधि के लिये अन्य कौन स्थान उपयुक्त होगा? वहाँ निरन्तर धार्मिक-पुरुषों का समागम भी रहता है। सागर में तूँ बहुत समय रहा है, अतः यहाँ के लोगों से आत्मीयवत् स्नेह है। श्रीभगवतीआराधना में लिखा है कि सल्लेखना करने के लिए अपना संघ अथवा अपना परिचित स्थान छोड़कर अन्यत्र चला जाना चाहिये, जिससे अन्तिम-क्षण

किसी प्रकार की शल्य अथवा चिन्ता आत्मा में न रह सके। उक्त विचारधारा में निमग्न रहते हुए, लगभग १ घण्टा व्यतीत हो गया। उठकर समयसार का स्वाध्याय किया। तदनन्तर सामायिक में बैठा। सामायिक में भी यही विकल्प रहा कि जितना जल्दी हो यहाँ से गिरिराज के लिये प्रस्थान कर देना चाहिये। आकाश मेघाच्छन्न था, इसलिये तत्काल तो यह विचार कार्य-रूप में परिणत नहीं कर सका, पर मन में जाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। मैंने यह विचार मन में ही रक्खा कारण यदि प्रकट करता तो सागर के लोग रोकने का प्रयास करते और मैं उनके संकोच में पड़ जाता। २ दिन बाद ईसरी से श्रीभगत सुमेरुचन्द्रजी का पत्र आया कि आप जिस दिन ईसरी आ जावेंगे, मैं उसी दिन नवमी प्रतिमा के व्रत धारण कर लूँगा। भगत जी के पत्र से मुझे और भी प्रेरणा मिली, जिससे मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि गिरिराज अवश्य जाना। यद्यपि शरीर शक्तिहीन हैं, तथापि श्रीपार्श्वप्रभु में इतना अनुराग है कि वे पूर्ण बल प्रदान करने में निमित्त होंगे।

पौषशुक्ला ११ संवत् २००९ को भोजन के उपरान्त मैंने लोगों के समक्ष अपना विचार प्रकट कर दिया कि मैं आज गिरिराज के लिये १ बजे प्रस्थान करूँगा। यह खबर सारे शहर में बिजली की भाँति फैल गई, जिससे बहुत से लोग एकत्र हो गये और रोकने का प्रयत्न करने लगे। परन्तु मैं अपने विचार से विचलित नहीं हुआ। लोगों के आवागमन के कारण १ बजे तो प्रस्थान नहीं कर पाया, परन्तु ३ बजे प्रस्थान कर चल दिया। मार्ग में बहुत भीड़ हो गई। मैं जाकर गोपालगंज के मन्दिर में बाहर जो कमरे हैं, उनमें ठहर गया। रात्रि के १० बजे तक लोगों का आना-जाना बना रहा। सेठ भगवानदासजी, बालचन्द्रजी मलैया आदि अनेक पुरुष आये, पर मैं किसी के चक्र में नहीं आया।

दूसरे दिन प्रातःकाल गोपालगंज के मन्दिर में शास्त्र-प्रवचन हुआ। भोजनोपरान्त सामायिक किया। तदनन्तर १ बजे चल दिया। यूनीवरसिटी के मार्ग से चलकर शाम के ५ बजे गमीरिया पहुँच गये। यहाँ तक सागर के अनेक महानुभाव पहुँचाने आये। गाँव के जमींदार ने सत्कारपूर्वक रात्रिभर रक्खा। जो अन्य लोग गये थे, उन्हें दुग्ध पान कराया। खेद इसका है कि हम लोग किसी दूसरे को अपनाते नहीं। धर्म को हम लोगों ने अपनी सम्पत्ति मान रक्खा है।

कटनी

गमीरिया से ४ मील चलकर बमोरी में आहार किया, तदनन्तर सानोधा और पड़रिया ठहरते हुए आगे बढ़े। पड़रिया से ३ मील चलकर १कूप पर भोजन हुआ। स्थान अति रम्य और सुखद था। ऐसे स्थानों पर मनुष्यों को स्वाभाविक निर्मलता आ जाती है, परन्तु हम लोग उन परिणामों को यों ही व्यय कर देते हैं। यहाँ पर ईसरी से श्रीसुमेरुचन्द्रजी भगत आ गये। आप बहुत ही विलक्षण प्रकृति के हैं प्राय: सबकी समालोचना करने में नहीं चूकते। अस्तु, उनकी प्रकृति है, उसे हम निवारण नहीं कर सकते। अच्छा तो यही था कि इसके विरुद्ध वे अपनी समालोचना करते । यहाँ से गोरा, सासा, शाहपुर, टड़ा आदि स्थानों में ठहरते हुए माघ शुक्ला ११ को दमोह आ गये। लोगों ने सम्यक् स्वागत किया। प्रात:काल धर्मशाला के विशाल-भवन में प्रवचन हुआ। एक सहस्र संख्या एकत्र हुई। लोगों की भीड़ देखकर लगने लगता है कि प्राय: सर्व लोग धर्म के पिपासु हैं, परन्तु कोई इन्हें निरपेक्षभाव से धर्मपान करानेवाला नहीं है। पं० जगन्मोहनलालजी आ गये। आपने अपने प्रवचन में संगठन पर बहुत बल दिया, परन्तु लाभांश कुछ नहीं हुआ। केवल वाह-वाह में व्याख्यान का अन्त हो गया। गल्पवाद की बहुलता से संसार व्यामूढ़ हो रहा है। यहीं पर श्री १०८ मुनि आनन्दसागरजी भी थे। उनके दर्शन करने के लिए गये। सेठ लालचन्द्रजी से भी वार्तालाप हुआ। आप विद्वान् हैं, धनी हैं, परन्तु समाज आपसे लाभ लेना नहीं जानती।

दमोह से हिंडोरिया तथा पटेरा में ठहरते हुए श्रीअतिशयक्षेत्र कुण्डलपुरजी पहुँच गये। बड़ा रमणीय क्षेत्र है। कुण्डलाकार पर्वत पर सुन्दर मन्दिर बने हैं। नीचे तालाब है। उसके समीप भी अनेक मन्दिर बने हैं। ऊपर श्री भगवान् महावीरस्वामी की सातिशय विशाल प्रतिमा है। मेला का समय था। लगभग ४ सहस्र आदमी थे। मेला सानन्द सम्पन्न हुआ। पं० जगन्मोहनलालजी के पहुँच जाने से अच्छी प्रभावना तथा क्षेत्र को अच्छी आय हुई। लोगों में जागृति हुई। जनता धर्मपिपासु थी। एक दिन पर्वत पर स्थित श्रीमहावीरस्वामी के दर्शन किये। चित्त में असीम हर्ष उत्पन्न हुआ। यहाँ से बीच के कई स्थानों में ठहरते हुए फाल्गुन कृष्णा १० को कटनी आ गये। बीच का मार्ग पहाड़ी-मार्ग था, अत: कष्ट हुआ, परन्तु यथास्थान पहुँच गया। कटनी की जनता ने स्वागत किया। दूसरे दिन प्रात:काल मन्दिर में प्रवचन हुआ। समयसार ग्रन्थ सामने था, इसलिये उसी का

मङ्गलाचरण कर प्रवचन प्रारम्भ किया। मैंने कहा श्रीकुन्दकुन्द भगवान् ने ८४ प्राभृत बनाये हैं। उनमें कतिपय अब भी प्रसिद्ध हैं। उन प्रसिद्ध प्राभृतों में समयसार की बहुत प्रसिद्धि है। यद्यपि श्री स्वामी ने जो कुछ लिखा है, वह सभी मोक्षमार्ग का पोषक है, परन्तु कई व्यक्ति समयसार को ही बहुत महत्त्व देते हैं, यह व्यक्तिगत विचार है। इसके हम निवारक कौन होते हैं? फिर भी हमारी बुद्धि में जो आया उसे स्वीय अभिप्राय के अनुकूल कुछ लिखते हैं।

श्रीस्वामी ने प्रथमगाथा में सिद्धभगवान् को नमस्कार कर यह प्रतिज्ञा की कि मैं समयप्राभृत का परिभाषण करूँगा और यह भी लिखा कि श्रुतकेवली भगवान् ने जैसा कहा, वैसा करूँगा। इससे यह द्योतित होता है कि वर्तमान में हमारी आत्मा में सिद्ध पर्याय नहीं है, अर्थात् संसार पर्याय है। श्रुतकेवली ने जैसा कहा, इससे यह द्योतित होता है कि परम्परा से यह उपदेश चला आया है। मैं वैसा ही कहूँगा, इससे यह ध्वनि निकलती है कि मेरे अनुभव में भी आ गया है। निरूपण करने का यह प्रयोजन है कि अनादिकाल से जो स्व-पर में मोह है, उसका नाश हो जावे। इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि स्वामी के धर्मानुराग है और यही धर्मानुराग उपचार से शुद्धोपयोग का कारण भी कहा जाता है। स्वामी ने प्रतिज्ञा की कि मैं समयप्राभृत कहूँगा। यहाँ आशङ्का होती है कि समय क्या पदार्थ है? इस आशङ्का का स्वयं स्वामी उत्तर देते हैं कि जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र में स्थित है उसे स्वसमय और जो इससे भिन्न पुद्गल कर्मप्रदेश में स्थित है उसे परसमय कहते हैं। यह दोनों जिसमें पाये जावें उसी का नाम जीव जानो, चाहे समय जानो। इसके बाद स्वामी ने द्वैविध्य को आपत्तिजनक बतलाया अर्थात् यह द्वैविध्य शोभनीक नहीं, एकत्व प्राप्त जो समय है वही सुन्दर है। जहाँ द्विविध हुआ, वहाँ ही बन्ध है, संसार है। जैसे माँ के पुत्र पैदा होता है, तो स्वतन्त्र होता है। जहाँ उसका विवाह हुआ पर को अपनाया ब्रह्मचारी से गृहस्थ हुआ, वहाँ उसकी स्वतन्त्रता का हरण हो गया वह संसारी बन गया। इसी तरह आत्मा ने जहाँ परको अपनाया, वहाँ उसका एकत्व चला गया। क्यों दुर्लभ हो गया? इसका उत्तर यह कि अनादि से काम-भोग की कथा सुनी, वही परिचय में आई और वही अनुभव में आई। आत्मा का जो एकत्व था, उसे कषायचक्र के साथ एकमेक होने से न तो सुना, न परिचय में लाया और न अनुभव में लाया। इस पर श्री आचार्य लिखते हैं कि मैं उस आत्मा के एकत्व का जो सर्वथा पर से भिन्न है, अपने विभव के अनुसार निरूपण करूँगा। मेरा विभव यह है कि मैंने स्याद्वाद

पद भूषित शब्द ब्रह्म का अच्छा अभ्यास किया। है, एकान्तवाद द्वारा जो उसकी बाधक युक्तियाँ हैं, उनको निरस्त करने में समर्थ युक्तियों की पूर्णता प्राप्त की है, परापर गुरुओं का उपदेश भी मुझे प्राप्त है, तथा वैसा अनुभव भी है। इतने पर भी यदि अच्छा न जँचे, तो अनुभव से परीक्षा कर पदार्थ का निर्णय करना, छल ग्रहण कर अमार्ग का अवलम्बन मत करना।

अब स्वयं स्वामी उस केवल आत्मा को कहते हैं, जो न तो अप्रमत्त है और न प्रमत्त है, केवल ज्ञायकभाववाला है, उसी को शुद्ध कहते हैं, वही ज्ञाता है अर्थात् आत्मा की कोई अवस्था हो, वह ज्ञायकभाव से शून्य नहीं होती। जैसे मनुष्य की बाल्यादि अनेक अवस्थाएँ होतीं हैं, परन्तु वे ज्ञायकभाव से शून्य नहीं होती। यही कारण है कि आत्मा का लक्षण अन्यत्र चेतना कहा है। कतृ-कर्माधिकार में आत्मा में कर्तृत्व तथा कर्मत्व हो सकता है या नहीं? इस पर विचार किया है। यह विचार २ दृष्टियों से हो सकता है— एक तो शुद्ध दृष्टि से और दूसरा अशुद्ध दृष्टि से। कर्ता किसे कहते है जो परिणमन करता है, वह कर्त्ता है और जो परिणमन होता है, वह कर्म है। कर्तृ-कर्माधिकार में जो दिखाया है वह निमित्त की गौणता कर दिखाया है। उसे लोक सर्वथा मान लेते हैं, यही परस्पर विवाद का स्थल बन जाता है।

अमृतचन्द्र स्वामी ने मङ्गलाचरण में लिखा है कि मैं एक कर्ता हूँ और ये जो क्रोधादिक भाव हैं, ये मेरे कर्म है, ऐसी अज्ञानी जीवों की अनादि काल से कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति चली आती है, परन्तु जब सब द्रव्यों को भिन्न-भिन्न दर्शानेवाली ज्ञानज्योति उदय को प्राप्त होती है, तब यह सब नाटक शान्त हो जाता है। इससे यह निश्चय हुआ कि यह नाटक, जब तक इसकी विरोधी ज्ञानज्योति उदित नहीं हुई, तब तक सत्य है। आपकी इच्छा, चाहे इसे व्यवहार कहो या अशुद्ध दशा कहो।

जीव की दो पर्याय होती हैं-एक संसार और दूसरी मोक्ष। हम तो दोनों पर्यायों को सत्य मानते हैं। जब कि ये अपने-अपने कारणों से होती हैं, तब एक को सत्य और दूसरी को असत्य मानना, यह हमारे ज्ञान में नहीं आता। हाँ, यह अवश्य है कि एक पर्याय अनादि-सान्त है और दूसरी सादि-अनन्त है। इन दोनों पर्यायों का आधार आत्मा है, एक पर्याय आकुलतामय है, क्योंकि उसमें परपदार्थों का सम्पर्क है और दूसरी आकुलता से रहित है, क्योंकि उसमें परपदार्थों का सम्पर्क

दूर हो गया है। जहाँ परपदार्थ के सम्पर्क को जीव निज मानता है और जहाँ पर में निजत्व की कल्पना करता है, वहीं आपत्तियों की उत्पत्ति होने लगती है। कर्तृ-कर्माधिकार में स्वामी ने यही तो लिखा है कि जब तक आत्मा आस्रव और आत्मा के विशेष अन्तर को नहीं जानता, तब तक यह अज्ञानी है और इस अवस्था में क्रोधादि में प्रवृत्ति करता है। यहाँ क्रोध उपलक्षण है, अत: मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग का ग्रहण समझना चाहिये। क्रोधादि कषायों में प्रवर्तमान जीव के कर्मों का संचय होता है। इस तरह भगवान् ने जीव के बन्ध होता है, यह बतलाया है। आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है अर्थात् आत्मा का ज्ञान के साथ जो सम्बन्ध है वह कृत्रिम नहीं, किन्तु अनादिकाल से चला आया है। यही कारण है कि आत्मा नि:शङ्क होकर ज्ञान में प्रवृत्ति करता है। करता क्या है? स्वाभाविक यह प्रवाह चल रहा है और चलता रहेगा। इसी तरह यह जीव संयोगसिद्ध सम्बन्ध से युक्त जो क्रोधादिक भाव हैं, उनके विशेष अन्तर को न जानता हुआ अज्ञान के वशीभूत हो उनमें प्रवृत्ति करता है। यह जीव जिस काल में क्रोधादि को निज मानता है, उस काल में क्रोधादिक भावरूप क्रिया परभाव होने से यद्यपि त्याग-योग्य है, तो भी उस क्रिया में स्वभावरूप का निश्चय होने से, यह उन्हें उपादेय मानता है, जिससे कभी क्रोध करता है, कभी राग करता है और कभी मोह करता है, यहाँ पर आत्मा अपनी उदासीन अवस्था का त्याग कर देती है, अतएव इन क्रोधादिक भावों का कर्ता बन जाती है और ये क्रोधादिक इसके कर्म होते हैं। इस प्रकार से यह अनादिजन्य कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति धारावाही रूप से चली आ रही है। अतएव अन्योन्याश्रय दोष का यहाँ अवकाश नहीं।

यहाँ पर क्रोधादिक के साथ जो संयोग सम्बन्ध कहा है, इसका क्या तात्पर्य यह है— क्रोध तो आत्मा का विकृत भाव है और ऐसा नियम है कि द्रव्य जिस काल में जिस रूप परिणमता है, उस काल में तन्मय हो जाता है। जैसे लोह का पिण्ड जिस समय अग्नि से तपाया जाता है, उस समय अग्निमय हो जाता है। एवं आत्मा जिस समय क्रोधादिरूप परिणमता है, उस काल में तन्मय हो जाता है, फिर क्रोधादिको के साथ संयोग सम्बन्ध कहना संगत कैसे हुआ यह आपका प्रश्न ठीक है, किन्तु यहाँ जो वर्णन है, वह औपाधिक भावों को निमित्तजन्य होने से निमित्त की मुख्यता कर निमित्त के कह दिये हैं, ऐसा समझना चाहिये। क्रोधादिक भाव चारित्रमोह के उदय से उत्पन्न होते हैं, चारित्रमोह पुद्गल

द्रव्य है। उसका आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध है, अत: उसके उदय में होने वाले क्रोधादि का भी संयोग सम्बन्ध कह दिया। मेरी तो यह श्रद्धा है कि रागादिक तो दूर रहो, मतिज्ञानादिक भी क्षयोपशमजन्य होने से निवृत्त हो जाते हैं।

अपनी परिणति अपने आधीन है, उसे पराधीन मानना ही अनर्थ की जड़ है और अनर्थ ही संसार का मूल स्वरूप है। अनर्थ कोई पदार्थ नहीं। अर्थ को अन्यथा मानना ही अनर्थ है।

कटनी में बनारस से पण्डित कैलाशचन्द्रजी भी आ गये। यहाँ की संस्थाओं का उत्सव हुआ। पं० जगन्मोहनलालजी ने संस्थाओं का संक्षिप्त विवरण सुनाया। लोगों ने यथाशक्ति संस्थाओं की सहायता की। बहुत सहायता की संभावना थी, परन्तु आजकल लोग एक काम नहीं करते। एक उत्सव में अनेक कार्यों का आयोजन कर लेते हैं। फल एक का भी पूर्ण नहीं हो पाता। कुण्डलपुर क्षेत्र की अपील हुई, तो उसे भी सहायता मिल गई। पण्डित कैलाशचन्द्रजी का भी व्याख्यान हुआ। यहाँ ५ दिन रहना पड़ा। यहाँ पर जबलपुर से बहुत अधिक मनुष्य आये। सबका अत्यन्त आग्रह था कि जबलपुर चलिये, परन्तु हम अपने निश्चय से विचलित नहीं हुए।

बनारस की ओर

श्री चम्पालालजी सेठी गयावाले मोटर लेकर पहले ही आ गये थे। मोटर में साथ के लोगों का सामान जाता था तथा उसके द्वारा आगामी निवास की व्यवस्था हो जाती थी। श्री चम्पालालजी व्यवस्था में बहुत पटु हैं, अन्तरङ्ग से स्वच्छ हैं। फाल्गुन कृष्णा १४ को संध्याकाल कटनी से ४ मील चलकर चाका में ठहर गये। प्रात: ३ मील चलकर कैलवार के जंगल में एक बंगला था, उसमें ठहर गये। वहीं पर भोजन हुआ। मध्याह्न के बाद यहाँ से २ मील चलकर टिकरवारा ग्राम में ठहर गये। आनन्द से रात्रि बीती। यहाँ पर रात्रि को समयसार का निर्जराधिकार पढ़कर परम प्रसन्नता हुई। निर्जरा प्राणी मात्र के होती है, परन्तु नवीन कर्मबन्धन होने से गजस्नानवत् उसका कोई मूल्य नहीं होता। यहाँ से ३ मील चलकर १ स्कूल में ठहर गये। इस ग्राम का नाम झकोही था। यहाँ पर कटनी से बहुत मनुष्य आये। हृदय में प्रेम था। सब कुछ होना सरल है, परन्तु प्रेम पर विजय पाना अति दुश्कर है। यहाँ से ३ मील चलकर सवागाँव के स्कूल

में निवास किया। रात्रि को प्रवचन किया। मास्टर लोग आये। सभ्यता की पराकाष्ठा थी। अभी भारत में अतिथियों का सम्मान है।

यहाँ से चलकर ३ मील पर श्री गोकुल साधु की कुटिया में निवास किया। आपने बड़े आदर से स्वागत किया, शाक आदि सामग्री दी तथा साथ में सांयकाल २ मील आये। पकरिया ग्राम में एक राजपूत के मकान में ठहर गये। स्थान बहुत ही स्वच्छ था। रात्रि सानन्द बीती। प्रात: ४ मील चलकर अमदरा आ गये। यहीं पर भोजन हुआ। यहाँ से ४ मील चलकर घुनवारा की धर्मशाला में आ गये। यहीं पर श्री भगवानदासजी सेठ सागर से आये। साथ में श्री रामचरणलाल तथा मुन्नालालजी कमरया थे। रात्रि सुख से बीती। प्रात:काल ४ मील चलकर मदनपुर के बगीचा में ठहर गये। यहीं पर भोजन हुआ। यहाँ से ४ मील चलकर सड़क के किनारे धर्मशाला में ठहर गये। प्रात:काल ३ मील चलकर पौंड्री आ गये। यहीं पर आहार किया। यहाँ १ ठाकुर जागीरदार आये। बहुत सज्जन हैं। यहाँ से चलकर ५ बजे मैहर आं गये। रात्रि को श्री नाथूरामजी ब्रह्मचारी ने प्रवचन किया। समुदाय अच्छा था। दूसरे दिन कटनी से पं०जगन्मोहनलालजी आये। प्रात:काल हमारा प्रवचन हुआ। २ बजे से सभा हुई, जिसमें पण्डितजी का भक्तिमार्गपर सुन्दर विवेचन हुआ। जनता मुग्ध हो गई। हमने भी कुछ उपदेश दिया। लोगों को रुचिकर हुआ। यहाँ पर पूर्णचन्द्रजी बहुत सज्जन हैं। आपकी वृत्ति अत्यन्त उत्तम है। व्यापार करने में न्याय का त्याग नहीं। राजाज्ञा का उल्लंघन भी आप नहीं करते। यहाँ श्री राघवेन्द्रसिंह विरमीवाले ठाकुर साहब से धार्मिक बात हुई। आप निरपेक्ष हैं। यद्यपि आप वैष्णव सम्प्रदाय के हैं, तथापि जैनधर्म से प्रेम है। यहाँ ४ मील चल कर नरौरा ग्राम की सड़क के किनारे १ कुर्मी की धर्मशाला में ठहर गये। समय सानन्द व्यतीत हुआ।

यहाँ से ४ मील चलकर वरइया ग्राम के बगीचा में ठहर गये। सतनावाले श्री ऋषभकुमार की माँ ने आहार दिया। यहाँ से ३ मील चलकर एक कृषक के यहाँ रह गये। रात्रि में श्री नाथूरामजी शास्त्री ने व्याख्यान दिया। जनता ग्रामीण थी। सबको धर्म-पिपासा है, परन्तु योग उपदेष्टा नहीं मिलते, अत: इनकी प्रवृत्ति का सुधार नहीं होता। प्रात:काल ३ मील चल कर अमरपाटन आये। पं०जगन्मोहनलालजी भी आ गये। आपने स्नानादि से निवृत्त हो प्रवचन किया। पश्चात् हमने भी कुछ कहा। यहाँ पर २० घर जैनियों के हैं। २ मन्दिर हैं। १

प्राचीन मूर्ति बहुत ही मनोज्ञ है। १ पाठशाला भी है, जिसमें जैन-अजैन सब मिलकर १०० छात्र हैं। यहाँ पर जनता ने भोजनाच्छादन आदि में जो व्यय हो, उस पर एक पैसा रुपया दान में निकलना स्वीकृत किया। श्री हजारीलाल बहोरेलालजी सिंघई आहार के समय कटनी की पाठशाला को ५०१) देना स्वीकृत किया तथा स्वागत में बीसों रुपये के पैसे गरीबों में वितरण कर दिये। मध्याह्न के बाद यहाँ से चलकर ४ मील बाद कतपारी के बाग में ठहर गये। यही पर भोजन हुआ। यहाँ से ५ मील चलकर इटवा नदी के तीर धर्मशाला में ठहर गये। यहाँ पर श्री हनुमानजी का मन्दिर है। स्थान रम्य है, परन्तु कोई पुजारी नहीं रहता। रात्रि को सुखपूर्वक सोया, किन्तु १ बजे श्री नीरज ने खबर दी कि मोटर लौट जाने से चम्पालालजी सेठी आदि को चोट लग गई। सुनकर चित्त में बहुत खेद हुआ। प्रातःकाल ६।। बजे से चलकर ९ बजे १ बगीचा में आये। यहाँ पर भोजन किया। तदनन्तर सामायिकादि से निवृत्त हो २ बजे चल दिये और ५ बजे सतना आ गये। श्री चम्पालाल जी आदि को देखा, बहुत चोट लगी थी। उपयोग में यह आया कि इस सर्व उपद्रव के निमित्त कारण तुम थे। न तुम होते, न यह समुदाय एकत्रीभूत होता। आगम में लिखा है कि क्षुल्लक मुनि के समागम में रहता है, पर तूँ उसकी अवहेलना कर इस परिकर के साथ भ्रमण कर रहा है, यह उसी अवहेलना का फल है।

सतना अच्छा शहर है। जैनियों की संख्या अच्छी है। प्रायः सम्पन्न हैं। एक मन्दिर है। पास ही धर्मशाला भी है। श्री शान्तिनाथ भगवान् की प्राचीन मूर्ति है। एक जैन स्कूल भी है। प्रातःकाल समयसार पर प्रवचन हुआ। उपस्थिति अच्छी थी। प्रवचन के बाद पं०महेन्द्रकुमारजी का व्याख्यान हुआ। व्याख्यान का विषय रोचक था। तृतीय दिन श्री पं०जगन्मोहनलालजी भी आ गये। आज पं०महेन्द्रकुमारजी का प्रवचन और पं०जगन्मोहनलालजी का भाषण हुआ। खजुराहो क्षेत्र की व्यवस्थापक समिति का निर्माण हुआ। एक दिन प्रवचन के बाद यहाँ की पाठशाला के अर्थ चन्दा हुआ। लगभग १४०००) चौदह हजार रुपया आ गये। लोग उदार हैं- आवश्यकतानुसार धन देते हैं, परन्तु व्यवस्था के अभाव में कार्य सिद्ध नहीं होता। रुपया मिलना कठिन नहीं, किन्तु कार्यकर्ता का मिलना कठिन है। फाल्गुन कृष्ण १३ को सतना आये थे और चैत्र कृष्ण ६ को यहाँ से निकल पाये।

सतना से ३ बजे चल कर ५ मील के बाद माधवगढ़ के स्कूल में ठहर गये। स्थान अत्यन्त स्वच्छ था। दूसरे दिन प्रातःकाल ५ मील चल कर रामवन आये। यहाँ पर १ बाग है। उसी में १ कूप हैं। १ छोटी सी टेकरी पर १ कुटिया बनी है। कुटिया के नीचे तलघर है। उसमें अच्छा प्रकाश है। उष्णकाल के लिये बहुत उपयोगी है। कुटिया में ३ तरफ खिड़कियाँ और १ तरफ उत्तरमुख दरवाजा है। दरवाजा के आगे १ दहलान है। जिसमें १० आदमी धर्म साधन कर सकते हैं। आधा मील लम्बा चौड़ा बाग है। हनुमान का १ मन्दिर है। उसमें २७ करोड़ राम नाम लिखे गये हैं। यहाँ से सायंकाल चल कर वकना के मन्दिर में ठहर गये।

प्रातःकाल ५ मील चल कर कुरही में ठहर गये। एक गृहस्थ ने बहुमान पूर्वक स्थान दिया। यहाँ सतना से २० आदमी आये। श्री ऋषभकुमार की माँ के यहाँ आहार हुआ। प्रायः सबके परिणाम निर्मल थे। सबको कल्याण की चाह है, परन्तु जिन कारणों से कल्याण होता है, उनसे दूर भागते हैं। कषायाग्नि ही प्राणी को संतप्त कर रही हैं जब कषायों का वेग आता है, तब इस जीव को सुध-बुध नहीं रहती। जिस निमित्त को पाकर क्रोध उत्पन्न हुआ, उस निमित्त को मिटाने का प्रयत्न करता है, पर यह उसका बीज हमारी ही आत्मा में विद्यमान है, यह नहीं विचारता।

यहाँ से २ मील चल कर सायंकाल कृषिकार्यालय में आ गये। रात्रि भर आनन्द से रहे। दूसरे दिन प्रातःकाल ५ मील चल कर वेलापुर आ गये और यहाँ के स्कूल में ठहर गये। यहीं पर भोजन किया। सतना से श्री ऋषभकुमार की माँ आदि आये। साथ में पं० पन्नालालजी धर्मालंकार और चौधरी पन्नालालजी मैनेजर तेरापंथी कोठी के थे। मार्ग में इन महानुभावों के समागम से अत्यन्त शान्ति रहती है। अन्तिम शान्ति नहीं, औपाधिक शान्ति का ही लाभ होता है। अन्तिम शान्ति तो वह है, जिससे फिर अशान्ति न हो। यह शान्ति इच्छा के अभाव में होती है। दूसरे दिन प्रातःकाल ८ बजे रीवाँ आ गये। धर्मशाला में ठहर गये। स्नान कर मन्दिर जी में श्री शान्तिनाथ भगवान् के दर्शन किये। मूर्ति बहुत ही सुन्दर है। इसके दर्शन से हृदय में यह भावना हुई कि शान्ति का मार्ग तो बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग है। इसमें बाह्य परिग्रह का त्याग तो सरल है, परन्तु आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग होना अति कठिन है। सबसे कठिन तो पर को निज मानने का त्याग करना है। शरीर की कथा छोड़ो, स्त्री-पुत्र-बान्धव को भी पृथक् करना कठिन है। हम सबसे भिन्न हैं यह पाठ प्रत्येक व्यक्ति पढ़ता है, परन्तु भीतर से उन्हें छोड़ता नहीं।

दूसरे दिन प्रातःकाल बाजार के मन्दिर में प्रवचन हुआ। वहीं पर आहार हुआ। तदनन्तर धर्मशाला में आ गये। सामायिक के बाद एक वृद्ध, जिनकी आयु ८४ वर्ष की थी, आये और तत्त्वज्ञान की उपयोगी चर्चा करते रहे। आपका पुत्र पुलिस-विभाग में जनरल इन्सपेक्टर है। आप जैनधर्म की चर्चा से प्रसन्न हुए। रीवाँ विन्ध्यप्रान्त की राजधानी है। जैनियों के घर भी अच्छे हैं। यहाँ से ३ बजे चलकर २½ मील के बाद एक स्कूल में ठहर गये। उक्त वृद्ध महाशय हमारे साथ मार्ग में १ मील तक आये। यहाँ टीकमगढ़ से पं०नन्हेंलालजी प्रतिष्ठाचार्य आये। आप बहुत ही सरल स्वभाव के हैं। आपने वादा किया कि हम ईसरी आवेंगे। अगले दिन प्रातःकाल ६ मील चलकर रामऊन के मिडिल स्कूल में निवास किया। स्कूल के अन्त भाग में आम्र वन और कूप था। उसी स्थान पर रीवाँ से आये हुए २५ आदमी ठहरे हुए थे। यहीं पर बनारस से श्री पं०कैलाशचन्द्रजी तथा ब्र०हरिश्चन्द्रजी आये। आप लोगों के आने से विशेष स्फूर्ति आ गई। आहार यहीं पर हुआ। चैत्र कृष्ण १३ को ५ मील चलकर विलवा के उद्यान में ठहर गये। यहाँ रीवाँ से श्री कर्पूरचन्द्रजी का चौका आया था। वहीं पर आहार हुआ। मध्याह्न के उपरांत यहाँ से ३ मील चलकर मनगुवाँ की पुलिस चौकी पर निवास किया। स्थान सुरम्य था, दिन की थकावट से जल्दी सो गये, अतः रात्रि को १ बजे निद्रा भग्न हो गई। छहढाला की छटवीं ढाल का पाठ किया, परन्तु पाठ करना अन्य बात है, हृदय में शान्ति का आना अन्य बात है। शान्ति का लाभ कषाय के अभाव में हैं। शान्ति का पाठ पढ़ना, प्रत्येक व्यक्ति को आता है, किन्तु भीतर से शान्ति का होना कठिन है। प्रातः ५ मील चलकर बाबाजी की कुटिया में ठहर गये। यहीं पर भोजन किया। विचार में यह आया कि गिरिराज पहुँचकर धर्मसाधन करना। पर से न शान्ति मिलती है और न मिलने की संभावना है। हम अनादि से पर के साथ अपना अस्तित्व मान रहे हैं। फल उसका जो है, सो प्रत्यक्ष है। यहाँ से ५।। मील प्रयाण कर एक बाबाजी की कुटिया के सामने आम्रतरु के नीचे निवास किया। पर ज्यों ही भोजन बनाने का आरम्भ हुआ, त्यों ही ग्रामीण मनुष्य बहुत आ गये, मना करने पर भी नहीं हटे। अस्तु, आज दयाचन्द्र ने असत्य भाषण कर अभक्ष्य दुग्ध का भक्षण करा दिया। यद्यपि मैने दुग्ध त्याग दिया, फिर भी आत्मा में ग्लानि बनी रही। हम लोग बहुत ही तुच्छ प्रकृति के बन गए हैं, शरीर को अपना ही मान लेते हैं। आत्मद्रव्य को अमूर्तिक कह देना अन्य बात है। उस पर अमल करना अन्य बात है। यहाँ से २।। मील चलकर डवडवा आ गये।

रात्रि में निवास करने के बाद प्रातःकाल डवडवा से ५ मील चलकर मऊगंज के एक बाग में आम्रवृक्ष के नीचे निवास किया। स्थान सुरम्य था। यहीं पर भोजन किया। यहाँ पर परिणामों में शान्ति रही। परमार्थ से सङ्ग में शान्ति नहीं रहती। इसका मूल कारण हृदयगत मलिनता है। हम लोग हृदय में कुछ रखते हैं, कहते कुछ हैं, काय से कुछ करते हैं। ३६ के अनुरूप हमारा व्यवहार है। इसमें शान्ति की आशा मृगतृष्णा में सलिलान्वेषण के तुल्य है।

भोजन के उपरांत स्कूल में निवास किया। मास्टर योग्य थे। ४ बजे यहाँ से चले। घड़ी भूल आये। ४ मील चलने के बार १ मिडिल स्कूल में ठहर गये। यहाँ पर शान्ति से रात्रि काटी। स्कूल में २५ छात्र देहात के अध्ययन करते हैं। मास्टर लोग पढ़ाई अच्छी करते हैं। प्रार्थना होती है। सभ्यता की ओर लक्ष्य है, परन्तु सभ्यता पश्चिमी है। यहाँ से प्रातः ४ मील चलकर पुनः एक स्कूल में ठहर गये। यहाँ के मास्टर बहुत ही योग्य थे। आपने बहुत ही आदर के साथ स्थान दिया। स्थान शान्तिपूर्ण था। शरीर में कुछ थकावट भी थी, अतः इस दिन संध्याकालीन् प्रयाण स्थगित कर रात्रि को यहीं विश्राम किया। स्थान निर्जन था, कोई प्रकार का कोलाहल न था, फिर भी अन्तरङ्ग की शान्ति न होने से अन्तरङ्ग लाभ नहीं हुआ। जहाँ तक विचार से काम लेते हैं, यही समझमें आता है कि अनादि कलुषता के प्रचुर प्रभाव में कुछ सुध-बुध नहीं रहती, केवल ऊपरी वेष रह जाते हैं।

यहाँ से प्रातः ३ मील ३ फ्लांग चलकर हनुमना आ गये। यह नगर अच्छा है। यहाँ पर श्री कोमलचन्द्रजी की दूकान है। रीवाँ से २ गृहस्थ आये। उन्हीं ने आहार दिया। पण्डित फूलचन्द्रजी भी आये। ३ बजे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें जो बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। इसमें उत्तरोत्तर संयम पर्यन्त की दुर्लभता दिखाई। संयम रत्न को पाकर जो विषयलोलुपी संयम का घात कर लेते हैं, वे भूति (भस्म) के अर्थ रत्न को जला देते हैं। इस परिणति को धिक् है। रात्रि को यहीं रहें। प्रातःकाल श्री शान्तिनाथ भगवान् का पूजन समारोह के साथ हुआ। भोजन रीवाँवालों के यहाँ हुआ। मिर्जापुर से श्री पोस्टमास्टर कन्हैयालालजी आये। परिग्रह का पिशाच सबके ऊपर अपना प्रभाव जमाये है। अच्छे-अच्छे धनी-मानी इसके प्रभाव में अपनी प्रतिष्ठा खो देते हैं। सम्यग्ज्ञान होने के बाद भी इसका रक्षित रहना कठिन है। अज्ञानी की कथा छोड़ो। अज्ञानी परिग्रह को न छोड़े, आश्चर्य नहीं, परन्तु जानकार ज्ञानी न छोड़े, यह आश्चर्य है।

यहाँ से सांयकाल ३ मील चलकर भैंसोड़ के डाकबङ्गला में ठहर गए। प्रात:काल ३।। मील चल लुहस्थिहर के पहाड़ पर आ गये। यहाँ पर सड़क के किनारे १ चौकी है। उसी में भोजन बना। यहाँ ७७ हाथ गहरा कूप है, परन्तु पानी इतना मिष्ट नहीं। नदी १ फर्लांग है। स्थान रम्य है। १० घर गोपाल लोगों के हैं। सायंकाल ४।। मील चलकर द्रासिलगंज आ गए। यहाँ पर एक संस्कृत पाठशाला है। उसमें ठहर गये। पाठशाला के प्रधानाध्यापक महान् साधु पुरुष हैं। आपके प्रयत्न से इस पाठशाला का काम साधु रूप से चलता है। व्याकरण साहित्य के आचार्य पर्यन्त यहाँ अध्ययन होता है। ५१ छात्र अध्ययन करते हैं। पाठशाला के सर्वस्व प्रधानाध्यापक हैं। आज बनारस से पं०महेन्द्रकुमारजी और पं०पन्नालाल जी आये। दूसरे दिन प्रात: ३ मील चलकर मार्ग में १ मुसलमान के घर में ठहरे। घर का स्वामी साक्षर था। बहुत सत्कार से उसने ठहराया। वह अपने धर्म का पूर्ण विद्वान् था। सायंकाल यहाँ से ५ मील चलकर वरौधा आ गये। यहाँ पर एक मिडिल स्कूल में ठहरे। यहाँ के अध्यापक वर्ग अत्यन्त सभ्य है। १ कमरा तत्काल रिक्त कर दिया। प्रात:काल यहाँ से ६ मील चलकर एक महन्त के स्थान पर निवास किया। बहुत ही पुष्कल और पवित्र स्थान था। श्री ठाकुर जी के मन्दिर में जो दालान थी, उसमें गर्मी को बिताया। यहाँ पर मिर्जापुर के तहसीलदार, जो कि जैन थे, आये। आप बहुत भद्र हैं। धर्म की उत्तम रुचि भी रखते हैं। वैष्णव सम्प्रदाय में अतिथिसत्कार की समीचीन प्रथा है। इसका अनुकरण हम लोगों को करना चाहिये। परमार्थ से सब जीव समान हैं। विकृत परिमाणों से ही भेद है। जिस दिन विकार चला जायगा, उसी दिन यह जीव परमात्मा हो जायेगा। परन्तु विकार का जाना कठिन है। शरीर में थकावट का अनुभव होने से रात्रि यहीं व्यतीत की। दूसरे दिन प्रात:काल ३ मील चलकर तुलसीग्राम आ गये। यहाँ पर नागाबाबाओं का अखाड़ा है। ९ बजे प्रवचन हुआ। प्रवचन में यह बात थी कि आत्मा और पुद्गल स्वतन्त्र द्रव्य हैं। इनमें जो परिणमन होता है उसके आत्मा और पुद्गल स्वतन्त्र कर्ता हैं। एक दूसरे के परिणमन में निमित्त-कारण हैं। जैसे जब रागकर्म का सम्बन्ध है, वह आत्मा रागरूप परिणमन करता है तथा उसी काल कार्मणवर्गणा ज्ञानावरणादिरूप हो जाता है। प्रवचन के बाद यहीं पर भोजन हुआ। सायंकाल चलकर एक वन में ठहर गये। आगामी दिन प्रात:काल ३ मील चलकर १ मन्दिर में निवास किया। मन्दिर बहुत रम्य था। यहीं पर भोजन किया। यहाँ

से मिर्जापुर ६ मील है। रात्रि भी यहीं व्यतीत की। यहाँ पर बनारस से पं०कैलाशचन्द्रजी, मंत्री सुमतिलालजी अधिष्ठाता हरिश्चन्द्रजी तथा कोषाध्यक्षजी आये। आप लोग ४ घंटे यहाँ पर रहे। अनन्तर मन्त्रीजी को त्याग सब चले गये। प्रातःकाल ३ मील चलकर मिर्जापुर के बगीचा में ठहर गये। यहाँ एक सुन्दर कूप तथा अखाड़ा है। ठहरने के लिए बँगला है। एक शिवालय भी है। चारों ओर रम्य उपवन हैं। यही पर भोजन हुआ। यहाँ मिर्जापुर से कई मनुष्य आ गये। मध्याह्न की सामायिक के बाद मिर्जापुर गये। लोगों ने उत्साह से स्वागत किया।

दूसरे दिन चैत्र शुक्ल १३ सं० २०१० होने से महावीर-जयन्ती का उत्सव था। बनारस से पं०महेन्द्रकुमारजी तथा कैलाशचन्द्रजी आ गये। प्रातःकाल पं०महेन्द्रकुमारजी ने प्रवचन किया। आपने यह भाव प्रकट किया कि सप्त तत्त्व जाने बिना मोक्षमार्ग का निरूपण नहीं हो सकता। रात्रि को आमसभा हुई। उसमें श्री महावीर स्वामी के जीवनचरित्र का वर्णन श्री पं०कैलाशचन्द्रजी ने उत्तम रीति से किया। पं०महेन्द्रकुमारजी का भी उत्तम व्याख्यान हुआ। कुछ हमने भी कहा। एक दिन प्रातःकाल बड़े मन्दिर में प्रवचन हुआ। उपस्थिति अच्छी थी। जैनधर्म का मूल उपदेश तो यह है कि स्व-पर का भेदज्ञान प्राप्त कर विषय-कषाय से निवृत्त होओ। शास्त्रप्रवचनों में यही बात प्रतिदिन कही जाती है, परन्तु अमल में नहीं लाई जाती, इसलिये वक्ता के हाथ केवल कहना रह जाता है, और श्रोता के हाथ केवल सुनना। प्रथम वैशाख वदी को यहाँ से चलना था, परन्तु मोटर द्वारा दुर्घटना हो गई, जिससे रुकना पड़ा। मन में विचार आया कि यदि यह परिकर साथ न होता तो व्यर्थ का संक्लेश न उठाना पड़ता। इस दुर्घटना के कारण मिर्जापुर में २ दिन और रुकना पड़ा। बार-बार विचार होता था कि अतिशय दुर्लभ मनुष्य-जीवन पाकर भी मैने इसका उपयोग नहीं किया। मानव-जीवन सकल योनियों में श्रेष्ठ है। इस जीवन से ही मनुष्य जगत् के विकृत भावों से रक्षित होकर स्वभाव परिणति का पात्र होता है। अगले दिन श्री सुमतिलाल जी मंत्री के यहाँ आहार हुआ। आप बहुत ही सरल प्रकृति के मनुष्य हैं। स्याद्वाद विद्यालय का कार्य इन्हीं के द्वारा चल रहा है। यह एक सिद्धान्त है कि जिस संस्था का संचालक निर्मल परिणामी होता है, वही संस्था सुचारु रूप से चलती है। आप उन महापुरुषों में से हैं जो कार्य कर नाम नहीं चाहते हैं।

प्रथम वैशाख वदी ३ सं० २०१० को यहाँ से संध्याकाल चलकर चिली के उपवन में ठहर गये। रात्रि सानन्द व्यतीत हुई। प्रातःकाल ४ मील चलकर एक धर्मशाला में ठहर गये। श्री हरिश्चन्द्र ने सानन्द भोजन कराया। भोजन भक्ति से दिया। अत्यन्त स्वादिष्ट था। हम लोग उद्दिष्ट त्याग की कथामात्र कर लेते हैं, परन्तु पालन नहीं करते। उसी का फल है कि परिणामों में शान्ति नहीं आती। शान्ति का मूल कारण अन्तरङ्ग अभिप्राय की पवित्रता है। हम लोग बाह्य त्याग से अपनी परिणति को उत्तम मानते हैं, यह सर्वथा अनुचित है। रात्रि यहीं बिताई।

दूसरे दिन प्रातः ४ मील चलकर महाराजगंज की संस्कृत पाठशाला में निवास किया। यहाँ पर जमनादास, पन्नालालजी के नाती आये और उन्हीं के यहाँ आहार हुआ। मध्याह्न काल में हुई चर्चा का सार यह निकला कि जो आत्मा को पवित्र बनाने के लिए कलुषता का त्याग करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि अपनी परिणति मायाचार से रक्षित रक्खें। गर्मी की बहुलता से अब संध्याकाल का भ्रमण कष्टकर होने लगा, अतः यहीं पर रात्रि व्यतीत की। दूसरे दिन प्रातःकाल ५ मील चलकर राजमार्गस्थ रूपापुर के शिशुपाठालय में निवास किया। यहीं पर भोजन किया। यहाँ स्याद्वाद विद्यालय के दो छात्र आये। मंत्रीजी ने उन्हें भेजा था। यहाँ से दो मील दूरी पर मिर्जासराय है, वहीं पर जाने का विचार हुआ।

प्रातःकाल ५ मील चलकर राजातालाब पर भोजन हुआ। यहाँ दिल्ली से राजकृष्ण तथा उनकी धर्मपत्नी आई। उन्हीं के यहाँ भोजन हुआ। बनारस से कई छात्र महोदय आये। यहीं पर श्री १०८ विजयसागरजी मुनियुगल, दो क्षुल्लक तथा दो ब्रह्मचारी भी आये। शान्तपरिणामी हैं, परन्तु विजयसागरजी के नेत्रों की ज्योति बहुत कम हो गई है तथा वृद्ध भी अधिक हैं, अतः उन्हें चलने का कष्ट होता है। फिर भी आजकल के युवाओं की अपेक्षा शक्तिशाली हैं। संध्याकाल में ४ मील चलकर भास्कर के उपवन में एक कूप के ऊपर निवास किया। यहाँ एक शिवालय है। पुजारी की आज्ञा से उसी में ठहर गये। पुजारी भद्रस्वभाव का है। जैसा आतिथ्य-सत्कार ये लोग करते हैं, वैसा हम लोगों में नहीं है। हम लोग तो अन्य लोगों को मिथ्यादृष्टि वाक्य का उपयोग कर ही अपने आप को कृतकृत्य मान लेते हैं। संध्याकाल यहाँ से चलकर श्री बनारसीदासजी के उपवन में ठहर गये। रात्रि सुख से बीती। यहाँ से बनारस केवल ३ मील दूर हैं।

बनारस और उसके अंचल में

प्रथम वैशाखकृष्ण ९ सं० २०१० को प्रात:काल ३ मील चलकर भेलूपुर आ गये। यह स्थान हमारा चिरपरिचित स्थान था। यहीं बाईजी रहती थीं और यहीं पर रहकर हमने बहुत दिन विद्या का अभ्यास किया था। उस समय यहाँ एक शान्तिप्रिय नामक ब्रह्मचारी भी रहते थे, जो प्रबल शक्तिशाली थे। यहाँ दो मन्दिर हैं— एक नीचे सड़क के समीप और एक ऊपर। सुन्दर उद्यान है। मूर्तियाँ अत्यन्त मनोज्ञ हैं। ऊपर का मन्दिर कोलाहल से अतीत अत्यन्त शान्तिपूर्ण है। श्री राजकृष्णजी के यहाँ आहार किया। एक दिन तथा एक रात्रि यहीं निवास किया।

दूसरे दिन प्रात:काल चलकर स्याद्वाद विद्यालय आ गये। सूर्योदय का समय था। गंगा के उस पार दूर क्षितिज से सूर्य की सुनहली-आभा प्रकट होकर, गङ्गा के निर्मल-वारि को रक्त-पीत बना रही थी। विस्तृत छत के ऊपर श्री सुपार्श्वनाथ भगवान् का सुन्दर मन्दिर है। उसकी शिखर पर सूर्य की मनोहर-किरणें पड़ रही थीं। छतपर से सूर्योदय का दृश्य बड़ा सुन्दर जान पड़ता था। स्याद्वाद विद्यालय में पहुँचते ही, पिछले जीवन की स्मृति नवीन हो गई। बाबा भगीरथ जी तथा स्व० सेठ माणिकचन्द्र जी आदि का स्मरण हो आया, जिनकी कि उपस्थिति में बड़े समारोह के साथ जेठ सुदी ५ सं० १९६२ में इस स्याद्वाद विद्यालय का उद्घाटन हुआ था। स्व०गुरु अम्बादासजी शास्त्री का स्मरण आते ही हृदय गद्गद् हो गया। जिस समय अन्य ब्राह्मण विद्वानों ने जैन छात्रों को पढ़ाने से इनकार कर दिया था, उस समय आप एक ही ऐसे सहृदय विद्वान् थे, जिन्होंने मुझ जैसे निराश व्यक्ति को प्रेम से विद्याध्ययन कराया था। श्रीशास्त्रीजी की हमारे ऊपर पूर्ण कृपा थी। मुझे जो कुछ ज्ञान है, वह उन्हीं का दिया हुआ है। स्नानादि से निवृत्त हो, श्री सुपार्श्वनाथ भगवान् के दर्शन किये। तदनन्तर श्री हरिश्चन्द्रजी के यहाँ भोजन हुआ। सायंकाल छात्रों के बीच भाषण हुआ। रात्रि को यहीं विश्राम किया। दूसरे दिन विद्यालय के बालकों ने बहुत भक्ति के साथ भोजन कराया। उनकी प्रवृत्ति से उनका आस्तिक्यभाव टपक रहा था।

सायंकाल ५ बजे चलकर ६।। बजे सन्मति-निकेतन में आ गये। यहाँ पर श्री सेठ हुकमचन्द्रजी इन्दौरवालों ने बहुत ही रम्य जिनालय का निर्माण कराया

है। श्री महावीर स्वामी का बिम्ब अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक है। सन्मति निकेतन में वे छात्र रहते हैं, जो यूनिवरसिटी में अध्ययन करते हैं। रात्रि को यहीं विश्राम किया। प्रात:काल गङ्गा के तट पर प्रात:कालीन क्रियाओं से निवृत्त हो, हिन्दू विश्वविद्यालय के भवनों को देखते हुए, सन्मति निकेतन में आ गये। स्नानादि से निवृत्त हो श्री महावीरस्वामी के दर्शन किये। हृदय में बड़ा आह्लाद उत्पन्न हुआ। एक सीधी-साधी वेदिका पर भगवान् महावीर स्वामी की विशालकाय शुभ्र मूर्ति विराजमान की गई है। सायंकाल के समय निकेतन में उत्सव हुआ। कई प्रोफेसर आये। सानन्द छात्रावास का उद्घाटन हुआ।

प्रथम वैशाख कृष्णा १४ सं० २०१० को प्रात:काल ७ बजे चलकर स्याद्वादविद्यालय आ गये। यहीं पर भोजन हुआ। ३ बजे से विद्यालय का वार्षिक उत्सव हुआ। जनता अच्छी आई। कैलाशचन्द्रजी ने विद्यालय का परिचय कराया। उत्सव में ४ बजे श्री आनन्दमयी माता भी पधारीं। आप शान्तिमूर्ति हैं। सचमुच ही आनन्दमयी हैं। सबके आनन्द में निमित्त हो जाती हैं। उत्सव में छात्रों को पुरस्कार दिया गया। अन्त में शान्तिपूर्वक सब लोग स्वस्थान को गये। आनन्दमयी माता का आश्रम विद्यालय के समीप ही गङ्गा के तटपर है। मुझे वहाँ बुलाया गया, अत: मैं भी अमावस्या के दिन वहाँ गया। बहुत ही सुन्दर भवन बनाया गया है। वहाँ अनेक साध्वियाँ तथा साधु निर्मल परिणामोंवाले थे। क्रम विकास पर हमारा भाषण हुआ। अन्त में आनन्दमयी ने यह कहा कि अपना-पराया मतभेद छोड़ो। आप बंगाली हैं। बंगाली लोग, आपको बड़ी श्रद्धा से देखते हैं। एक दिन मैंदागिन के मन्दिर में गये। श्री पं०कैलाशचन्द्रजी तथा पं०जगन्मोहन लालजी कटनी का व्याख्यान हुआ। आत्मदर्शन का अच्छा प्रतिपादन हुआ। तदनन्तर हमने भी कुछ कहा। जनता अच्छी थी।

प्रथम वैशाख शुक्ल ३ को प्रात:काल ५ बजे चलकर एक उपवन में ठहर गये। यहीं पर भोजन हुआ। यहाँ पर पं०पन्नालालजी व पं०फूलचन्द्रजी साहब आये। उपवन में जो कूप है, उसका जल अत्यन्त मिष्ठ है। यह उपवन श्री मोतीलाल सिंघई के लघु बालक सूरजमल्ल का है। स्थान रम्य है। यदि कोई धर्मसाधन करे, तो कर सकता है, परन्तु इस समय धर्मसाधन की दृष्टि चली गई है। अब तो लोग विषय-साधन में मग्न हैं। यहाँ से १ मील चलकर सारनाथ (सिंहपुरी) आ गये। सिंहपुरी श्री श्रेयान्स भगवान् का जन्मस्थान है। सुन्दर मन्दिर

बना हुआ है। एक धर्मशाला तथा उद्यान भी है। धर्मशाला में स्वच्छता कम है। प्रात:काल मन्दिर में प्रवचन हुआ। दिल्ली से पं० दरबारीलालजी तथा राजकृष्ण का बालक प्रेमचन्द्र जी आये। दो घण्टा रहे। यहाँ आरा से पं० महेन्द्रकुमारजी तथा एक सज्जन आये। उन्होंने कहा कि आरा की जैन जनता आपको आरा में चौमासा करने का निमंत्रण देती है। मैं सुनकर चुप रहा। यहीं पर कलकत्ता से सरदारमल्ल हुलासरायजी, श्री गोम्मटस्वामी के दर्शन कर आये। एक घण्टा रहे। आप लोग श्री स्व० सूर्यसागरजी के परमभक्त हैं। तेरापन्थ के माननेवाले हैं। वास्तव में धर्म का स्वरूप तो निर्विकार है। उपाधि से नाना विकार मनुष्यों ने उसमें ला दिये हैं, अत: जिन्हें आत्मकल्याण करना हो, उन्हें यह विकार दूर करना चाहिए।

गरमी की प्रबलता के कारण कुछ समय विश्राम करने की इच्छा हुई। सारनाथ कोलाहल से परे शान्तिपूर्ण स्थान है, अत: १५ दिन यहीं रहने का विचार किया। एकान्त होने से स्वाध्याय का लाभ भी यहाँ अच्छा मिला और चिन्तन भी अच्छा हुआ। अष्टमी का दिन था। मध्याह्न के बाद विचार आया कि चित्त की स्थिरता के लिए क्या करना चाहिए? हृदय से उत्तर मिला कि संयम धारण करना चाहिए। उसी क्षण विचार आया कि संयम तो बहुत समय से धारण किये हूँ, फिर चित्त की स्थिरता क्यों नहीं है। तब 'संयम' शब्द के अर्थ की ओर दृष्टि गई। 'संयमनं संयम:' सम् उपसर्ग पूर्वक 'यम उपरमे' धातु से संयम शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है, सम्यक् प्रकार से रुक जाना। अर्थात् पञ्चेन्द्रियों के विषयों में जो प्रवृत्ति हो रही है, उसका भले प्रकार से रुक जाना संयम है। जब तक इन्द्रियों के विषयों से यथार्थ निवृत्ति नहीं होती, तब तक नामनिक्षेप के संयम से क्या लाभ होनेवाला है? निवृत्ति का अर्थ तटस्थ रहना है तथा मनोनिग्रह का अर्थ कषाय-कृशता है। इन्द्रियों के दमन का अर्थ इन्द्रियों द्वारा विषय जानने का अभाव नहीं। उनमें लोलुपता न होना चाहिए। शरीरदमन न कोई कर सकता है और न उसका दमन होता ही है। भोजन करने से शरीर की तृप्ति नहीं होती, किन्तु आत्मा में ही भोजन करने की जो इच्छा थी, वह शान्त हो जाती है। वही तृप्ति का कारण है। जो केवल कायक्लेश करते हैं, वे शान्ति के पात्र नहीं होते।

द्वितीय वैशाख कृष्णा २ को सिंहपुरी से ५ मील चलकर मैदागिन में आ गये। यहीं पर भोजन हुआ। रात्रि भी यहीं व्यतीत की। अगले दिन प्रात:काल ५ बजे चलकर ३ मील की दूरी पर एक खत्रिय के बाग में ठहर गये। स्थान

सुरम्य था। बहुत आनन्द से समय गया। श्री गणेशदासजी के सुपुत्र श्री गुल्लूबाबू तथा मौजीलालजी का चौका आया था। इन्हीं के यहाँ भोजन हुआ। सायंकाल दो मील चलकर एक बाग में ठहर गये। वृद्धावस्था के कारण अधिक चला नहीं जाता था, इसलिए थोड़ा ही चलते थे और यह निश्चय कर लिया था कि जितनी शक्ति होगी, तदनुकूल ही गमन करेंगे, परन्तु गमन श्री पार्श्वप्रभु के सम्मुख ही करेंगे।

पार्श्वप्रभु की ओर

प्रातःकाल बाग से ४ मील चलकर मोगलसराय की धर्मशाला में ठहर गये। धर्मशाला में सब प्रकार के मनुष्य आते हैं। यदि वहाँ कोई धर्मप्रचार करना चाहे, तो अनायास कर सकता है। सायंकाल ३ मील चलकर एक बाबाजी की कुटी में ठहर गये। अन्य साधु जिस प्रकार निरीह हो, नगर के बाहर शान्ति से जीवन बिताते हैं, उस प्रकार हमारे साधु नहीं। अब इन्हें बिना परिकर के एक दिन भी चैन नहीं पड़ता। दूसरे दिन प्रातःकाल कुटी से ४ मील चले, तो क्षुल्लक मनोहरलालजी वर्णी मिल गये। प्रसन्नता हुई। यहाँ से दो मील चलकर चन्दौली के शिवालय के पास धर्मशाला में ठहर गये। यहाँ पर भोजन हुआ। दुपहरी शान्तभावों से बीती, किन्तु जहाँ पर अधिक समागम होता है, वहाँ सिवाय अप्रयोजनीभूत कथाओं के कुछ नहीं होता। अगले दिन ५ मील चलकर सैय्यदराजा ग्राम में आ गये। एक अग्रवाल की धर्मशाला में रह गये। धर्मशाला का मैनेजर धार्मिक था। उसने कहा कि भगवद्भजन में उपयोग लगे, ऐसी प्रकृति किस तरह प्राप्त हो सकती हैं? हमने यही उत्तर दिया कि उसका उपाय तो विषयों से चित्त को रोकना है। उसका दूसरा प्रश्न था कि प्रत्येक प्राणी को भगवद्भजन की इच्छा क्यों रहती है? इसके उत्तर में हमने कहा कि भगवान् पूर्ण है, वीतराग है और हितोपदेशी है तथा हम परमार्थ से अनेक प्रकार के अपराध करते हैं, एवं निरन्तर पतित मार्ग में जाते हैं, अत: एतन्निवारणाय किसी महापुरुष की शरण में ही जाना, हमारे लिए श्रेयोमार्ग है। यहाँ से चलकर कर्मनाशा स्टेशन के समीप ठहर गये और दूसरे दिन प्रात: ६ मील चलकर दुर्गावती नदी के तटपर डाँक बँगला में निवास किया। यहीं पर आहार हुआ। यहाँ आधा फर्लांग पर एक स्कूल था। उसमें सानन्द निवास किया। अध्यापकवर्ग शिष्ट था। बालक ने प्रश्न किया- आप कौन

हैं? मैंने उत्तर दिया- जैन हैं। उसने फिर जिज्ञासा भाव से पूछा- जैन किसे कहते हैं? मैंने कहा- जो जीवमात्र पर दया करे। उसने फिर प्रश्न किया- जीवमात्र पर दया करने से संसार की व्यवस्था किस प्रकार चलेगी? मैंने कहा- दया का यथोचित विभाग करने से सब व्यवस्था चल सकती है। अपने-अपने पद और अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार जीवदया का पालन करने से कहीं कोई व्यवस्था भग्न नहीं होती। उत्तर सुनकर बालक प्रसन्न हुआ।

प्रात:५ मील चलकर एक बाबा की कुटिया में फिर विश्राम किया। बाबा ने प्रेम से स्थान दिया। यहाँ गया से सोनूबाबू आ गये। दूसरे दिन प्रात:काल ५ मील चलकर एक बंगला में ठहर गये। यहाँ पर दुर्गावती नदी बहती है। यहीं पर जैनबद्री की यात्रा से श्री राजेन्द्रकुमारजी बनारसवाले और पं०श्रीलालजी आये। यहीं भोजन किया। २५ आदमियों का समागम था, धर्मरुचिवाले थे, परन्तु अन्तरङ्ग से जो बात होनी चाहिए, वह नहीं थी। अन्तरङ्ग की कथा इस समय अत्यन्त दुर्लभ हो रही है। यहाँ से प्रात: ४ मील चलकर पुसौली रेल के क्वार्टरों में ठहर गये। जो मैनेजर था, उसने बहुत आदर से ठहराया। यहाँ पर दुर्गावती नदी है। उसका जल पिया, अच्छा था। सायंकाल चलकर एक बाबा की कुटी में विश्राम किया। वहाँ से प्रात: ५ मील चलकर जहानाबाद के शिवालय के पास जो धर्मशाला है, उसमें ठहर गये। धर्मशाला अच्छी थी। क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी यहाँ आ गये। आपका डालमियानगर में मन नहीं लगा। हमारी बुद्धि में तो यह आता है कि पर से सम्बन्ध रखना ही नाना प्रकार के विकल्पों का उत्पादक है और पर की शल्य तब तक नहीं जा सकती, जब तक कि अन्तरङ्ग से मोह नष्ट न हो जाय। जहानाबाद से २ मील चलकर एक स्कूल में ठहर गये। दूसरे दिन प्रात:काल ५ मील चलकर शिवसागर ग्राम में एक शिवालय में ठहर गये। शिवालय की दहलान में भोजन हुआ। शिवालय का जो पुजारी था, वह अत्यन्त शिष्ट था। गर्मी की अधिकता देख, उसने हमें शिवालय के भीतर स्थान दिया। भीतर देवस्थान है। वहाँ ठहरने से अविनय होगी.... ऐसा हमारे कहने पर उसने उत्तर दिया कि मनुष्य की रक्षा करना सर्वोपरि है। भगवान् का उपदेश है कि दया करो। हम भीतर आपको स्थान देकर दया का ही तो पालन कर रहे हैं, इसमें अविनय की कौनसी बात है? अविनय तो तब होती, जब हम उनके उपदेश के प्रतिकूल कार्य करते। उसका उत्तर सुन कर जब हमने अपने लोगों की प्रवृत्ति की ओर दृष्टि दी, तो जान पड़ा कि हमलोग मुख से ही दया का पाठ पढ़ते

हैं। काम पड़ जावे, तो हम लोग अन्य धर्मावलम्बियों को मन्दिर में ठहराना तो दूर रहा, बैठने तक न देवेंगे। यह बात जैनधर्म के सर्वथा प्रतिकूल है। अरे! जैनधर्म तो उन जीवों की भी रक्षा का उपदेश देता है, जो इन्द्रियों के गोचर नहीं। फिर चलते-फिरते मनुष्यों की तो बात ही क्या है?

प्रात:काल यहाँ से ५ मील चलकर १ शिवालय में फिर ठहर गये। यहाँ के पुजारी ने भी बड़े सत्कार से रक्खा। यह स्थान अति-रमणीय है। अक्षय-तृतीया के दिन प्रात:काल २ मील चलकर सासाराम आ गये। यहाँ एक सुन्दर धर्मशाला है। उसी में ठहर गये। गर्मी के प्रकोप के कारण स्वाध्याय में मन नहीं लगा तथा तृषा के कारण भी अशान्ति रही, परन्तु मैंने देखा कि पानी पीनेवाले हमसे भी अधिक अशान्त रहते हैं, अत: पानी ही शान्ति का कारण नहीं है। सायंकाल यहाँ से २ मील चलकर एक कूप पर ठहर गये। यह कूप एक तेलिन ने बनवाया है। उसपर एक आदमी रहता है जो, दिनभर पशुओं तथा मनुष्यों को पानी पिलाता रहता है। यहाँ से प्रात: ४ मील चलकर एक पानी का स्थान था, वहीं ठहर गये, वहीं पर भोजन हुआ। ३ बजे यहाँ से चलकर डालमियाँनगर आ गये। लोगों ने अच्छा स्वागत किया। स्थान रम्य है। यह वही स्थान है, जहाँ पर श्री स्वर्गीय सूरिसागरजी महाराज ने अन्तिम-जीवन का उत्सर्ग किया था। आप बड़े तपस्वी थे। तेरापन्थ दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी थे। आपका ज्ञान विशाल था। आपके द्वारा संयमप्रकाश आदि अनेक शास्त्रों की रचना हुई है। आपका स्वर्गवास गतवर्ष के श्रावण वदी ८ को यहीं हुआ था। आप ६ घण्टा समाधि में रत रहे। १२ बजे रात्रि को आपने देहोत्सर्ग किया। आपकी दिगम्बर पद्मसान मुद्रा देह-त्याग के बाद ज्यों-की-त्यों रही। यहाँ आते ही मुझे आपका नाम स्मृत हो उठा और मन में अपने प्रति एक ग्लानि का भाव उठने लगा— ग्लानि का भाव इसलिए कि मैंने नर-तन पाकर भी कुछ नहीं किया—

असी वर्ष की आयु में किया न आतम काम।
ज्यों आये त्यों ही गये निशदिन पोसा चाम ।।

क्या कहें? किससे कहें? कुछ कहा नहीं जाता। व्यर्थ के जंजाल में पड़कर अपनी अभिलाषाओं को न रोक सके। यथार्थ में 'यों करेंगे, त्यो करेंगे' ऐसे शब्दों द्वारा जनता के समक्ष शेखी बघारना कुछ लाभदायक नहीं। पानी के विलोलने से हाथ चीकना नहीं होता। वह तो परिश्रम का कारण है।

डालमियाँनगर श्री साहु शान्तिप्रसादजी के पुरुषार्थ का फल है। पुरुषार्थ उसी का सफल होता है, जिसके पास पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म हैं। अथवा पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म भी पूर्व पर्याय का पुरुषार्थ ही है। यहाँ आपके द्वारा निर्मित नाना कारखाने हैं। कार्यकर्ताओं के रहने के लिए अच्छे स्थान तथा धर्मसाधन के लिए सुन्दर मन्दिर है। शान्तिप्रसाद प्रकृत्या शान्त तथा भद्र परिणामी हैं। इस समय आपके द्वारा जैनधर्म के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले अनेक कार्य हो रहे हैं। आपकी पत्नी रमारानी भी सुयोग्य तथा सुशीला नारी है। पं० महेन्द्रकुमारजी तथा पं० फूलचन्द्रजी बनारस से यहाँ आये थे। साथ में नरेन्द्रकुमार बालक भी था। पं० युगल ने साहु शान्तिप्रसादजी से सन्मति-निकेतन के अर्थ माँग की, तो आपने १३ कमरे दुहरे करवा देने का वचन दिया और १००) मासिक छात्रावास चलाने को कह दिया। आप बहुत ही उदार मानव हैं। विशेषता यह है कि आप निरपेक्ष त्याग करते हैं। नरेन्द्रकुमार छात्र बहुत ही शिष्ट तथा होनहार बालक है। प्रकृति का स्वाभिमानी हैं, अत: किसी से याचना नहीं करता। यदि कोई इसे विशेष रूप से सहायता देवे, तो यह अद्भुत मानव हो सकता है।

मन्दिर में प्रवचन हुआ। मैंने कहा- कि मनुष्य जन्म दुर्लभ है। संयोगवश यदि यह प्राप्त हो गया है, तो इससे इसका कार्य करना चाहिये। भोग-विलास में मस्त रहना, मनुष्य जन्म का कार्य नहीं है, किन्तु भोगों से निवृत्त हो संयम-धारण करना मनुष्यजन्म का सर्वोपरि कार्य है। जीवन में इसे अवश्य ही धारण करना चाहिये। अनादिकाल से हमारी अन्य द्रव्य पर दृष्टि लग रही है, अन्य द्रव्य से तात्पर्य पुद्गल-द्रव्य से है। आत्मा तथा पुद्गल दोनों का अनादिकाल से ऐसा एक क्षेत्रावगाह हो रहा है कि जिससे आत्मा की ओर दृष्टि जाती ही नहीं है। केवल पुद्गल में ही दृष्टि उलझ कर रह जाती है। गाँ के स्तन से जो दूध दुहा जाता है, उसमें पानी का बहुभाग रहता है, परन्तु वह दुग्ध के साथ इस प्रकार मिला हुआ है कि उसे कोई पानी कहता ही नहीं है। इसी प्रकार शरीर और आत्मा इस प्रकार मिले हुए हैं कि कोई आत्मा को अलग से जानता ही नहीं है। परन्तु जिस प्रकार मिठया दूध को कड़ाही में चढ़ाकर भट्टी की आँच से दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानी-प्राणी आत्मा और पुद्गल को अपने भेदज्ञान के द्वारा अलग-अलग कर देता है। भले ही आत्मा के साथ पुद्गल का जो सम्बन्ध है वह अनादिकाल से चला आ रहा हो, पर इससे अनन्तकाल तक चला जावेगा, यह व्याप्ति नहीं। भव्य जीव के आत्मा और पुद्गल का सम्बन्ध

अनादि-सान्त माना गया है, सुवर्ण के साथ किट्टकालिमादि का संसर्ग कब से है, यह कौन जानता है। परन्तु अग्नि के संयोग से दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। इससे जान पड़ता है कि दोनों पृथक्-पृथक् हैं। इसी प्रकार संसार-दशा में जीव और पुद्गल एकमेक अनुभव में आते हैं, परन्तु भेदज्ञान के द्वारा दोनों ही पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। अतः प्रयत्न ऐसा करो कि जिससे पर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व आपकी दृष्टि में आ जावे। डालमियाँनगर में हम आठ दिन रहे। बाबू जगत्प्रसादजी, अयोध्याप्रसादजी गोयलीय तथा पं० चेतनलालजी आदि ने सब व्यवस्था ठीक रक्खी। यहाँ साहु शान्तिप्रसादजी ने स्वयं अष्टपाहुड़ का स्वाध्याय कर सबको श्रवण कराया। शान्ति से समय बीता। द्वि० वैशाख शुक्ला ११ को साहुजी कलकत्ता चले गये। पंडित महाशय बनारस चले गये और हम १२ को प्रातःकाल ५ बजे पार्श्वप्रभु की ओर बढ़ गये।

गया में चातुर्मास का निश्चय

डालमियाँनगर से चलकर शोणभद्र नदी (सोनभद्र नदी) को नाव द्वारा पार कर नहर के ऊपर एक बंगला में ठहर गये। स्थान अच्छा था। परन्तु संपर्क अच्छा न होने से हृदय में शान्ति नहीं आई। संध्याकाल यहाँ से चलकर वारौन पहुँच गये, रात्रि को विश्राम किया। तदनन्तर प्रातःकाल ५।। मील चलकर पुनपुन गङ्गा पर ठहर गये। ठहरने के लिए १ कुटिया थी, उसी में ठहर गये। गर्मी का प्रकोप रहा, परन्तु श्री सोनूबाबू गया के रहने से तत्त्व-चर्चा का अच्छा प्रभाव रहा। परमार्थ से गर्मी की व्याकुलता से विशेष आनन्द नहीं रहा। तृषा परिषह का अनुभव किया। धन्य है, उन मुनिराजों को, जो वर्षा, शीत, उष्णकाल में नाना प्रकार के कष्ट उठाकर आत्मध्यान से विचलित नहीं होते। वास्तव में आत्मज्ञान की महिमा अपरम्पार है, जो संसार-बन्धन का नाश करनेवाला है। रात्रि भी यहीं बिताई।

दूसरे दिन प्रातःकाल पुनपुन गङ्गा से ४ मील चलकर जोगिया में १ महाजन के कोठा में निवास किया। यहीं पर भोजन हुआ। साथ में २ अन्य त्यागियों का भी भोजन हुआ। सांयकाल का भ्रमण स्थगित रहा। दूसरे दिन प्रातःकाल ५ मील चलकर औरङ्गाबाद आ गये। यहाँ पर ईसरी से पं० शिखरचन्द्रजी आ गये। आप बहुत ही योग्य तथा शान्त स्वभावी विद्वान् हैं। आपने शिष्ट-व्यवहार किया। आजीविका से चिन्तित हैं, फिर भी अन्तरङ्ग से तत्त्व-विचार में मग्न रहते हैं।

समाज की दशा क्या कहें? वह व्यर्थ कार्यों में धन का दुरूपयोग करने में नहीं चूकती, पर ज्ञान-भण्डार आजीविका के बिना चिन्तातुर रहते हैं। एक समय तो वह आ गया था कि जब संस्कृत विद्या के जानकार विद्वान् समाज में बहुत ही विरले हो गये थे, परन्तु आज सौभाग्य मानना चाहिये कि इस विद्या के जानकार विद्वान् समाज में उत्पन्न हुए हैं और उनके द्वारा जैनधर्म तथा जैनसमाज का उत्कर्ष बढ़ा है। यदि जैनसमाज उदारता से इनकी रक्षा करे, तो वे स्थिर रहकर समाज तथा धर्म का उत्कर्ष बढ़ाने में समर्थ होंगे। आपके आने से आज तत्त्वचर्चा का अच्छा आनन्द रहा।

आगामी दिन प्रात:काल औरंगाबाद से ४ मील चलकर औंरा आ गये। यहाँ १ कुनमी के मकान में ठहर गये। मकान दोहरा था, इसलिये गर्मी का प्रकोप न रहा। दिन सानन्द व्यतीत हुआ। ग्रामीण-जनता दर्शन के लिये बहुत आई। मुझे लोगों की सरलता देख अनुभव हुआ कि यदि इन्हें कोई कल्याण का मार्ग बतानेवाला हो, तो इनका उद्धार हो जाय। आजकल लोग व्याख्यान या उपदेश शहर के उन लोगों को देने जाते हैं, जिनके हृदय निरन्तर विषय की लालसा से मलिन रहते हैं। उन सरल ग्रामीण मनुष्यों के पास कोई भी व्याख्याता या उपदेशक नहीं पहुँचते, जिनके हृदय अत्यन्त उज्ज्वल तथा पाप से भीरू हैं।

दूसरे दिन प्रात: औरा से ४१/२ मील चलकर शिवगंज में निवास किया। यहाँ १ डाक्टर साहब ने अपना स्थान खाली कर दिया और स्वयं परिमार्जन कर हमें प्रेम से ठहराया। दिन उनकी दुकान बन्द रही। दुपहरी में आप स्वयं छपरी में लेटे रहे, पर हमें अल्प कष्ट नहीं होने दिया। शिष्टता का जैसा व्यवहार अन्य समाज में है, उसका शतांश भी हमारी समाज में नहीं। इसका मूल कारण अज्ञान है। जो जनता ज्ञान को ही नहीं जानती, वह क्या परोपकार करेगी? शाम के समय १ मील चलकर एक कुटिया में ठहर गये। जंगल के स्वच्छ-वातावरण में शान्ति से निद्रा आई।

प्रात:काल ४ मील चलकर १ जज के बँगला में ठहर गये। स्थान अत्यन्त रम्य है। उपयोग निर्मल रहा। स्वाध्याय में काल गया। यहाँ पर एक नानकपंथी साधु रहता है, जो साक्षर है तथा अपने मत में दृढ़ श्रद्धा रखता है। यहाँ एक बहुत वृद्ध पुरुष आया। उसने हमें महात्मा जानकर प्रणाम किया और रात्रि के ११ बजे एक ग्राम से २० मानव दर्शन करने के लिये आये।

प्रात:काल यहाँ से ४ मील चलकर चित्रशाली ग्राम में पहुँच गये। स्थान उत्तम था, अत: गर्मी का प्रकोप नहीं हुआ। यहाँ से श्री सोहनलालजी व श्री चम्पालालजी सेठी गया चले गये। रफीगंज यहाँ से ४ मील है। आजकल ऋतु की उग्रता से भोजन के बाद तृषा का प्रकोप हो जाता है, प्राय: २२ घण्टा रहता है, फिर भी चित्त में यह खेद नहीं होता कि व्रत क्यों धारण किया। खेद इस बात का रहता है कि हम बाह्य बाधा तो सहन कर लेते हैं, परन्तु अन्तरङ्ग कषाय को नहीं रोक पाते, अत: बाह्य क्लेश सहना नहीं के तुल्य है।

ज्येष्ठ कृष्णा ५ सं० २०१० को प्रात:काल ८ बजे रफीगंज आ गये। श्री मन्दिरजी के नीचे ठहर गये। यहाँ पर जैन-बन्धुओं में परस्पर अत्यन्त प्रेम है। पं०गोपालदासजी योग्य व्यक्ति है। आप साढूमल के हैं। आपके पिता बहुत ही सज्जन थे, पण्डित थे, त्यागी थे, बहुत उदार थे और जैनधर्म में अतिराग रखते थे। आप के भाई शीलचन्द्रजी भी उत्तम विद्वान् हैं। गया से पं०राजकुमारजी शास्त्री भी आये। आप योग्य व्यक्ति हैं, त्यागी हैं, सरल परिणामी हैं, गया में अध्ययन कराते हैं तथा समाज को भी स्वाध्याय कराते हैं। आपको करणानुयोग का अच्छा अभ्यास है तथा चरणानुयोग पर विशेष अनुराग है। आज-कल लोगों ने चरणानुयोग का पालन करना अत्यन्त कठिन बना दिया है। मन्दिर में प्रवचन हुआ। प्रकरण था कि जो इस जीव को संसार के बन्धन में फँसाते हैं, ऐसे कुटुम्बीजन परमार्थ से इसके शत्रु हैं और जो हित का ध्यान रखते हैं, ऐसे योगी इसके बन्धु हैं। परन्तु इस जीव की अनादिकाल से विषय-वासना में ही प्रीति हो रही है, इसलिए इसमें सहायक लोगों को यह मित्र मानता है और जो इसमें बाधक हैं, उन्हें शत्रु समझता है। वास्तव में विचार किया जाय, तो यह सब कथन व्यवहार की मुख्यता से है। निश्चय से न तो जीव का कोई शत्रु है और न कोई मित्र है। इसके जो रागादिक परिणाम हैं, वही इसके शत्रु हैं और जो वीतरागादि भाव हैं, वही हमारे मित्र हैं। मोह के उदय में अनेक कलपनाएँ होती हैं, अत: जो जीव आत्महितैषी हैं, उन्हें परपदार्थों का सम्पर्क त्यागना चाहिये, केवल गल्पवाद से कुछ लाभ नहीं। एक दिन पं०चन्द्रमौलिजी के द्वारा भोजन में फलों का आहार हुआ। भारत में अब तक पात्रदान का महत्त्व है। यथार्थ में पात्र का होना कठिन है। यदि आगमानुकूल पात्र हों, तो आज दान की जो दुरवस्था है, वह सुधर जावे। परन्तु यही होना कठिन है। पात्र ३ प्रकार के हैं-१. संयमी, २. देशसंयमी और ३. अविरत सम्यग्दृष्टि। आजकल ये तीनों पात्र प्राय: वेषमात्र

से मिलते हैं। अन्तरङ्ग से मिलना कठिन है। यहाँ एक महानुभाव ने पूछा कि कल्याण किस प्रकार हो सकता है? मैने कहा- इसके लिए अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं, यह कार्य तो अत्यन्त सरल है। मेरा उत्तर सुनकर वह आश्चर्य में पड़ गया तथा कहने लगा कि यह कैसे? मैंने कहा कि इसमें आश्चर्य की बात क्या है? वर्तमान में जो तुम्हारी अवस्था है, वह कैसी है? इसका उत्तर दो। उसने कहा कि दु:खमय है। मैंने पूछा कि दु:खमय क्यों है? उसने उत्तर दिया कि आकुलता की जननी है। तब मैंने कहा कि अब किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं, तुम्हारा कल्याण तुम्हारे आधीन है। जिन कारणों से दु:ख होता है, उन्हें त्याग दो, कल्याण निश्चित है। एक आदमी सूर्य आताप में बैठकर गर्मी के दु:ख से दुखी हो रहा है। यदि वह आताप से हटकर छाया में बैठ जाय, तो अनायास ही उसका दु:ख दूर हो सकता है। दु:ख इस बात का है कि हम लोग सुख-दु:ख आदि प्रत्येक कार्य में परमुखापेक्षी बनकर स्वकीय शक्ति को भूल गये हैं।

यहाँ वाचनालय खोलने के लिये लोगों ने कहा। मैंने उत्तर दिया कि खोलिये, आपकी सामर्थ्य के बाहर का कार्य नहीं। आप जितना खर्च अपने भोजनाच्छादनादि में करते हैं उस पर प्रति रुपया १ एक पैसा एक पेटी में डालते जाइये। समझिए हमारा एक पैसा अधिक खर्च हो गया है। इस विधि से आपके पास कुछ समय में इतना द्रव्य एकत्रित हो जायगा कि उससे आप वाचनालय क्या बड़ा भारी सरस्वती-भवन भी खोल सकेंगे। सबने यह कार्य ३ वर्ष के लिये स्वीकृत किया। एक दिन राजपुर से ज्योतिप्रसाद शीलचन्द्रजी आए। आप बहुत ही सज्जन तथा उदार हैं। आप के धार्मिक विचार हैं। यहाँ ५ दिन लग गए।

एकादशी को प्रात:काल ४½ मील चलकर डबुहा ग्राम में ठहर गये। यहाँ दिनभर रहकर शाम को १ मील आगे चले तथा १ भूमिहार के स्थान पर ठहर गये। बहुत आदर से उसने रक्खा। भोजन के लिए भी अत्यन्त आग्रह किया। प्रात:काल यहाँ से ४ मील प्रस्थान कर गुण्डू आ गये। भोजन भी उन्हीं के घर हुआ। प्रकृति का सज्जन है। गर्मी का प्रकोप पूर्णरूप से था, परन्तु सहन करना पड़ा। सायंकाल यहाँ से चलकर सलेमपुर पहुँच गये। दूसरे दिन प्रात:काल ४ मील चलकर परैया आ गये। यहाँ १ गुवाला के घर निवास किया। यहाँ पर आहार देने के लिये गया से कई औरतें आईं। उन्होंने भक्ति से आहार कराया। दुपहरी १ झोपड़ी में बिताई। सायंकाल यहाँ से २ मील चलकर १ पाठशाला में ठहर

गये। यहाँ पर एक ग्राम से २० बालक तथा आदमी दर्शनार्थ आये। लोगों में ऐसी श्रद्धा हो गई है कि ये महात्मा हैं, परन्तु महात्मा तो अत्यन्त निर्विकार जीव होता है, यह कौन पूछनेवाला है।

ज्येष्ठकृष्णा अमावस्या को यहाँ से ५ बजे चलकर ७।। बजे गया आ गये। बड़े ठाट-बाट के साथ स्वागत हुआ। अन्त में जैन-भवन में ठहर गये। बहुत रम्य स्थान है। समीप ही फल्गु नदी बहती हैं। भवन से निकलते ही दो मन्दिर हैं— १ प्राचीन और १ नया। यहाँ जैनियों के बहुत घर है। श्री चम्पालाल सेठी ने मुझे इस ओर लाने में बहुत प्रयत्न किया है। उन्हीं का प्रभाव था, जो मैं इस वृद्धावस्था में इतना लम्बा मार्ग चलने के लिए उद्यत हुआ और यहाँ तक आ गया। आप घर से निःस्पृह रहते हैं। बाबू सोनूलालजी भी धार्मिक व्यक्ति हैं। आपका अधिकांश समय धार्मिक कार्यों में ही व्यतीत होता है। श्री ब्र॰पतासीबाईजी के विषय में क्या लिखूँ? वह तो अत्यन्त शान्तमूर्ति तथा धर्म से अनुराग रखनेवाली है। आपको देखकर बाईजी का स्मरण हो आता है। आपके प्रभाव से यहाँ स्त्री-समाज में स्वाध्याय की अच्छी प्रवृत्ति चली है। कई स्त्रियाँ तो शास्त्र का अच्छा ज्ञान रखती हैं।

मन्दिर में शास्त्र का प्रवचन हुआ। प्रकरण था स्वद्रव्य और परद्रव्य का। ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा स्वद्रव्य है और कर्म नोकर्म परद्रव्य हैं। अनादिकाल से यह जीव परद्रव्य का ग्रहण कर, उसका स्वामी बन रहा है। परद्रव्य को अपना मानने में अज्ञान ही मूल कारण है, अन्यथा ऐसा कौन विवेकी होगा, जो पर को जानता हुआ भी उसे ग्रहण करे। जिसका जो भाव, वही उसका स्व है और वही उसका स्वामी है। जब यह सिद्धान्त है, तब ज्ञानी मनुष्य पर का ग्रहण कैसे कर सकता है? इस भवाटवी में मार्ग-प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। मोहराजा की यह अटवी है। इसके रक्षक राग-द्वेष हैं। इनसे यह निरन्तर रक्षित रहती है। जीवों का इससे निकलना अतिकठिन है। जिन महापुरुषों ने अपने को पहिचाना वे ही इससे निकल सकते हैं।

दूसरे दिन ईसरी से ब्र॰सुरेन्द्रनाथ जी आ गये। आप बहुत ही सरल प्रकृति के मनुष्य हैं। आपका त्याग अतिनिर्मल है। स्वाध्याय के अति प्रेमी हैं। विनयगुण के भण्डार हैं। उदार भी हैं। कलकत्ता निवासी हैं। घर से उदास रहते हैं। इतने निर्मोही हैं कि लड़का मोटर से गिर पड़ा, फिर भी कलकत्ता नहीं गये। एक दिन

बाद श्रीप्यारेलालजी भगत कलकत्ता से आये। आप अनुभवी दयालु भी हैं। आपका निवास अधिकतर कलकत्ता में रहता है। आप प्राचीन पद्धति के रक्षक हैं। किसी के रौब में नहीं आते। आपकी व्याख्यान शैली उत्तम हैं। आपने आकर बहुत ही प्रेम से वार्तालाप किया। एक दिन डालमियानगर से बाबू जगत्प्रसाद जी का शुभागमन हुआ, साथ में पण्डित चेतनदासजी भी थे। आप अत्यन्त सरल स्वभाव के हैं। कल्याण चाहते हैं। यदि उन्हें धार्मिक पुरुषों का समागम मिले, तो आपकी परिणति विशेषरूप से निर्मल हो सकती है।

दिल्ली से राजकृष्ण भी आये। आपने मूडबिद्री में स्थित श्री धवल के फोटो लेने का पूर्ण विचार कर लिया है। इस कार्य में १५०००) व्यय होगा। आप का निश्चय है कि यदि यह रुपया कोई अन्य न देगा, तो हम अपनी तरफ से लगा देंगे। काल पाकर आ जावेगा। आपका उत्साह और अदम्य साहस प्रशंसनीय है। संभव हैं, आपकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो जावे, क्योंकि आपकी भावना अति निर्मल हैं। हमारा निज का विश्वास हैं कि यह कार्य अवश्य पूर्ण होगा। संसार में जो दृढ़प्रतिज्ञ होता है उसके सर्व कार्य सफल होते हैं। पन्द्रह दिन रहने के बाद आषाढ़ कृष्णा १ को विचार किया कि पार्श्वप्रभु की निर्वाण-भूमि पर पहुँचने के संकल्प से तूने ग्रीष्मकाल में भी प्रयाण किया है। अब यहाँ निकट में आकर उलझ जाना उत्तम नहीं। ईसरी से पं०शिखरचन्द्रजी तथा ब्र०सोहनलालजी भी आ गये। गयावालों को जब यह समाचार विदित हुआ, तब वे यहीं चौमासा की प्रेरणा करने लगे, परन्तु हमने यही निश्चय प्रकट किया कि अब तो पार्श्वप्रभु की शरण में जाना चाहते हैं। मेरा उत्तर श्रवण कर लोग निराश हो गये। ईसरी जाने के लिये उद्यम किया कि आकाश में सघन बादल छा गये, इसी से विवश होकर इस दिन रुक जाना पड़ा।

आषाढ़ कृष्णा द्वितीया सं०२०१० के दिन दिन के २ बजे से ४ मील चलकर १ क्षत्रिय के बंगला पर ठहर गये। हमारे चले जाने से गयावालों को बहुत खेद हुआ। हमको भी कुछ विकल्प हुआ। दूसरे दिन प्रातःकाल बंगला से १ मील चले, परन्तु मार्ग में कहीं शुष्क प्रदेश नहीं मिला। सब ओर हरी-हरी घास तथा मार्ग में जन्तुओं की प्रबलता दिखी। ऐसे मार्ग पर चलना हृदय में अरुचिकर हुआ, जिससे लौटकर उसी बंगला में आ गये। गया से स्वर्गीय दानूमल्लजी की धर्मपत्नी आदि ४ स्त्रियों ने आकर आहार कराया। पश्चात् २

बजे यहाँ से प्रस्थान कर वापिस गया पहुँच गये और चार मास वहीं रहने का निश्चय कर लिया। गया के लोग प्रसन्न हो गये, परन्तु ब्र०सोहनलाल तथा पं०शिखरचन्द्रजी को मन में अत्यन्त खेद हुआ। श्यामलालजी तपस्वी भी खिन्न थे, अतः वे ईसरी चले गये।

स्मृति की रेखायें

यहाँ पं०राजकुमारजी शास्त्री पहले से ही विद्यमान थे तथा यथावसर अन्य भी पधारते रहते थे, इसलिये लोगों को प्रवचन का अच्छा लाभ मिलता रहता था। श्रावण कृष्णा १० को प्रातःकाल ५ बजे विनोवाजी भावे आये, १५ मिनट ठहरे, आप बहुत ही शान्त स्वभाव के हैं। आप का भाव अत्यन्त निर्मल है। सर्वप्राणी सुख के पात्र हैं तथा कोई दुःख का अनुभव न करे, यह मैत्री-भावना आप में पाई जाती है। **'दुःखानुत्पत्त्यभिलाषी मैत्री'** यही तो मैत्री का लक्षण है। देहातों में गरीब जनता खेती योग्य भूमि से रहित न रहे, इस भावना से प्रेरित होकर आप परिकर के साथ भ्रमण करते हैं और सम्पन्न मनुष्यों से भूमि माँगकर गरीबों के लिये वितरण करते हैं। उत्तम कार्य है। यदि जनता में ऐसी उदारता आ जावे कि हम आवश्यकता से अधिक भूमि के स्वामी न बनें तथा वह अतिरिक्त भूमि भूमिहीन मनुष्यों के लिये दे दें, तो देश का कल्याण अनायास हो जावे।

श्रावण शुक्ला ८ सं० २०१० को श्री साहु शान्तिप्रसादजी आये। १ घण्टा मन्दिर में रहे। गयावालों ने उन्हें और उन्होंने गयावालों को धन्यवाद दिया। भाद्रपद शुक्ला ३ को टाउन हाल में विनोवाभावे की जयन्ती थी। हम भी गये। उत्सव का आयोजन सफल हुआ। पर्यूषण पर्व में तत्त्वार्थसूत्र का प्रवचन करने के लिये बनारस से श्री पं०कैलाशचन्द्रजी साहब पधारे। आप की प्रवचनशैली उत्तम तथा वाणी मिष्ट है। त्याग धर्म के दिन स्याद्वाद विद्यालय बनारस को अच्छा दान मिल गया।

भाद्र शुक्ला १४ के दिन पुराने गया में श्री पार्श्वनाथ स्वामी के दर्शन किये। यहाँ पर पूजा का प्रबन्ध अच्छा है। गानतान के साथ पूजा होती है। आज १ बजे दिन से ३ बजे दिन तक श्री पतासीबाई के जन्म-दिवस का उत्सव था। जनता अच्छी संख्या में थी। आज के दिन अधिक स्त्री-पुरुष उपस्थित थे। मन्दिर के बाहर जुलूस भी गया।

पर्व के बाद आश्विन कृष्णा ४ को वर्णी-जयन्ती का उत्सव था। बाहर से अनेक महानुभाव आये थे। आरा से पं०नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य भी आये थे। द्वितीय टाउनहाल में व्याख्यान-सभा का आयोजन था। श्री नेमिचन्द्रजी ने अहिंसा तत्त्व पर अच्छा प्रकाश डाला। आपने कहा कि हम जिस मुहल्ला में रहते हैं, उसमें रहनेवाले सब लोगों के साथ हमें कुटुम्ब जैसा व्यवहार करना चाहिये। यदि किसी के घर किसी वस्तु की कमी है, तो उसको पूर्ति करना चाहिये। हम लोग अहिंसा के नाम पर छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं की तो रक्षा करते हैं, परन्तु मनुष्यों की उपेक्षा कर देते हैं।

आश्विनकृष्णा दशमी २ अक्टूबर को यहाँ मन्नू लाइब्रेरी में गांधीजयन्ती का उत्सव था। कोई ५०० महिलायें वहाँ पर थीं। हम लोगों का भी निमन्त्रण था, अतः गये थे। गांधीजी एक त्यागी पुरुष थे। जो काम वह करते थे। निष्कपट भाव से करते थे। इसीसे उनका प्रभाव पूर्ण जनता के हृदयंगम था। यही कारण था कि इतना प्रभावशाली ब्रिटेन भी उनके प्रभाव में आ गया तथा बिना किसी शर्त के भारत को त्याग कर स्वदेश चला गया। इतना त्याग जगत् की एक अपूर्व घटना है।

एक दिन (कार्तिक कृष्णा ७) नालन्दा बौद्ध विद्यालय के अधिष्ठाता मिले। बहुत शिष्ट पुरुष हैं। आप का जैनदर्शन में अनुराग है। आपकी अन्तरङ्ग इच्छा है कि नालन्दा में भी जैनदर्शन के अध्यापनादि कार्य हो और इसके लिए वहाँ एक जैन विद्यालय खोला जावे। ऐसा करने से परस्पर आदान-प्रदान होगा, जिससे छात्रों को तुलनात्मक अध्ययन करने का अवसर अनायास मिल सकेगा। आत्मा ज्ञानी है, अतः वह सत्य को ग्रहण करेगी और असत्य को छोड़ देगी। उक्त महानुभाव की उक्त बात हमें रुचिकर हुई। विचार लें, तो पैसेवालों को कार्य कठिन नहीं।

विचार प्रवाह

गया में कुछ विचार दैनंदिनी के पृष्ठों पर अंकित किये थे, उन्हें यहाँ दे रहा हूँ-

'वही मनुष्य सुख का पात्र होता है, जो विश्व को अपना नहीं मानता। पर को अपना मानना ही संसार की जड़ है।'

'यह केवल कहने की बात है कि नश्वर देह से अविनश्वर सुख मिलता है।

सुख तो आत्मीक गुण है। उसका घातक न तो शरीर हैं और न द्रव्यान्तर। यह आत्मा स्वयं रागादि रूप परिणमनकर स्वयं आकुलता रूप दुःख का भोक्ता होता है और जब रागादि-परिणामों से पृथक् अपनी परिणति का अनुभव करता है, तभी अनन्त सुख का उपभोक्ता हो जाता है। देह न सुख का कारण है और न दुःख का।'

'रागादि का मूल कारण मोह है, अतः सबसे प्रथम इसी का त्याग होना चाहिये। जब परपदार्थों में त्याग की कल्पना मिट जावेगी, तब अनायास राग-द्वेष प्रलयावस्था को प्राप्त हो जावेंगे..... इस कथा से कार्य सिद्धि नहीं होती। भोजनकथा से भोजन नहीं बन जाता। भोजन की प्रक्रिया से भोजन बनेगा तथा बनने से तृप्ति नहीं होगी, किन्तु भोजन खाने से तृप्ति होगी।'

'संग सर्वथा अच्छा नहीं। अन्तरङ्ग से हम स्वयं निर्मल नहीं, अतः अपने को दोषी न.समझ, अन्य को दोषी समझते है।'

'धर्म का सम्बन्ध शारीरिक कष्ट से नहीं होता। धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। जब सब उपद्रवों की समाप्ति हो जाती है, तब धर्म का उदय होता है।'

'दूसरे की नहीं, किन्तु अपनी ही तारतम्यावस्था को देखकर विरक्त होना चाहिये। परमार्थ से तत्त्वज्ञान बिना विरक्तता होना अतिदुर्लभ है।'

'जिन्हें आत्मकल्याण करने की इच्छा है, वे तत्त्वज्ञान की वृद्धि की चेष्टा करते हैं। जिनकी उस ओर रुचि नहीं, वे अपने को तत्त्वज्ञान के सम्पादन में क्यों लगावेंगे?'

'परद्रव्य मेरा स्व नहीं, मैं उसका स्वामी नहीं, परद्रव्य ही परद्रव्य का स्व है और वही उसका स्वामी है। यही कारण है कि ज्ञानी परद्रव्यों को ग्रहण नहीं करता।'

'जिन्हें संसार तत्त्व से पृथक् होने की अभिलाषा है, उन्हें हृदय की दुर्बलता को समूल नष्ट कर देना चाहिये।'

'अनादिकाल से इस जीव के परपदार्थों का सम्बन्ध हो रहा है, आकाशवत् एकाकी नहीं रहा। यद्यपि परसम्बन्ध से इसका कोई भी अंश अन्यरूप नहीं हुआ। जीवद्रव्य न तो पुद्गल हुआ और न पुद्गल जीव हुआ। केवल सुवर्ण-रजत का

गलने से एक पिण्ड हो गया। उस पिण्ड में सुवर्ण-रजत अपनी-अपनी मात्रा में उतने ही रहे, परन्तु अपनी शुद्ध परिणति को दोनों ने त्याग दिया एवं जीव और पुद्गल भी बन्धावस्था में दोनों ही अपने-अपने स्वरूप से च्युत हो गये।'

'ऊपरी चमक-दमक से आभ्यन्तर की शुद्धि नहीं होती।'

'आत्मद्रव्य की सफलता इसी में है कि अपनी परिणति को पर में न फँसावे। पर अपना होता नहीं और न हो सकता है। संसार में आजतक ऐसा कोई प्रयोग न बन सका, जो पर को अपना बना सके और आप को पर बना सके।'

'स्नेह ही बन्धनजनक है। यदि संसार में नहीं फँसना है, तो पर का संपर्क त्यागना ही भद्र है।'

'आत्मा में कल्याण शक्तिरूप से विद्यमान है, परन्तु हमने उसे औपाधिक भावों द्वारा ढँक रक्खा है। यदि ये न हों, तो उसके विकास होने में विलम्ब न हो।'

'आत्मा अनादिकाल से पर के साथ सम्बन्ध कर रहा है और उनके उदयकाल में नाना विकार-भावों का कर्ता बनता है। यही कारण है कि अपने ऊपर इसका अधिकार नहीं।'

'जो आत्मा पर से ही अपना कल्याण और अकल्याण मानता है, वह पराधीनता को स्वयं अंगीकार करता है।'

'समाज में अब आदर विद्वत्ता का नहीं, किन्तु वाचालता का रह गया है।'

'अन्तरङ्ग की परिणति को निर्मल करना ही पुरुषार्थ है। जिसने मनुष्य जन्म को पाकर अपनी परिणति की मलिनता से रक्षा न की, उसका मनुष्यजन्म यों ही गया।'

परिग्रह का अर्जन करना ही संसार का मूल कारण है। आत्मा अनादि से परिग्रह के चक्र में है, इससे पीछा छूटे तो आत्मदृष्टि आवे अथवा जब आत्मदृष्टि आवे, तब परिग्रह से पीछा छूटे।'

'जिसने रागादि भावों पर विजय प्राप्त कर ली, वही मनुष्यता का पात्र है।'

'चित्त को अधिक मत भ्रमाओ, चित्त की कलुषता ही है दुःख का मूल कारण है और कलुषता का मूल कारण पर में निजत्व बुद्धि है।'

'कड़वी तूंबड़ी किसी काम की नहीं, फिर भी उसके द्वारा नदी पार की जा सकती है, इसी प्रकार मनुष्य का शरीर किसी काम का नहीं; फिर भी उससे

संसार-सागर पार किया जा सकता है।'

'अबोध बालक एक पैसा का खिलौना टूटने पर रो उठता है, पर घर में आग लगने पर नहीं। इससे यही तो सिद्ध होता है कि बालक खिलौना को अपना मानता है और घर को बाप का।'

'संसार में नाना मनुष्यों के व्यवहार देख लक्ष्य स्थिर करने का प्रयास मत करो, किन्तु अपनी शक्ति देख आत्मीय लक्ष्य स्थिर करो।'

'जनता की प्रशंसा के लोभी मत बनो। प्रशंसा चाहना ही अज्ञानता द्योतक है।'

'अन्तरङ्ग सामर्थ्य के प्रभाव से ही आत्मा कल्याण का पात्र होता है। कल्याण कहीं अन्यत्र नहीं और न अन्य उसका उत्पादक है। जब तुम स्वयं विपरीत भाव के कर्ता बनते हो, तब स्वयं अपने स्वभाव के घातक हो जाते हो।'

'शान्ति का मूल रागादिभावों में उदासीनता है। रागादिभावों में न तो मित्रता करो और न शत्रुता। यह भाव स्वाभाविक नहीं।'

'विश्वविद्या में पाण्डित्य होना उत्तम है, परन्तु जिनको आत्मपरिचय हो गया उनके समक्ष उस ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं ।'

'धर्म की परिभाषा प्रत्येक पुरुष करता है, परन्तु उस रूप प्रवृत्ति करना, किसी महापुरुष के द्वारा ही होता है।'

'गुरु मार्गदर्शक हैं, चलानेवाले नहीं। सूर्य मार्गप्रकाशक है, चलानेवाला नहीं। यदि कोई निरन्तर सूर्य की उपासना करे और मार्ग चले नहीं, तो क्या इच्छित स्थान पर पहुँच जावेगा।'

'जिस आत्मा में अनन्त संसार के निर्माण की शक्ति है। उसमें उसके नाश करने की भी शक्ति है।

'आजकल मनुष्य मनुष्यता का आदर करना भूल गया, केवल प्रशंसा का लोभी हो गया है।'

'संसार में दुःख का मूलकारण आशा के अतिरिक्त पर को निज मानना है।'

'जानना उतना कठिन नहीं, जितना उपयोग द्वारा कर्तव्य में लाना कठिन है। अविरत सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग को यथार्थ जानता है, परन्तु तदनुरूप आचरण नहीं कर पाता।'

संसार की प्रशंसा से न कुछ लाभ है और न निन्दा से कुछ हानि। लाभ

तो अपने परिणामों को निर्मल करने से ही होगा।'

'चित्तभूमि की मलिनता ही संसार की जननी है। संसार को प्रसन्न करने का प्रयत्न करना भी संसार का कारण है।'

'धर्म क्या है? यह तो वही आत्मा जानता है, जिसने संसार के प्रपञ्चों को त्याग निज की शरण ली है।'

'अनन्तकाल बीत गया, पर पर को अपनाना न त्यागा, इसी का फल अनन्त संसार है।'

'धीरता से च्युत नहीं होना महान् आत्मा का कार्य है।'

किसी के प्रभाव में आना ही इसका द्योतक है कि आत्मीय स्वत्व से च्युत है।'

'प्रतिदिन जो कथा करते हो, यदि उसमें से एक का भी पालन करो, तो दुःख से मुक्त हो सकते हो।'

'आत्मा और अनात्मा का भेद-ज्ञान ही संसार छेद का उपाय है।'

लघु यात्रा

हृदय में गिरिराज के दर्शन करने की उत्कट उत्सुकता थी, इसलिये यहाँ से प्रस्थान करने की बात सोच ही रहा था कि कलकत्ता से श्री प्यारेलालजी भगत तथा ईसरी से ब्र०सोहनलालजी व सेठ भँवरीलालाजी आ गये। इन सबकी प्रेरणा से शीघ्र ही प्रस्थान करने का निश्चय कर लिया। फलस्वरूप कार्तिक सुदी २ सं० २०१० रविवार को १ बजे गया से प्रस्थान कर दिया। ५०० नर-नारी भेजने आये। संसार में राग बुरी वस्तु है। जहाँ अधिक संपर्क हुआ वहीं राग अपने पैर फैला देता है। चार-पाँच माह के संपर्क से गया के लोगों का यह भाव हो गया कि ये हमारे हितकर्ता हैं, अतः इनका समागम निरन्तर बना रहे, तो अच्छा है। मेरे वहाँ से चलने पर उन्हें बहुत दुःख हुआ। पर संसार के समस्त पदार्थ मनुष्य की इच्छानुसार तो नहीं परिणमते। गया से ४।। मील चलकर संध्याकाल हरिओं ग्राम पहुँच गये। यहाँ कोडरमा से भी कुछ सज्जन आये। रात्रि सानन्द व्यतीत हुई। प्रातः ६ बजे ३ मील चलकर मस्कुरा ग्राम आ गये। यहाँ बँगला में ठहर गये। गया से चौका आये थे, उसमें भोजन किया। यहाँ जैनों के घर नहीं है। मध्याह्न की सामायिक के बाद १ बजे यहाँ से प्रस्थान कर जिन्दापुर के

आगामी दिन प्रातःकाल ६ बजे चलकर ७।। बजे कर्मणी के डाँक बँगला में ठहर गये। गया वाले सूरजमलजी तथा रतनबाबू की माँ के चौंके में आहार हुआ। स्थान स्वच्छ था। साथ में लगभग २५ मनुष्य होंगे। सबका भोजन हुआ। १ बजे चलकर २।। बजे एक स्थान पर ठहर गये। वहीं कुछ उपदेश दिया। नगर के कोलाहल पूर्ण स्थान से निकलकर जब जंगल में पहुँचते हैं, तो मन में अपने आप शान्ति आ जाती है और उन दिगम्बर मुनियों के ऊपर सुतरां ध्यान आकर्षित हो जाता है, जो जंगल के स्वच्छ वातावरण में ही अपना समययापन करते थे। रात्रि को जहाँ विश्राम किया, वहाँ ५० घर मुसलमानों के थे। सबने सौमनस्य व शिष्टता का व्यवहार किया। यहाँ से अगले दिन प्रातः ६ बजे चलकर ८ बजे डोभी के डाकबंगला में पहुँच गये। प्रवचन के बाद गया वाले सोनूबाबू के चौका में आहार हुआ। मध्याह्न के बाद चलकर रात्रि में भदैया ग्राम के सरकारी मकान की दहलान में विश्राम किया। दूसरे दिन प्रातः ६।। बजे ६ मील चलकर ८।। बजे कादुदाग ग्राम के डाकबंगला में पहुँच गये। अबतक ४० मनुष्यों का संघ हो गया था। श्री विहारीलालजी गया वालों के यहाँ आहार हुआ। रात्रि को भी यहीं विश्राम किया।

अन्य दिन प्रातः ८ मील चलकर ९।। बजे नदी पार कर जंगल में भोजन हुआ। कोडरमावाालों का चौका था, उसी में भोजन हुआ। कोडरमा से श्री गौरीलाल जी आदि ६ महानुभाव आये। सांयकाल चलकर भलुआ के डाकबंगला में विश्राम किया। आज अधिक चलना पड़ा, इसलिए शरीर में थकावट का अनुभव होने लगा। दूसरे दिन प्रातः ६ बजे चलकर ९। बजे चौपारन पहुँच गये। गया के बाद यहीं पर जिन-मन्दिर मिला। श्री जिनेन्द्रदेव के दर्शन कर हृदय में अपार आनन्द हुआ। आज अष्टमी का दिन था। ब्र० नाथूराम शास्त्र-प्रवचन किया। दूसरे दिन मन्दिर में प्रातः प्रवचन हुआ। दिन में एक बजे सभा हुई, जिसमें भगत जी का भाषण हुआ। हमने भी कुछ कहा। रात्रि को ब्र० नाथूराम तथा भगत सुमेरुचन्द्रजी के भाषण हुए। लोगों ने स्वाध्याय का नियम लिया। तीसरे दिन श्री सोहनलालजी के यहाँ आहार कर २बजे आगे के लिए प्रस्थान कर दिया। ग्राम के लोगों ने बहुत ही शिष्टता से व्यवहार किया। यहाँ से कोडरमा १४ मील है। रात्रि एक डाकबंगला में व्यतीत की।

आगामी दिन प्रातःकाल ४ मील चलकर ८।। बजे रामपुर आ गये। यहाँ कोडरमा से चौका आया था, उसी में आहार हुआ। यहाँ कोडरमा से २० स्त्री-पुरुष

आ गये। अपराह्न काल चलकर एक मढ़िया के समीप विश्राम किया। दूसरे दिन प्रातः चलकर भोंडी के स्कूल में ठहरे। वहीं पर आहार हुआ। संध्याकाल चलकर विन्दा में विश्राम किया। आगामी दिन प्रातः ४ मील चलकर एक स्कूल में ठहरे। कोडरमावालों के चौका में आहार हुआ। वहाँ से १ बजे ४ मील चलकर ३।। बजे झूमरीतलैया आ गये। लोगों ने उत्साह से स्वागत कर धर्मशाला में ठहरा दिया।

झूमरीतलैया ग्राम का नाम है और स्टेशन का नाम कोडरमा है। यहाँ जैनियों के अच्छे घर हैं। मन्दिर अच्छा है। लोगों में धार्मिक भावना उत्तम है। यहाँ श्री जगन्नाथजी पाण्डया ने आहार होने के उपलक्ष्य में पाठशाला, औषधालय तथा चैत्यालय बनाने के लिये अच्छा दान किया। श्री पं०गोविन्दरामजी यहाँ अच्छे विद्वान् हैं। बनारस से पं०कैलाशचन्द्रजी भी आ गये। आप का अहिंसा व मानवधर्म पर आमसभा में उत्तम-भाषण हुआ। यहाँ १५ दिन लग गये।

अगहन वदी ११ सं० २०१० को १ बजे प्रस्थान कर चिगलावर, जयनगर तथा फरसाबाद में क्रमशः ठहरते हुए त्रयोदशी के दिन सरिया (हजारीबाग रोड) आ गये। यहाँ स्टेशन के पास एक सुन्दर मन्दिर है। ग्राम में एक चैत्यालय है। सेठ भँवरीलालजी के यहाँ आहार हुआ। यहाँ आरा से ब्र०चन्दाबाईजी आ गई। २ बजे सभा हुई, जिसमें भगतजी तथा नाथूरामजी के भाषण हुए। यहाँ ३ दिन लग गये। यहाँ से मुन्सरिया तथा चौधरीवांद में विश्राम किया। यह लघुयात्रा सुखद रही।

भारहीनो बभूव

अगहन सुदी ३ संवत् २०१० को प्रातः चौधरीवांद से चलकर ८।। बजते-बजते सरी पहुँच गये। चित्त में बड़ा हर्ष हुआ। एक बार यहाँ आकर पुनः परिवर्तन करने के लिये निकल पड़ा था और उस चक्र में फँस १० वर्ष यत्र-तत्र भटकता रहा। शरीर में शक्ति नहीं थी, फिर भी भटकना पड़ा। आज पुनः श्रीपार्श्वप्रभु की निर्वाण-भूमि के समीप आ जाने से हृदय में जो आनन्द हुआ वह शब्दों के गोचर नहीं। यहाँ के समस्त त्यागियों तथा परिकर के अन्य लोगों को भी महान् हर्ष हुआ।

देखते-देखते ईसरी में बहुत परिवर्तन हो गया है। जहाँ पहले एक साधारण-सी धर्मशाला थी, वहाँ आज विशाल पक्की धर्मशाला है, सुन्दर मन्दिर

है, व्रतीजनों के आत्मकल्याण के अर्थ उदासीनाश्रम है और छात्रों के हितार्थ एक पाठशाला है। ग्राम की उन्नति भी पहले की अपेक्षा अधिक हो गई है। यहाँ आनेपर मुझे ऐसा लगने लगा जैसे 'भारहीनो बभूव' शिर से भारी भार उतर गया हो। उदासीनाश्रम के अहाते में प्रवचन के लिये एक सुन्दर भवन अलग से बन गया है। प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त होने पर शास्त्र प्रवचन होता है। अनन्तर भोजन के बाद ११।। बजे से सामायिक सब त्यागीवर्ग करते हैं। फिर २ बजे से शास्त्र प्रवचन होता है। अनन्तर सायंकाल की सामायिक और रात्रि के प्रारम्भ का शास्त्र-प्रवचन होता है। सब त्यागी तथा धर्मलाभ की भावना से यहाँ रहनेवाले अन्य महानुभाव इन सब कार्यक्रमों में शामिल रहते हैं। मैं भी सब कार्यक्रमों में पहुँच जाता था। प्रातःकाल का प्रवचन मैं कर देता था, परन्तु मध्याह्न और रात्रि के प्रवचन अन्य विद्वान् करते थे। मैं श्रवण करता था। प्रातःकाल के प्रवचन में कभी समयसार, कभी प्रवचनसार, कभी पञ्चास्तिकाय, कभी नियमसार आदि कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थ रहते थे। कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने ग्रन्थों में जो पदार्थ का वर्णन किया है, वह बहुत ही सरलता के साथ वस्तु के शुद्ध स्वरूप को बतलाने वाला है। मेरी श्रद्धा तो यह है कि इस युग में कुन्दकुन्द के समान वस्तुतत्त्व का निरूपण करनेवाला दूसरा आचार्य नहीं हुआ। मध्याह्न में सैद्धान्तिक ग्रन्थ का विवेचन रहता था और रात्रि को सर्वसाधारणोपयोगी हिन्दी ग्रन्थ तथा प्रथमानुयोग के ग्रन्थों का स्वाध्याय चलता था।

यहाँ बाहर से अनेक विद्वान् तथा विशिष्ट महानुभाव यदा-कदा आते रहते हैं। उनके भोजन की व्यवस्था के लिये रायबहादुर श्री चाँदमल्लजी राँचीवालों की ओर से एक चौका खोल दिया गया, जिसमें अतिथियों के भोजन की उत्तम व्यवस्था बन गई। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य भी नयनाभिराम है। पास ही हरे-भरे गिरिराज के दर्शन होते हैं। श्री पार्श्वप्रभु का निर्वाण-स्थान अपनी निराली शोभा से दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है। आकाश को चीरती हुई गिरिराज की हरी भरी चोटियाँ कभी तो धूमिल घनघटा से आच्छादित हो जाती हैं और कभी स्वच्छ-अनावृत दिखाई देती हैं। प्रातःकाल के समय पर्वत की हरियाली पर जब दिनकर की लाल-लाल किरणें पड़ती हैं, तब एक मनोहर दृश्य दिखाई देता है । लम्बी-चौड़ी चट्टानें और वृक्षों की शीतल छायाएँ ध्यान के लिये बलात् प्रेरणा देती हैं।

धर्म-साधन की भावना से यहाँ चारों तरफ की जनता सर्वदा आती रहती है। स्टेशन छोटा है, पर कलकत्ता के मार्ग में होने से गाड़ियों का यातायात प्रायः अहर्निश जारी रहता है। मोटरों का आवागमन भी यहाँ पर्याप्त होने लगा हैं। अगहन सुदी ६ को श्रीप्यारेलालजी भगत कलकत्तावालों की जयन्ती का उत्सव हुआ। आप विशिष्ट तथा ज्ञानवान् मनुष्य हैं। आश्रम के अधिष्ठाता हैं। २ बजे दिन से जुलूस निकला और उसके बाद सभा हुई, जिसमें श्रद्धाञ्जलियाँ समर्पित की गईं। स्कूल के छात्रों को किसमिस वितरण की गई। श्रीगिरिराज की वन्दना का हृदय में बहुत अनुराग था, अतः अगहन सुदी १० को मधुवन के लिये प्रस्थान किया। बीच में मटियों नामक ग्राम में रात्रि व्यतीत की। तदनन्तर प्रातःचलकर मधुवन पहुँच गये। द्वादशी को प्रातः वन्दनार्थ गिरिराज पर गये। साथ में श्री भगत सुमेरुचन्द्रजी, ब्र०नाथूरामजी तथा ब्र०मंगलसेनजी थे। यात्रियों की भीड़ बहुत थी। भक्ति से भरे नर-नारी पुण्य पाठ पढ़ते हुए पर्वत पर चढ़ रहे थे। जिस स्थान से अनन्तानन्त मुनिराज कर्मबन्धन काटकर निर्वाण धाम को प्राप्त हुए, उस स्थान पर पहुँचने से भावों में सातिशय विशुद्धता आ जाय, इसमें आश्चर्य नहीं। शुक्लपक्ष था, अतः चारों ओर स्पष्ट चाँदनी छिटक रही थी। मार्ग के दोनों ओर निस्तब्ध वृक्षपंक्ति खड़ी थी। श्रीकुन्थुनाथ भगवान् की टोंकपर पहुँच गये। सूर्योदय काल की लाल-लाल आभा वृक्षों की हरी-भरी चोटियों पर अनुपम दृश्य उपस्थित कर रही थी। क्रम-क्रम से समस्त टोकों की वन्दना कर १० बजे श्रीपार्श्वनाथ भगवान् के निर्वाण स्थान पर पहुँच गये। वन्दना पूर्ण होने पर हृदय में अत्यन्त हर्ष हुआ। श्रीसमन्तभद्रस्वामी ने पार्श्वनाथ भगवान् का जो स्तोत्र लिखा है, उसे पढ़कर चित्त में शान्ति आई। यहीं पर मध्याह्न की सामायिक कर दिन के ३।। बजे मधुवन वापिस आ गये और श्रीपन्नालालजी चौधरी के यहाँ आहार किया। भक्ति का प्राबल्य देखो कि स्त्रियाँ तथा आठ-आठ वर्ष के बच्चे भी १८ मील का पहाड़ी मार्ग चलकर भी खेद का अनुभव नहीं करते। जो स्त्रियाँ अंन्यत्र २ मील चलने में भी कष्ट का अनुभव करती हैं, वे यहाँ १८ मील का लंम्बा मार्ग एक साथ चलकर भी कष्ट का अनुभव नहीं करतीं। यथार्थ बात यह हैं कि उस समय उनका उपयोग दूसरी ही ओ़र रहता है। तीन-चार दिन मधुवन में रहे। नीचे तेरहपन्थी कोठी में श्रीभगंवान् पार्श्वनाथ की विशाल प्रतिमा विराजमान है तथा श्री सोहनलालजी कलकत्तावालों के मन्दिर में श्रीचन्द्रप्रभु भगवान् की भी मनोज्ञ प्रतिमा है। यहाँ से चलकर पुनः ईसरी वापिस आ गये। यहाँ कलकत्ता निवासी श्री सेठ

शान्तिप्रसादजी तथा बाबू नन्दलालजी, सेठ बैजनाथजी सरावगी, पटना निवासी बद्रीप्रसादजी सरावगी, खरखरी निवासी श्री बाबू विमलप्रसादजी, बाबू शिखरचन्द्रजी, वरनावावाले, नत्थूमल्लजी गिरीडीह निवासी, श्री बालचन्द्रजी मोदी, राधाकृष्ण कालूरामजी, रामचन्द्रजी सेठी, सागरमल्लजी पाण्डया, गिरनारीलालजी सरावगी, कोडरमा निवासी श्री जगन्नाथजी पाण्डया, गौरीलालजी, जीतमलजी, भँवरीलालजी पाण्डया, राँची निवासी श्री रायबहादुर हरषचन्द्रजी, लालचन्द्रजी सेठी, हजारीबाग निवासी श्री कन्हैयालाल मिश्रीलालजी तथा गयानिवासी श्री छोगालालजी, सोनूलालजी तथा चम्पालालजी सेठी आदि महानुभाव समय-समय पर पधार कर सब व्यवस्था बनाये रहते हैं।

●

राष्ट्रपति से साक्षात्कार

ईसरी में संवत् २०१२ सन् १९५५ के अप्रैल के अन्तिम सप्ताह में बिहार राज्य ग्राम पंचायत का चतुर्थ अधिवेशन था। जिसके उद्‌घाटन के लिए भारतवर्ष के राष्ट्रपति डॉ०राजेन्द्रप्रसादजी आये थे। जैन हाईस्कूल के मैदान में आपका भाषण हुआ। आप प्रकृति के सरल तथा श्रद्धालु व्यक्ति हैं। साक्षात्कार होने पर आपने बहुत ही शिष्टता दिखलाई। मैंने आपसे कहा कि बिहार आपका प्रान्त है और इसी प्रान्त में मद्य के सेवन की प्रचुरता देखी जाती है। इस मद्य-सेवन से गरीबों की गृहस्थी उजड़ रही है। उनके बाल-बच्चों को पर्याप्त अन्न और वस्त्र नहीं मिल पाता, निर्धन अवस्था के कारण शिक्षा की ओर भी उनकी प्रगति नहीं हो पातीं, इसलिए ऐसा प्रयत्न कीजिये कि जिससे यहाँ के निवासी इस दुर्व्यसन से बचकर अपना भला कर सकें। आप जैसे आस्थावान् राष्ट्रपति को पाकर भारतवर्ष गौरव को प्राप्त हुआ है।

उत्तर में उन्होंने कहा कि हम प्रयत्न ऐसा कर रहे हैं कि बिहार ही क्यों भारत के किसी भी प्रदेश में मद्यपान न हो। पूज्य गांधीजी ने मद्य-निषेध को प्रारम्भ किया है और हम उनके पदानुगामी हैं, परन्तु खेद इस बात का है कि हम द्रुतगति से उनके पीछे नहीं चल पाते हैं।

स्याद्वाद विद्यालय का स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव

बनारस का स्याद्वाद विद्यालय जैन समाज की प्राचीन एवं महोपकारिणी संस्था है। गङ्गा के तट पर इसकी विशाल इमारत बनी हुई है। उसी में श्री भगवान् सुपार्श्वनाथ का सुन्दर मन्दिर है। ५० वर्ष से जैन समाज में संस्कृत विद्या का प्रचार इस विद्यालय से हो रहा है। सैकड़ों विद्वान् इस विद्यालय में पढ़कर तैयार हुए हैं। बनारस का स्थान संस्कृत विद्या का प्रचार केन्द्र है। यहाँ हिन्दूधर्मावलम्बियों के द्वारा चलनेवाले संस्कृत के सैकड़ों विद्यालय हैं, अनेकों छोटी-मोटी पाठशालाएँ, सरकारी कालेज हैं तथा मालवीयजी द्वारा उद्‌घाटित हिन्दू यूनिवर्सिटी है। ऐसे केन्द्र स्थान में यह स्याद्वाद विद्यालय अपना बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पं०कैलाशचन्द्रजी इसके प्रधानाध्यापक हैं। यथार्थ में आप विद्यालय के प्राण हैं। आपके द्वारा ही वह व्यवस्थितरूप से चला आ रहा है।

विद्यालय के अधिकारियों का यह निश्चय हुआ कि ५० वर्ष हो जाने के कारण इस विद्यालय का स्वर्ण जयन्ती महोत्सव सम्पन्न कराया जाय। मेरा बनारस पहुँचना सम्भव नहीं था, इसलिये उत्सव का आयोजन मधुवन में रक्खा गया। मेरा कहना था कि उत्सव विद्यालय के स्थानपर ही शोभा देगा, परन्तु सुननेवाला कौन था। उत्सव के आयोजकों का भाव यह था कि श्री सम्मेदशिखरजी जैसे परम पवित्र सिद्ध क्षेत्रपर मेरा सन्निधान रहते हुए जनता अनायास आ जायगी। उत्सव के अध्यक्ष श्री साहु शान्तिप्रसादजी कलकत्ता थे। आपने सपरिवार पधार कर उत्सव को अच्छी तरह सम्पन्न कराया। कलकत्ता से श्री सेठ गजराजजी, बाबू छोटेलालजी तथा उनके भाई श्री नन्दलालजी आदि अनेक महानुभाव पधारे। हजारीबाग, कोडरमा, राँची, गिरीडीह आदि से अनेक व्यक्ति सपरिवार आये। अन्य जनता भी इतनी अधिक आई कि मधुवन की तेरापन्थी तथा श्वेताम्बर कोठी की सब धर्मशालाएँ ठसाठस भर गयीं। ऊपर से डेरा-तम्बुओं का प्रबन्ध करना पड़ा।

माघ बदी १४ संवत् २०१२ को श्री ऋषभ-निर्वाण दिवस का उत्सव मनाया गया, जिसमें भगवान् ऋषभदेव से सम्बन्ध रखनेवाले भाषण हुए। विद्वानों में श्री पं०बंशीधरजी न्यायालंकार इन्दौर, पं०फूलचन्द्रजी बनारस पं०पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, पं०मुन्नालालजी समगौरया सागर आदि अनेक विद्वान् आये थे। काशी के सब विद्वान् थे ही। रात्रि में वर्णी-जयन्ती का आयोजन था, जिसमें अनेक लोगों ने अपनी अपनी इच्छानुसार श्रद्धाञ्जलियाँ दीं, जिन्हें मैंने नतमस्तक होकर संकोच के साथ श्रवण किया। दूसरे दिन स्याद्वाद विद्यालय का स्वर्णजयन्ती महोत्सव हुआ। विद्यालय का परिचय देते हुए, उसके अबतक के कार्यकलापों का निर्देश श्री पं०कैलाशचन्द्रजी ने किया। साहुजी ने अपना भाषण दिया तथा भाषण में ही विद्यालय को चिरस्थायी करने की अपील समाज से कर दी। समाज ने हृदय खोलकर विद्यालय को सहायता दी। लगभग डेढ़ दो लाख की आय विद्यालय को हो गई।

एक दिन श्री रमारानी की अध्यक्षता में महिलासभा का भी अधिवेशन हुआ था। जिसमें श्री चन्दाबाईजी की प्रेरणा से महिलासभा को भी अच्छी आमदनी हो गई। जैनसमाज में दान देने की प्रवृत्ति नैसर्गिक है। वह देती है और प्रसन्नता से देती है, परन्तु समाज में एक संघटन का अभाव होने से उस दान से जो लाभ मिलना चाहिये, नहीं मिल पाता। समाज में जहाँ-तहाँ मिलकर प्रतिवर्ष लाखों रुपयों का दान

होता है, पर वह दान की हुई रकम स्वस्थानों में रहने से छिन्न-भिन्न हो जाती है और उससे समाज को ऊँचा उठानेवाला कोई काम नहीं हो पाता। समाज कें सर्वदान को एकत्र मिलाया जाय तो उससे विद्यालय तथा कालेज तो दूर रहो, यूनिवरसिटी का भी संचालन हो सकता है और उसके द्वारा जैन संकृति का प्रचार सर्वत्र किया जा सकता है। दान का रुपया एकत्र तब तक नहीं हो सकता जब तक कि दाता महानुभाव अपने स्थान का मोह नहीं छोड़ देते हैं। आज कोई दान देता है, तो उसका परिणाम अपने ही यहाँ देखना चाहता है। पर यह निश्चित है कि उसकी उतनी छोटी रकम से कोई बड़ा काम नहीं चल सकता और न सर्वत्र उत्तम कोटि के कार्यकर्ता ही हो सकते हैं। देनेवाले महानुभाव जब तक अपने हृदय को विशाल कर उदार नहीं बनाते हैं, तब तक उक्त कार्य स्वप्नवत् ही जान पड़ते हैं। अस्तु,

तीसरे दिन प्रातःकाल साहुजी को 'श्रावक-शिरोमणि' की पदवी दी जाने का प्रस्ताव रक्खा गया। उसके उत्तर में आपने जो भाषण दिया, उससे जनता ने समझा कि आप कितने उज्ज्वल तथा नम्र-निरहंकार व्यक्ति हैं।

उत्सव समाप्त होने पर मैं प्रातःकाल श्री पार्श्वप्रभु की वन्दना करने के लिए गया था। उसी समय किन्हीं लोगों ने परिषद् के द्वारा प्रकाशित हरिजन मन्दिर-प्रवेश सम्बन्धी पुस्तिकायें जनता में वितरण कर दीं। फिर क्या था? कुछ लोगों ने इसकी खबर उस समय मधुवन में विद्यमान श्री मुनि महावीर कीर्तिजी को दे दी। खबर पाते ही आपका पारा गरम हो गया और इतना गरम हो गया कि आपने जनता में एकदम उत्तेजना फैला दी। जब मैं गिरिराज से लौटकर २ बजे आया, तब यहाँ का रङ्ग दूसरा ही देखा। तेरापंथी कोठी के सामने महाराज जनता के समक्ष उत्तेजनापूर्ण शब्दों में अपना अभिप्राय प्रकट कर रहे थे। यह दृश्य देखकर मुझे लगा कि मनुष्य किसी वस्तु स्थिति को शान्त भाव से न सोचते हैं और न सोचने का प्रयत्न ही करते हैं। मैं चुपके से, जहाँ महाराज भाषण कर रहे थे, पहुँचा और मैंने लोगों से कहा कि भाइयों! मैं तो रात्रि के ४ बजे से श्री पार्श्वप्रभु की वन्दना के लिए गया था। यह पुस्तकें जो वितरण की गई हैं। इसकी जानकारी मुझे न पहले थी और न अब भी है कि पुस्तकें कहाँ से आईं और किसने वितरण कीं? हरिजनों के विषय में महाराज जो कहें, सो आप लोग मानों, इसमें मुझे आपत्ति नहीं। आप आगम के ज्ञाता हैं, सो आप को बतलावेंगे कि धर्म कौन धारण कर सकता है? श्री समन्तभद्र स्वामी ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

सम्यकचारित्र को धर्म कहा है। इनके धारक कौन हो सकते हैं और धर्म धारण करने के बाद भी धारण करनेवाले जीवों में कुछ विशेषता होती है या नहीं? मेरा तो विश्वास है कि जैनागम में सम्यग्दर्शन के धारण करने की प्रत्येक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक को छूट है। मनुष्य की बात तो दूर रही, तिर्यञ्च के लिए भी इसका अधिकार है। जब अनन्त संसार से पार करनेवाला धर्म उसके हाथ लग गया, तब भी वह पापी बना रहा, यह बात जैनागम में मेरे देखने में नहीं आई। उन्हें आप मन्दिर न आने दो, क्योंकि मन्दिर आपके हैं, परन्तु सम्यग्दर्शनरूप ज्योति के प्रकट होने पर भी उनमें पापरूप अन्धकार विद्यमान रहता है, यह बात बुद्धि में नहीं आती।

अनन्तर वातावरण शान्त हो गया, जिससे रथयात्रा आदि कार्य शान्ति से सम्पन्न हुए। हम सायंकाल मधुवन से ईसरी आ गये। मेला भी यथाक्रम से विघट गया।

आचार्य नमिसागर जी महाराज का समाधिमरण

श्री आचार्य नमिसागर जी महाराज महातपस्वी थे न जाने क्यों आपका हम पर अधिक स्नेह था। जब देहली तथा बड़ौत में आप के चातुर्मास हुए थे, तब आप बराबर हमारे लिये शुभाशीर्वाद भेजते रहते थे। हम ईसरी में थे, आपकी आकांक्षा थी कि हमारा समाधिमरण वर्णी गणेशप्रसाद के सान्निध्य में हो। इस आकांक्षा से प्रेरित होकर आप देहली से मधुवन तक का लम्बा मार्ग तयकर श्री पार्श्वप्रभु के पादमूल में पधारे थे। आप निर्द्वन्द्व-निरीह वृत्ति के साधु थे। संसार के विषय-वातावरण से दूर थे। आत्मसाधना ही आपका लक्ष्य था। ७० वर्ष की आपकी अवस्था थी, फिर भी दैनिक चर्या में रञ्चमात्र भी शिथिलता नहीं आने देते थे।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा कर आप ईसरी आ गए, जिससे सबको प्रसन्नता हुई। वृद्धावस्था के कारण आप का शरीर दुर्बल हो गया तथा उदर में व्याधि उत्पन्न हो गई, जिससे आपका विचार हुआ कि यह मनुष्य शरीर संयम का साधक होने से रक्षणीय अवश्य है, पर जब रक्षा करते-करते अरक्षित होने के सम्मुख हो, तब उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है।........यह विचार कर आपने १२-१०-१९५६ शुक्रवार को समाधि का नियम ले लिया। आपने सब

प्रकार के आहार और औषधि का त्याग कर केवल छाछ और जल ग्रहण करने का नियम रक्खा। उदासीनाश्रम के सब त्यागीगण आपकी वैयावृत्य में निरन्तर निमग्न रहते थे। श्री प्यारेलालजी भगत भी उस समय ईसरी में ही थे। अत: आप वैयावृत्य की पूर्ण देख-रेख रखते थे। हम भी समय समय पर आप को भगवती आराधना सुनाते थे। महाराज बड़ी एकाग्रता से श्रवण करते थे। महाराज के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए दिल्ली से अनेक लोग पधारे। आस-पास के भी अनेक महानुभाव आये। सेठ गजराज जी गंगवाल भी सकुटुम्ब आकर आपकी परिचर्या में निमग्न थे। महाराज तेरापन्थी कोठी में ठहरे थे। मैं आपके दर्शन के लिए गया। चलते-चलते मेरी श्वास भर आई। यह देख महाराज बोले— आपने क्यों कष्ट किया? आप तो हमारे हृदय में विद्यमान हैं।

अनन्तर सब की सलाह से उन्हें उदासीनाश्रम में ले आये और सरस्वतीभवन में ठहरा दिया। इस समय आपने अपने ऊपर से झुंगी हटवा दी तथा खुले स्थान में पलाल पर शयन किया। जब अन्तिम दो दिन रह गये तब आपने छाँछ का भी परित्याग कर दिया, केवल जल लेना स्वीकृत रक्खा। कार्तिक वदी ३ सं० २०१३ को १० बजे आपने तीन चुल्लू जल का आहार लिया। आहार के बाद आपको अधिक दुर्बलता का अनुभव हुआ, फिर भी मुखाकृति अत्यन्त शान्त थी। आपने सबसे कहा कि आप लोग भोजन करें। महाराज की आज्ञा पाकर सब लोग भोजन के लिए चले गये तथा सेवा में जो त्यागी थे, उन्हें छोड़ अन्य त्यागी सामायिक करने लगे। हम भी सामायिक में बैठना ही चाहते थे कि इतने में समाचार मिला कि महाराज का स्वास्थ्य एकदम खराब हो रहा है। हम उसी समय उनके पास आये। हमने पूछा कि महाराज! सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान है। उन्होंने हूंकार भरा और उसी समय आपके प्राण निकल गये। सबके हृदय शोक से भर गये। महाराज के शव को पद्मासन से विमान में बैठाकर ग्राम में जुलूस निकाला और आश्रम के पास ही बगलवाले मैदान में आपका अन्तिम संस्कार किया गया। गोला तथा चन्दन का पुष्कल प्रबन्ध श्री गजराजजी कलकत्तावालों ने पहले से कर रक्खा था। रात्रि में शोकसभा हुई, जिसमें महाराज के गुणों का स्मरण कर उन्हें श्रद्धाञ्जलियाँ दी गईं।

हमारे हृदय में विचार आया कि जिनका संसार अत्यन्त निकट रह जाता है, उन्हीं का इस प्रकार समाधिमरण होता है। आगम में लिखा है कि जिसका सम्यक् प्रकार से समाधिमरण होता है, वह सात आठ भव से अधिक संसार में

भ्रमण नहीं करता। भक्त भगवज्जिनेन्द्र से प्रार्थना करता है कि—

> ***दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाहिमरणं च बोहिलाहो य ।***
> ***मम होउ जगदबान्धव तव जिणवरचरणसरणेण ।।***

हे भगवन्! हे जगत् के बन्धु! आप के चरणों की शरण पाकर मेरे दुःखों का क्षय हो, इस प्रकार कोई भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है। भगवान् की ओर से उत्तर मिलता है कि दुःखों का क्षय तबतक नहीं हो सकता, जबतक कि कर्मों का क्षय न हो जाय। यह सुन भक्त, भगवान् से कहता है कि भगवन् कर्मों का भी क्षय हो। भगवान् की ओर से पुरः उत्तर मिलता है कि कर्मों का क्षय तबतक नहीं हो सकता, जबतक कि समाधिमरण न हो। कायरों की तरह रोते-चीखते हुए जो मरण करते हैं वे कर्मों का क्षय कदापि नहीं कर सकते। यह सुन भगवान् से पुनः प्रार्थना करता है कि भगवन् समाधिमरण की भी मुझे प्राप्ति हो। भगवान् की ओर से पुनः आवाज आती है कि बोधि रत्नत्रय की प्राप्ति के बिना समाधिमरण का होना दुर्लभ है। तब फिर भक्त प्रार्थना करता है कि महाराज बोधि का लाभ भी मुझे हो। कहने का तात्पर्य यह है कि जबतक यह जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्राप्त नहीं कर लेता तबतक इसके दुःखों का क्षय नहीं हो सकता। जिस प्रकार हिम के कुण्ड में अवगाहन करने से तत्काल शीतलता का अनुभव होने लगता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि के होने पर तत्काल सुख का अनुभव होने लगता है। अन्य की बात जाने दो, नारकी जीव भी सम्यग्दर्शन के होने पर तत्काल सुख का अनुभव करने लगता है। विपरीताभिनिवेश दूर होना ही सम्यग्दर्शन है। जहाँ विपरीतभाव गया, वहाँ सुख की बात क्या पूछना?

मैंने श्रद्धाञ्जलि भाषण में लोगों से यही कहा कि महाराज तो आत्मकल्याण कर स्वर्ग में कल्पवासी देव हो गये। अब उनके प्रति शोक करने से क्या लाभ है? शोक तो वहाँ होना चाहिये, जहाँ अपना स्नेह-भाजन व्यक्ति दुःख को प्राप्त हो। अब तो हम उसका पुरुषार्थ इस प्रकार का होना चाहिये कि जिससे जन्म-मरण की यातनाओं से बचकर हमारी आत्मा शाश्वत सुख का पात्र हो सके।

●

सागर विद्यालय का स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव

सागर की सत्तर्कसुधातरङ्गिणी पाठशाला पहले सत्तर्क विद्यालय के नाम से प्रसिद्ध हुई, अब गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है। इस संस्था ने बुन्देलखण्ड प्रान्त में काफी कार्य किया है। ५० वर्ष पूर्व जहाँ मन्दिरों में पूजा और विधान बाँचनेवाले विद्वान् नहीं मिलते थे, वहाँ अब धवल-महाधवल जैसे ग्रन्थराजों का अनुवाद और प्रवचन करनेवाले विद्वान् विद्यमान हैं। जहाँ संस्कृत के ग्रन्थ बाँचने में लोग दूसरे का मुख देखते थे, वहाँ आज संस्कृत में गद्य-पद्य रचना करनेवाले विद्वान् तैयार हो गये हैं।

सागर बुन्देलखण्ड का केन्द्र स्थान है, अत: यहाँ पर विद्या के एक विशाल आयतन की आवश्यकता सदा अनुभव में आती रहती थी। सागर के उत्साही लोगों ने अपने यहाँ एक छोटी-सी पाठशाला खोली थी, वह वृद्धि करते-करते आज विशाल विद्यालय का रूप धारण कर समाज में कार्य कर रही है। किसी समय इसमें ५ विद्यार्थी थे, पर अब इसमें २०० छात्र भोजन पाते हुए विद्याध्ययन करते हैं। एक पहाड़ी की उपत्यका में सुन्दर और स्वच्छ भवन विद्यालय का बना है, उसी में संस्कृत विभाग तथा हाईस्कूल इस प्रकार दोनों विभाग अपना कार्य संचालन करते हैं। संस्कृत में प्रारम्भ से शास्त्री, आचार्य तक तथा हाईस्कूल में एन्ट्रेस तक पढ़ाई होती है।

समय जाते देर नहीं लगती। इस संस्था को भी कार्य करते हुए बहुत वर्ष हो गये थे, इसलिए इसके आयोजकों ने भी स्वर्ण-जयन्ती मनाने का आयोजन किया। बनारस विद्यालय के उत्सव के समय श्री समगौरयाजी ने कहा था कि इस वर्ष बड़े भैया की स्वर्ण-जयन्ती हो रही है और आगामी वर्ष छोटे भैया की स्वर्ण-जयन्ती मनाई जायगी। छोटे भैया के मायने सागर का विद्यालय है। सुनकर जनता की उत्सुकता बढ़ी।

अगली वर्ष सागर से पं०पन्नालालजी और समगौरयाजी हमारे पास आकर कहने लगे कि इस वर्ष सागर विद्यालय की स्वर्ण-जयन्ती मनाना है, इसलिए आप सागर पधारने की कृपा करें। मैं सागर जाकर बड़ी कठिनाई से वापिस आ पाया था तथा शरीर की शक्ति भी पहले की अपेक्षा अधिक ह्रास को प्राप्त हो गई थी, इसलिए मैने सागर जाना स्वीकृत नहीं किया। तब उन्होंने दूसरा पक्ष

रक्खा, तो यहीं पर अर्थात् मधुवन में उत्सव रखने की स्वीकृति दीजिये। मैं तटस्थ रह गया और उक्त दोनों विद्वान् कलकत्ता जाकर मधुवन में स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव करने की स्वीकृति ले आये।

इसी बीच श्री कानजी स्वामी भी श्री गिरिराज की वन्दनार्थ संसघ पधार रहे थे, जिससे लोगों में उक्त अवसर पर पहुँचने की उत्कण्ठा बढ़ रही थी। इसी वर्ष कोडरमा में पञ्चकल्याणक थे। लोग हमें भी ले गये। वहाँ भी सागर-विद्यालय की स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव का काफी प्रचार हो गया। फाल्गुन सुदी १२-१३ सं० २०१३ उत्सव के दिन निश्चित किये गये। इस उत्सव में बहुत जनता एकत्रित हुई। सब धर्मशालाएँ भर चुकीं और उसके बाद सैकड़ों डेरे-तम्बुओं का प्रबन्ध कमेटी को करना पड़ा। चारों ओर की जनता का आगमन हुआ। उसी समय यहाँ जैनसिद्धान्त संरक्षिणी सभा का अधिवेशन भी था। तेरापन्थी कोठी में इसका पंडाल लगा था और श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों तथा सागर विद्यालय के उत्सव का संयुक्त पण्डाल बीसपंथी कोठी में लगा था। इन आयोजनों में बाहर से श्री पं० माणिकचन्दजी न्यायाचार्य, पं०बन्शीधरजी न्यायालंकार, पं०मक्खनलालजी, लालारामजी, पं०फूलचन्द्रजी, पं०कैलाशचन्द्रजी, पं०इन्द्रलालजी आदि अनेक विद्वान् आये थे। सागर के सब विद्वान् तथा छात्रवर्ग थे ही।

सागर विद्यालयवालों ने उत्सव का अध्यक्ष मुझे बना दिया। उत्सव के प्रारम्भ में विद्यालय में अबतक पढ़कर निकलनेवाले स्नातकों (छात्रों) की ओर से ५२ स्वर्णमुद्राएँ विद्यालय की सहायता के लिए हमारे सामने रखी गईं। विद्यालय के ५२ वर्ष का कार्यपरिचय जनता के समक्ष उसके मन्त्री श्रीनाथूराम गोदरे ने रक्खा। पं०फूलचन्द्रजी ने विद्यालय के लिए अपील की, जिससे ५०-६० हजार रुपये के वचन मिल गये। फुटकर सहायता भी लोगों ने बहुत दी। उत्सव कार्यक्रम दो दिन चलता रहा और जनता बड़ी प्रसन्नता से उसमें भाग लेती रही।

श्री कानजी स्वामी फाल्गुन सुदी ५ को संघ सहित मधुवन आ गये थे। जितने दिन रहे, प्रायः हमसे मिलते रहे। प्रसन्नमुख तथा विचारक व्यक्ति हैं। आप प्रारम्भ में स्थानकवासी श्वेताम्बर थे, परन्तु श्री कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों का अवलोकन करने से आपकी दिगम्बर धर्म की ओर दृढ़ श्रद्धा हो गई, जिससे आपने स्थानक वासी श्वेताम्बर धर्म छोड़ कर दिगम्बर धर्म धारण कर लिया। न केवल आपने ही, किन्तु अपने उपदेश से सौराष्ट्र तथा गुजरात प्रान्त के हजारों

व्यक्तियों को भी दिगम्बर जैनधर्म में दीक्षित किया है। आपकी प्रेरणा से सोनगढ़ तथा उस प्रान्त में अनेक जगह दिगम्बर जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ है।

आपके प्रवचन प्राय: निश्चय धर्म की प्रमुखता लेकर होते हैं, तथा आपका जो साहित्य प्रकाशित हुआ है, मैंने तो आनुपूर्वी से देखा नहीं, पर लोग कहते हैं कि निश्चयधर्म की प्रधानता को लिये हुए हैं। इस स्थिति में अभी नहीं, तो आगे चलकर व्यवहार-धर्म से लोगों की उपेक्षा हो जाना इष्ट नहीं है। अत: दोनों नयों पर दृष्टि डालते हुए श्री कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलंक आदि आचार्यों के समान पदार्थ का निरूपण किया जाय, तो जैन श्रुत की परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे। विद्वान् लोग यही चर्चा आपसे करना चाहते थे, पर कार्यक्रमों की बहुलता के कारण मधुवन में वह अवसर नहीं मिल सका।

उत्सव में आपके यात्रा-संघ की ओर से विद्यालय को १०००) समर्पित किया गया। उत्सव के बाद आपका संघ कलकत्ता की ओर प्रस्थान कर गया। मेला विघट गया और हम भी ईसरी वापिस आ गये।

श्री क्षुल्लक संभवसागरजी का समाधिमरण

श्री क्षुल्लक संभवसागरजी वारासिवनी के रहनेवाले थे। प्रकृति के बहुत ही शान्त तथा सरल थे। जब से क्षुल्लक-दीक्षा आपने ग्रहण की, तब से बराबर हमारे साथ रहे। संसार के चक्र से आप सदा दूर रहते थे, तथा मुझसे भी निरन्तर यही प्रेरणा करते रहते थे, आप इन सब झंझटों से दूर रहकर आत्महित करें। एकबार शाहपुर में मैं सामायिक कर रहा था और मेरे पीछे आप सामायिक में बैठे थे। किसी कारण मेरे खेस में आग लग गई, मुझे इसका पता नहीं था और होता भी तो सामायिक में से कैसे उठता? परन्तु आपकी दृष्टि अचानक ही उस आग पर पड़ गई और आपने झट से उठकर हमारा जलता हुआ, खेस निकाल कर अलग कर दिया। उस दिन उन्होंने एक असंभाव्य घटना से हमारी रक्षा की।

आपका स्वास्थ्य धीरे-धीरे खराब होता गया। आपकी आयु के कुछ दिन ही शेष रह गये, तब बोले महाराजजी! आप में मेरी अगाध श्रद्धा है, मैं विशेष पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, और न शास्त्र का विशेष ज्ञान ही मुझे है, परन्तु गृहवास

से मेरे परिणाम विरक्त हो गये। पहले से ब्रह्मचारी के वेष में रहा और अब क्षुल्लक दीक्षा धारण की है। मेरा अभिप्राय सदा यह रहा है कि आप विशिष्ट ज्ञानी तथा अन्तरात्मा के पारखी हैं, इसलिये आपके निकट रहने से हमारा समाधिमरण होगा। मेरा स्वास्थ्य अब अच्छा होने की आशा नहीं है, इसलिये आप जिस तरह बने, उस तरह हमारा सुधार करें। हमारा उपकार अपकार आप पर निर्भर है। यह कहकर आपने सल्लेखना धारण कर ली। आश्रम के सब ब्रह्मचारी आपकी सेवा में लीन हो गये। मैं भी यथा समय उन्हें संबोधता रहता था। मेरा तो उनसे यही कहना था कि इस समय अधिक चिन्तन की आवश्यकता नहीं। इस समय तो आप इतना ही चिन्तन करो—

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा में बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ।।

कुन्दकुन्द स्वामी के वचन हैं कि ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला एक आत्मा ही मेरा शाश्वत द्रव्य है। अन्य, कर्मसंयोग से होनेवाले समस्त भाव बाह्य भाव हैं। उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। शरीरादि परपदार्थों से भिन्न हमारी आत्मा है। उसे कोई भी नष्ट करनेवाला नहीं है।

यहाँ पर्यूषण के बाद आसोज वदी ४ को लोग वर्णी-जयन्ती के समारोह का आयोजन कर रहे थे, वहाँ श्री संभवसागर जी का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता जाता था। मैंने सब जगह सूचना करवा दी कि इस वर्ष जयन्ती का समारोह नहीं होगा, क्योंकि हमारा एक सहयोगी सन्त समाधि पर आरूढ़ है। यद्यपि जयन्ती-उत्सव स्थगित कर दिया था, फिर भी आस-पास के लोगों की अच्छी संख्या आकर यहाँ उपस्थित हो गई। कुँवार वदी ३ वीर-निर्वाण २४८३ आपकी वर्तमान पर्याय का अन्तिम दिन था। दुर्बल होने पर भी आपकी चेतना यथापूर्व थी। आप बोल नहीं सकते थे, फिर भी यथार्थ तत्त्व आपके ज्ञान में समाया हुआ था। आज आपने अन्न-जल का सर्वथा त्याग कर दिया। मैंने कहा कि सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान है। उन्होंने हूँकार भरा। तदनन्तर मैंने कहा कि आत्मा परपदार्थों से भिन्न जुदा पदार्थ अनुभव में आता है, या नहीं? पुनः उन्होंने हूँकार भरा। तदनन्तर नमस्कार-मन्त्र का श्रवण करते-करते आप के प्राण शरीर से बहिर्गत हो गये। सबको दुःख हुआ। पश्चात् आपका अन्तिम-संस्कार किया गया। शोकसभा की गई, जिसमें आपको और आपके परिवार को 'शान्तिलाभ हो' ऐसी भगवान् से

प्रार्थना की गई। सब लोगों के मुख से आपकी प्रशंसा में यही शब्द निकलते थे कि बहुत ही शान्त थे।

हजारीबाग का ग्रीष्मकाल

हजारीबाग की जलवायु उत्तम है। ग्रीष्म की बाधा भी वहाँ कम होती है, इसलिये अन्तरङ्ग की प्रेरणा समझो या वहाँ के लोगों के आग्रह की प्रबलता..... कुछ भी कारण समझो, मैं वहाँ चला गया। बसंतीलालजी ने अपने उद्यान में ठहराया। सुरम्य स्थान है। यहाँ आकर गरमी के प्रकोप से तो बच गया, परन्तु अन्तरङ्ग की दुर्बलता से जैसी शान्ति मिलनी चाहिये, नहीं मिल सकी। सागर से तार आये कि यहाँ सिंघई कुन्दनलालजी का स्वास्थ्य अत्यन्त खराब है, इसलिये उनकी समाधि के लिए आप सागर पधारने की कृपा करें। सिं०कुन्दनलालजी अन्तरङ्ग के निर्मल एवं परोपकारी जीव हैं। उनके संपर्क में हमारा बहुत समय बीता है, इसलिये मन में विकल्प उत्पन्न हुआ कि यदि हमारे द्वारा इनके परिणामों का सुधार होता है तो पहुँचने में क्या हानि है। तार के बाद ही सागर से कुछ व्यक्ति भी लेने के लिए आ गये। जब इस बात का यहाँ के समाज को पता चला, तो सबमें व्यग्रता फैल गई। लोग यह कहने लगे कि आपकी अत्यन्त वृद्ध अवस्था है, इसलिए श्री पार्श्वप्रभु की शरण छोड़कर अन्यत्र जाना अच्छा नहीं है। साथ ही, यह भी कहने लगे कि आपने इसी प्रान्त में रहने का नियम किया था, इसलिए इस प्रान्त से बाहर जाना उचित नहीं है। हजारीबाग ही नहीं, कई स्थानों के भाई एकत्रित हो गये। मैं दोनों ओर से संकोच में पड़ गया। इधर सागर के महाशय आ गये, इसलिए उनका संकोच और उधर इस प्रान्त के लोगों का संकोच। हजारीबाग से चलकर ईसरी आये, तो यहाँ भी बहुत से लोगों का जमाव देखा। बात यही थी, सबका यही कहना था कि आप इस प्रान्त को छोड़कर अन्यत्र न जावें। जाने में नियम की अवहेलना होती है, परन्तु मेरा कहना था कि समाधि के लिए जाने का विचार है। यदि मेरे द्वारा एक आत्मा का सुधार होता है, तो क्या बुरा है? लोगों की युक्ति यह थी कि यदि सिंघईजी कोई व्रती क्षुल्लक या मुनि होते, तो जाना संभव हो सकता था। अन्तरङ्ग में विचारों का संघर्ष चल रहा था कि सागर से दूसरा समाचार आ गया कि सिंघईजी का स्वास्थ्य सुधर

रहा है। समाचार जानकर हृदय की व्यग्रता कम हुई। मन में यह लगा कि मेरा हृदय बहुत निर्बल है। जरा-जरा सी बातों को लेकर उलझन में पड़ जाता हूँ, इसे हृदय की दुर्बलता न कहा जाय तो क्या कहा जाय। स्वस्थता के तार ने हमारी उलझन समाप्त कर दी और मैंने सागरवालों से कह दिया कि हमारा सागर पहुँचना शक्य नहीं है। इधर के लोगों को इससे सन्तोष हुआ, पर सागर के लोग निराश होकर चले गये। संसार है, सबको प्रसन्न रखने की क्षमता सब में नहीं है। सूर्योदय से कमल विकसित होता है, पर उसी तालाब में कमल के पास लगा हुआ, कुमुद बन्द हो जाता है। इसे क्या कहा जाय? पदार्थ का परिणमन विचित्र-रूप है। हर्ष और विषाद का अनुभव लोग अपनी अपनी कषाय के अनुसार ही करते हैं।

साहुजी की दान-घोषणा

वृद्धावस्था के कारण शरीर की जर्जरता तो बढ़ रही थी। उस पर भी यदा-कदा वात का प्रकोप व्यग्रता को बढ़ा देता था, इसलिए एक दिन निश्चय किया कि राजगृही रहा जाय। वहाँ का वायुमण्डल शरीर के अनुकूल बैठ सकता है। श्रीराजकृष्णजी ने इसके लिए एक विशिष्ट प्रकार की कुर्सी का निर्माण कराया, जिसमें पहिये लगाये गये थे, और एक आदमी जिसे अच्छी तरह चला सकता था। ईसरी से जाते समय मन में विकल्प आया कि पार्श्वप्रभु के पादमूल से हटकर जा रहा हूँ। फिर लौटकर आ सका या नहीं, इसलिए एक बार गिरिराज पर जाकर उनके दर्शन अवश्य करना चाहिये। निश्चयानुसार मधुवन के लिए प्रस्थान कर दिया।

प्रातःकाल श्रीपार्श्वप्रभु की वन्दना के लिये गया। डोली में जाना पड़ा मन ही मन औदारिक शरीर की दशा पर खेद उत्पन्न हो रहा था। एक समय था, जब इसी शरीर से पैदल यात्रा कर पार्श्वप्रभु के दर्शन किये थे, पर अब उसे वहन करने के लिए दो आदमियों की आवश्यकता पड़ती है। सीधे पार्श्वनाथ भगवान् की टोंक पर ही गये थे, इसलिए आठ बजते वहाँ पहुँच गये। पार्श्वप्रभु के दर्शन कर हृदय में अपार शान्ति उत्पन्न हुई। एक बार स्वर्गीय बाईजी के साथ गिरिराज की यात्रा की थी, तब पार्श्वप्रभु के पादमूल में उन्होंने अपना जीवनचक्र सुनाते हुए, प्रतिक्रमण कर नाना-व्रत धारण किये थे। वह दृश्य सहसा आँखों के सामने आ गया और बाईजी का उज्ज्वल रूप सामने दृष्टिगत होने लगा। साथ के लोगों

से तत्त्वचर्चा करता हुआ, बाहर आया। चारों ओर हरे-भरे वृक्षों पर सूर्य की सुनहली धूप पड़ रही थी। फिर भी शीतल वायु के झकोरे शरीर में सिहरन पैदा कर रहे थे। मध्याह्न की सामायिक बीच में कर मधुवन आ गये। आहार आदि से निवृत्त हो संतोष का अनुभव किया।

मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ है। शीत की प्रकोपता से पावों में सूजन आ गई, और वात का दर्द भी अधिक बढ़ गया। इसलिए राजगृही जाना कठिन हो गया। गिरिडीह के महानुभावों ने आग्रह किया कि अभी आप गिरीडीह चलें, वहाँ हम उपचार करेंगे। अच्छा होने पर आप राजगृही जावें। हम गिरीडीह चले गये। लोगों ने बहुत सम्मान से ठहराया और नाना उपचार किये। स्वास्थ्य की खराबी के समाचार जहाँ-तहाँ पहुँच गये, जिससे अनेक लोग गिरीडीह पहुँचे। क्षुल्लक मनोहरलालजी भी आ पहुंचे। आपके प्रवचनों से जनता को लाभ मिलने लगा। श्री साहु शान्तिप्रसादजी भी आये। आप प्रकृति से भद्र एवं उदार चेता हैं। आपने एक दिन कहा कि महाराजजी! मैं सागर विद्यालय की जयन्ती के समय सम्मेदशिखरजी में नहीं आ पाया था, सो अब आज्ञा कीजिये। मैंने कहा कि मैं क्या आज्ञा करूँ? उस प्रान्त में वह विद्यालय जैन समाज के उत्थान में बहुत भारी काम कर रहा है। बना रहे, यही हमारी भावना है। समीप में बैठे कुछ लोगों ने कह दिया कि वहाँ पाँच हजार रूपये का वार्षिक घाटा रहता है। सुनकर उन्होंनें कहा कि हम सदा के लिए इसकी पूर्ति कर देंगे। अनन्तर बनारस विद्यालय के भवन गिर जाने की बात आई, तो बोले कि हम सन्मति निकेतन में इसके लिये दूसरा भवन बनवा देंगे। यह सब कह चुकने के बाद उन्होंने आग्रह किया कि आपका शरीर अत्यन्त जर्जर है। न जाने कब क्या हो जाय? इसलिए आप सम्मेदशिखरजी से दूर न जावें। गिरीडीह, ईसरी तथा इसी के आस-पास रहें, तो उत्तम हो। मैंने कहा-अच्छा है।

राजगृही जाना स्थगित हो गया तथा कुछं स्वस्थ होने पर ईसरी आ गया। ईसरी में दिनचर्या पूर्ववत् चलने लगी।

●

परिशिष्ट

कथा का विसर्जन : और विसर्जन की कथा

नीरज जैन, एम.ए.

महापुरुष अपने जीवन से हमें बहुत-सी शिक्षा देते हैं और प्राय: अपने मरण से भी वे हमें बहुत कुछ सिखाते हैं। यदि उनका जीवन एक प्रयोगशाला है तो मरण उनका सफल आविष्कार है। यदि जीवन एक पाठशाला है तो मरण उनकी परीक्षा है।

पूज्य वर्णी गणेशप्रसाद जी इस युग के मान्य महापुरुष थे। उनके दीर्घ साधनामय और समर्पित जीवन को आदर्श बनाकर यदि हम यह सीख सकते हैं कि क्षुद्र मानव-जीवन को विकसित करके कैसे धर्म और समाज के लिये उसकी उपादेयता सिद्ध की जा सकती है तथा आत्मसंयम के द्वारा किस प्रकार उसकी सार्थकता स्थापित की जा सकती है, तो इसमें सन्देह नहीं कि उनके विवेकपूर्ण अवसान को ध्यान में लाकर हम भलीभाँति यह भी जान सकते हैं कि किस प्रकार मरण को महानता प्रदान करके उसे भी अनुकरणीय बनाया जा सकता है।

बाबाजी के देहावसान के पाँच सप्ताह पूर्व से, उनकी चरणसेवा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। आज तेरह वर्ष का लम्बा समय व्यतीत हो जाने के बाद भी, उस महाप्रयाण की प्राय: सभी छोटी-बड़ी घटनाएँ, एलबम के चित्रों की तरह मुझे अपने मानस-पटल पर स्पष्ट अंकित दिखाई देती हैं।

वह साहसिक संकल्प

१९६१ के रक्षाबन्धन के कुछ दिन पूर्व की बात है। बाबाजी मोतीझिरा की लम्बी बीमारी से मुक्त होकर कुछ स्वस्थ-सा अनुभव कर रहे थे। एक दिन अकस्मात् गुरुजी श्रद्धेय पण्डित जगन्मोहनलालजी का रेलगाड़ी में से लिखा एक पोस्टकार्ड सतना में मुझे प्राप्त हुआ। लिखा था—

"पूज्य बाबाजी का स्वास्थ्य कुछ सुधार पर है। ज्वर शान्त हो गया है। मरण आसन्न नहीं है। फिर भी, न जाने क्यों, वे अन्न ग्रहण नहीं कर रहे हैं। तुम जाकर प्रयत्न करो। शायद तुम्हारी बालहठ कुछ काम कर जाय।"

पत्र देखते ही चित्त एकदम बेचैन हो उठा। दूसरे ही दिन सपरिवार मैं ईसरी पहुँच गया। बाबाजी के एक और मूक सेवक भाई पन्नालालजी सतना से ही साथ हो गये।

सुबह साढ़े आठ बजे हम लोग आश्रम पहुँच गये। मन में तो एक ही लगन थी कि बाबाजी को अन्न का आहार देना है। सुना, कुछ भी ग्रहण नहीं करते हैं। फलों के दो-चार तोले रस का ही शरीर को आसरा है।

झटपट नहा धोकर मैंने मूंग की दाल का पानी तैयार कराया और एक छोटी कटोरी में उसे लेकर प्रस्तुत हो गया। चर्या की विधि प्रारम्भ हुई और लगभग एक छटांक मौसमी या अनार का रस, चार-पाँच घूँट में, बाबाजी ने ग्रहण किया। मैंने दाल का पानी बढ़ाया, बहुत आग्रह किया, पर उन्होंने एक बूँद भी उसे लेना स्वीकार न किया। पहली बार निषेध में जो उनका हाथ हिला सो हिलता ही चला गया। मेरी दाल बिल्कुल नहीं गली।

पाचन की प्रक्रिया के लिए फलों के रस और दाल के छाने हुए पानी में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। बैद्यों का भी परामर्श था कि दाल के पानी से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे अन्नाहार पर आ जाना हितकर होगा। इस सब के बावजूद भी उनके निषेध की दृढ़ता देखकर मुझे विश्वास हो गया कि यह निषेध, अनिच्छा या अरुचिजन्य साधारण निषेध नहीं हैं। इसके पीछे अवश्य ही कोई दूसरा संकल्प होना चाहिए।

बाबाजी सामायिक के उपरांत विश्राम में थे। अशक्ति के कारण लेटे ही लेटे उनकी ये क्रियायें चलती थीं। मैं भी भोजनादि से निवृत्त हुआ और अपनी टोह में लग गया। उनकी डायरी निकालकर पढ़ डाली। निरन्तर लिखने का उनका क्रम तो कभी का टूट चुका था परन्तु कोई विशेष बात होने पर कभी-कभी बोलकर डायरी में लिखा देते थे। एक एक पंक्ति छान डाली, पर कहीं कुछ संकेत मिला नहीं।

उनके पास आने वाले पत्रों का निरीक्षण-परीक्षण भी व्यर्थ रहा। अन्त में उनकी समयसार की प्रति मैंने उठाई। मुझे ज्ञात था कि कई बार पूज्य बाबाजी विशेष महत्त्व के पत्र-कागज आदि समयसार के आवरण में खोंस देते हैं। अहिंसा प्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशित समयसार की इस मोटी प्रति पर खाकी रंग के मोटे ही कपड़े का एक आवरण था, जो बाबाजी को लिखे गये विशेष पत्रों आदि का शरणस्थल हुआ करता था। तीन-चार कागज उसमें प्राप्त हुए। उन्हीं में वह लिखित संकल्प मुझे प्राप्त हो गया, जिसे पढ़ने पर वैद्यों के परामर्श के बावजूद

भी, दाल के पानी के प्रति उनके दृढ़तापूर्ण निषेध का सही अर्थ मेरी समझ में आ गया। पत्र इस प्रकार था :

"यद्यपि हमारा रोग दो वर्ष से हम अनुभव कर रहे हैं, निष्प्रतीकार है। परन्तु हमारे जो साधर्मी भाई हैं, वह कहते हैं कि आप सौ वर्ष जीवेंगे। यह उनका कहना तथ्य है या अतथ्य है, बहुज्ञानी जानें, या जो कहते हैं वे ही जानें। परन्तु मुझे विश्वास है, अब समाधिमरण के उपायों का अविलम्ब अवलम्बन श्रेयस्कर है।

इसका उपाय पेय पदार्थ है। अर्थात् आहार को छोड़कर स्निग्ध पान करना बहुत उपयोगी होगा। आधा सेर दूध और दो अनार का रस जो पाव सेर से अधिक न हो। आठ दिन इसका प्रयोग करना चाहिए। यदि यह उपयोग समाधिमरण के अनुकूल पड़ जावे तो अगाड़ी सात छटांक दूध और आधा पाव अनार का रस का उपयोग करना चाहिए। और इस उपयोग में सफल हों तो आगामी काल में तक्र आदि का प्रयोग करना चाहिए। ऐसी आशा है कि साधर्मी भाई सम्मति देंगे अथवा इसे अनुचित समझे तो जो उचित हो उसे उपयोग में लावें।

"अब केवल सन्तोष कराने से मेरा तो कल्याण दुर्लभ होगा।"

आपका शुभचिन्तक
–गणेश वर्णी

पत्र आश्रम के छपे पैड पर पेंसिल से लिखा हुआ था। एक भक्त विद्वान् को बोलकर यह पत्र लिखाया गया था और उस पर तिथि तारीख का कोई उल्लेख नहीं था। बाबाजी के सबल-संकल्प का यह दस्तावेज आज भी मेरे पास सुरक्षित है। लगता था, बाबाजी ने अपने शरीर-त्याग की यह तैयारी, काफी सोच-समझ कर यथासमय ही कर ली थी। इधर कुछ सप्ताहों में जिस क्रम से भोजन घटाकर मात्र दो चुल्लू रस तक वे अपना आहार ले आये थे, उससे भी स्पष्ट था कि वे अपने निर्णय के अनुसार ही अपनी सल्लेखना के मार्ग पर चल रहे हैं।

स्मृतियों की घनी छाँव में

जब से मैंने होश संभाला तब से बराबर वर्णी जी के श्रीचरणों का समागम मुझे मिलता रहा। छुटपन में उनका नाम "बड़े पंडितजी" सुना करता था। बाद

में 'वर्णीजी' की संज्ञा उनके व्यक्तित्व का प्रतीक बन गयी। अब, क्षुल्लक दीक्षा लेने के बाद, अथवा यो कहें कि वृद्ध हो जाने के कारण सब लोग उन्हें 'बाबा जी' कहने लगे थे। मेरे पिता स्व०सिंघई लछमनलाल जी से वर्णीजी का स्नेहभाव रहा है, और वे प्राय: हमारे यहाँ रीठी आते जाते रहे हैं। इसी सुयोगवश शैशव से लेकर आज तक मैंने सदैव वर्णीजी महाराज का वरद हस्त अपने माथे पर महसूस किया था। उनका सान्निध्य ही अनेक आकुलताओं को हरण करके चित्त को अनुपम शान्ति देता था। मेरे जैसे सैकड़ों लोग थे, जो ऐसा ही कुछ अनुभव करते थे। सान्त्वना का यह सम्बल कभी छूटना भी है, ऐसी कल्पना कभी मन में आयी ही नहीं थी। अब आज, बाबाजी का लिखाया हुआ, सल्लेखना का यह संकल्प-पत्र जब उद्घाटित हुआ तो पढ़कर एक क्षण के लिए मुझे चक्कर आ गया। निकट भविष्य के गहन अन्धकार की भयावह कल्पना मन को कंपाने लगी।

महायात्रा का पाथेय

सिद्धान्ताचार्य श्रीमान् पंडित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और कलकत्ता के निष्ठावान् सरावगीबन्धु बाबू छोटेलालाजी तथा बाबू नन्दलालजी, ब्र०बाबू सुरेन्द्रनाथजी, पं०बंशीधरजी न्यायालंकार इन्दौर आदि उस समय बाबाजी की सेवा के लिए आश्रम में ठहरे हुए थे। मैंने तत्काल वह पत्र बाबूजी को दिखाया। इन लोगों को भी इस संकल्प का आभास मिल चुका था। थोड़े विचार-विमर्श के उपरान्त सब लोग उनके पास एकत्र हुए और पण्डित कैलाशचन्द्रजी ने उनसे प्रार्थना की कि एक बार शरीर को निरोग और शक्तिसम्पन्न करने की अनुकूलता को अवसर दिया जाना चाहिए। हम लोगों ने भी अपने-अपने राग के अनुरूप यही विनती की, परन्तु सल्लेखना के प्रति बाबाजी के अडिग निश्चय में कोई परिवर्तन करा लेना संभव न हुआ। उनका संकल्प अकम्प था और दृढ़ता अचल थी।

पूज्य वर्णी जीकी सत्तासी वर्ष की आयु और जराजीर्ण शरीर की रूग्णावस्था को ध्यान में रखकर तथा संसार और शरीर के प्रति उनकी उदासीनता के परिप्रेक्ष्य में देहत्याग के उनके दृढ़ संकल्प को परख कर सबने यह जान लिया कि अब उन्हें उनके इस निश्चय से हटाना न उचित है, न संभव। अत: पण्डितजी ने रुद्धकण्ठ और भावभीने शब्दों में वर्णीजी के परिणामों की स्थिरता की प्रशंसा करते हुए विनय की कि अब हम लोग उनके संकल्प में साधक ही होंगे, बाधक नहीं।

पता लगाने पर विदित हुआ कि जुलाई के प्रथम सप्ताह में उन पर ज्वर का आक्रमण हुआ था, जो दो-चार दिन मलेरिया का छद्म रूप दिखाकर शीघ्र ही मोतीझिरा में परिणत हो गया था। इस सावधिक ज्वर के प्रतिकार हेतु ही जुलाई के तीसरे सप्ताह में उन्होंने अन्न-भोजन बन्द कर दिया था। उनका अंतिम अन्न-ग्रहण संभवत: १६ या १७ जुलाई को हुआ था। इस प्रकार इस पर्याय के अन्तिम पचास दिन उन्होंने अत्यन्त समता सहित, अन्नाहार के त्यागपूर्वक व्यतीत किये।

हृदय-मन्थन के वे दिन

वर्णीजी ने सल्लेखना ले ली है, यह घोषित होते ही ईसरी का वह आश्रम 'तीर्थधाम' बन गया। समाचार जंगल की आग की तरह थोड़े ही समय में समाज में फैल गया और चारों तरफ से उनके स्वास्थ्य के प्रति जिज्ञासा और चिन्ता प्रकट की जाने लगी। दर्शनार्थियों की संख्या भी दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी।

बाबाजी इस बीच प्राय: निरोग हो गये थे। कभी-कभी कोप दिखानेवाले साधारण ज्वर के अतिरिक्त कोई रोगजन्य उपद्रव नहीं था। पाँव के घुटनों का दर्द अवश्य सच्चे मित्र की तरह उनका साथ दे रहा था। इस स्थिति में भी वे शरीर की अवस्था के प्रति नितान्त उदासीन और प्रसन्न चित्त दिखाई देते थे। मैंने जैन शास्त्रों में कई जगह पढ़ा था और विद्वानों के मुख से कई बार सुना था कि शरीर पृथक् है और आत्मा पृथक् है। ईसरी में अब हम लोग इस सैद्धान्तिक परिभाषा का प्रयोगात्मक रूप साक्षात् देख रहे थे। एक ओर जड़धर्मी शरीर शिथिल और अशक्त होता जा रहा था वहीं दूसरी ओर आत्मा की शक्ति बढ़ती चली जा रही थी। एक ओर शरीर दूषित और विकारग्रस्त होता जा रहा था वहीं दूसरी ओर आत्मा के दोष और विकार उपशान्त होते चले जा रहे थे। एक ओर शरीर पीड़ा और ताप का अनुभव कर रहा था वहीं दूसरी ओर आत्मा आनन्द और शान्ति का आस्वादन करती अनुभव में आती थी।

यह वह दिन थे जब वर्णीजी की अडिग आस्था कसौटी पर थी और समयसार की उनकी जीवन-व्यापिनी परीक्षा का अन्तिम प्रश्न-पत्र उनके सामने था। ऐसा लगता था कि इस परीक्षा के लिए उनकी तैयारी बहुत अच्छी है और उनका उत्साह और उनकी सावधानी बराबर बनी हुई है। "समयसार" तो वर्णी जी की साँसों

में बस गया था। मूल गाथाओं के साथ आचार्य अमृतचन्द्र के कलश भी चालीस वर्ष पूर्व से उन्हें कण्ठस्थ थे। इस टीका के पृष्ठ के पृष्ठ कई बार सोते समय भी तन्द्रा की स्थिति में उनकी वाणी में निसृत होते थे। कहा जाता है कि आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेन के बाद भगवान कुन्दकुन्द की वाणी का इतना तलस्पर्शी अध्ययन किसी के द्वारा नहीं हुआ, जितना वर्णी जी महाराज के द्वारा किया गया। वे समयसार के एकमात्र अधिकृत अध्येता माने जाते थे। सोनगढ़ में कान्हजी स्वामी ने जब अपने कुल का गृहीत मिथ्यात्व वाला मार्ग छोड़कर सम्यक् मार्ग की शरण लेने का उद्योग किया और समयसार का अध्ययन करना चाहा तब उनके सामने सिद्धान्त के अनेक गूढ़ प्रश्न उपस्थित हुए। समयसार की यात्रा में कई जगह अटकाव और भटकाव की स्थिति का सामना कान्हजी स्वामी को उस समय करना पड़ा। उस समय उनकी दृष्टि भी वर्णी जी पर गयी। कलकत्ते के कुछ जिज्ञासु मित्रों को सोनगढ़ से अपनी शंकायें गुजराती भाषा में लिखी जाती थीं। उन्हें हिन्दी में करके वर्णीजी के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था। वर्णीजी उन प्रश्नों के समाधान विस्तार से समझाकर लिखते थे। तब उनकी वह वाणी कलकत्ते से गुजराती लिपि में सोनगढ़ पहुँचती थी। इस प्रक्रिया से वर्णीजी महाराज का सहारा लेकर सोनगढ़ के साधकों का समयसारका अध्ययन सम्पन्न हुआ था। इन पत्रों का एक संकलन "अध्यात्म-पत्रावली" के नाम से सोनगढ़ से लगभग चालीस वर्ष पूर्व प्रकाशित भी हुआ था। कालान्तर में सोनगढ़ की मान्यताओं में अनेकान्त की छवि धूमिल होती गयी और एकांगी आग्रह वहाँ स्थापित हुआ, तब प्रयत्नपूर्वक इस 'अध्यात्म-पत्रावली' का लोप किया गया। किन्तु यह एक पृथक् प्रकरण है। यहाँ उसका विश्लेषण अभीष्ट नहीं।

पूज्य वर्णीजी की सल्लेखना के इस महासंकल्प के बीच जब हम यह देखते थे कि शरीर की पीड़ा के उपरान्त भी पूज्य वर्णीजी उसी सहजता और एकाग्रता के साथ समयसार का चिन्तन, मनन और कभी-कभी होठों के भीतर उसका उच्चारण कर रहे हैं, तब उनकी साधना के प्रति सब का मस्तक अनायास झुक जाता था।

आश्रम में घटनाचक्र तीव्रगति से घूम रहा था। महाराज का उठना-बैठना और बोलना क्रमशः बन्द हो गया। आहार-खाद्य, पेय, औषधि आदि का क्रमशः त्याग हुआ। सल्लेखना की विधि-विधान और उसका नियमन श्रीमान् पण्डित

वंशीधर जी न्यायालंकार के निर्देशन में हो रहा था। कहीं से दक्षिण के एक ऐलक महाराज पधार गये थे। वे भी वैय्यावृत्य और सुश्रूषा में सहायक होते थे। कमरे के बीचोंबीच घास के सन्थारे पर महाराज को लिटाया गया था।

प्राय: पूरे समय, महाराज शान्त और विचारमग्न, अपनी शैय्या पर निरुद्विग्न लेटे रहते थे। उनके कान के समीप धीमी और स्पष्ट ध्वनि में निरन्तर कुछ न कुछ पाठ हम लोग किया करते थे। कभी बुधजन की 'बारह भावना' या 'छहढाला', कभी दौलतराम की 'छहढाला' या कोई पद। कभी 'एकीभाव' या 'भक्तामर-स्तोत्र' और प्राय: आचार्य अमृतचन्द्र के 'समयसार-कलश'। महाराज जब तक चाहते, सुनते थे। वे जब स्वत: कुछ चिन्तन करना चाहते थे, तब एक निश्चित इशारे से यह पाठ बन्द कर दिया जाता था। उनकी वाणी तो पहले ही थक चुकी थी, परन्तु वे निरन्तर सावधान और पूरी तरह सतर्क थे। जिस महायात्रा की साधना के लिये वे अपना बुन्देलखण्ड छोड़कर, हजारों अपने लोगों की ममताभरी मनुहार से मुँह मोड़कर और लाखों भोले भक्तों के आँसुओं की धारा में से मानों तैर कर इस सिद्ध-भूमि पर पारसप्रभु के पादमूल में आये थे। उस महायात्रा की घड़ी अब क्षण-प्रतिक्षण पास आती जा रही थी। दौड़ की स्पर्धा करने वाला खिलाड़ी, लक्ष्य रेखा को सामने देखकर जैसे पूरी शक्ति लगाकर अपनी गति को अधिक संयत और अधिक तीव्र कर देता है, उसी प्रकार वर्णीजी महाराज की जीवनव्यापी साधना, समाधि के लक्ष्य को सम्मुख आया देखकर अधिक संयत और अधिक तीव्र हो उठी थी। करवट दिलाने के लिये, पैर या हाथ सिकोड़ने या फैलाने के लिये, लघुशंका आदिक शरीरधर्म के लिए दो अंगुलियों के निश्चित संकेत निर्धारित हो गये थे। वे आवश्यकता पड़ने पर जितनी एकरूपता और निस्पृहता के साथ इन संकेतों का प्रयोग करते थे उसी से यह बात स्पष्ट हो जाती थी कि वे कितने सजग और सावधान हैं। दर्शनार्थी भक्तों की निरन्तर बढ़ती हुई भारी भीड़ को ऐसा नियन्त्रित कर दिया था कि सबको उनका दर्शन प्राप्त हो, किन्तु उससे उनका चिन्तन और उनकी एकाग्रता बाधित न हो।

ज्योति का विलय

दिनांक १-९-६१ को उन्होंने फलों के रस का भी त्याग कर दिया। मात्र जल ग्रहण की छूट रही, परन्तु शरीर की अशक्ति के कारण क्रिया के अभाव में जल लेना भी सम्भव न हुआ। देहावसान के १६ घण्टे पूर्व दिनांक ५-९-६१

को उनकी सहर्ष अनुमति पूर्वक जल के त्याग के साथ ही उनके वस्त्रों का भी त्याग कराकर उन्हें दिगम्बर मुद्रा धारण करायी गयी। "१०८ मुनि श्री गणेश कीर्ति" उनका दीक्षा का नाम घोषित किया गया। आज भाद्रपद कृष्ण एकादशी का वह दिन आ ही गया, जब जीवन के यज्ञ की अन्तिम आहुति पड़ने वाली थी। इतने दिनों में कई बार ऐसा हुआ कि उनका शारीरिक क्लेश अनायास बढ़ गया। कभी थर्मामीटर के पारे ने १०५ पर जाकर विश्राम किया, कभी घुटनों और जोड़ों में भयंकर पीड़ा उठी और कभी भीषण दाह ने श्वास नलिका में ऐंठन पैदा करने का उपक्रम किया। परन्तु हम स्पष्ट देखते थे कि शरीर की यह परिणति शरीर तक ही सीमित है। महाराज की ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा को लेशमात्र भी आकुलता पहुँचाने में शरीर के ये उपद्रव सफल नहीं हो पा रहे थे। यद्यपि आज शिथिलता कुछ बढ़ गयी थी किन्तु उसकी सजगता और सावधानी में कोई कमी नहीं आयी थी। आधी रात से उनकी श्वांस में कफ के लक्षण प्रकट हुए और दो घड़ी के भीतर एक बजकर बीस मिनट पर उन्होंने अन्तिम श्वांस ली। जीवन यदि साधना का नाम था, तो आज वह सफल हो गयी। जीवन यदि एक परीक्षा थी, तो आज वह समाप्त हो गयी। और जीवन किसी अनजानी दिशा की यात्रा के बीच की यदि एक बाधा मात्र थी, तो आज वह दूर हो गयी। चिर पथिक अपनी रुचिर आत्म-साधना का पाथेय बाँधकर अचिर यात्रा पर प्रस्थित हो गया।

मुनि श्री गणेशकीर्तिजी की समाधि का समाचार जैसे-जैसे लोग पाते गये, आश्रम जनाकुल होता गया। अपने आँसू अपने ही हाथों पोछकर जब मैं सावधान हुआ तो मैंने देखा कि बाबू छोटेलालजी निढाल होकर एक ओर पड़े हैं। बाबू नन्दलालजी ऐलक महाराज के साथ मिलकर वर्णीजी के पावन शरीर की व्यवस्था में लगे हैं। गया के श्री चम्पालालजी सेठी आनन्द के अतिरेक में बेसुध हो गये हैं। हाथ में करताल लेकर ऊँचे स्वर से भजन बोलकर वे पागल की तरह नाच रहे हैं। सौ-पचास कण्ठ और दस-बीस चरण और भी थे, जो उनका साथ दे रहे थे। कमरा इन भक्तों से भरा था।

महाराज के देहत्याग के थोड़ी ही देर पहले साहु शान्तिप्रसादजी के सुपुत्र श्री आलोक प्रकाश कलकत्ते से कार द्वारा पहुँचे थे। एकदम अस्तव्यस्त और व्याकुल। अब वे महाराज के चरणों के वियोग का शोक और अन्त समय में उनका दर्शन पा लेने का सन्तोष एकसाथ भोग रहे थे। बड़ी तत्परता से उन्होंने

धनबाद सन्देशा भेजकर तार, टेलीफोन और टेलीप्रिन्टर से महाराज की समाधि का समाचार अविलम्ब प्रसारित करा दिया।

शेष अवशेष

आगे की बात बहुत संक्षिप्त है। शायद इसलिये कि वे घटनायें मेरे सामने घटीं और मैं और मेरा कैमरा ये दोनों, यन्त्रवत् ही साथ-साथ उनके साक्षी रहे। प्रातः शरीरपूजन हुआ। उनकी देह को विमान में सजाकर दो घण्टे तक लोग जुलूस में घुमाते रहे। इसी बीच चारों तरफ से कारों, टैक्सियों, बसों और अन्य साधनों का सहारा लेकर लगभग ३००० लोग ईसरी में एकत्र हो गये। पारसनाथ आश्रम प्रांगण में उनके साधनाकक्ष के ठीक सामने एक बड़े चबूतरे का निर्माण हुआ। उसी पर चन्दन, नारियल, घी और कपूर का एक बड़ा ढेर लग गया, जिसके बीच में उनका तपःपूत शरीर विराजित करके उसे अग्नि को समर्पित कर दिया गया। वह सन्तापहारिणी छवि क्षण भर में भस्मीभूत हो गयी, जिसके दर्शनमात्र से सारे दैहिक, दैविक और भौतिक ताप स्वतः शान्त हो जाते थे। वे यशस्वी हाथ देखते-देखते अदृश्य हो गये, जिनका वरद स्पर्श, पारस का प्रभाव रखता था। वे चरण अचानक ही दृष्टिपथ से ओझल हो गये, जिन पर मस्तक टेककर हम, और हमारे जैसे सैकड़ों लोग अपने आप को धन्य मानते थे।

देखते-देखते चिता की लपटें शान्त हो गयीं और चारों तरफ के गाँवों से आदिवासी स्त्री-पुरुषों का ऐसा रेला आया, जिसने अपने इस सिद्ध महात्मा की पावन भस्मी की एक-एक चुटकी उठाकर चबूतरा साफ कर दिया। बाबाजी के अनन्य भक्त प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला और नरेन्द्र विद्यार्थी ने जो थोड़ी-सी अस्थियाँ संचित कर लीं वे शेष रह गयीं। मेरे केमरे ने इन सब घटनाओं की जो छबियाँ अंकित कर लीं वे शेष रह गयीं, और शेष रह गयीं वे अनगिनत स्मृतियाँ, जो हजारों लोगों के मन और मस्तिष्क में सूम (कंजूस) के धन की तरह आज भी संचित हैं, सुरक्षित हैं और अविस्मरणीय हैं।

●

पूज्य उपाध्याय श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज की प्रेरणा से संचालित

संस्था द्वारा प्रकाशित एवं प्रचारित पुस्तकें

१. भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (चारों भाग)
२. आराधना कथा प्रबन्ध
३. महावीर रास
४. नाना नानी कहो कहानी
५. भगवान् राम
६. शाकाहार : एक जीवन पद्धति
७. ज्योतिर्धरा
८. समाज निर्माण में महिलाओं का योगदान
९. रत्नकरण्ड श्रावकाचार
१०. खबरों के बीच
११. आशा के सुर : जीवन का संगीत
१२. उगता सूरज
१३. बैठो बैठो सुनो कहानी
१४. शाकाहार एवं विश्वशान्ति
१५. विश्वशान्ति एवं अहिंसा परीक्षण
१६. धूम्रपान : जहर ही जहर
१७. जैनधर्म
१८. जैनशासन
१९. शाकाहार विजय
२०. वर्णी जीवनगाथा (भाग दो)
२१. भव्य क़ल्याणक
२२. सफर की हमसफर
२३. त्रिलोय पण्णति (तीनों भाग)
२४. डा० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य स्मृति ग्रंथ
२५. आ० शान्ति सागर (छाणी) स्मृति ग्रंथ
२६. गर्भपात : उचित या अनुचित : फैसला आपका
२७. मादक पदार्थ व धूम्रपान
२८. शाकाहार या मांसाहार : फैसला आप स्वयं करें

प्राप्ति स्थान

प्राच्य श्रमण भारती
१२/A, प्रेमपुरी, निकट जैन मन्दिर मुजफ्फरनगर (उ०प्र०) – २५१००१
फोन – (०१३१) ४३२२२२८, ४०८६०१

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान
के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

	पुस्तक का नाम	लेखक/संपादक/अनुवादक
१	मेरी जीवन गाथा, भाग—१	श्री गणेशप्रसाद वर्णी
२.	मेरी जीवन गाथा, भाग—२	श्री गणेशप्रसाद वर्णी
३.	वर्णी वाणी, भाग—२	डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी
४.	जैन साहित्य का इतिहास, भाग—१	पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
५.	जैन साहित्य का इतिहास, भाग—२	पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
६.	जैन साहित्य का इतिहास (पूर्व पीठिका)	पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
७.	जैन दर्शन (संशोधित संस्करण)	पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
८.	तत्वार्थसूत्र (संशोधित संस्करण)	पं० फूलचन्द्र शास्त्री (पु०सं०)
	" " " "	" " " वि० सं०
९.	मंदिरवेदी प्रतिष्ठा एवं कलशारोहण विधि	डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
१०.	अनेकान्त ओर स्याद्वाद	प्रो० उदयचन्द्र जैन
११	कल्पवृक्ष : एकांकी	श्रीमती रूपवती किरण
१२.	आप्तमीमांसातत्त्वदीपिका	प्रो० उदयचन्द्र जैन
१३.	तत्त्वार्थसार	डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
१४.	वर्णी अध्यात्म—पत्रावली, भाग—१	श्री गणेशप्रसाद वर्णी
१५.	आदिपुराण में प्रतिपादित भारत	डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री
१६.	सत्य की ओर प्रथम कदम	श्री दयासागर
१७.	समयसार (प्रवचनसहित)	श्री गणेशप्रसाद वर्णी
१८.	श्रावक धर्म—प्रदीप	पं० जगमोहन लाल शास्त्री
१९.	पंचाध्यायी (संशोधित संस्करण)	पं० देवकीनन्दन सिद्धान्तशास्त्री
२०.	लघुतत्त्वस्फोट	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
२१	भद्रबाहु—चाणक्य—चन्द्रगुप्त	प्रो० राजाराम जैन
२२.	आत्मानुशासन	पं० फूलचन्द्र शास्त्री
२३.	योगसार (भाषावचनिका)	डॉ० कमलेश कुमार जैन
२४.	जैनन्याय, भाग—२	पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री (प्र०सं०)
	" " " "	" " " "
२५.	स्वयम्भूस्तोत्र—तत्त्वदीपिका	प्रो० उदयचन्द्र जैन
२६.	देवीदास विलास	श्रीमती डॉ० विद्यावती जैन
२७.	अध्यात्म पद—पारिजात	डॉ० कन्छेदीलाल जैन
२८.	सर्वज्ञ (संस्थान की शोधपत्रिका)	
२९.	धवल—जयधवल सार	पं० जवाहरलाल शास्त्री
३०.	जैनधर्म दर्शन के सिद्धान्तों की वैज्ञानिकता	प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन

: अन्य उपलब्ध ग्रन्थ :

३१	सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ	
३२.	सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ	
३३.	अकिंचित्कर : एक अनुशीलन	पं० फूलचन्द्र शास्त्री
३४.	प्राच्य भारतीय ज्ञान के महाभेरू आचार्य कुन्दकुन्द	प्रो० राजाराम जैन

सभी प्रकार के पत्र व्यवहार करने एवं ड्राफ्ट भेजने का पता :—

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी—२२१००५

मेरी जीवन गाथा, भाग—२, प्राच्य श्रमण भारती, १२/A प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर से भी प्राप्त है।